शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त शोध पत्रिका

शोध अंक 61/1 जनवरी-मार्च 2023 400.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 0124-4076565, 09557746346
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा
डॉ॰ मीना अग्रवाल
ए-402, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

दिल्ली एन॰सी॰आर॰
डॉ॰ अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
07838090732

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ॰ शंकर क्षेम
डॉ॰ प्रमोद सागर

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार
09557746346
डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ॰ अनुभूति

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

शुल्क

आजीवन (दस वर्ष): छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : एक हजार रुपए
यह प्रति : चार सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, MorrisVille, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰ विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰) 462038
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
श्री अनिल शर्मा जोशी, उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ पूरनचंद टंडन, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ॰ एस॰के॰ पवार, प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ 580003 (कर्नाटक)
प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
प्रो॰ बाबूराम, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, चौ॰ बंशीलाल विश्वविद्यालय, भिवानी (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
प्रो॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
प्रो॰ अर्जुन चव्हाण, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ डॉ॰ सदानंद भौसले, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महा॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी॰जी॰ डी॰ए॰वी॰ कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
डॉ॰ अरुणकुमार भगत, अध्यक्ष, मीडिया अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी
प्रो॰ मंजुला राणा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर
प्रो॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व॰), बवाना
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शहाबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ प्रणव शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, उपाधि महाविद्यालय, पीलीभीत 262001 उ॰प्र॰
डॉ॰ राखी उपाध्याय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, डी॰ए॰वी॰ कॉलेज, देहरादून 248001 (उत्तराखंड)

महात्मा कबीर

कबीर नाम है–प्रेम का।

कबीर दर्शन है–एकत्व का, सद्‌भाव का।

कबीर विशेषण है–मस्त, फक्कड़ और निडर व्यक्ति का।

कबीर संगम है–दो संस्कृतियों का।

कबीर का संगम प्रयाग के संगम से ज़्यादा गहरा है। वहाँ क़ुरान और वेद ऐसे खो गए हैं कि रेखा भी नहीं छूटी।

कबीर एक मार्ग है–सहजता का। ऐसा मार्ग जो सीधा और साफ़ है।

टेढ़ी-मेढ़ी बात कबीर को पसंद नहीं। इसलिए उनके रास्ते का नाम है–सहज योग।

पंडित नहीं चल पाएगा इस मार्ग पर। निर्दोष चित्त, कोरा काग़ज़ जैसा मन ही चल पाएगा उस पर।

कबीर क्रांतिकारी हैं–क्रांति की जगमगाती प्रतिमा। जाति-पाँति के भेद-भावों से मुक्त एक सच्चा इंसान, मानवता के संकल्प से ओतप्रोत, ज्ञान की गंगा। ऐसी गंगा, जो अपनी संपूर्ण पावनता के साथ एक-एक मन को शीतल करती हुई निरंतर प्रवाहित रहती है।

कबीर का जन्म कहाँ हुआ? उनके जन्मदाता कौन थे? उनके गुरु का नाम क्या था? इस संबंध में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों में एकरूपता नहीं है।

इतिहासकार, साहित्यिक विद्वान और कबीरपंथी भी एकमत नहीं।

कबीर के संबंध में निश्चित नहीं कि वह हिंदू थे या मुसलमान। हिंदुओं को विश्वास है : हिंदू थे, मुसलमानों का दावा है : मुसलमान थे।

जन्म की किंवदंतियाँ

कबीर के जन्म के संबंध में कई प्रकार की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं :

लगभग छह सौ वर्ष पूर्व की घटना है। नीरू अपनी पत्नी नीमा के साथ काशी की तरफ़ आ रहा था। उसी दिन उनका गौना हुआ था। नीरू काशी का जुलाहा था। रास्ते में लहरतारा तालाब पड़ता था। नीरू ने सोचा कि हाथ-पैर धो लिए जाएँ। तभी उसने किसी बालक के रोने की आवाज़ सुनी। आस-पास उसकी पत्नी के अतिरिक्त कोई भी न था। फिर आवाज़ कहाँ से आई! जिज्ञासा हुई। चारों तरफ़ देखा। आवाज़ एक झाड़ी की तरफ़ से आ रही थी। वह उसी ओर भागा। वहाँ जाकर देखा कि एक प्यारा-सा बच्चा वहाँ पड़ा था। बच्चा इतना छोटा, जैसे कुछ देर पहले ही उसका जन्म हुआ हो।

इतना प्यारा बच्चा नीरू जुलाहे ने कभी देखा नहीं था। उसकी आँखें ऐसी थीं जैसे मणियाँ

हों। उसकी आँखों में ऐसी रोशनी थी कि नीरू की आँखें चौंध से भर उठीं। नीमा डरी कि कुछ झंझट होगा। लोग क्या कहेंगे। बदनामी भी होगी। किंतु जैसे ही उसने बच्चे को देखा, उसका दिल भी डोल गया।

अंत में उन लोगों ने लोक-लाज की परवाह नहीं की और वे बच्चे को अपने साथ ले आए। काशी में जो मुहल्ला कबीर चौरा के रूप में आज प्रसिद्ध है, उसी में संभवत: नीरू का घर था।

वे घर पहुँचे। अपने रिवाज के अनुसार, बच्चे का नामकरण करने के लिए उन्होंने काज़ी को बुलाया। उसने क़ुरान खोला। कहते हैं कि उसमें हर जगह कबीर-कुब्रा, अकबर आदि शब्द मिले।

अरबी में ये शब्द महान् परमात्मा के लिए आते हैं। काज़ी हैरान था। साधारण जुलाहे के बच्चे को किस तरह परमात्मा का नाम दिया जाए? अपना शक मिटाने के लिए उसने कई बार क़ुरान देखा। उसे हर बार वही शब्द मिले। यह समाचार पाकर कई काज़ी इकट्ठे हो गए। आख़िर उन्होंने नीरू को सलाह दी–'इस बच्चे का क़त्ल कर दे, नहीं तो इसके कारण कोई बड़ी आफ़त आने वाली है।'

नीरू-नीमा इतना क्रूरकर्म न कर सके और इस प्रकार बच्चे का नाम कबीर पड़ गया।

यही बच्चा, जिसके असली माँ-बाप का पता दुनिया को आज तक नहीं हुआ, आगे चलकर भारत का महान् संत कबीर हुआ।

कबीर के जन्म को लेकर एक किंवदंती हिंदू-समाज में भी प्रचलित है। एक दिन एक ब्राह्मण अपनी विधवा कन्या के साथ स्वामी रामानंद के दर्शन के लिए गया। पिता के साथ ही कन्या ने भी रामानंद के चरण-स्पर्श किए।

रामानंद अपनी मस्ती में थे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि चरण कौन छू रहा है? अचानक उनके मुँह से निकला–'पुत्रवती भव!'

आशीर्वाद दे दिया कि 'पुत्रवती होओ।'

महात्मा जी का आशीर्वाद असत्य नहीं हो सकता था। कुछ समय बाद उसके गर्भ से एक पुत्र ने जन्म लिया। लोकलाज स्वाभाविक थी। ब्राह्मणी ने मन को कड़ा किया और बच्चे को लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ दिया। संभवत: इस बालक को ही नीरू और नीमा ने लहरतारा के किनारे से पाया था।

ऐसा लगता है कि कबीर हिंदू-घर में पैदा हुए और मुसलमान घर में पले। इसमें एक अपूर्व संगम हुआ, एक अपूर्व समन्वय हुआ।

कबीर में हिंदू और मुसलमान संस्कृतियाँ जिस प्रकार मेल खा गईं, इतना तालमेल तो गंगा और यमुना में भी प्रयाग में नहीं मिलेगा, दोनों का जल अलग-अलग मालूम होता है। कबीर में जल तनिक भी अलग-अलग मालूम नहीं होता।

तीसरी कहानी और अधिक रोचक है, एक पुराणपंथी कहानी की तरह। इसके अनुसार, कबीर साहब शुकदेव जी के अवतार थे।

कहा जाता है कि महादेव की आज्ञा से शुकदेव जी लोककल्याण के लिए पृथ्वी पर आए।

पूर्वजन्म में वे बारह वर्ष तक गर्भवास का दुख भोग चुके थे। इसलिए इस बार गर्भवास से बचने के लिए उन्होंने अपने को एक सीपी में बंद कर लिया और उसे गंगा के किनारे बहाव में छोड़

 ISSN 0975-735X

दिया। यही सीपी बहते-बहते लहरतारा तालाब में पहुँच गई और दैवयोग से वहीं एक कमल के पत्ते पर खुल गई। इसमें से एक सुंदर बालक प्रकट हुआ। यही बालक आगे चलकर कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कबीर के जन्म के संबंध में जितनी कथाएँ ज्ञात हैं, उन सबको मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इन महात्मा को जन्म देने वालों का पता किसी को नहीं है।

कबीर का जन्म किस सन् में, किस तिथि को हुआ, इसे भी ठीक- ठीक बता पाना बहुत कठिन है।

उनकी जन्मतिथि के संबंध में एक छंद बहुत समय से प्रचलित है :

चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार इक ठाठ ठए
जेठी सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए।

अर्थात् विक्रम के 1455 साल व्यतीत होने पर, सोमवार को जेठ की पूनो, वटसावित्री के पर्व पर कबीर साहब प्रकट हुए थे। वटसावित्री या बरसायत के दिन कबीरपंथी अब भी कबीर साहब का जन्मदिन मनाया करते हैं।

कुछ विद्वानों ने गणना करके पता लगाया कि सोमवार को जेठ पूनो संवत् 1455 में नहीं बल्कि 1456 में पड़नी चाहिए। इसलिए 1455 साल गए का अर्थ यह भी हो सकता है कि 1455 वाँ संवत् बीत जाने पर अर्थात सं॰ 1456 में कबीर का जन्म हुआ होगा।

कबीर के जन्मस्थान के संबंध में भी तीन मत हैं : मगहर, काशी और आजमगढ़ में बेलहरा गाँव।

मगहर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि कबीर ने अपनी रचना में वहाँ का उल्लेख किया है : पहिले दरसन मगहर पाई, पुनि कासी बसे आई अर्थात् काशी में रहने से पहले उन्होंने मगहर देखा। मगहर आजकल की वाराणसी के निकट ही है और वहाँ कबीर का मकबरा भी है।

कबीर का अधिकांश जीवन काशी में व्यतीत हुआ। वे काशी के जुलाहे के रूप में ही जाने जाते हैं। कई कबीरपंथियों का भी यही विश्वास है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ, किंतु किसी प्रमाण के अभाव में निश्चयात्मकता अवश्य भंग होती है।

बहुत से लोग आज़मगढ़ ज़िले के बेलहरा गाँव को कबीर साहब का जन्मस्थान मानते हैं। वे कहते हैं कि बेलहरा ही बदलते-बदलते लहरतारा हो गया।

फिर भी पता लगाने पर न तो बेलहारा गाँव का ठीक पता चल पाता है और न यही मालूम हो पाता है कि बेलहरा का लहरतारा कैसे बन गया और यह आज़मगढ़ ज़िले से काशी के पास कैसे आ गया। आज़मगढ़ ज़िले में कबीर, उनके पंथ या अनुयायियों का कोई स्मारक नहीं है।

मसि कागद छूयो नहीं

कबीर बड़े होने लगे। वे अपनी अवस्था के बालकों से एकदम भिन्न थे। उन्हें खेल में कोई रुचि नहीं थी। मदरसे भेजने लायक साधन माता-पिता के पास नहीं थे। जिसे हर दिन भोजन के लिए ही चिंता रहती हो, उस पिता के मन में कबीर को पढ़ाने का विचार भी न उठा होगा।

यही कारण है कि वे किताबी-विद्या प्राप्त न कर सके। उन्होंने स्वीकार किया : 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

किंतु किताबी विद्या ही सब-कुछ नहीं होती। जिसमें आभा नहीं, भावुकता नहीं, कार्य करने

की शक्ति नहीं, वह तो पुस्तक पढ़कर भी मूर्ख बना रहेगा।

सब जानते हैं कबीर ज्ञान के भंडार थे, प्रतिभा के सागर थे, भावुकता के स्रोत थे। वे बचपन से ही रामभक्ति का अमृतरस छककर पी रहे थे।

जुलाहा परिवार में पलने वाले बालक पर मुसलमानी रहन-सहन, आचार-व्यवहार का प्रभाव पड़ना चाहिए था। किंतु वे हिंदुओं की भाँति कंठी-माला धारण करते, तिलक लगाते और राम-नाम का जाप करते।

स्वामी रामानंद का शिष्यत्व

कबीर ने अनुभव किया कि ज्ञान की परिपक्वता के लिए गुरु आवश्यक है, परंतु गुरु का महान् पद किसे दिया जाए? कौन गुरुमंत्र देगा!

काशी में उन दिनों सबसे प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य स्वामी रामानंद थे। कबीर के मन में उन्हीं से दीक्षा लेने की इच्छा जाग्रत हुई।

लेकिन इसमें एक भारी बाधा थी। वैष्णव आचार्य एक जुलाहे को दीक्षा किस प्रकार दे सकता था? उस बाधा को दूर करने के लिए कबीर ने एक उपाय सोचा।

स्वामीजी प्रतिदिन धुँधलके में ही अपने सेवकों के साथ गंगास्नान के लिए जाया करते थे। कबीर प्रात:काल चार बजे से पहले ही गंगाजी की सीढ़ियों पर जाकर लेट गए। स्वामी रामानंद गंगा में स्नान करके सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। तभी उनका पैर किसी से टकराया। वे क्षण-भर ठिठके और 'राम-राम' कहकर अपना पैर हटा लिया।

कबीर ने इसी राम-नाम को गुरुमंत्र स्वीकार किया। अब वे गुरुहीन नहीं थे। उन्होंने उस समय के प्रसिद्ध आचार्य को अपना गुरु बनाया था। वे महान् गुरु के महान् शिष्य थे।

लोगों ने सुना कि स्वामीजी ने एक जुलाहे कबीर को अपना शिष्य बना लिया है। वे ईर्ष्या से जल उठे।

लोगों ने जाकर रामानंद जी से पूछा, 'महाराज, आपने जुलाहे को भी अपना शिष्य बनाया है।'

स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'भाई, हमने तो उसे शिष्य बनाया नहीं है।'

उपस्थित व्यक्तियों ने कहा, 'महाराज, वह तो शहर-भर में यही कहता फिरता है कि मैं स्वामी रामानंद जी का शिष्य हूँ।'

स्वामीजी आश्चर्यचकित थे, 'यह कैसे हो सकता है? मैंने तो किसी जुलाहे कबीर को दीक्षा नहीं दी।'

दूसरे दिन स्वामीजी ने कबीर साहब को बुलाया और पूछा, 'क्यों भाई! मैंने तुम्हें शिष्य कब बनाया? कब मंत्रोपदेश दिया?'

कबीर ने विनम्रता के साथ उत्तर दिया, 'गुरुदेव, अन्य लोगों को तो आप कान में ही मंत्रोपदेश देते होंगे। मुझे तो आपने मस्तक पर पैर रखकर मंत्रोपदेश दिया था।'

इतना कहकर कबीर ने गंगाघाट का सारा वृतांत कह सुनाया।

शिष्य की अगाध निष्ठा और अविरल भक्ति देखकर गुरु गद्‌गद् हो उठे।

शिष्य ने अपना शिष्यत्व प्रकट कर दिया था।

गुरु का स्नेह छलक उठा। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को हृदय से लगा लिया।

 ISSN 0975-735X

कबीर के काल में भारत पर मुसलमानों का राज्य था। हिंदुओं के ऊपर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। ऐसी दशा में दोनों जातियों में पारस्परिक प्रेम के स्थान पर घृणा ही अधिक फैली हुई थी।

स्वाभाविक था कि मुसलमान परिवार के बालक को राम-राम कहते देखकर बिरादरी वाले उलझन में पड़ते। मुसलमान उनकी हरकतों को देखकर खीज से भर उठते। वे कहते : यह लड़का बड़ा काफ़िर होगा।'

कबीर इसका जवाब इस तरह देते : काफ़िर वह है, जो पराया धन लूटता है, धोखे से दुनिया को ठगता है, बेकसूर जीवों का वध करता है।

एक पद में उन्होंने काज़ी से कहा है : तुम कुरान का बाहरी ढकोसला छोड़कर राम का भजन करो, नहीं तो भारी जुल्म करोगे। मैंने तो राम का ही आसरा पकड़ा है, भले ही लोग मुझे समझाते-समझाते हार जाएँ।

कबीर के व्यवहार से नीरू-नीमा भी परेशान थे। यह कहाँ का घर- घालन पैदा हुआ है? अपनी बिरादरी के रीति-रिवाज छोड़कर हिंदुओं की तरह आचरण करता है। किंतु कबीर थे कि उनकी मस्ती बढ़ती ही जाती थी। इस मस्ती में वे कभी-कभी अपना कताई-बुनाई का धंधा भी भूल जाते थे। नीमा के लिए यह उलझन भरी बात थी, 'या खुदा! यह लड़का कैसे जिएगा।'
कबीर माता को समझाते थे, 'माँ, जब मैं नली के छेद में तागा डालने लगता हूँ तो मेरा प्यारा नाम मुझे भूल जाता है।

क्या करूँ मैं! पर तू चिंता न कर। वह राम ही तीनों लोकों को सँभालता है। वही हमारी ज़रूरतें भी पूरी करेगा।

कबीर परम वैरागी थे। सांसारिक माया-मोह से उन्हें कोई वास्ता न था। धन-संपत्ति उनके लिए व्यर्थ थे। फिर भी वे गृहस्थ-संन्यासी के रूप में जीवन-निर्वाह करते रहे। व्यवसाय व कार्य से जुलाहे का जीवन। यही उनकी जीविका का साधन था। वे कपड़ा बुनकर उसे बाज़ार में बेचने जाते और उसमें जो भी लाभ होता, उससे अपना और अपने परिवार का जीवन-निर्वाह किया करते थे। उसी से भक्तों की भी सेवा करते।

एक दिन एक नई घटना घटी।

एक ग़रीब ब्राह्मण बाज़ार में ही कबीर के पास पहुँचा। उसकी स्थिति उसकी दरिद्रता को बताने के लिए पर्याप्त थी। अपना तन ढकने के लिए उनसे दीनतापूर्वक कपड़ा माँगा। कबीर ने उसकी वाणी में छिपी दीनता को समझा। वे बोले : मैं तुम्हें आधा थान दे सकता हूँ। आज आधे से ही परिवार का ख़र्चा चला लूँगा।

किंतु आधे थान से ब्राह्मण को संतोष नहीं हुआ। उसने पूरा थान दे देने की विनती की। कबीर को दया आ गई। उस दिन बनाया गया सारा कपड़ा उन्होंने दान कर दिया। किंतु उन्हें चिंता हुई कि घरवालों को क्या खिलाएँगे? शर्म के कारण उन्हें घर जाने का साहस न हुआ। वे आस-पास ही कहीं छिपे बैठे रहे। सारा दिन बीत गया। घर के लोग भूख के कारण व्याकुल होने लगे। उसी समय एक अचंभा हुआ।

एक आदमी बैल पर खाने-पीने की चीज़ें लादकर लाया और ज़बरदस्ती कबीर के घर रख गया।

नीमा आश्चर्यचकित थी।

उसे अपने बेटे के स्वभाव का पता था। कोई लाख रुपए भी दे, लेकिन वह अपने परिश्रम के अलावा एक पैसा नहीं लेता था।

नीमा ने पूछा, 'ये सामान कहाँ से लाए?'

उस आदमी ने बताया, 'विश्वनाथ जी का दर्शन करने एक राजा आया हुआ है। तुम्हारे बेटे पर प्रसन्न होकर उसने बहुत-सा धन दिया। तुम्हारे बेटे ने तो एकदम इंकार ही कर दिया।

तब राजा ने बड़ी विनती करके खाने-पीने का यह सामान भिजवाया है। आप इसे स्वीकार कीजिए। कुछ देर बाद आपका बेटा भी आता होगा।'

इतना कहकर वह आदमी अपना भेद बताए बिना चला गया। नीमा को उसकी बात पर विश्वास हो गया। उसने सोचा—संभव है, यही बात सच हो। लोग कबीर को खोजने निकले और उन्हें यह ख़बर दी। वे तो आज सारा कपड़ा दान में दे चुके थे। घरवालों को खिलाने के लिए उनके पास कुछ न था। वे घर पहुँचे। नीमा ने सारा हाल कह सुनाया।

कबीर को मन-ही-मन विश्वास हो गया कि दयालु परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा कर सकता है?

इस घटना से उनके आत्मबल में और अधिक वृद्धि हुई। अब तो वे ताना-बाना पूरी तरह भूल गए। हरिभक्ति ही उनका एकमात्र आधार बन गई।

ब्राह्मणों को भोज

कबीर की यशगाथा अपने पंख फैला रही थी। जनसामान्य में उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव बढ़ रहा था। जनता उनके दर्शनों के लिए उत्सुक रहती थी।

पूरी काशी कबीरमय हो रही थी। कबीर राममय हो रहे थे।

एक जुलाहे का इतना आदर और सम्मान हो, यह बात न तो ब्राह्मणों को अच्छी लगी और न शहर के काज़ी को।

वे ईर्ष्या से जलने लगे। सभी के मन में एक ही बात थी। कबीर को किस प्रकार नीचा दिखाया जाए? ब्राह्मणों की एक सभा हुई। सभा में निर्णय लिया गया कि कबीर को काशी से बाहर निकाल दिया जाए। इसके बाद निर्णय की घोषणा कर दी गई। इस निर्णय से भक्तजन दुखी थे, किंतु उनकी बात कौन सुनता! तमाशा देखने के लिए नगरी की भीड़ उमड़ पड़ी। कुछ ब्राह्मण कबीर के पास पहुँचे और क्रोध प्रकट करने लगे। कबीर ने सबको आदर से बैठाया। विनम्रता के साथ पूछा, 'पधारने की कृपा किसलिए की?

ब्राह्मण बोले, 'तुम्हें आज ही काशी नगरी को छोड़ना होगा।'

'मेरा क्या अपराध है? आपके क्रोध का कारण क्या है?' कबीर ने पूछा।

'हम सबका यही निर्णय है।' ब्राह्मण-समुदाय ने कहा।

कबीर बोले, 'न तो मैंने किसी का कुछ चुराया है और न किसी की बेइज़्ज़ती की है। राम का नाम जपता हूँ। मेरा अपराध बताएँ।'

ब्राह्मण क्रोधपूर्वक कहने लगे, 'तुमने भोज दिया। शूद्रों को भोजन कराया। हम लोगों को पूछा तक नहीं। इसका प्रायश्चित यही है कि या तो हमारे भोज का प्रबंध करो अथवा इस नगरी को छोड़कर चले जाओ।'

 ISSN 0975-735X

यह तो घोर अन्याय था। कबीर के घर तो अन्न का दाना भी नहीं था। उन्होंने तो सब-कुछ ग़रीबों में बाँट दिया था। अब वे इतने लोगों के लिए अन्न की व्यवस्था कहाँ से करें? ब्राह्मणों को भूखा भेजना भी अधर्म था।

उन्होंने व्यवस्था करने का आश्वासन दिया और वहाँ से चले आए। ब्राह्मण कबीर के घर के बाहर एकत्र थे।

'देखा जाएगा, कभी तो लौटकर आएगा ही। बहुत बड़ा भक्त बनता है। आज असलियत का पता चलेगा।' ब्राह्मणों ने विचार किया।

तभी किसी ने देखा, 'एक व्यक्ति कई मज़दूरों के साथ उसी ओर आ रहा था। सबके सिर पर सामान लदा था।

मैदा, चावल, शक्कर की बोरियाँ घर के आगे उतारकर रख दी गईं। ब्राह्मणों में खलबली मच गई। सबको ढाई-ढाई सेर सामग्री देकर विदा कर दिया गया। प्रत्येक के मुँह से एक ही स्वर फूट रहा था, 'धन्य-धन्य।'

तभी एक ब्राह्मण कबीर को खोजता हुआ उनके पास पहुँचा। कबीर तो अपना मुँह छिपाए हुए बैठे थे।

ब्राह्मण बोला, 'तुम यहाँ बैठे हो। वहाँ सभी ब्राह्मणों और संन्यासियों को भोजन-सामग्री बाँटी जा रही है।'

'कहाँ भाई! कुछ तो बताओ।' कबीर ने आश्चर्य के साथ पूछा।

'अब बात न बनाओ, कबीर साहब। सामान तो घर भिजवा दिया और ख़ुद यहाँ बैठे हो।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया, 'देखते नहीं, मैं स्वयं आपके घर से यह गठरी बाँधकर ला रहा हूँ।'

कबीर चुपचाप सुनते रहे। वह राम का चमत्कार प्रत्यक्ष देख रहे थे। वह मन-ही-मन बोले, 'मेरा कर्त्ता महान् है। उसके बिना यह आदर कौन दे सकता है?' सभी ब्राह्मण कबीर के सम्मुख नतमस्तक हो गए थे।

सिकंदर से शिकायत

काज़ी था कि ईर्ष्या से जला जा रहा था। वह ऐसे अवसर की खोज में था कि कब कबीर से बदला लिया जाए! आख़िर वह दिन भी आ पहुँचा।

उन्हीं दिनों काशी में सिकंदर लोदी का आगमन हुआ।

लोदी वंश का यह सुलतान दिल्ली की गद्दी पर विराजमान था।

सिकंदर लोदी अत्याचारी तो था, किंतु ख़ुदा और धर्म से डरने वाला शासक था। बनारस का काज़ी और वहाँ के मुल्ला उसके कान भरने लगे। उन्होंने सुलतान को समझाया–'कबीर किसी को कुछ नहीं समझता। सभी को गालियाँ देता है। बड़ा ही घमंडी है। इस जुलाहे ने बड़ा ही तूफ़ान खड़ा कर रखा है। उसने मुसलमानों के रीति-रिवाज छोड़ दिए हैं। वह तो ख़ुद ख़ुदा बनने का दावा करता है।'

ब्राह्मणों ने भी इसे उचित अवसर समझा। वे भी शिकायत लेकर पहुँच गए। उन्होंने कहा, 'वह तीर्थ और वेद की निंदा करता है। व्रत-उपवास को बेकार की बातें बताता है। हिंदू और तुर्क दोनों से अलग अपनी रीति चलाता है। आप ही हमारे माता-पिता हैं। आप ही हमारी रक्षा करें।'

सिकंदर लोदी ने सोचा–यह अजीब फ़क़ीर है, जो न तो किसी मस्ज़िद में जाता है और न

किसी मंदिर में जाने को अच्छा समझता है।

बादशाह ने तुरंत दो सिपाहियों को भेजा और कबीर को दरबार में हाज़िर होने का हुक्म दिया।

कबीर आए। वह आराम से बादशाह के सामने खड़े हो गए। उनके चेहरे पर किसी प्रकार का डर नहीं था। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि क्या बात है? बस खड़े रहे।

काज़ी ने कहा, 'बादशाह को सलाम कीजिए।' किंतु कबीर ने ऐसा भी नहीं किया। इस पर बादशाह गुस्से से भर उठा।

सुलतान के गुस्से को भाँपकर काज़ी ने कहा–'तू काफ़िर है। तू हमारे धर्म के ख़िलाफ़ प्रचार करता है। तू मुसलमान और हिंदू दोनों को गालियाँ देता है। तेरे चेले भी यही सब करते हैं। इन शिकायतों की सफ़ाई में तुझे कुछ कहना है।'

कबीर ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया–'नहीं।'

दरबार में सन्नाटा छा गया। सभी की आँखें सुलतान की ओर थीं। कबीर के विरोधी मन-ही-मन ख़ुश थे कि अब तो इसे मौत की सजा मिलेगी। सिकंदर लोदी को भी कम आश्चर्य नहीं था। उसने ऐसे फ़क़ीर को कभी न देखा था। उसने पूछा, 'तुम अपना जुर्म मानते हो?'

'अगर किसी के दुर्गुण को दुर्गुण कहना बुराई है तो मैं ऐसा जुर्म करता हूँ और बार-बार करता रहूँगा। हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों को मानने वालों में ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ हैं, जिन्हें दूर करना ज़रूरी है। मैं यदि उनकी चर्चा करता हूँ तो मुझ पर दोष लगाया जाता है।' कबीर ने निर्भीकता के साथ कहा।

अपनी बात को साफ़ तौर पर बताओ। बादशाह ने हुक्म-भरे लहज़े में कहा। इस पर कबीर ने कहा–

यह सब झूठी बंदगी, बिरथा पंच निबाज।
साँचै मारै झूठि पढ़ि, काजी करै अकाज।

कबीर ने केवल काज़ी को ही नहीं, मुल्ला को भी खरी-खरी सुनाते हुए कहा–

काजी मुल्ला भरमिया, चल्या दुनी के साथ।
दिल थै दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ।

कबीर की वाणी में स्पष्टता थी। जो कुछ भी मन में था, वह सब- कुछ प्रकट था। कुछ भी तो नहीं छिपाया गया था। अब इसे स्पष्टवादिता कहें अथवा दोष। कबीर पर किसी प्रकार का बोझ नहीं था। उन्होंने बताया, 'मुझे हिंदुओं और तुर्कों से कुछ लेना-देना नहीं है। गुरु के प्रताप से राम की भक्ति करता हूँ और उसी के गुण गाता हूँ। राम के भरोसे रहकर मैं राजा या रंक सबको एक बराबर मानता हूँ।'

काज़ी ने कबीर की बात सुनी और फ़ैसला दिया, 'कबीर ने इस्लाम की निंदा की है। वह काफ़िर है। उसकी माला छीन लो, तिलक मिटा दो। इसकी सजा है कि इसे पत्थरों से पीट-पीटकर मार दिया जाए।'

कबीर ने कहा, 'काफ़िर मैं नहीं, तुम हो। कौनसी पुस्तक में गोकशी करने, मुर्ग़ा और बकरा काटने की आज्ञा दी गई है?'

यह सुनते ही बादशाह क्रोध से पागल हो उठा। उसने आज्ञा दी, 'इस फ़क़ीर के हाथ-पैर

 ISSN 0975-735X

बाँधकर इसे गंगा में फेंक दिया जाए।'

जल्लादों ने बादशाह के हुक्म का पालन किया, किंतु पानी में डालते ही कबीर की ज़ंजीरें टूट गईं। वे जल के ऊपर तैरने लगे। लोगों ने कहा, 'लगता है, यह कोई जादू-टोना जानता है।'

दूसरी बार उनके हाथ-पैर बाँधकर एक घर के अंदर डाल दिया गया। घर के चारों ओर आग लगा दी गई। मकान जलकर राख हो गया। राख तक हवा में उड़ गई। किंतु कबीर का बाल भी बाँका न हुआ।

सिकंदर लोदी का क्रोध भी अब तक शांत नहीं हुआ था। कबीर की मौत अहंकार को शांत करने के लिए आवश्यक थी।

उसने आज्ञा दी कि 'कबीर के हाथ-पैर बाँधकर उसे मदमस्त हाथी के सामने डाल दिया जाए।'

आज्ञा का पालन किया गया।

हाथी भी ऐसा कि अपनी छाया को भी जीव समझकर कुचलता रहता था। ऐसा बिगड़ैल हाथी कबीर के सामने छोड़ दिया गया। लेकिन लोग अचंभे से भरे रह गए।

हाथी ने कबीर की ओर देखा और देर तक उन्हें निहारता रहा। ऐसा लग रहा था, जैसे उसके सामने कोई शेर खड़ा हो।

आख़िर वह चिंघाड़ता हुआ वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

कबीर के पद इस बात का प्रमाण हैं कि उन पर इस प्रकार के अत्याचार अवश्य किए गए होंगे और ईश्वर की कृपा ने उनकी रक्षा की होगी।

गंगा में फेंके जाने के प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पद प्रस्तुत किया जाता है–

मन न डिगै तनु काहे को डराइ, चरन-कमल चितु रह्यौ समाई
गंग गुसाइनि गरि गंभीर, जंजीर बाँधि करि खरे कबीर
गंगा की लहर मेरी टुटि ज़ंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर
कहै कबीर कोई संग न साथ, जल-थल में राखै रघुनाथ।

हाथी के सामने फेंके जाने की घटना के संबंध में कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वयं प्रमाण हैं–

आहि मेरे ठाकुर तुम्हरा जोर, काजी बाकिबो हस्ती तोर
भुजा बाँधि मिला करि डार्‌यौ, हस्ती कोपि मूँड महि मार्‌यौ
भाग्यौ हस्ती चीसा मारी, या मूरति की हौं बलिहारी।

समाज-सुधार

दूसरे फ़क़ीरों और संन्यासियों की तुलना में कबीर का रास्ता बिलकुल अलग था। वे केवल अध्यात्म और मोक्ष की साधना में नहीं लगे रहे, समाज में फैली बुराइयों और विडंबनाओं को दूर करने का संकल्प भी उन्होंने लिया। ऐसा करने में कबीर अनेक स्थानों पर कठोर भी हो गए हैं।

उनका विचार था कि समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सुधारना होगा।

कबीर का युग पराधीनता का युग था। वर्ग-विद्वेष समाज के रक्त में मिल चुका था। अवर्ण-सवर्ण की खाई बढ़ती जा रही थी। मंदिरों में पूजा, भक्ति, अर्चन और ज्ञानोपार्जन शूद्रों के लिए वर्जित कर दिया गया था।

कबीर की आत्मा इस पारस्परिक दुर्व्यवहार से आहत हो गई। अस्पृश्यता के इस कलंक को मिटाने के लिए उन्होंने घोर संघर्ष किया।

उन्होंने घोषणा की कि जन्म से ही कोई शूद्र अथवा श्रेष्ठ नहीं हो सकता। यह सब तो मनुष्य के स्वार्थ की करामात है–

हम तुम्ह माँहि एके लौहू, एक पाँनि जीवन है मौहू
एकहि जननी जन्याँ संसारा, कौन ग्यान से भये निनारा।

सबके अंदर एक ही रंग का रक्त प्रवाहित है। सबमें समान प्राण व्याप्त हैं। सबको एक प्रकृति ने पैदा किया है। फिर कोई अलग-अलग, ऊँचा-नीचा कैसे हो सकता है?

इसीलिए कबीर ने कहा है कि हमें पारस्परिक भेदभाव का त्याग करना होगा। सबका कर्त्तव्य है कि वे मिल-जुलकर रहें। इसी में सबका कल्याण है–

सर्वभूत एके करि जान्याँ, चूक वाद-विवारा
कहि कबीर में पूरा पाया, भये राम परसारा

कबीर का मन ऊँच-नीच की भावना से दुखी था। इसके अतिरिक्त कबीर के हृदय में एक पीड़ा और भी थी।

सांप्रदायिक वैमनस्य ने समाज को क्षत-विक्षत कर दिया था।

हिंदू और मुसलमान दो ऐसे संप्रदाय थे, जिनमें हमेशा तनाव बना रहता था। कबीर ने सांप्रदायिक एकता स्थापित करने का अथक् प्रयास किया।

उन्होंने समझाया : मंदिर, मूर्ति और मस्ज़िद को लेकर झगड़ा करना व्यर्थ है। ईश्वर तो एक ही है, चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारा जाए। उसे किसी एक स्थान में खोजना मोटी बुद्धि का काम है :

जौर खुदाय मसीति बसत है और मुलिक किस केरा
तीरथ मूरति राम निवासा दुहु मैं हिनहूँ न हेरा।

तुम परमात्मा के हो सकते हो, यह बात तो समझ में आती है, लेकिन तुम उल्टा काम करते हो, तुम परमात्मा को अपना बना लेते हो। परमात्मा के हो जाओ, क्योंकि तुम बूँद हो, वह सागर है। समर्पण कर दो अपना। लीन हो जाओ विराट् में। यह बात समझ में आती है। लेकिन लीन तो कोई नहीं होता। लोग उलटे परमात्मा पर ही क़ब्ज़ा कर लेते हैं। बूँद सागर पर क़ब्ज़ा कर रही है। परिणामत: 'हिंदू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।'

परमात्मा तो तुम्हारा रक्षक है, किंतु तुम हो कि परमात्मा की रक्षा की दावेदारी कर रहे हो, कहीं मुसलमान आकर मंदिर की मूर्ति न तोड़ दे, कहीं मस्ज़िद में कोई हिंदू आग न लगा दे, कहीं कुरान का कोई अपमान न कर दे, कहीं गीता का कोई विरोध न कर दे।

तुम परमात्मा की रक्षा में जुट जाते हो। इस प्रकार जैसे तुम्हारा परमात्मा बड़ा असहाय है। जगह-जगह कुटेगा, पिटेगा, लोग आएँगे, मारेंगे, काटेंगे, तोड़ेंगे। तुम ही उसे बचा सकते हो।

हिंदुओं और मुसलमानों की इस अज्ञानता पर कबीर ने ढार-ढार आँसू बहाए हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो हिंदू के हृदय में दया है और न मुसलमान के मन में मेहर है। दोनों की करुणा समाप्त हो गई है। दोनों का प्रेम चुक गया है, किंतु खेद तो यह है कि दोनों ही खुद को समझदार और सयाना समझते हैं–

 ISSN 0975-735X

साधो देखो जग बौराना।
साँची कहौ तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।
हिंदू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना।
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नहिं जाना।
बहुत मिले मोहि नेमी धरमी, प्रात करै असनाना।
आतम छाड़ि पखाने पूजैं तिनका थोथा ग्याना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
पीपर पाथर पूजै लागे, तीरथ बर्त भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूलै आतम खबर न जाना।
घर-घर मंत्र जो देत फिरत है माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े, अंतकाल पछताना।
बहुतक देखे पीर औलिया, पढ़ैं किताब कुराना।
करै मुरीद कबर बतलावै, उनहुँ खुदा न जाना।
हिंदू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह वाँ झटका मारै, आग दोउ घर लागी।
या विधि हँसी चलत है हमको, आप कहावै सयाना।
कहै कबीर सुनो भई साधो, इनमें कौन दिवाना।

कबीर ने साफ़-साफ़ कहा– सांप्रदायिक व्यक्ति धर्म को नहीं जानता। वह कभी जान ही नहीं सकता। उस परमात्मा की खोज कहीं और करने की आवश्यकता नहीं। वह तो तुम्हारे अंदर विद्यमान है। मृग की नाभि में कस्तूरी की तरह–

कस्तूरी कुंडल बसै मृग ढूँढे वन माँहिं,
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।

कबीर को ऐसे कृत्यों को देखकर आश्चर्य होता है, जो जीव-हिंसा तक को धर्म कहते हैं। यदि हिंसा ही धर्म है तो अधर्म क्या है? कबीर का कथन है–

जीव बधत अरु धर्म कहत हो, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनि जन हैं बैठे कासन कहौं कसाई।

कबीर का धर्म प्रेम का धर्म है। कबीर का दर्शन मानवता का दर्शन है। कबीर की विचारधारा ममत्व से परिपूर्ण है। वहाँ पोथी-ज्ञान व्यर्थ है। प्रेम का झर-झर झरता झरना उनके विचारों के बीच प्रवाहित है। वे तो प्रेम के आखर को ही सब-कुछ मानते हैं। इसलिए तो कबीर ने कहा–

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।

जो साधक संपूर्ण जीवों के प्रति आत्मीय एकता स्थापित कर लेता है, वही सब प्रकार के आनंद पाता है। मुक्तानंद अवस्था का आनंद उसे ही प्राप्त होता है। उस अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीर की वाणी में–

अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई,
गूँगे केरी सर करा, बैठे ही मुसकाई।

ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया

कबीर ने स्वीकार किया है : जो पहिरा सो फाकिसी, नाम धरा सो जाइ।' इसी प्रकार आत्मा भी शरीर रूपी जो चोला पहनती है, वह भी समय आने पर पंचतत्त्व में विलीन हो जाता है।

कबीर ने अनुमान किया कि उनका अवसान-काल समीप है। अब इस शरीर को त्यागना होगा। आत्मा को परमात्मा में लीन करने का समय आ गया था।

वे काशी में थे। काशी मोक्ष की नगरी है। मृत्यु के समय हर व्यक्ति काशीवास की कामना करता है, किंतु कबीर तो क्रांतिकारी थे। उन्होंने घोषणा की, 'वे अब मगहर में जाकर रहेंगे।'

मगहर के विषय में यह अंधविश्वास प्रचलित था कि वहाँ पर मरने पर मुक्ति नहीं मिलती। कबीर तो जीवन-भर अंधविश्वास के विरुद्ध संघर्ष करते रहे थे। मगहर के इस कलंक को धोना आवश्यक था। अंधविश्वास का विरोध आवश्यक था।

इस घोषणा से कबीर के शिष्यों को बड़ा कष्ट हुआ। कबीर ने उन्हें समझाया–

लोगा तुम हौ मति के भोरा।
जउ कासी तनु तजहि कबीरा तौ रामहि कौन निहोरा।
जो जन भाउ भगति कदु जानैं ताकौ अचरजु काहो,
जैसें जल जलहीं ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिल्यौ जुलाहो।
कहे कबीर सुनहु रे लोगों मरमि न भूलौ कोई,
क्या कासी क्या मगहर ऊखर हृदै राम जो होई।

कबीर को विश्वास था कि मोक्ष के लिए स्थान नहीं, कर्म ही प्रधान होते हैं। भावभक्ति के भरोसे वे मगहर में प्राण छोड़ने पर भी अपने राम में इस प्रकार घुल-मिल गए जैसे पानी में पानी मिल जाता है।

जिसके हृदय में राम का वास है, उसके लिए काशी और मगहर में कोई भी तो अंतर नहीं। अगर काशी में मृत्यु होने पर ही मोक्ष मिलता है तो फिर राम की कौनसी बढ़ाई समझी जाए।

आख़िर कबीर मगहर पहुँच गए। वहाँ पहुँचने पर उनके भक्तों का एक मेला-सा लग गया। हर कोई उनके दर्शन की साध लेकर आता था। अंतिम दिवस उन्होंने सबको एकत्र किया। कबीर ने सबकी ओर देखा। सबने कबीर की आँखों में झलकते प्रकाश का अनुभव किया। तभी उनका एक भक्त गा उठा–

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहै के ताना, काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया
साँई को सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक के बीनी चदरिया
सो चादर सुर-नर मुनि ओढ़े, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

लोगों ने देखा कि एक ज्योति कबीर के शरीर से बाहर आई और आसमान की ओर चली गई। उपस्थित जनसमुदाय को विश्वास हो गया कि कबीर का महाप्रयाण हो गया है।

कबीर ने जीवन-भर अंधविश्वासों का विरोध किया। उन्होंने एकता, मित्रता, सहिष्णुता, आत्मीयता का उपदेश दिया, किंतु उनकी मृत्यु का समाचार मिलते ही एक विवाद छिड़ गया।

काशीनरेश वीरसिंह और उनके हिंदूभक्त चाहते थे कि कबीर का अंतिम संस्कार अग्नि में

 ISSN 0975-735X

जलाकर हिंदू-पद्धति से किया जाए। दूसरी ओर मुस्लिम अनुयायियों की कामना थी कि उनका संस्कार मुस्लिम मजहब के अनुसार दफ़नाकर होना चाहिए।

बात इतनी बढ़ी कि दोनों ओर से तलवारें खिंच गईं।

तभी एक आकाशवाणी हुई : 'व्यर्थ में एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे हो। जाओ, कुटी का दरवाज़ा खोलकर देखो।'

लोगों ने जब कुटिया का द्वार खोला तो वे आश्चर्यचकित रह गए। वहाँ कबीर का शव नहीं था। उसके स्थान पर फूलों का एक छोटा-सा ढेर पड़ा था।

दोनों संप्रदायों के भक्तों ने अपनी-अपनी आस्था के अनुसार कबीर का अंतिम संस्कार किया।

कबीर समर्पण की सही पहचान हैं।

अहंकार से लाखों कोस दूर।

समर्पण की भावदशा यह है कि जो भी दुर्गुण हैं वे मेरे हैं, जो भी सद्गुण हैं, वे तेरे हैं।

अब तो सब छोड़ रहा हूँ। दुर्गुण, सद्गुण सब तेरे चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। यही जीवन का रहस्य है।

जिस दिन कोई व्यक्ति परमात्मा में इस प्रकार समर्पित हो जाता है तो वह कबीर बन जाता है। एक ऐसा कबीर, जो कहता है :

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर,
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर।

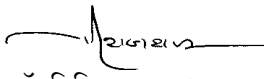

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

समीक्षा समिति

प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ नंदकुमार पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म॰प्र॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ संजीवकुमार, लेखक एवं साहित्यकार, नोएडा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ शशिप्रभा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)

अनुक्रम

'पहाड़ से ऊँचा' उपन्यास में मूल्यबोध/ **प्रो॰ डॉ॰ पी॰ व्ही॰ कोटमे** 19

गालिब छुटी शराब' के अनुभव से गुजरते हुए/ **डॉ॰ महेश दवंगे** 25

सत्ता और संस्कृति का अंतर्संबंध 'अधबुनी रस्सी : एक परिकथा' उपन्यास के संदर्भ में/ **डॉ॰ आशीष** 29

शैलेश मटियानी के कथासाहित्य में आम आदमी/ **अंजू देवी, डॉ॰ पुष्पा दुबे** 37

स्त्री-विमर्श के आईने में जैनेंद्र के उपन्यासों की एक पड़ताल/ **डॉ॰ अजय कुमार** 42

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में चित्रित सामाजिक समस्याएँ **अफीफा फातिमा शेक, डॉ॰ पूर्णिमा श्रीनिवासन** 46

गोपालदास नीरज के फिल्मी गीतों का सामाजिक सरोकार/ **अनिल कुमार 'अनिवार्य'** 50

बघेली लोकगीतों में मानवीय संवेदनाएँ/ **आरती सोनी, डॉ॰ एच॰एस॰ द्विवेदी** 57

अखिलेश की कहानियों में चित्रित मध्यवर्ग/ **अरविंद द्विवेदी** 61

ज्ञानरंजन की कहानियों में स्त्री-संवेदना/ **सरिता तिवारी** 67

हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध/ **डॉ॰ हंसराज चौहान** 72

राष्ट्रीय चेतना और बिरसा मुंडा/ **डॉ॰ बन्नाराम मीना** 78

हिंदी सिनेमा में वृद्ध जीवन/ **बेलमती पटेल, डॉ॰ अर्चना झा** 84

21वीं सदी के उपन्यासों में वैवाहिक स्थिति: समस्या और समाधान/ **ब्रजेश उपाध्याय** 89

हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में चित्रित नारी/ **डॉ॰ सुमन देवी** 94

पं॰ बालकृष्ण भट्ट की साहित्यिक पत्रकारिता/ **डॉ॰ बृजेंद्र कुमार अग्निहोत्री** 99

आजाद भारत में मिशनरी से पेशेवर बनी पत्रकारिता/ **डॉ॰ चंदन कुमार एवं नरेंद्र अनिकेत** 102

दलित साहित्य और सौंदर्यशास्त्र का सवाल/ **फातिमा बीवी॰ आर** 106

श्री गुरुग्रंथ साहिब में पर्यावरण चेतना/ **गगनदीप कौर, डॉ॰ राजिन्द्र पाल सिंह 'जोश'** 109

राष्ट्रीय स्वाधीनता समर का एक विस्मृत स्तंभ : जबलपुर नगर का झंडा सत्याग्रह/ **गोविन्द पांडेय, डॉ॰ आर॰के॰ बिजेता** 116

महाकवि भाई संतोख सिंह : जीवन और रचना/ **हरपाल सिंह** 121

फणीश्वरनाथ रेणु एवं नवकांत बरुवा के प्रमुख उपन्यासों में चित्रित स्त्री-पुरुष संबंध : एक तुलनात्मक अवलोकन/ **जैनेन्द्र चौहान** 127

त्रासद वक्त में उम्मीद का वितान रचती इंदिरा दाँगी की कहानियाँ/ **डॉ॰ कनकलता रिद्धि** 132
नेपाल की हिंदी पत्रकारिता की दशा और दिशा/ **डॉ॰ कविश्री जायसवाल** 137
तेजेंद्र शर्मा कृत 'दीवार में रास्ता' कहानी-संग्रह में बिखरता दांपत्य जीवन **डॉ॰ कृष्णा जून, कोमल** 142
संजीव कृत अहेर उपन्यास में ग्रामीण समाज का यथार्थबोध **लक्ष्मीन चौहान, डॉ॰ श्रद्धा चंद्राकर** 147
अमरकांत की कहानियों में सामाजिक समस्याएँ/ **मनीषा देवी** 151
स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री विमर्श/ **डॉ॰ मंगल ससाणे** 156
मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में सामाजिक-पारिवारिक विघटन/ **नीरज कुमार** 159
अवध का किसान आंदोलन : दिशा और परिणाम/ **ओंकारदत्त चतुर्वेदी** 164
स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों में विभाजन की त्रासदी और मानवीय संवेदना/ **निर्मला पटेल, डॉ॰ वर्षा वर्मा** 169
समकालीन सामाजिक व्यवस्था : चिंतन एवं चुनौतियाँ/ **पूजा शर्मा, डॉ॰ वंदना शर्मा** 174
संस्कृति, मीडिया और लोकप्रिय संस्कृति: अंतर-संबंधों का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य/ **पूजा सिंह** 180
भारतीय संस्कृति, साहित्य और हिंदी/ **प्रीति सिंह** 186
आधुनिकता का स्वर : मनु शर्मा के उपन्यास/ **कु॰ प्रियंका** 190
हरिशंकर परसाई कृत 'रानी नागफनी की कहानी' में व्यंग्य के विविध आयाम/ **डॉ॰ राजकुमार** 193
देश-विभाजन की त्रासदी और आजादी का अमृत महोत्सव/ **संगीता रामनाथ देशमुख, डॉ॰ विजयप्रसाद अवस्थी** 199
'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नारी चेतना/ **प्रा॰ कमलाकर नवघरे, डॉ॰ संतोष गिरहे** 204
भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता : एक शोधपरक अध्ययन/ **सरिता कुमारी** 210
भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर: जनजातीय चित्रकला/ **सबिता पॉल** 216
विनोद कुमार शुक्ल के काव्य में प्रकृति और पर्यावरण/ **सौरभ** 221
डिजिटल क्रांति और बालमन/ **डॉ॰ शीतल प्रसाद महेंद्रा, डॉ॰ सुरेश सिंह राठौड़** 225
विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियों में नारी/ **डॉ॰ सिंधु टी आई** 232
भारतीय काव्यशास्त्र का रस सिद्धांत: एक विवेचन/ **डॉ॰ सीताराम दोतोलिया** 237
सुरेश शुक्ल 'चंद्र' की एकांकियाँ : एक विश्लेषण/ **डॉ॰ सुपर्णा श्रीवास्तव** 240
उषा प्रियवंदा के उपन्यास पचपन खंभे लाल दीवारें में पारिवारिकता/ **डॉ॰ सुनीता** 244
घनानंद का काव्य : प्रेम का स्वच्छंद स्वरूप/ **डॉ॰ स्वीटी रानी** 250
हिंदी सिनेमा में लोकतत्त्व : कथा, भाषा एवं गीत के संदर्भ में/ **डॉ॰ राजेश कुमार** 253
हिंदी कवि प्रोफेसर जुगमंदिर तायल के काव्य में प्रगतिशील-सौंदर्य/ **डॉ॰ उमेश कुमार** 260
वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद की भूमिका/ **डॉ॰ विनोद कुमार** 267

नर-नारी के पारस्परिक संबंध : हिंदी के साठोत्तरी उपन्यासों के आलोक में/
डॉ॰ उर्मिला कुमारी 273
भारतीय राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्व/ **यशवीर सिंह** 279
महेंद्र भीष्म के उपन्यासों में चित्रित किन्नर समुदाय :
हाशिया से मुख्यधारा में आने का संघर्ष/ **डॉ॰ जाकिर हुसैन गुलगुंदी** 284
सुदामा चरित काव्य में सांस्कृतिक आदर्श/ **डॉ॰ अमितेश बोकन** 290
ट्रांसजेंडर के 'तन-मन' की व्यथा-कथा/ **डॉ॰ अमित कुमार** 294
रमेशचंद्र शाह के उपन्यासों में सामाजिक चेतना/ **अनिता मीणा, डॉ॰ रेणु वर्मा** 301
'रेत-समाधि' उपन्यास में पर्यावरण चेतना/ **बबीता, डॉ॰ निशा शर्मा** 309
सत्ता और संस्कृति का अंतर्संबंध : 'अधबुनी रस्सी : एक परिकथा'
उपन्यास के संदर्भ में/ **डॉ॰ आशीष** 316
हिंदी फिल्मों का विमर्शोन्मुख परिदृश्य/ **डॉ॰ भाऊसाहेब नवनाथ नवले** 322
संत संप्रदाय में गुरु परंपरा/ **दर्शना** 328
परशुराम शुक्ल एवं विनोदचंद्र पांडेय का सामाजिक और
सांस्कृतिक तुलनात्मक अनुशीलन/ **इंदरसिंह कदम** 334
यशपाल के उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में अभिव्यक्त सामाजिक चिंतन/
डॉ॰ कविता मीणा 340
आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और हिंदी उपन्यास/ **डॉ॰ भगवान गव्हाडे** 346
वैदिक साहित्य में प्रकृति पूजा एवं पर्यावरण/ **प्रो॰ ए॰वी॰ कौर, खुशबू रानी** 351
विस्थापन की त्रासदी 'छाको की वापसी' उपन्यास के संदर्भ में/
लक्ष्मीप्रिया बालकृष्णन 358
काशीनाथ सिंह की कहानियों में आंचलिकता/
प्रीति पांडेय, डॉ॰ राकेश कुमार तिवारी 363
भोजपुरी कविता में देश तथा राष्ट्र/ **डॉ॰ ममता पांडेय** 368
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की बाल-कविता :
बालमन के सरगम की मनोरम चित्रशाला/ **प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया** 372
त्यागपत्र में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन का यथार्थ/
कुमारी अंकिता, डॉ॰ अनिलकुमार पांडेय 379

'पहाड़ से ऊँचा' उपन्यास में मूल्यबोध

प्रो॰ डॉ॰ पी॰ व्ही॰ कोटमे
हिंदी विभागाध्यक्ष एवं अनुसंधान केंद्र समन्वयक
के॰टी॰एच॰ एम॰ महाविद्यालय, नाशिक, महाराष्ट्र
(सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे)

'पहाड़ से ऊँचा' उपन्यास डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' द्वारा लिखित है। यह उत्तराखंड और पर्वतीय राज्यों तथा पिछड़े इलाकों के लोगों की कठिनाइयों की ओर समाज तथा शासन का ध्यान आकृष्ट करता है। हिंदी के जमीनी लेखक डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक' जी ने पर्वतीय जीवन और पर्वतपुत्रों की त्रासदी के यथार्थ को अपने कथासाहित्य में दृढ़ता के साथ अभिव्यक्त किया है। प्रस्तुत उपन्यास में वहाँ के रिटायर फौजी, किसानों, महिलाओं, युवकों की स्थिति का यथार्थ चित्रण किया गया है। पर्वतीय जीवन में व्यक्ति, व्यक्तित्व और व्यक्ति के समक्ष विद्यमान समस्याओं को सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में उभारा गया है। दरअसल, उत्तराखंड देश का एक ऐसा पर्वतीय राज्य है, जहाँ की अर्थव्यवस्था की धुरी महिलाएँ रही हैं। जल, जंगल और जमीन की हिफाजत के अलावा वे यहाँ के सांस्कृतिक और सामाजिक ताने-बाने का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पहाड़ में कृषि का पूरा जिम्मा महिलाओं पर रहा है। वे हाड़-तोड़ मेहनत कर इस जमीन पर ही अपना जीवन समर्पित करती हैं। लेखक को वहाँ के समाज की आजादी के बाद सत्तर साल बीतने पर भी कोई विकास नजर नहीं आता। उसे पर्वतीय लोगों के सामाजिक जीवन से उजागर किया है।

डॉ॰ शशिभूषण सिंहल के अनुसार, 'सामाजिक उपन्यास का गुण है—गतिशीलता और गति उसमें समस्याओं के साथ बँधकर चलने से आती है। उपन्यासकार पाठकों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक कर, उनमें वर्तमान दशा के प्रति विद्रोह-भाव जगाता है और उन्हें वांछित जीवन-दिशाओं में अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार के साहित्य का प्रमुख अस्त्र यथार्थवाद है।'[1] लेखक ने पर्वतीय जनजीवन को सजीव रूप से चित्रित किया है। ऐसा लगता है कि सभी घटनाएँ हमारे सामने घटित हो रही हैं। लेखक की यथार्थ पर जबर्दस्त पकड़ है। क्योंकि 'यथार्थवादी में अंतर्दृष्टि, सूक्ष्मदृष्टि और असंलग्नता का भाव होना अपेक्षित है। उसकी विवरण-शक्ति में श्रोता या पाठक पर वांछित प्रभाव डालने की सामर्थ्य होनी चाहिए। वह यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते समय अपने तटस्थ भाव का परिचय देने के लिए कृति में स्वयं प्रत्यक्ष पदार्पण करता है। वह जीवन में समष्टि की अपेक्षा, व्यक्ति के चित्रण-उद्‌घाटन में अधिक रुचि लेता है।'[2] प्रस्तुत उपन्यास में ग्रामीण जीवन पर जो उनकी पकड़ है। मुख्य पात्र मोहन पर्वतीय क्षेत्र के गाँव-सुधार का जो प्रकल्प साधता है, वह बहुत आश्वस्तिदायक है। वह आदर्शवाद का चरम प्रस्तुत करता है। अस्सी के दशक के बाद से गाँवों का चरित्र जितनी तेजी से बदला है, इस बदलाव को गाँव की पृष्ठभूमि से जुड़े कथाकारों ने अपने कथानुभव का हिस्सा बनाया है। संवेदनात्मक गतिशील जीवन का अंकन उपन्यास में होता है और उस गति को व्यक्त करती हैं विभिन्न घटनाएँ। उपन्यास में व्यक्त मानव-जीवन मनुष्य के सामाजिक जीवन या संबंधों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य होता है। सामाजिक

उपन्यास, समाज के विभिन्न क्षेत्रों का चित्रण तथा उनकी समस्याओं का निरूपण करते हैं। उपन्यासकार सामाजिक जीवन के साथ, व्यक्ति के अंतर्गत का विश्लेषण ठीक चिकित्सक की भाँति उसी की भाषा में करता है।

उपन्यास का आरंभ सेना में 32 साल की नौकरी के बाद रिटायर ऑनरेरी कैप्टन शंकरदत्त के गाँव में आकर बसने से हुआ है। उनसे पहले रिटायर सेना सूबेदार गोपालदत्त, मोहनसिंह विष्ट तथा अन्य साथी देहरादून, रुड़की और कोटद्वार में बस चुके थे। यहाँ लेखक ने गाँव तथा पहाड़ से पलायन रोजी-रोटी के लिए ही नहीं, सुरक्षित जीवन के लिए भी करते हुए दिखाया है। उनके संगी साथी जब शहर में बसने की बात करते, तो शंकरदत्त का मन व्यथित हो जाता। लेकिन उन्होंने रिटायर होने के बाद गाँव में बसना तय कर लिया। कैप्टन शंकरदत्त को तीन लड़ाइयों में जीवनदान मिला था। इसीलिए वे रिटायरमेंट के आखरी दिन रेजिमेंटल मंदिर में जाकर भगवान बदरीविशाल को नमन कर आभार व्यक्त करते हैं कि उनके आशीर्वाद से ही वे 32 साल निर्विघ्न नौकरी करके अपने गाँव लौटे थे।

गाँव के घर आकर कैप्टन शंकरदत्त के तीन-चार महीने कैसे गुजर गए, उन्हें पता ही नहीं चला। घर में पत्नी, लड़की शांति, उससे चार साल बड़ा लड़का प्रकाश था, जो बी॰ए॰ पास कर प्रायवेट एम॰ए॰ कर रहा था। वैसे तो शिक्षा मनुष्य की शक्ति और विवेक की प्रतीक होती है, लेकिन देश में बेकारी एक अहम समस्या है। प्रकाश को बेरोजगारी की मार ने व्यावहारिक धरातल पर ला पटका था। उसे अपनी नौकरी की चिंता के साथ छोटी बहन शांति के विवाह की भी चिंता सता रही थी। पहाड़ में लाख हाथ-पाँव मारते हुए भी रोजगार नहीं मिल सकता था। वह जल्दी नौकरी पाना चाहता था, क्योंकि उसे उन सिद्धांतों में विश्वास नहीं था, जो दूरगामी लाभ देनेवाले हों, वह तात्कालिक लाभ में विश्वास करता था। डॉ॰ विजयलक्ष्मी के शब्दों में, 'जीवन के इस अस्तित्व संग्राम में व्यक्ति ने दर-दर की ठोकरें खाकर, घाट-घाट का पानी पीकर यह अनुभव पा लिया कि दुनिया में धन ही सब कुछ है। धन जीवन के सभी मूल्य अर्थ में सिमट आए और आर्थिक मूल्य ही एकमात्र जीवनमूल्य बन गया है।'[3] इसी सोच में वह अपने सहपाठी रमेश से, जो दिल्ली में छोटी-सी नौकरी कर रहा था, दिल्ली में नौकरी खोजने की बात करता है। लेकिन रमेश दिल्ली महानगर की समस्याओं का जिक्र कर उसकी बात टाल रहा था। प्रकाश के बहुत अनुरोध पर रमेश इस शर्त पर तैयार हो गया कि वह पहले माता-पिता की अनुमति ले। वह माता-पिता से बहुत अनुनय-विनय करता है, अंततः वे भी मान जाते हैं। बीमार माता को अपनी बेटी शांति के विवाह, भतीजे मोहन, जो डॉक्टरी की पढ़ाई शहर में कर रहा है, की पढ़ाई का खर्च भेजने की चिंता और परिवार का खर्च आदि समस्याएँ सता रही थीं। कैप्टन शंकरदत्त की पेंशन पर यह सब चलाना मुश्किल था। दिन-प्रतिदिन माँ को शांति के विवाह की चिंता सताने लगी थी। कैप्टन शंकरदत्त अच्छे लड़के की तलाश में पंडित जी से मिलकर दिनरात एक किए हुए थे। इसी बीच गोपालदत्त एक रिश्ता लगभग साठ किमी. दूर के गाँव का लाते हैं। सूबेदार सोमेशचंद्र का लड़का हरिकृष्ण औसत पढ़ा-लिखा था, उसकी माँ नहीं थी। दोनों समधी सेवानिवृत्त फौजी थे। शांति और लड़के हरिकृष्ण की जन्मकुंडली का मिलान किया गया। कैप्टन शंकरदत्त ने प्रकाश की माँ से कहकर शांति की भी राय ले ली। माँ के पूछने पर शांति ने सिर्फ इतना कहा कि 'आप माँ-बाप हैं, जो करेंगे अच्छा ही करेंगे।' इस हाँ से शादी की तारीख तय हो गई। शांति की शादी के लिए प्रकाश दिल्ली से छुट्टी लेकर पिताजी का हाथ बटाने आ गया था। हरिकृष्ण और शांति का विवाह बड़ी धूमधाम

से संपन्न हुआ। शांति की विदाई के बाद सारा घर सूना-सूना हो गया।

शांति के विवाह के बाद दिल्ली लौटकर भी प्रकाश बैचेन था। उसे हर पल घर की चिंता सताती। उधर शांति के आने के बाद सूबेदार सोमेशचंद्र के घर रौनक लौट आई थी। शांति ने अपने कार्यकुशल व्यवहार से सभी का मन मोह लिया था। उसका पति हरिकृष्ण दिन-भर टैक्सी चलाता और शाम को दिन भर की कमाई शांति को सौंप देता। ससुर जी घर की चाबी पहले ही बहू को सौंप कर चिंतामुक्त हो गए थे।

कैप्टन शंकरदत्त का भतीजा मोहन डॉक्टरी की पढ़ाई कर अपनी मंजिल पाने के करीब था। 'शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भावी समाजिक जीवन की सफल योजना या तैयारी करना है।'[4] मोहन की बचपन से एक ही प्रबल इच्छा थी कि वह डॉक्टर बनकर दूरस्थ ग्रामीण इलाकों में सेवा करे। गाँव के जनजीवन के दु:ख-दर्द को उसने निकटता से देखा, भोगा और जाना था। सचमुच कितनी कठिन जिंदगी है पहाड़ के गाँवों की। स्कूल है तो अध्यापक नहीं है। गाँव में स्वास्थ्य सुविधाएँ एवं अन्य प्राथमिक सुविधाएँ न होने के कारण ही लोग शहरों में पलायन करते जा रहे हैं। गाँवों में आज भी दूर कहीं कोई अस्पताल है, तो डॉक्टर नहीं हैं और डॉक्टर है तो दवाएँ नहीं। इसी वेदना ने मोहन को डॉक्टरी की शिक्षा काी इस मंजिल तक पहुँचाया था। मोहन अपने अभावमय अतीत को आज भी भूला नहीं था। उसके सामने कई विकल्प थे फिर भी वह चाचा शंकरदत्त के संस्कारों को सीने से लगाए हुए है कि अपना कार्यक्षेत्र ग्रामीण-जीवन ही रखेगा। मोहन का यह डॉक्टरी का अंतिम वर्ष था। वह आखिरी समय भी आया गया था। आज मेडिकल कॉलेज का दीक्षांत समारोह होना है। कार्यक्रम का प्रारंभ प्राचार्य के संबोधन से हुआ। उन्होंने कहा, 'मानवता की सेवा ही अब आपका परम धर्म है। आप लोग अपने-अपने कार्यक्षेत्र में जाकर दीन-दुखियों, पिछड़ों, मुफलिसों, कुचलों की सेवा कर अपनी पढ़ाई को सार्थक करेंगे। समाज में डॉक्टर को भगवान का रूप माना जाता है। मरीज डॉक्टर के मधुर व्यवहार से ही आधा स्वस्थ हो जाता है।....समाजसेवा ही आपका एकमात्र प्रथम और अंतिम परम धर्म है। देश, काल, धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ग, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, शांतिकाल-युद्धकाल, मित्र-शत्रु और मजहब की सभी सीमाओं से ऊपर-उठकर मानवता की सेवा ही आपका उद्देश्य होगा।' डॉक्टरी प्रशिक्षण की अवधि में दो दर्जन से अधिक शोधपत्र एकल या ख्यातिलब्ध वैज्ञानिकों के साथ अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय चिकित्सा-जगत को प्रदान किए हैं। इस समारोह में सबसे बढ़कर मोहन ही था, उसे सबसे अधिक अंक भी मिले थे। वह अपनी कर्तव्यनिष्ठा, लगन और परिश्रम के कारण विगत, पाँच साल से सबका मन मोहने में सफल रहा है। सबसे अव्वल आने के कारण दीक्षांत समारोह में उसे बोलने का अवसर दिया गया। उसने कहा, 'प्रात:स्मरणीय श्रद्धेय गुरुजन एवं जागरूक प्रिय साथियो! आज मेरे बचपन का सपना साकार हुआ है। अब वह दिन आ गया है जब मैं दूर-दराज के पहाड़ी ग्राम्यांचलों में जाकर असहाय और गरीब लोगों की सेवा का सुअवसर प्राप्त कर सकूँगा, जहाँ अभी भी प्राथमिक सुविधाएँ नहीं हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क और स्वच्छ पेयजल के मामले में लोग शताब्दियों पीछे हैं। किंतु वहाँ के लोग भोले हैं, सरल हैं, सरस हैं, सहज तथा निष्कपट भी हैं।' यहाँ हमें गांधी जी का संदेश याद आता है कि गाँव की ओर चलो, जिसे लेकर कई साहित्यकारों ने रचनाएँ लिखी हैं। जो मोहन कहता है, 'वास्तव में भौतिकवादी चकाचौंध से दूर ऐसे नैसर्गिक स्वस्थ वातावरण में कार्य करने का परम आत्मिक आनंद है। मुझे समझ नहीं आता कि क्यों लोग नगरों की ओर भागे जा रहे हैं। धुआँ, धूल, धक्के, प्रदूषण, कोलाहल, कृत्रिम संबंध, कृत्रिम भोजन, कृत्रिम व्यवहार और भी न जाने क्या-क्या कृत्रिम

ही तो है।' यह सुनकर तालियों की गड़गड़ाहट गूँजने लगी। उसने आगे कहा, 'ग्रामीण पहाड़ी क्षेत्रों में डॉक्टरों की शून्यता को भरने का कार्य हम नौजवान नहीं करेंगे तो भला कौन करेगा? जयहिंद, जय उत्तराखंड।'

इसके बाद प्रमुख अतिथि ने कहा, 'आज मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई डॉक्टर मोहन के विचारों को सुनकर, जिन्होंने दूरस्थ ग्रामीण पर्वतीय क्षेत्रों को प्राथमिकता दी है। आज देश से प्रतिभा का पलायन हो रहा है। उच्चस्तरीय प्रतिभाओं की मातृभूमि के प्रति मोहभंग की स्थिति गंभीर चिंता एवं चिंतन का विषय है। अपने गाँवों में रहकर भी नोबल प्राइज प्राप्त कर सकते हैं। इसी से हम विश्वगुरु की पदवी पुनः प्राप्त करेंगे। गांधीजी ने कहा था कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। हमारी कृषि-व्यवस्था पशु पर आधारित है, अर्थ-व्यवस्था का आधार ही गाँव हैं। गाँवों से बढ़ता पलायन शहरों को विकृत बना देता है। गाँव उजड़ रहे हैं और शहर सिकुड़ रहे हैं।'[5]

इस तरह मेडिकल कॉलेज का दीक्षांत समारोह संपन्न हुआ। मोहन डिग्री पाकर भविष्य के बारे में सोचते-सोचते सो जाता है, उसे नींद में अपने पिताजी के दर्शन होते हैं। वे आशीर्वाद दे रहे हैं, 'बेटा मोहन। बेसहारों का सहारा बनना, गरीबों की सेवा करना और अपने अतीत को कभी न भूलना।' अपने बाबूजी के दाहसंस्कार के समय मोहन ने मन ही मन निश्चय किया था कि वह भविष्य में डॉक्टर ही बनेगा, ताकि किसी और मोहन के बाबूजी की तरह कोई फिर से डॉक्टर के अभाव में तड़प-तड़पकर दम तोड़ दे। अब उसे गाँव और घर की याद सताने लगी। वह अपने चाचा को पत्र लिखकर डॉक्टरी की उपाधि पाने और गाँव वापस आने की खबर देता है।

मोहन अपने डॉक्टरी प्रशिक्षण में अनेक सहपाठियों का प्रिय हो जाता है। इनमें सबसे अधिक नजदीकी उसकी गीता से हो जाती है। वह उसके घर हमेशा जाता था। मोहन सिद्धांतवादी था, नियम का पक्का, आदर्श एवं यथार्थ के मिश्रित व्यक्तित्व का धनी। उसकी सादगी, सिद्धांतप्रियता एवं अपनी जड़ों को न छोड़ने अर्थात अपने देश अपने गाँव की सौंधी माटी के प्रति उसके विशेष लगाव से गीता के माता-पिता उससे खासे प्रभावित थे।

गीता के पिता नरेंद्रनाथ और मोहन शतरंज खेलते हुए महिलाओं पर विचार व्यक्त करते हैं, 'महिलाओं को समान अधिकार प्राप्त है। पर आपकी दृष्टि उन दूर-दराज गाँवों पर भी पड़ती है कभी, जहाँ महिलाएँ आजादी के इतने सालों के बाद भी प्राथमिक सुविधाओं के लाभ से वंचित हैं। उनमें एनीमिया, टी॰बी॰ जैसी बीमारियाँ आम हैं, जो चौबीस में अट्ठारह घंटे कार्य करती हैं। स्त्री के प्रति भेदभाव जारी है। धरती पर आने से पहले ही उसे नष्ट करने का कर्म अनवरत जारी है। भ्रूण से लेकर कब्र तक उस पर खतरे ही खतरे बने हुए हैं। चंद मुट्ठी भर महिलाओं के आगे बढ़ने या फिर कुर्सी सँभालने या फिर खेल का मैदान मारने, अंतरिक्ष में पहुँच जाने या एवरेस्ट चढ़ने से महिलाओं की उन्नति को सर्वांगीण उन्नति नहीं कहा जा सकता है। वह उच्च उपाधि के साथ एक उच्च कोटि की सहेली को भी पा जाता है। गीता के माता-पिता का मन जीतकर वह उसे लेकर अपने गाँव ले जाता है। गीता एक नए परिवेश में पदार्पण करती है। मोहन को गाँव आकर बारह साल पुरानी बातें याद आती हैं कि डॉक्टर के इंकार कर देने से उसके पिताजी की टी॰बी॰ से मौत हो गई थी। 'हम दुःख की अवस्था में जब सच्चाई का सामना करते हैं, तो दुनिया बड़ी बेदर्द, निर्दयी और स्वार्थी जान पड़ती है। किस्मत में जो लिखा है वह होकर रहता है। कलम का लिखा और कपाल की रेखाएँ भला कौन मिटा सकता है?'[6] अतः छोटी उम्र में बड़ा बोझ जब सिर पर आ जाता है, तब व्यक्ति समय से पहले परिपक्व हो जाता है।

मोहन और गीता का गाँव में गर्मजोशी से स्वागत होता है। अपने जीवन में कामयाब होने के साथ समाज को बेहतर बनाने के लिए सकारात्मक और गुणात्मक नजरिया अपनाने की जरूरत है। कुछ लोग समाजसेवा से शुरुआत करते हैं, तो कुछ अपनी पसंद की चीजों से, लेकिन जब वे उस काम में जुनून की हद तक लग जाते हैं तो वह उनके लिए जीवन की सार्थकता बन जाता है।

मोहन गाँव में ही चाचा जी की सलाह से क्लीनिक खोलने की इच्छा व्यक्त करता है। गीता उसका हाथ बँटाती है। दोनों कंधे से कंधे मिलाकर गरीब मरीजों की सेवा में लग जाते हैं। अमीर-गरीब जो भी मरीज आते संतुष्ट होकर जाते तथा आशीष देकर जाते। किसी का मुफ्त में इलाज करते तथा किसी को ऊपर से आर्थिक मदद देते। मोहन और गीता के विवाह को माता-पिता सहर्ष सहमत हो जाते हैं। दोनों का गृहस्थ आश्रम में विधिवत् पदार्पण हो जाता है। मोहन को टी॰बी॰ की बीमारी के निदान हेतु उसके द्वारा खोजे गए अचूक टीके पर उसे ऑल इंडिया मेडिकल काउन्सिल की ओर से 'राष्ट्रीय युवा वैज्ञानिक का पुरस्कार' तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय का 'युवा प्रतिभा सम्मान' भी प्राप्त हो जाता है। विवाह के बाद उन दोनों की मानव सेवा दिनोंदिन बढ़ रही थी। सही दिशा में और सुनियोजित रणनीति के तहत ईमानदारी से की गई मेहनत से सफलता की संभावना बढ़ जाती है। इसी बीच नए अस्पताल का निर्माण कर मानवसेवा का कार्य और बढ़ाते हैं। मोहन की कर्मनिष्ठता पर चाचा और चाची को गर्व था।

इधर प्रकाश दो साल के अंदर तीन नौकरी बदल चुका था। जहाँ वर्तमान ही सुखमय नहीं था तो भविष्य की सुरक्षा दूर की कौड़ी ही थी। रमेश का भी मशीन में हाथ कट गया था, उसे कंपनी वालों ने चलता कर दिया था। प्रकाश और रमेश भी दिल्ली की व्यस्तता भरी जिंदगी से वापस बीमारी के कारण वापस आ जाते हैं। उधर शांति के पति शराब की लत के कारण बरबाद हो जाता है। हरिकृष्ण शराब पीकर देर से घर आने लगा था। एक दिन उसकी गाड़ी से कुछ लोग घायल हो जाते हैं। इसके बाद हरिकृष्ण गाड़ी चलाना छोड़ देता है और नए व्यवसाय की तलाश करते-करते ससुराल डॉक्टर मोहन के पास एंबुलेंस चलाने आ जाता है। रमेश को तकनीकी ज्ञान था। प्रकाश पढ़ा-लिखा था। यह सब मोहन और गीता की सहायता करते हैं। अब सब मोहन के सहारे गाँव में गरीबों के लिए एक अस्पताल खोलकर अपने-अपने बलबूते पर मानवसेवा कर रहे हैं।

निष्कर्षत: किसी लेखक के सामने जो घटित होता है, सिर्फ वही रचना नहीं है बल्कि अपने चारों ओर देखने के बाद आपके भीतर जो घटित हो रहा है, वह रचना होती है। यानी निजी अनुभव ही सर्जनात्मक अनुभव में बदल जाता है। अत: लेखक ने आम आदमी के भीतर की शक्ति और जिजीविषा को पहचाना और रेखांकित किया है। उनके पात्र अपने हालात से समझौता नहीं करते, बल्कि उससे लड़ते हैं। वे अपने परिवेश और समाज से सरोकार रखते हैं और समस्याओं का साहस तथा नैतिकता से सामना करते हैं। इस वास्तविकता को लेखक एक आदर्शवाद के धरातल तक ही नहीं ले जाते बल्कि पाठक को सही और सत्य के पथ पर मोड़ देते हैं। कुसुम वार्ष्णेय के अनुसार 'एक समर्थ उपन्यासकार कभी दूसरे के सत्यान्वेषण को नहीं दुहराता। अपने जीवनानुभवों और अध्ययन-मनन से वह जिन अर्थों की खोज करता है, उन्हें ही अपने उपन्यास के माध्यम से संप्रेषित करता है।'[7] अत: साहित्य की कोई भी विधा समकालीन समाज की चित्तवृत्ति की वाहक होती है। हर समय के साहित्य के लिए यही सच है। सच्चे साहित्य का उद्देश्य सदैव समाज को मानवीय और मानव को सामाजिक बनाना रहा है। आज हम एक बाजार में जी रहे हैं। यहाँ वस्तुस्थिति को खबर और खबर को बिकाऊ बनाया जाता है। लेखक 'निशंक' जी यथार्थवादी और जनपक्षीय साहित्यकार

हैं। उनका प्रयास रहा कि यथार्थ के भीतर का जो लगभग अदृश्य-सा यथार्थ है, उसे भी मूर्त आकर में प्रकट कर दें। वह सच्चे अर्थों में सतह से उठते आदमी की कथा कहते हैं। प्रस्तुत रचना का सूत्र यही है कि वे मनुष्य, प्रकृति, सच्चाई, बेकारी, करुणा, संवेदना, मेहनत, संघर्ष और मानवीय मूल्यों की स्थापना के पक्ष में खड़े साहित्यकार हैं। उपन्यास जिस मोड़ पर समाप्त होता है, ठीक उसी जगह से पाठकीय चेतना में उनके प्रारंभ का सिलसिला शुरू होता है।

संदर्भ

1. हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृ॰ 36
2. वही, पृ॰ 37
3. समकालीन हिंदी उपन्यास समय से साक्षात्कार, पृ॰ 35
4. वही, पृ 56,41, 23
5. पहाड़ से ऊँचा, डॉ॰ रमेश पोखरियाल 'निशंक', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 27
6. वही, पृ॰ 32
7. उपन्यासों के रचना-प्रसंग, पृ॰ 23

मो. 9850760866
kotamepv26@gmail.com

ISSN 0975-735X

'गालिब छुटी शराब' के अनुभव से गुजरते हुए...

डॉ॰ महेश दवंगे, सहायक अध्यापक, हिंदी विभाग
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

'गालिब छुटी शराब' पढ़कर लग रहा है कालिया जी ने शराब छोड़ी है मगर शराफत नहीं छोड़ी है। वह जिस मर्यादा के साथ सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं, वह काबिले तारीफ है। हिंदी में इस तरह का शरारती गद्य कम लिखा गया है—यश मालवीय, इलाहबाद।

हिंदी साहित्य में संस्मरण विधा को अलग मोड़ प्रदान करने में 'गालिब छुटी शराब' का महत्त्व अनन्य साधारण है। रवींद्र कालिया ने अपनी कलम की जादू से स्मरणीय अनुभवों को किताब में भर दिया है। जिसे पढ़ते समय पाठक रचनाधर्मिता के वशीभूत होकर रचना से विशेष जुड़ाव महसूस करता है। इसमें प्रसंगों की रोचकता, साहित्यकारों का संघर्ष, लेखक का जीवन संघर्ष आदि को बड़ी ही सहजता से अभिव्यक्त किया गया है। 'चंद्रकांता' उपन्यास को पढ़ते समय आगे क्या होगा? यह प्रश्न पाठक को रचना से जुड़ने के लिए मजबूर करता है, वही अनुभव इस संस्मरण को पढ़ते वक्त महसूस किया जा सकता है। कालिया ने शराब के बहाने अपने व्यक्तित्व के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्ष को संतुलित ढंग से व्यक्त किया है। शायद शराब नशे को छोड़ देगी लेकिन इस रचना को पढ़नेवाला अपने आप नशे से सराबोर होकर गुजरेगा। यह रचना पाठक को हर बार नई और रुचिकर लगती है। अक्सर ऐसा होता है कि संस्मरण या आत्मकथा में लेखक कई बार अपना महिमामंडन करता है। लेकिन कालिया जी ने तटस्थ एवं निष्पक्ष रहकर अपनी कमजोरियों का भी इजहार किया है। इसमें दु:ख-दर्द को इस तरह अभिव्यक्त किया गया है कि पाठक के चेहरे पर मुस्कान होती है किंतु दिल भीतर रोता रहता है।

'गालिब छुटी शराब' यह रचना भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित हुई है। अब तक इस रचना के कई संस्करण निकल चुके हैं। इसमें एक कसावदार भाषा का प्रयोग हुआ है, जिससे सामान्य घटनाएँ भी रोचकता से भर गई है। गद्य में लिखी गई यह रचना कहीं-कहीं काव्य को पढ़ने का भी अनुभव कराती है। कई नए मुहावरों एवं कहावतों का गठन इस भाषा के सौंदर्य में चार चाँद लगाता है। जैसे, 'एक खाते-पीते और दूसरे पीते-पीते।' इस प्रकार के मुहावरों से रचना को नई उर्जा मिली है। शायद हमने भी आज तक खाते-पीते ही सुना था लेकिन पीते-पीते यह शब्द सुनकर अपनी हँसी रोक न सका। दरअसल, 'गालिब छुटी शराब' में कालिया एवं शराब के बीच होनेवाले द्वंद्व को उजागर किया है, जिसमें अंतिम विजय कालिया को ही प्राप्त होती है। शराब का रवींद्र कालिया जैसे व्यक्तित्व पर हावी होना और उसको बिना किसी हिचकिचाहट अभिव्यक्त करना उनके प्रति स्नेह से भर देता है। मुझे लगता है यह रचना केवल शराब और कालिया के बीच का संघर्ष नहीं है बल्कि सामान्य धरातल से उठकर श्रेष्ठ साहित्यकारों की पंक्ति में अपना स्थान निर्माण करने तक की संघर्ष यात्रा का विवरण हँसी का जामा पहनाकर यहाँ हुआ है। कालिया जी का संघर्ष असीमित रहा है। किसी साधारण व्यक्ति के लिए साहित्य जगत में लेखक, संपादक के रूप में

पहचान बनाना मुश्किल है। कालिया जी ने उस मुकाम को हासिल किया. इस सफर में न उन्होंने कभी जिंदगी से समझौता किया न कलम से। राख से उठकर आसमां तक पहुँचने का सफर कालिया जी ने पूरा किया है। उनके इसी संघर्षपूर्ण जीवन पर वरिष्ठ साहित्यकार अमरकांत जी कहते हैं, 'गालिब छुटी शराब' करीब उपायहीन आत्मविनाश के कगार पर खड़े एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति की कहानी है, जो अद्‌भुत जिजीविषा एवं रचनात्मक इच्छाशक्ति से कर्म और उम्मीद की दुनिया में वापस आता है। आप सचमुच नहीं जानते कि यह चमत्कार कैसे हो जाता है। दूसरी खूबी इस रचना की यह है कि आज के समाज (सिर्फ लेखक नहीं) के अनगिनत लोगों की कथा है। तीसरी बात की यह त्रासद विनाशकारी ज्वार में बुरी तरह फँसे ऐसे व्यक्ति के उबरने की ऐसी कथा है यह जो दार्शनिक हास्य शैली में कहीं गई है।' दरअसल, कालिया का संघर्ष उन सभी के लिए आदर्श है, जो जीवन से हार मानकर अपने सपने और लक्ष्य से समझौता करते हैं।

कालिया का संघर्ष हर व्यक्ति को जीवन संघर्ष की प्रेरणा देता है। उन्होंने अपनी जिंदगी बेखौफ और निडर होकर जी है। वे हमेशा सुख-दु:ख की दहलीज पर खड़े रहे और हमेशा जिंदगी से दो हाथ किए। यही वजह हैं कि जिंदगी में केवल शराब से हारता कालिया का व्यक्तित्व वहाँ भी अपनी जीत का परचम लहराता है। शराब को पीना छोड़ने के कई संकल्प को कचरे का डिब्बा दिखानेवाले कालिया शराब के कारण उनके वैयक्तिक जीवन में क्या बदलाव आए, इससे कौन आहत हुआ? सभी का बड़ा ही मर्मांतक वर्णन करते हैं, 'मगर मैं तय कर चुका था कि अब और नहीं पिऊँगा। इस जिंदगी से छककर पी ली है। अपने हिस्से की तो पी ही अपने पिता के हिस्से की भी पी डाली। यही नहीं बच्चों के भविष्य की चिंता में उनके हिस्से की भी पी गया। दरअसल, मेरे ऊपर कुछ ज्यादा ही जिम्मेदारियाँ थी।' दरअसल, नशे में चूर कालिया आर्थिक अभाव के चलते परिवार को खुशियाँ नहीं दे पाते। इस बात की गहरी टीस उनके भीतर थी। वे इस स्थिति से उभरने के लिए जी-तोड़ मेहनत करते हैं, किंतु अपनी स्थिति में बदलाव नहीं कर पाते। अक्सर निराश व्यक्ति नैतिकता का दामन छोड़ना चाहता है, कालिया के व्यक्तित्व का भी अध:पतन होने लगता है। शराब की लत हद से आगे बढ़ने लगती है। अब तो शराब पीने की अपनी आदत को पूरा करने के लिए माँ के दवाई के पैसे तक लेखक चोरी करते हैं। यह लत धीरे-धीरे लेखक पर हावी होने लगती है। कालिया जी कहते हैं, 'मेरी माँ की चिता धू-धूकर जल रही थी, तो मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं जेब से सिगरेट का नया पैकेट जलाकर राख कर दूँ, जो मैंने शमशानघाट जाने से जरा पहले मँगवाया था। सिगरेट मँगवाते समय भी मुझे बहुत ग्लानि और अपराधबोध हुआ था। अवसाद के उन मर्मांतक क्षणों में भी मैं अपनी क्षुद्रताओं और लालसाओं से ऊपर उठ नहीं पाया था।' लेखक ने बड़ी ही सच्चाई से अपनी कमजोरी को अभिव्यक्त किया है। यह साहस विरले रचनाकार ही कर पाते हैं। लेखक ने अपने जीवन के हर राज को सच्चाई से बेपर्दा किया है।

रवींद्र कालिया ने अपने बेरोजगार होने के समय को भी चित्रित किया है। हालाँकि एक नौकरी छोड़ने पर उनको कहीं-न-कहीं नौकरी मिल ही जाती थी। एक बार जब वे केंद्रीय हिंदी निदेशालय में इंटरव्यू देने के लिए जाते हैं, तो वहाँ भीड़ देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं, 'इंटरव्यू देने गया तो पता चला, एक अनार है और दर्जन भर बीमार।' बेरोजगारी की मार सहनेवाले कालिया को आखिरकार यहाँ नौकरी मिल ही जाती है और यही से उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में नया मोड़ आता है और दिल्ली स्थित टी हाउस जो शायद हर रचना की आलोचना का पहला मंच है अभिन्न हिस्सा बन जाते हैं। यह टी हाउस काफी प्रसिद्ध है, इसमें चाय पीने के लिए साहित्यकारों की भीड़

लगी रहती है। पूरा दिन वही बैठकर या शाम के वक्त टहलकर खूब चर्चाएँ की जाती। इसीलिए तो इस टी हाउस के संदर्भ में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जैसे, 'फाँसी पानेवाले एक व्यक्ति ने टी हाउस में कॉफी पीने की अंतिम इच्छा प्रकट की थी और उसे टी हाउस लाया गया था। नई कहानी का जन्म टी हाउस में हुआ था।' इस तरह यह टी हाउस हिंदी साहित्य के विमर्शों का अप्रत्यक्ष रूप से ही सही गवाह है। यहाँ लिखने एवं पढ़ने की मानो होड़ सी लगी रहती थी। यही कारण है कि कई भी नई पत्रिका आती वे सभी उसपर टूट पड़ते, 'कभी-कभार डाक से कोई नई रचना प्राप्त होती तो हम लोग भूखे शेर की तरह उस पर टूटते, जैसे किसी दुकान में बहुत दिनों के बाद कोई ग्राहक आया हो। हम लोग रचना के भाग्य का फैसला करने में जुट जाते।' इस संस्मरण में इलाहाबाद की सांस्कृतिक पहचान मिलती है। आधुनिक असहिष्णुता के दौर में भी हिंदू और मुस्लिम समाज के सांस्कृतिक एकता का चित्रण भी इसमें दिखाई देता है। एक-दूसरे की धार्मिक विधि का सम्मान करता यह शहर निश्चित ही तत्कालीन समय की एकतावादी भावना को ही प्रतिबिंबित करता है।

इलाहाबाद को लेखकों का शहर भी कहा जाता है। वादविवादों से गुजरती हुई लेखकों की इस दुनिया का लेखक ने अजीब शब्दों में वर्णन किया है। 'इलाहाबाद के नाम के साथ 'बाद' जरूर लगा है, मगर यहाँ 'बाद' कम वाद ज्यादा है, वादविवाद उससे भी ज्यादा है। मैंने इसी लोकभारती और काफी हाउस में वादविवाद को हाथापाई में तब्दील होते हुए भी देखा है। प्रकाशकों और लेखकों के बीच कुर्सियाँ भी चली हैं, पेपरवेट भी उछले हैं, प्याले भी टूटे हैं।' वादविवाद से गुजरती इस दुनिया का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। कालिया जी ने अपने समकालीन परिवेश की साहित्यिक जगत की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की है। साहित्य जगत का ईर्ष्या भाव, स्वार्थ, भेदा-भेद की राजनीति, लेखकों की नोंक-झोंक, अहम् भाव आदि का बेखौफ विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इस संस्मरण में तमाम लेखकों के जीवन संघर्ष के कुछ अनछुए पहलुओं को भी प्रकाश में लाया गया है। हर व्यक्ति अपने को खोकर ही कुछ हासिल करता है। लेखकों की दुनिया भी इस के लिए अपवाद नहीं है। जिंदगी की मार सहते-सहते ही अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाने में सभी लेखक कामयाब हुए हैं। जैसे, श्रीलाल शुक्ल, मोहन राकेश, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, अखिलेश, कामतानाथ, इंद्रनाथ मदान, धर्मवीर भारती, सत्यपाल आनंद, जगजीत सिंह, सुदर्शन फाकिर, संत सोनी, भाटिया साहब, जगदीश चतुर्वेदी, रमेश गौड़, फैज अहमद फैज, अशोक वाजपेयी, कुमार विकल आदि ऐसे तमाम साहित्यकार एवं मित्रों के जीवन संघर्ष को इसमें अभिव्यक्ति मिली है। खासकर मोहन राकेश एवं धर्मवीर भारती के साथ बिताए पल पाठक को उनके आंतरिक व्यक्तित्व से भी परिचित कराते हैं।

'गालिब छुटी शराब' की सबसे बड़ी विशेषता उसकी शरारती भाषा एवं रोचक प्रसगों का उद्घाटन है। भाषा रचना के आरंभ से लेकर अंत तक पाठक को बाँधकर रखती है। उसमें भी कई प्रसंग ऐसे आए हैं, जो पाठक को हँसते-हँसते लोटपोट करते हैं। मित्रवर कुमार विकल के साथ का उनका प्रसंग अलग ही अनुभव बयान करता है। उस समय लेखक की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' की धूम मची थी। सभी के जुबाँ पर कहानी दस्तक दे रही थी। ऐसे में किसी व्यक्ति द्वारा कुमार विकल को बताया गया कि यह कहानी कालिया ने उनको सामने रखकर ही लिखी है। क्योंकि कुमार विकल की पत्नी संयोग से नौ साल ही छोटी थी। यह सुनने पर कुमार विकल अपना आप खो देते हैं और बदला लेने के लिए निकल पड़ते हैं। टी हाउस में आने पर कालिया को पार्टी देने

के बहाने किनारे लेकर जाते हैं और पीटना शुरू कर देते हैं। कालिया ने इस प्रसंग को भी बड़ी ही रोचक भाषा में अभिव्यक्त किया है, 'मैंने जीवन में पहली बार पहला और आखिरी झापड़ खाया था, उसका आनंद ही न्यारा था, यानी मेरी आखों के सामने अँधेरा छा गया। एक ही झापड़ में कई काम हो गए। चश्मा टूटकर नीचे गिर गया, होठ कई जगह से कट गया, नाक से खून बहने लगा।' इस तरह के कई प्रसंग संस्मरण में जान भर देते हैं। हाउस वार्मिंग पार्टी का प्रसंग मित्रों की फजीहत का बड़ा ही मार्मिक वर्णन करता है। ऐसे प्रसंगों के उद्‌घाटन में कालिया की भाषा ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस खूबसूरत भाषा के कुछ उदाहरण निम्न तरह से...

* 'कहानी के कारण घाट-घाट का पानी पीने का नहीं घाट-घाट का दारू पीने का भी अवसर मिला।'
* 'जेब खाली हो तो भूख भी कुछ ज्यादा लगती है।'
* 'शराबी बीमार पड़ता है तो शराब की बहुत फजीहत होती है। मैं बीमार पड़ा तो शराब मुफ्त में बदनाम होने लगी। मुझे इस बात की बहुत पीड़ा होती। कुछ-कुछ वैसी जो आपके प्रेम में पड़ने पर आपकी माशूका की होती है, जब लोग उसे आवारा समझने लगते हैं।'
* 'मेरे तमाम रोगों का निदान दारू थी,दवा नहीं।'
* 'वही रात बाद में मेरे लिए कत्ल की रात साबित हुई यानी कि तय हो गया कि हम लोग शादी कर लेंगे।'
* 'गद्य और मद्य की अनूठी काकटेल थी।'

दरअसल, 'गालिब छुटी शराब' को पढ़ना एक बेहद रोमांच से गुजरना है। इसका शरारती गद्य और मार्मिक प्रसंग पाठक को पढ़ने के नशे से भर देते हैं। इसमें सुख और दु:ख का, हँसी और खामोशी का अनूठा मिलाप हुआ है। यह एक परिपूर्ण और संपूर्ण रचना है। इसमें न कुछ कम है न ज्यादा। कालिया जी ने अपने जीवन के अनुभव रूपी कुंजी को इस रचना निर्माण में उड़ेल दिया है। इसके हर पन्ने में एक अलग ही मस्ती भरी हुई है। यही वजह है जो भी इस रचना से गुजरता है रचना के नशे में चूर हो जाता है। इसमें सब समाहित है। इसमें वर्णित पिता एवं माता की मृत्यु का प्रसंग पाठक को गहरी कारूणिक संवेदना से भरता है, तो कई घटनाएँ हँसते-हँसते आखों को आसुओं भर देती है। यह महज संस्मरण नहीं, अपने समय की यादों का कोलाज है। इस कोलाज में जिंदगी का हर रंग मिला हुआ है। यही वजह है यह रचना हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। इसे पढ़ने पर ऐसा कहने को मन करता है 'गालिब छुटी शराब' पर 'न छुटी यह किताब'...

संदर्भ

1. रवींद्र कालिया, गालिब छुटी शराब, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013

Mob. 98 22 88 07 90
mdawange200@gmail.com

सत्ता और संस्कृति का अंतर्संबंध 'अधबुनी रस्सी : एक परिकथा' उपन्यास के संदर्भ में

डॉ॰ आशीष, सहायक प्राध्यापक
संत क्लारेट महाविद्यालय, बैंगलोर

किसी भी देश की संस्कृति उसकी आत्मा है, उसकी पहचान है और उसका संरक्षण करना सरकार का दायित्व है। साथ ही सरकार का मूल कर्त्तव्य समाज को गति देना भी है। चूँकि उस देश की सरकार का निर्माण वहाँ की आम जनता के माध्यम से होता है, इसलिए समाज की सारी गतिविधियाँ सरकार द्वारा ही निर्धारित होती हैं। प्रफुल्ल कोलख्यान ने अपनी पुस्तक 'साहित्य, समाज और जनतंत्र' में इस ओर संकेत किया है–'सत्ता का असली मौलिक स्रोत तो समाज होता है जहाँ सत्ता निरंतर निर्मित और सृजित होती रहती है।'[1] वहीं, जब सत्ताधारी स्वार्थ हेतु संस्कृति में हस्तक्षेप कर सामाजिक संरचना एवं व्यवस्थाओं को अपने अनुसार ढालते हैं, तब संस्कृति की अस्मिता एवं उसके मूल तत्त्व क्षीण होने लगते हैं।

जो भी कार्य मनुष्य, समाज और राष्ट्र के लिए उचित और मंगलकारी हो उसे 'संस्कृति' कहते हैं। इसमें जब धर्म की बात आती है,तब भी संस्कृति का यही पक्ष लागू होता है। संस्कृति एक प्रकार से मनुष्य, समाज और राष्ट्र के अंतर्गत वह तत्व है जो मूल्यहीनता, अनैतिक आचरण, विचार और कार्यों का परिष्कार करती है।संस्कृति को स्वतंत्र रूप से देखने की आवश्यकता है, न कि संकुचित रूप में। जब संस्कृति और सत्ता के स्वरूप की बात होती है, तब सत्ताधारी संस्कृति के मूल तत्वों का अपने निजी स्वार्थ हेतु उपयोग करते हैं। वे अपनी सत्ता का इस्तेमाल कर उसमें हस्तक्षेप भी करते हैं और उसको परिवर्तित कर समाज में प्रेषित करने का भी कार्य करते हैं। इसलिए जब-जब सत्ता बदलती है, तब-तब संस्कृति भी बदलती है। जब यह सांस्कृतिक बदलाव होता है, तब उस समाज के स्वरूप में भी बदलाव देखने को मिलता है।

साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह पाया है। साहित्य के माध्यम से समाज में पनपी विसंगतियाँ तो उजागर होती ही हैं, साथ ही वह आम जनमानस को सचेत भी करता है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति कुमार्ग पर चल कर समाज को क्षति पहुँचाने का कार्य करता है, तो तद्जनित प्रभावों से व्यक्ति एवं समाज पर क्या परिणाम होगा इसकी चिंता एवं चिंतन साहित्य के माध्यम से देखने को मिलता है। कथा साहित्य एवं कथेतर साहित्य के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों को उजागर किया गया। इस प्रकार साहित्य सामाजिक उत्पाद के रूप में सशक्त माध्यम बना। स्वतन्त्रता के बाद सत्ता द्वारा जिस प्रकार आम जनमानस का मोहभंग हुआ, उसका विहंगम वर्णन उपन्यासों के माध्यम से भी देखने को मिलता है।

समय के साथ-साथ अनेक साहित्यकारों ने अपनी लेखनी जनमानस से हटा कर एक वर्ग विशेष अर्थात् सत्ता को अभिभूत करने के लिए उठायी। सत्तासीन वर्ग की प्रशंसा करना तथा सत्ता से ख्याति प्राप्त करने के लिए लेखनकार्य करना उनकी दिनचर्या का अंग बनता गया। इसके विपरीत

कुछ साहित्यकार ऐसे भी हुए, जिन्होंने सत्ता की घोर आलोचना की, परंतु अंत में उनसे समझौता भी कर लिया। उदाहरणस्वरूप बाबा नागार्जुन भी एक समय तक कांग्रेस के समर्थक रहे। इसी प्रकार समकालीन समय में वीरेन डंगवाल ने अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से पाठकों की विश्वकसनीयता अर्जित की। उन्होंने जनवादी कवि गोपीचन्द का खुल कर विरोध भी किया, परंतु विश्वनसनीयता तब डगमगा गई, जब उन्हें उन्हीं के हाथों से साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यद्यपि वे अपनी रचनाओं के माध्यम से बेबाक होकर सत्ताधारी वर्ग की आलोचना करते हैं, तथापि अंतत: सत्ता से ही पद्मश्री पुरस्कार ग्रहण करते हैं।

इसी क्रम में धर्म की दृष्टि से देखा जाए तो कई विद्वान धर्म को संस्कृति का अभिन्न अंग मानते हैं, तो कई अलग-अलग धाराएँ मानते हैं। कई विद्वानों ने इसको परिभाषित करने का प्रयास भी किया है, किंतु धर्म और संस्कृति अपने आप में इतने व्यापक हैं कि इनको शब्दों में बाँधना कठिन-सा प्रतीत होता है। इस संदर्भ में विष्णु प्रभाकर का विचार चिंतनीय है। वे लिखते हैं कि 'धर्म की भाषा निरन्तर खोज है, संस्कृति की भाषा सतत आचरण है। कोई भी धर्म आचरणहीन व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता और आचरण की प्राप्ति कर्मकांड और आडंबरों से नहीं होती है, जीवन का धर्म पालन करने से होती है। विश्वास और आचरण साथ-साथ ही चल सकते हैं। यही संस्कृति है जो अज्ञात की खोज को भी उपयोगी बना देती है।'[2]

प्रसंगोचित उल्लेखनीय है कि धर्मगुरु अपनी सत्ता का सहारा लेकर धर्म की परिभाषा अपने अनुसार गढ़ते हैं। वे धर्म के संदर्भ में कहते हैं कि यह सबके लिए है, किंतु वे उसे अपने तक ही सीमित करके रखते हैं। इसमें सबसे बड़ा योगदान उनके पद का है और उससे मिलने वाली शक्ति का। 'शक्ति' के संदर्भ में श्यामाचारण दुबे अपनी पुस्तक 'परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति' में लिखते हैं-'जिसके हाथ में शक्ति आ गई है, उसने उसका उपयोग 'स्व' के लिए ही किया। बेशक कभी-कभी वह 'स्व' काफी व्यापक रहा है, पर 'सब' वह काफी नहीं था।'[3] धर्म के नाम पर आम जनता जल्दी ही मोहित हो जाती है। वह बिना तर्क किए उनसे जुड़ जाती है। उचित-अनुचित, सही-गलत में अंतर किए बिना वे उनकी सारी बातों को उचित ही मानते हैं। अत: एक प्रकार से जनता से मिला यह समर्थन सत्ता-प्राप्ति में अप्रत्यक्ष सहमति को दर्शाता है।

सत्ता और संस्कृति के अंतर्संबंध को लेकर प्राय: असमंजस की स्थिति साहित्यिकों में दिखायी देती है। यद्यपि अनेकानेक साहित्य-चिंतकों ने इस संबंध को तार्किक दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास भी किया है। प्रस्तुत अध्याय में इस दृष्टि एवं बोध को दृष्टिगत रखते हुए आलोच्य विषय का विवेचन किया गया है। कथासाहित्य के विषय संबंधी अनेकानेक पहलुओं में सत्ता का पहलू प्राय: शोधपरक चिंतन के दायरे से बाहर ही रहा है। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने 'विभ्रम और यथार्थ' में साहित्य को समाज का उत्पाद मानकर इस ओर संकेत किया है कि समाज में जो कुछ विद्यमान है, दृश्य-अदृश्य है, वह साहित्य की परिधि से बाहर नहीं हो सकता। अत: सत्ता और संस्कृति भी साहित्य के दायरे से बाहर नहीं हो सकते। प्रस्तुत अध्याय में शोध की दृष्टि से चयनित उपन्यासों में वर्णित सत्ता एवं संस्कृति के संबंध एवं स्वरूप को देखने-खोजने का उपक्रम किया गया है।

सच्चिदानंद चतुर्वेदी कृत अधबुनी रस्सी : एक परिकथाउपन्यास सत्ता, समाज एवं संस्कृति के अनेक रूपों को दिखाता है। इसउपन्यास के माध्यम से समाज में पनपी धर्मांधता, वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, राजनीतिक षड्यंत्र, अस्मिता पर प्रहार, मूल्यहीनता, सांस्कृतिक विघटन देखने को मिलते हैं। इस उपन्यास में 1975 में लगे आपातकाल के प्रभाव का भी वर्णन किया गया है।

तत्कालीन सरकार ने अपने वर्चस्व का उपयोग कर निरंकुशता का परिचय दिया। सरकार ने तमाम व्यवस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप कर उसको अपने नियंत्रण में लिया औरलोकतंत्र को समाप्त कर राजतंत्र का परिचय दिया।

प्रस्तुत उपन्यास में डमरूआ नामक एक गाँव का वर्णन किया गया है। यह गाँव दो भागों में विभाजित है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह दो टोले में विभाजित है। एक उच्च वर्ग है जिसे बमननन टोला कहा जाता है, तो दूसरा निम्न वर्ग जिसे पूरब टोला कहा जाता है।गाँव में बमनन टोला का वर्चस्व कायम है और पूरब टोला उसके अधीन रहकर अपना कार्य करता है अथवा अपना जीवन निर्वाह करता है।बमनन टोला सरकारी तंत्रों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करतारहता है और तमाम सुविधाओं को स्वार्थ हेतु केवल अपने टोले तक ही सीमित रखना चाहता है।

डमरूआ गाँव में जब सरपंच हेतु चुनाव की घोषणा होती है और इस संदर्भ में पूरब टोला से ही किसी व्यक्ति को सरपंच बनने का निर्देश मिलता है।जो बमनन टोला कई वर्षों से सरपंच पद पर कायम था, उसे अपने हाथ से सत्ता जाती हुई दिखायी देती है। यह तो सिद्ध है कि जब-जब सत्ता बदलती है, तब-तब संस्कृति भी बदलती है। सरपंच जब पूरब टोला से ही चुना जाएगा तो यह तय था कि बमनन टोला को भी उन्हीं के आदेशों का पालन करना होगा। सत्ता द्वारा यहाँ सत्ता का परिवर्तन किया जा रहा था। गाँव में चुनाव के माध्यम से पूरब टोला को मौका दिया जा रहा था, ताकि समाज में समानता की स्थापना हो सके।

समाज में सत्ता का हस्तक्षेप केवल नकारात्मक रूप में ही नहीं होता है, अपितु सकारात्मक रूप में भी होता है। सरकार द्वारा घोषणा तो हो गई, किंतु निम्न वर्ग सुप्तावस्था में था, केवल बमनन टोला सजग था।डमरूआ में चुनाव के दौरान जब बदलाव कीमहत्त्वाकांक्षा जागी तो पूरब टोला निष्क्रियरूप में ही रहा। जिस तरह बमनन टोला यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि आगामी दस वर्ष के लिए पूरब टोला से ही कोई प्रधान बनेगा, उसी तरह पूरब टोला के लोग भी इस वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे।वे बमनन टोला की सत्ता के अधीन रहना ही अपनी नियति मान चुके थे–'छज्जू ने समझाया-देख! ग्राम-पंचायत के चुनाव होने वाले हैं। इस बार के चुनावों में पूरब टोला का ही कोई प्रधान बन सकता है। हम लोग तुझे प्रधान बनाना चाहते हैं। अब बात आई समझ में कि उतारूँ जूता?' हाँ मालिक! समझा, मैं और प्रधान, आपने भी खूब कही। प्रधान आप लोग ही अच्छे लगते हैं। नाली का कीड़ा नाली में ही अच्छा रहता है। मुझे नाली से मत निकालिए।[4]

पूरब टोला को बमनन टोला की सत्ता ही स्वीकार हुई। सरकार एक ओर समानता लाने का प्रयास कर रही थी, वहींपूरब टोलाइसे स्वीकार नहीं करना चाह रहा था। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें प्रमुख हैं शिक्षा। शिक्षा के अभाव में वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं हैं–'सरकार को भी यह क्या पागलपन सवार हो गया है। आप सबके आगे एक छोटा आदमी प्रधान? केसा लगेगा? पूरा डमरूआ हँसेगा। मैं नहीं बनूँगा, मुझे जाने दीजिए, किसुन ने उठने के लिए अपनी लाठी संभाल ली। चौतु ने भी अपनी लाठी संभाल ली।'[5] किसुन की बुद्धि यदि कुशाग्र होती तो वह न तो छज्जू के दबाव में आता और न ही चुनाव लड़ने से पीछे हटता।वह स्वयं अपने दम पर चुनाव लड़ता और गाँव एवं पूरब टोला का प्रतिनिधित्व करता।

चुनाव के दौरान भी पूरब टोला के अधिकतर निवासी अपने अधिकारों के प्रति सजग दिखायी नहीं देते। वे चुनाव को केवल खेल समझते हैं अथवा यह भी कहाजा सकता है कि चुनावी दलों द्वारा उनके वोट का इस्तेमाल किया गया। वोट के बदले नोट की प्रथा भी जोरों दिखायी देती

है–'तुमने केवल दो, मैंने पूरे पाँच वोट दिए थे, वह भी मुफ्त में। दो जनसंघ को, दो कांग्रेस को, और एक में मैंने बेईमानी नहीं की थी, सब खातों में मुहर मार दी थी। मेरे लिए सब पार्टी बराबर।'[6]

गाँव के निवासी अपने मतदान को लेकर ही गंभीर नहीं हैं। उसने एक नहीं पाँच-पाँच वोट दिए और यह संभव हुआ केवल और केवल चुनाव अधिकारी और गाँव के प्रभुत्वशाली लोगों की बदौलत। अपने लिए, अपने समाज के लिए क्या सही और क्या गलत है। मतदान के समय मतदाता स्वतंत्र होता है और वह अपने निर्णय के अनुसार मत दे सकता है। वहीं, जब व्यक्ति किसी के प्रभाव अथवा लोभ के कारण मतदान करता है, तब वह लोकतंत्र को कमजोर करता है। साथ ही अपने आप से, अपने अधिकारों से, अपने कर्तव्यों से, अपने समाज से भी छल करता है एवं उन बुद्धिजीवियों के साथ भी छल करता है, जो समाज में बदलाव लाने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं।

बमनन टोला ने अपनी सत्ता को बचाए और बनाए रखने के लिए पूरब टोला के सदस्यों का सहारा लिया। किसुन जो पूरब टोला से है उसे छज्जू ने समर्थन दिया, उसका सारा खर्चा उठाया और जब वह विजयी हुआ तो उसे अपने अधीन रख मानसिक गुलाम बनाए रखा। किसुन सरपंच तो बना परंतु अप्रत्यक्ष रूप सेसत्ता छज्जू के हाथ में रही।उपन्यास के माध्यम से यह दृष्टिगोचर होता है कि सत्ता द्वारा सत्ता में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि सामाजिक सत्ता के अंतर्गत भी कई व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। डमरूआ गाँव में चकबंदी से बचने के लिए बमनन टोला के निवासी चाहते हैं, कि वे प्रक्रिया आरंभ होने से पहले ही चकबंदी अधिकारी से बातचीत कर अपने हिस्से की जमीन को सुरक्षित कर लें।

काशी चौबे नामक व्यक्ति चकबंदी से पहले सी.ओ. से कुछ लेन-देन कर खेत की जमीन को अपने पास ही रखना चाहतेहैं। जिसके लिए वह अपने सुपुत्र से पाँच सौ रुपये की माँग करतेहैं। उनका पुत्र जो स्वयं सरकारी अधिकारी है, इसका विरोध करता है और समझाता है कि ऐसा करना सत्ता का दुरुपयोग कर प्रजातंत्र को कमजोर करना है। काशी अंततः इस बात से सहमत हो जाते हैं और गाँव के अन्य लोगों की तरह समान रूप से चकबंदी का हिस्सा बनने को तैयार हो जाते हैं– 'मैंने निर्णय लिया है कि अपने चकों के लिए सी.ओ. के साथ कोई अनुचित लेन-देन नहीं करूँगा, इसलिए अब तुम्हें मेरे पास पैसे भेजने कि आवश्यकता नहीं है। मैं अपनी आगामी पीढ़ियों की जीविका के साधन की नींव अन्याय पर नहीं रखना चाहता।'[7]

काशी का निर्णय कई मायनों में समाज को एक नई दिशा दिखाने वाला है और उन लोगों में भी चेतना का स्वास फूँकता है, जो सत्ता से दबे होने के कारण शोषित हैं। काशी समाज में समानता का भाव प्रदर्शित करते हैं। एक पिता का पुत्र से और पुत्र का पिता से संबंध और समाजोपयोगी विचार-विमर्श यहाँ देखा सकता है। काशी चौबे चाहते तो अपने पद का दुरूपयोग कर सकते थे, किंतु ऐसा न कर उन्होंने वंचितों के साथ न्याय और समानता का भाव प्रदर्शित किया।

लेखक ने उपन्यास के माध्यम से 1975 के आपातकाल को लेकर भी सत्ता की निरंकुशता एवं व्यवस्था में हस्तक्षेप को दिखाया है। आपातकाल के दौरान लोगों से उनके अधिकारों को छीन लिए गए थे। सत्ता जिसका कार्यसमाज में जन, समाज एवं संस्कृति और उनमें निहित मूल्यों के निर्वाहन हेतु कदम उठाना था, तब वह अपने स्वार्थ एवं मूल्यहीनता पर उतर आयी थी।

उपन्यास में किसुन, बंगालिन ताई एवं डमरूआ गाँव के सदस्यों के माध्यम से इसे सशक्त रूप से दिखाया है। आपातकाल के दौरान किसुन को गिरफ्तार कर लिया जाता है। किसुन यही कहता रह जाता है कि उसे आपातकाल के बारे में कुछ नहीं पता। उसकी बात को दरकिनार कर

उस पर देश की आंतरिक सुरक्षा को खतरे में डालने का आरोप लगाया जाता है। उसे गिरफ्तार कर कार्यवाही की जाती है और उसका एक पैर तोड़ दिया जाता है। तत्कालीन सत्ताधारी अपने वर्चस्व में सेंध लगते देखअपने प्रतिद्वंदी और विरोधी दल के नेताओं को पकड़-पकड़ कर जेल में डाल रहे थे–'आपातकाल लागू होते ही आंतरिक सुरक्षा कानून के तहत राजनीतिक विरोधियों की गिरफ्तारी की गई। इनमें जयप्रकाश नारायण, जॉर्ज फर्नाडीज और अटल बिहारी वाजपेयी भी शामिल थे।'[8] इस दौरान इंदिरा सरकार निरंकुश हो चली थी।

सरकार ने प्रशासन के तमाम तंत्रों में हस्तक्षेप कर उसे अपने अनुरूप चलाया। तमाम अधिकारियों को निर्देश दिया गया कि वे सरकार के द्वारा जारी निर्देशों का ही पालन करेंगे।किसुन पर जो आरोप लगाए गए वह इसी का परिणाम था, उससे जबरन झूठ बुलवाया गया और उस पर कार्यवाही की गई। इतना ही नहीं किसुन का साथ बंगालिन ताई ने दिया तो उन्हें भी पीटा गया। यह वही जनता थी, जिन्हें स्वर्णिम सपने दिखाकर उनसे वोट लिया गया था।

सत्ता की निरंकुशता इस तरह प्रत्येक स्तर पर देखी गई, जब वह अपनी स्वार्थ सिद्धि की पूर्ति हेतु किसी भी हद तक गुजर गई। समाज एवं संस्कृति के वास्तविक मूल्यों को दरकिनार कर अपनी निजी धारणा को संस्कृति का नाम देकर समाज में थोपने का प्रयास किया गया, जिससे भारतीय शासन प्रणाली प्रजातंत्र से राजतंत्र में तब्दील होती दिखायीदी। केवल एक ही शासक और बाकी उसकी प्रजा।

कर्मेंदु शिशिर अपनी पुस्तक 'नवजागरण और संस्कृति' में लिखते हैं–'राजनीति ने भारतीय समाज को इतना लहूलुहान कर दिया है कि समकालीन समय के और भविष्य के भयावह खतरों के विरुद्ध भारतीय समाज की प्रतिरोध की शक्ति ही क्षीण होने लगी है, दूसरे तमाम खतरो के एहसास की गुंजाइश तक नही रखी जा रही।'[9]

उपन्यास के माध्यम से समाज में मूल्यहीनता, सत्ता का निर्बाध हस्तक्षेप जिसमें उसका सकारात्मक पक्ष भी सम्मिलित है एवं सत्ता की निरंकुशता देखी जा सकती है। सामाजिक संरचना के अंतर्गत जाति-व्यवस्था भी सुचारू रूप से जारी रहती है। जिसमें उच्च वर्ग अपनी सत्ता का उपयोग कर निम्न वर्ग का शोषण करता हुआ दिखायी देता है। साथ ही, यह भी उजागर होता है कि निम्न वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सजग नहीं है। जबकि, उसे अपने समाज के प्रति सचेत होकर परिवर्तन लाने का मौका मिल रहा था। अत: इससे स्पष्ट होता है कि अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहना आवश्यक है, तभी वे समाज में बदलाव ला सकते हैं। यह आवश्यक है कि समाज में जब भी ऐसे अवसर मिलें तो उसका भरपूरी से लाभ उठाया जाए ताकि समाज में कुछ सकारात्मक बदलाव आ सके।

इसके अतिरिक्त उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के अधिकतर निवासियों में जाति-व्यवस्था को समाप्त करने को लेकर कोई सजगता दिखायी नहीं देतीहै। गाँव में चकबंदी अधिकारी के प्रवेश के बाद बमनन टोला में निराशा छा जाती है, क्योंकि वह निम्नवर्ग से आया हुआ व्यक्ति है। चकबंदी अधिकारी केशरवानी का सहायक और ड्राइवर तिवारी अपनी जाति को छोड़ काम को तरजीह देता है,जिसे ग्रामीणवासी स्वीकार नहीं कर पाते। तिवारी और गणेश चौबे दोनों उच्च वर्ग से संबंध रखते हैं और दोनों के माध्यम से ही समाज में बदलाव की महत्त्वाकांक्षा देखी जा सकती है।

जो उच्च वर्ग शीर्ष पर कायम है वह इस व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है, ताकि उसकी सत्ता बरकरार रहे। इसलिए वह संस्कृति और संस्कार में हस्तक्षेप कर, उसे अपने अनुसार व्याख्यायित करता है। उस प्रथा को यथावत् बनाए रख उसे संस्कृति एवं संस्कार से जोड़ दिया जाता

है। यह सही है कि कुछ संस्कार आज भी यथावत् जीवित है परंतु समय के साथ जब परिवर्तन होता है तो समाज में प्रचलित संस्कार और संस्कृति में भी परिवर्तन हो जाता है। परंतु अधिकतर ग्रामीण परिवेश में जाति को लेकर हर छोटी से छोटी क्रियाओं में संकुचित मानसिकता का परिचय मिलता है। जैसे कहाँ बैठना हैं कहाँ नहीं, क्या खाना है और क्या नहीं, किसको किसमें भोजन परोसना है अथवा नहीं, किंतुवहीं जब ग्रामीण परिवेश से निकला कोई व्यक्ति शहर या परिवेश बदलता है तो अपना व्यवहार भी बदलता है।

उदाहरणस्वरूप देखा जाए तो–'डमरुआ के परिवेश की तुलना कानपुर के महानगरीय परिवेश से नहीं की जा सकती। परिवेश का व्यक्ति की मानसिकता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। गाँव का बड़े से बड़ा पंडित कानपुर के होटलों में बैठकर भोजन कर लेता है बिना यह जाँच-पड़ताल किए कि भोजन बनाने वाला कौन है, परोसने वाला कौन है? बर्तन ठीक से धोए गए हैं कि नहीं? गाँव लौटते ही उस पंडित पर डमरुआ का परिवेश हावी हो जाता है। उसे अपने ही लोगों के साथ बैठकर भोजन करने में आपत्ति होने लगती है।'[10]

गाँव का व्यक्ति बाहर जाते ही बदले हुए स्वरूप में दिखाई देता है, परंतु वापस गाँव आकर सामाजिक कुरीति को संस्कृति का हिस्सा मानने लगता है। यदि संस्कृति के तत्वों की खोज करें तो उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जब उसने समानता का परिचय देते हुए बिना भेदभाव के भोजन किया। भेदभाव समाज में मनुष्यता को छिन लेती है और जब किसी से उसकी मनुष्यत्व ही छिन लिया जाएगा तो सामाजिक मूल्यों का भी हनन होगा।

समाज में जब मानवमूल्यों की बात होती है, तब उसकी अवधारणा समानता से आरंभ होती है और इसके लिए मनुष्यता को सर्वोपरि माना जाता है। किंतु समाज में अधिकतर इसके विपरीत परिस्थितियाँ ही देखी जाती है। जब मनुष्य को धर्म, जाति, समुदाय या वर्ग विशेष में बाँट कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। कई लोग विशेष रूप से मनुष्यों को जाति के परिपेक्ष्य से देखते हैं। जातिगत आधार पर मनुष्य को परखना अधिकतर ग्रामीण परिवेश में ही देखने को मिलता है। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें से मुख्य कारण है लोगों में चेतना या जागरूकता की कमी।

संदर्भ

1. प्रफुल्लकोलख्यान, साहित्य, समाज और जनतंत्र, पृ॰ 34
2. विष्णु प्रभाकर, जन, समाज और संस्कृति : एक समग्र दृष्टि, पृ॰ 34
3. वही, पृ॰ 78
4. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, अधबुनी रस्सी : एक परिकथा, पृ॰ 236
5. वही, पृ॰ 236
6. वही, पृ॰ 256
7. वही, पृ॰ 88
8. आपातकाल, भारतीय लोकतंत्र का काला अध्याय, 25 जून 1975, विश्व संवाद केंद्र
9. कर्मेंदु शिशिर, नवजागरण और संस्कृति, पृ॰ 37
10. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, अधबुनी रस्सी : एक परिकथा, पृ॰ 32

Mob. 9958232816
ashish@claretcollege.edu.in

शैलेश मटियानी के कथासाहित्य में आम आदमी

अंजू देवी, शोधार्थी
डॉ॰ पुष्पा दुबे, शोध-निर्देशिका
शासकीय गृहविज्ञान स्नातकोत्तर अग्रणी महाविद्यालय, नर्मदापुरम (म॰प्र॰)

स्वातंत्र्योत्तर साहित्यकारों में शैलेश मटियानी जी विशिष्ट रचनाकार के रूप में जाने जाते हैं। इनके उपन्यासों में आम या जनसाधारण जीवन का सूक्ष्म विवरण देखने को मिलता है। एक आम आदमी का सदियों से सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्तर पर किस तरह से शोषण किया जा रहा है। मटियानी जी ने शोषित और पीड़ित जनों का चित्रण एक नई उर्जा और तेजस्विता के साथ मुखरित किया है। आपके उपन्यासों में पिछड़े और अभावग्रस्त वर्ग के लोगों की जिंदगी के सभी पहलुओं को देर्शाया गया है।

'प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों में आम आदमी का चित्रण यत्र-तत्र ही मिलता है, उस समय उपन्यासकारों का मूल उद्देश्य मनोरंजन मात्र ही होता था। स्वतंत्रता के बाद आम आदमी सुंदर जीवन जीने के स्वप्न देखने लगा था, क्योंकि उसे आजादी की हवा बड़ी मुश्किल से नसीब हुई थी। अतः आजादी के बाद वह सरल और आशावादी जीवन की कल्पना करता था। लेकिन भीतरी व घरेलु द्वंद्व कहीं-न कहीं उसकी बेचैनी बढ़ा रहे थे। जिसके कारण भीतर ही भीतर वह एक खोखलापन महसूस करता था। जिसे उपन्यासकार ने अपने साहित्य में उजागर किया है। यह सामान्य मामूली आदमी अपनी आकांक्षाओं और सीधी-सादी आदतों के साथ जिंदगी जीना चाहते हैं। इन विरोधाभासों के बीच से गुजरते और उन्हें सँभालते हुए जीते जाने को बाध्य हैं। यह स्थिति एक बहुतांशों की स्थिति है और हम इस स्थिति को नजरअंदाज नहीं कर सकते।'[1] यही तो आम आदमी की विशेषता है कि वह अपने तनाव और विरोधाभासों में भी रास्ते की खोज कर लेते हैं, और स्वयं को बिखरने और टूटने से बचाते हुए ईमानदारी का जीवन व्यतीत करते हैं। मटियानी जी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में इन आदमियों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। इन उपन्यासों में हौलदार, चिट्टीरसेन, मुख सरोवर के हँस, एक मूँठ सरसों, बेला हुई अबेर, गोपुली गफूरन, नागवल्लरी, आकाश कितना अनंत है आदि प्रमुख उपन्यास है। शैलेश मटियानी जी के उपन्यासों के केंद्र में आम आदमी है, लेखक का जीवन भी एक निम्न वर्ग की भाँति व्यतीत हुआ जीविकोपर्जन के लिए उन्हें बहुत संघर्ष करना पड़ा इसी कारण वह आम आदमी के दुःख और परेशानियों को अपने भीतर महसूस करने में सफल हुए। एक आम आदमी रोजगार के अवसर तलाशने के लिए गाँव से शहर आते हैं यहाँ पर आकर रोजगार और मुकान के लिए संघर्ष करते हैं तथा परिवार के पालन-पोषण के लिए दर-दर भटकते हैं। उपेक्षित और पीड़ित होकर भी वह हार नहीं मानते हैं, 'आम आदमी का सारा संसार व उनकी समस्याएँ मटियानी जी के उपन्यासों में कथा का विषय बनी हैं। मानव जीवन का इतना कटु यथार्थ शायद ही किसी और लेखक ने उपन्यास के माध्यम से इतनी तीव्रता के साथ उजागर किया हो जो मनुष्य की संवेदना को पूरी तरह झकझोर डालता है।'[2] मटियानी जी सामाजिक परिवेश की स्थितियों को भली-भाँति जानते हैं। भूख और जीवन की अन्य कठिनाइयों

को आम आदमी के चरित्र में स्थापित करते हुए समाज को उनके संघर्ष की संवेदनात्मक तस्वीर प्रस्तुत करना, मटियानी जी से बेहतर किसी अन्य उपन्यासकार ने प्रस्तुत नहीं किया।

एक आम आदमी के जीवन में सबसे बड़ी विपदा तब आती है जब उसे संस्कार और जीवन के कटु शब्दों के बीच जूझना पड़ता है। बोरीबली से बोरीबंदर तक उपन्यास की रेवा जाति से ब्राह्मण विधवा थी, परिस्थितियों के आगे मजबूर होकर वेश्या बन जाती है लेकिन अपने धर्म को कलंकित होने से बचाने के लिए वह अपनी पहचान बदल देती है, इस संदर्भ में मटियानी जी लिखते हैं कि न जाने ब्राह्मण कन्या रेवा अपने धर्म को वेश्यावृत्ति से दूर क्यों रखना चाहती थी? रेवा के संस्कारों का, उसकी अनुभूतियों का मूल्य नूर समझती थी। वह नूर बनी थी। रेवा की लाज ढके रहने के लिए। यह आत्मप्रपंचना थे मन के मोती को कलुष रखने के लिए कीचड़ में घिरते समय उसने शरीर को केवल सीप जितना महत्त्व दिया था। नूर शरीर से थी मन से रेवा थी।'[3] यह द्वंद्व रेवा से नूर बनी आम महिला के संस्कारों और जीवन के कटु सत्य के बीच का है। जीवन के भयानक सत्यों में अनेकों बार आम आदमी कुछ इस तरह उलझ जाता है कि वह स्वयं को भी खो देता है। शैलेश मटियानी जी अपने पात्रों को स्वयं में खोजते हैं, उनका दर्द खुद महसूस करते हैं तथा उपन्यास में आम आदमी का मायना बनकर प्रस्तुत होते हैं। 'बंबई के बोरीबंदर पर जीने वालों का अपना जीवन है, उनकी अपनी समस्याएँ हैं साथ ही मछुआरों का जीवन संपूर्णता से इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। अभावग्रस्त जीवन को जीते हुए और विसंगतियों से संघर्ष करते हुए मटियानी जी के पात्र सहज रूप से दिखाई देते हैं।'[4]

आम आदमी अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए घर से बहुत बार पलायन करता है। वह गाँव से शहर इस उम्मीद में आता है कि उसे कोई तो अच्छी नौकरी मिलेगी और वह अपने परिवार का भरण-पोषण बेहतर से कर सकेगा। बड़े शहरों में आने के बाद उनकी सारी सोच व सपने उजड़ जाते हैं और उसका सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

शैलेश मटियानी जी ने अपनी कृतियों में चित्रित आम आदमी को विविध प्रकारों से विवेचित किया है। समाज के सड़े-गले अंगों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हुए समाज की गंदगी को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। पूँजीवादी वर्ग समाज के निम्न व मध्य वर्गों पर जो बाहर दोनों स्थलों पर किसी न किसी प्रकार से शोषण करता था। मटियानी जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज के इस घिनौने सत्य को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। उनके उपन्यासों में निम्न एवं मध्यम वर्ग की जीवन यात्रा के विविध पक्षों को उसके यथारूप में रेखांकित होते हैं। सोने का दिल और मेले कुचले कपड़ों वाले इन दयनीय पात्रों को हम सहजता से अपने आस-पास के परिवेश में देखते रहते हैं। लेखक ने आम आदमी के दर्द को उसी भाषा में अभिव्यक्ति देते हुए उनका मार्मिक चित्रण किया है—'दिनभर सेठ लोग घर में बरतन घसता है, अक्खा दिवस सेठानी लोग कु मस्का लगाता है। अक्खा दिवस कूतरा के माफिक पूँछ से लगता है जा के साला 15 रुपया मिलता है। साला अपनी घाटी में मराठी रामा लोग का भी कई नौकरी है, कोई जिंदगी है। अपने से तो साला मुंसीपल्टी का भंगी जस्ती कमाता है।'[5]

समाज के दीन-हीन लोगों की आप बीती का ऐसा सजीव दृश्य मटियानी जी ही रच सकते हैं। शैलेश मटियानी के उपन्यासों में युगीन परिवेश के यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है, उपन्यास के सारे चरित्र हमारे आस-पास के वातावरण में दिखाई देने वाले लोगों के समान ही नजर आते हैं उनकी जीवनचर्या, भूख, जरूरतें लाचारी, शोषण, मजबूरियाँ आदि हर तरह की कमजोरियों को

दर्शाया है, मटियानी जी ने अपने उपन्यासों में आम आदमी के जीवन की कहानी को बेबाक रूप में प्रस्तुत किया है, बंबई की सड़कों पर रहनेवाले लोगों की जिंदगी, सेठों के घरों के नौकर-नौकरानियों का हाल, वेश्याओं का जीवन, नारी की दशा, आंचलिक जीवन का यथार्थ आदि को उनकी गंधाती सच्चाई के यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण किया है।

शैलेश मटियानी मानते हैं कि समाज का सबसे शोषित और प्रताड़ित किए जाने वाला वर्ग निम्न व मध्यम वर्ग के बीच का है जिसे हम आम आदमी कहते हैं। इस वर्ग के लोगों की संख्या सबसे अधिक है। मध्यमवर्ग एक ओर जहाँ उच्चवर्ग के जैसी जीवन शैली को अपनाने के लिए प्रयासरत रहता है, तथा उनके जैसा बनने का स्वप्न देखता है तो वहीं दूसरी ओर अपने दुखों और तकलीफों के बीच भी आशावादी दृष्टिकोण रखता है। शैलेश मटियानी ने बंबई में रहकर वहाँ के कुलियों, भिखारियों, मजदूरों और मध्यमवर्ग की जद्दोजहद को स्वयं अपनी आँखों से देखा है, उनकी पीड़ा को स्वयं भोगा भी है अत: हम उनके उपन्यासों में इस वर्ग की त्रासदी को बहुत ही सटीक एवं विस्तारपूर्वक देख पाते हैं। रात-दिन कठोर मेहनत करने के बावजूद भी इस तरह से उनका शोषण होता है जिन्होंने दो वक्त की रोटी तक आसानी से नसीब नहीं होती उच्चवर्ग इसकी मजबूरी का फायदा उठाकर इन्हें हमेशा प्रताड़ित करता रहता है। कबूतरखाना उपन्यास में मालिश करने वाला लड़का गणपत अपनी स्थिति को बयान करते हुए कहता है कि 'गरीबों के लड़कों की भी कोई जिंदगी है ईमानदारी से रोटी कमाने के रास्ते पर पत्थर रख दिए गए हैं, मेहनत-मजदूरी करने पर सूखी रोटी भी पेटभर मयस्सर नहीं होती।'[6] इस तरह से आम आदमी के कष्टों को देखकर मटियानी जी अत्यंत भावुक हो उठते हैं और लिखते हैं कि 'अमीर जिसे बेकार समझकर फेंक देता है गरीब उसे सँभाल लेता है, अमीर जिसका रस चूसकर छोड़ देता है, वही गन्ना गरीबों को मिलता है। जब असली रक्त चूस लेते हैं तो फिर जरा जूठन ही बचती है उस पर भी मक्खियाँ जा बैठती हैं।'[7] मटियानी जी के पात्र जिसे रोटी, कपड़ा, मकान जैसी प्राथमिक और स्वाभाविक आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं।

'हिंदी कहानी के समकालीन दौर में शैलेश मटियानी एक बहुचर्चित कहानीकार व उपन्यासकार रहे हैं। पूँजीवादी समाज व्यवस्था के शिकार, शोषितों-पीडितों के दुख-दर्द को अपनी कहानियों में जीवंत एवं कारगर तरीके से उजागर करने में शैलेश मटियानी सतत सचेष्ट हैं। विपन्न और उपेक्षित पात्रों के प्रति सहानुभूति एवं गहरी करुणा, शैलेश मटियानी की जनपक्षधरता को स्पष्ट करती है। इनका कहानी-संग्रह 'छिद्दा पहलवान वाली गली' तथा अन्य कहानियों में जो सब-कुछ से वंचित हैं, बेसहारा हैं, अपमानित हैं और बेहिसाब अभावों के शिकार हैं फिर भी वह जिंदगी से जूझते हुए जीना चाहते हैं उनका विश्वसनीय चित्रांकन है। इस अमानवीय अवस्था में छोटे और बुरे समझे जाने वाले लोगों की यही कहानियाँ हमें शोषितों-पीड़ितों की तरफदारी के लिए बाध्य करती हैं और व्यवस्था के कुत्सित स्वरूपों के खिलाफ जबरदस्त आक्रोश से लैस करती हैं। 'छिद्दा पहलवान वाली गली' की कहानियों में एक ओर अव्यवस्था का आतंक है और दूसरी ओर रूढ़ियों की नृशंस कैद है। इस व्यवस्था ने आदमी को किस तरह से असुरक्षित छोड़ दिया है, यह कहानियाँ इस स्थिति को बड़े प्रभावशाली ढंग से अंकित करती हैं। आदमी और उसके परिवेश की पहचान करके ही शैलेश मटियानी ऐसा करने में कामयाब हुए हैं।'[8]

इस तरह से मटियानी जी ने अपने लेखन द्वारा समाज के आंतरिक और बाहरी संबंधों की अस्मिता को रेखांकित किया है। इन्होंने समाज के निम्न व उच्च पक्षों को अपनी गहरी व पैनी नजर

से देखा व भोगा है तथा उसे अपने साहित्य में स्थान दिया है। लेखक में वह जागरूकता दिखाई देती है जिसके कारण वह सार्थक-सामूहिक कथा चेतना के सर्जक माने जाते हैं। इनके कथासाहित्य में समाज के आम आदमी की मनोदशा का चित्रण हुआ है। मटियानी जी के कथा-संसार का अवलोकन करने के बाद यह समझ में आता है कि उनके पास अनुभवों से बहुत कुछ शिक्षा हासिल कर अपनी लेखनी द्वारा साहित्य में उतारा गया है। हिमालय की गोद में जन्म लेने के कारण वे वहाँ की प्रकृति से हमेशा जुड़े रहे, ग्रामीण परिवेश के साथ-साथ शहरी चमक-धमक के दर्शन भी इनके साहित्य में देखने को मिलती है। मटियानी जी को भारतीय समाज एवं संस्कृति के संरक्षक के रूप में देखा जा सकता है। लेखक की कथाओं में त्रस्त जीवन की बेबसी, स्त्री दुर्दशा, गरीबी, भुखमरी, सड़कों पर जीवन व्यतीत करने वाले लोगों की हताश जिंदगी आदि को दर्शाया गया है। लेखक की संवेदना का स्तर अभाव से संबंध लोगों के अंतर्मन से जुड़ा हुआ है। इन्होंने घुटन, निस्सहाय एवं निरूपाय जीवन से संबंधित कहानियों को प्रस्तुत किया है। उन कहानियों में रमौती, असमर्थ, काला कौआ, अंतिम तृष्णा, बंदिश (शीशे पर उगी हरियाली) रुका हुआ रास्ता, गोपुली गफूरन, एक शब्दहीन नदी, भँवरे की जात, रहमतुल्ला, पत्थर, प्यास, महाभोज, चील आदि कहानियाँ हैं लेखक की कहानी रुका हुआ रास्ता में एक ऐसी स्त्री की बेबसी और प्रताड़ित जीवन की कथा है जो एक अपंग आदमी की बीवी होती है, वे अपने पति को अपनी पीठ पर उठाती थी उसकी मदद करती थी ऐसे व्यक्ति के द्वारा जब वह अश्लील बातें और गालियाँ सुनती है तो वह उसे कुछ नहीं कह पाती है बल्कि स्वयं के ही भागय को कोसती हैं। इस कहानी में वह अपने अपंग पति द्वारा रोज प्रताड़ित होती है पर उसको अपना धर्म मानकर उसकी मदद करती है। इस पर भी समाज उसको गलत नजरों से देखता है फिर भी इसका विरोध करने के बजाय वह इसे अपनी नियति मानकर सब-कुछ स्वीकार करती है। इसी तरह से आपकी 'असमर्थ' कहानी में नायिका पार्वती अपने पति की असमर्थता को देखते हुए बहुत दुखी हो जाती है, इसी कारण वह अपने पति के साथ एक संपूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर पाती है वह एक अभाव-भरा जीवन जीने के बजाय अपने पति को छोड़कर शिवचरन नाम के व्यक्ति के साथ भाग जाती है लेकिन पकड़े जाने के बाद उसका असमर्थ पति बहादुर सिंह उसे यह सांत्वना देता है कि मैं अपने सौतेले भाइयों के डर से अभाव-भरा जीवन व्यतीत नहीं करूँगा इस तरह से लेखक ने नारी जाति को पुरुष से हमेशा कमतर समझने वाले समाज के विषय में लिखा है। नारी अपना सर्वस्व लगाकर अपने पति का साथ देती है और परंतु फिर भी वह अपने पति द्वारा प्रताड़ना का ही शिकार बनती है। इस तरह से लेखक ने समाज के हर छोटे बड़े पहलू को प्रस्तुत करने में सफल प्राप्त की है।

उपन्यासकार की पहली नजर आम आदमी पर है और उनके उपन्यासों की केंद्र में हमें यही नजर आता है। उनकी सभी रचनाओं में आम आदमी की स्थिति का अंकन उसके जीवन जीने की व्यवस्था स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वर्तमान युग में साधारण आदमी अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए रात-दिन चिंतित है, वह आदमी कष्टों भरा जीवन जी रहा है। शैलेश मटियानी के उपन्यासों में आम आदमी की पीड़ा को महसूस करते हुए जब उस संसार में अपना कदम रखते हैं तब उसे पढ़ते और देखते हुए हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फुटपाथ और गंदी झोपड़पट्टियों के बेचारे लोग, रोजगार के लिए भटकते लोगों को, भिखारियों और कोढ़ियों का जीवन, उपेक्षित और पीड़ित लोगों की दुर्दशा को जानने के बाद पाठकों की आँखें नम हुए बिना नहीं रहती हैं। मटियानी जी ने जिस प्रकार से आम आदमी के कटु सत्य को उजागर किया है, उन्हें खोज निकाला है उतना शायद

 ISSN 0975-735X

किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं किया होगा।

मटियानी जी ने अपने साहित्य में आदर्शात्मक और उपदेशात्मक दृष्टिकोण अपनाकर वर्तमान की स्थितियों में उनकी विसंगतियों को यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया है। इनके उपन्यासों में एक ओर आम आदमी की करुण गाथा की संवेदना प्राप्त होती है तो दूसरी ओर उसके संघर्षों की मर्मस्पर्शी अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। शैलेश मटियानी जी ने अपने जीवनकाल में जो देखा, जो भोगा उसी सत्य को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करने साहस किया है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में बीयर बार और नाईट कल्ब पार्टी जैसी चकाचौंध-भरी जिंदगी देखने को नहीं मिली बल्कि एक साधारण आम आदमी की सच्ची जिंदगी का संघर्ष, उसका दु:ख उसकी व्यक्तिगत समस्याएँ व सामाजिक दायित्व आदि ही नजर आते हैं। मटियानी जी के उपन्यासों में जो मानवीय पक्ष नजर आता है वह हमारे सामाजिक जीवन का अनुभव ही प्रतिबिंब है। लेखक के उपन्यासों में दिखावे की चकाचौंध नहीं है अपितु उसमें जनसाधारण की व्यथा की कथा है जिसे पढ़ते हुए पाठक स्वयं में उसको महसूस करने लगता है। आँखों में मौत की भयावहता लिए अंतड़ियों से चिपका पेट लिए, रूखे बाल, न्याय की गुहार लगाता दर-दर भटकता आम आदमी किसी प्रकार अपनी साँसें ले रहा है आदि का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है।

निष्कर्ष–मटियानी जी के उपन्यासों और कहानियों में मानवीय पक्ष व साधारण आम आदमी के प्रति गहरी संवेदना में भी लेखक उनके साथ है और वह उस न्याय व्यवस्था और पूँजीपतियों को फटकार भी लगाते हैं जिनकी वजह से जनसाधारण का यह हाल हो रहा है। शैलेश मटियानी के उपन्यासों में चित्रित साधारणजन हमारे समाज के आम आदमी का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. समानंतर पत्रिका-1, कमलेश्वर, पृ॰ 18
2. डॉ॰ हेमंत सोनाले, शैलेश मटियानी के उपन्यास परिवेश और रचना संदर्भ, पृ॰ 143
3. शैलेश मटियानी, बोराबली से बोरीबंदर तक, पृ॰ 109
4. शैलेश मटियानी, प्रेमकुमारी सिंह, पृ॰ 19
5. शैलेश मटियानी, कबूतरखाना, पृ॰ 43
6. वही, पृ॰ 36
7. शैलेश मटियानी, बोरीबली से बोरीबंदर तक, पृ॰ 106
8. शैलेश मटियानी, छिद्दा पहलवान वाली गली, कवर पेज से

R/o Chill ,Tehsil Assar ,
District Doda, Jammu and Kashmir 182143
Mob. 6006268283, 788977041
ranaanju504@gmail.com

स्त्री विमर्श के आईने में जैनेंद्र के उपन्यासों की एक पड़ताल

डॉ॰ अजय कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी
महामाया राजकीय महाविद्यालय, कौशांबी

स्त्री विमर्श एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विमर्श है। समकालीन स्त्री विमर्श पहले से स्थापित स्त्री विरोधी मूल्यों को तोड़कर वर्चस्ववादी संस्कृति के विरुद्ध प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करता है जिसमें स्त्री के हित और अधिकार, समता और स्वतंत्रता के साथ सुरक्षित हो। वर्तमान समय में स्त्री समाज के केंद्र में आना हमारे सामाजिक-आर्थिक विकास तथा स्त्री जागरण की चेतना का परिणाम है, जो हजारों साल के इतिहास में अपनी खोई अस्मिता की खोज और उसकी सही पहचान का आंदोलन बनकर सामने आया है। स्त्रीवाद का अर्थ है, समानता। इसे आजादी के पूर्व और आजादी के बाद के दिनों में विस्तृत फलक पर देखा जा सकता है। इसे आजादी के पूर्व स्त्री दृष्टि और स्त्री आंदोलनों पर आरोपित नहीं किया जा सकता। आजादी के पूर्व स्त्री आंदोलन और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्त्रीवाद को तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि बीसवीं सदी के आरंभ में साम्राज्यवादी शासन के अनुभव स्त्री आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कारक रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वाधीनता पूर्व एवं स्वाधीनता बाद के महिला आंदोलनों में कोई साम्य नहीं है। स्त्री विमर्श के शुरुआती प्रयासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सहानुभूति और स्वानुभूति के यथार्थबोध के साथ शुरू होती है। वर्तमान समय में कोई स्त्री जितनी आसानी से, अपने अधिकारों की बात करती है वह एक लंबे संघर्ष के बाद सामाजिक नजरिए में आए बदलाव का परिणाम है। सामाज के नजरिए को बदलने और स्त्रियों के सवालों को उठने, स्त्री को स्त्री संदर्भ से देखने में स्त्रियों के साथ-साथ पुरुषों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। बल्कि स्त्री के सवालों को सहानुभूति पूर्ण ढंग से सक्षम और समर्थ पुरुष विचारकों द्वारा उठाए जाने के बाद भी पितृसत्तात्मक वर्चस्व वाली सामाजिक व्यवस्था के दुर्ग में सेंध लगी। स्त्री सवालों के लिए सकारात्मक वातावरण बना है। स्त्री विमर्श को बराबर पुरुष बुद्धिजीवियों का सहयोग मिला। इन तमाम विमर्शों का प्रतिफलन सामाजिक नियम कानून के बदलाव और उनका स्त्री के प्रति ज्यादा संवेदनशील होने में हुआ है।

समकालीन स्त्री विमर्श में स्त्रियों द्वारा अपने निजी जीवन पर उनके नियंत्रण के अधिकार को लेकर आवाजें उठाई गईं। आर्थिक आत्मनिर्भरता इसका सबसे सशक्त पहलू था और इसके साथ ही अन्य क्षेत्रों में भी समान अधिकारों की माँग ने जोर पकड़ा परंतु इन सबसे ऊपर और महत्त्वपूर्ण थी महिलाओं की उनकी देह पर नियंत्रण की माँग है। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध और उसके उत्तरार्द्ध में स्त्री-संबंधी इस अंतर को लक्षित करते हुए राधा कुमार ने लिखा है, '19वीं सदी के आखिर और 20वीं सदी के प्रारंभ के बीच नारीवादियों में इस प्रश्न पर दिलचस्प विरोधाभास दिखाई पड़ा। उस समय नारी देह को जातीय तथा राष्ट्रीय पुनर्जीवन के नजरिए से देखा जाता था जबकि 20वीं सदी उत्तरार्द्ध के नारीवादियों का मत है कि किसी स्त्री के शरीर को सामाजिक नियंत्रण की वस्तु नहीं

 ISSN 0975-735X

माना जाना चाहिए।'[1] वस्तुत: स्वास्थ्य का सवाल 19वीं सदी के अंत से ही स्त्रियों के आंदोलन का एक मुद्दा रहा।

जैनेंद्र जी ने जिस समय अपना लेखन कार्य शुरू करते हैं वह समय प्रेमचंद जी के लेखन कार्य का उत्तरार्द्ध था। प्रेमचंद जी के उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन और हिंदू समाज में चल रहे।धार कार्य का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रभाव का परिणाम है कि उनके आरंभिक उपन्यासों में, अंर्तजतीय, विवाह, उच्च तथा मध्यवर्ग में स्त्री की स्थिति, मध्यवर्गीय कुंठा आदि का चित्रण मिलता है। प्रेमचंद जी स्त्री-पुरुष मध्य के संबंधों को किसी भी प्रकार की संकीर्णता से ऊपर समझते थे। वह उन संबंधों की बुनियादी 'प्रेम' के आधार पर रखना चाहते थे। इस प्रेम का आधार आपसी विश्वास एवं त्याग भाव को स्वीकार करते हुए भी जातीयता से परे समझते थे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में अंतर्जातीय विवाह का स्वरूप भी दिखालाई पड़ता है। प्रेमचंद जी विवाह को एक प्रकार का सामाजिक समझौता मानते थे। उन्होंने तलाक को अवांछनीय घोषित करते हुए उसकी निंदा की है। उनके अनुसार 'तलाक' किसी समस्या का निराकरण नहीं है। इससे किसी का हित नहीं होता, अपितु दोनों पक्षों मानसिक उत्पीड़न की स्थिति से गुजरते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं में जिस स्त्री-जीवन का वर्णन है या उसके जिन पक्षों पर उनकी सम्मतियाँ सामने आती हैं, उनके समांतर अनेक रचनाकारों ने उनसे अधिक तर्कसंगत विचार दिए हैं।

जयशंकर प्रसाद का नाम इनमें सबसे पहले आता है जिन्होंने अपनी छायावादी भावुकता और वायवीयता को कथासाहित्य विशेषकर अपने उपन्यासों में नहीं आने दिया है। प्रसाद जी के यहाँ स्त्री-जीवन के वे सवाल हमें प्रेमचंद से भिन्न तरह से हल होते दिखाई देते हैं, जैसे कि वे स्वयं यह चाहते हों कि इसका समाधान पारंपरिकता में नहीं, आधुनिक के तकाजों में ही है। प्रसाद जी ने अपने पहले उपन्यास कंकाल में उन्होंने 'विवाह' नामक संस्था की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। स्त्री-पुरुष संबंध और दांपत्य जीवन के इस कटु यथार्थ को दिखाकर प्रसाद ने प्रेमचंद की आदर्शवादिता के समानांतर एक ऐसे तीखे सच को सामने रखा है जिसकी किसी भी सूरत में उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'कंकाल' उपन्यास हालत यह कि जिसे भी मौका मिलता है, वह स्त्रियों पर कहर ढाता है पर यहाँ की स्त्रियाँ मूक सब-कुछ सहना नहीं जानतीं। इस उपन्यास की एक प्रमुख पात्र जमुना कहती है-'कोई समाज स्त्रियों का नहीं बहन! सब पुरुषों के हैं। स्त्रियों का एक धर्म है-आघात सहने की क्षमता।'[2] इस तरह प्रसाद को स्त्री-जीवन के विविध-स्तरों का जो गहरा ज्ञान था और उसके प्रति उसके मन में गहरी पीड़ा थी, उन्होंने उसे बखूबी उद्घाटित कर हमारी समाज-व्यवस्था में परिवार, विवाह तथा स्त्री-पुरुष संबंधों के विविध स्तरों को जाँचा है। दिलचस्प स्थिति यह है कि पारंपरिक सांस्कृतिक के पक्षधर प्रसाद ने अपने उपन्यासों में परंपरागत नैतिकता को भी पूरे मन से स्वीकार नहीं किया है और यत्र-तत्र उन्होंने उसमें संशोधन की आवश्यकता पर बल दिया है।

जैनेंद्र जी के समकालीन जो कथाकार उस समय रचनारत थे, उनमें से अधिकांश ने या तो प्रेमचंद जी को अपना आदर्श मान रखा था या उनसे अलग हटकर एक और सुधारवादी आंदोलन चला रखा था। जिसमें विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राहुल सांकृत्यायन एवं निराला जैसे कथाकारों का नाम लिया जा सकता है। इनकी रचनाओं में भारतीय स्त्री-जीवन के कुछ पक्ष उद्घाटित हुए थे।

जिस समय जैनेंद्र जी का पहला उपन्यास 'परख' (1929) प्रकाशित हुआ वह समय छायावाद

के उत्कर्ष का दौर था। जैनेंद्र जी का रचना-संसार लगभग छः दशकों में फैला हुआ है। 'परख' से लेकर 'दर्शाक' तक स्त्री और उसकी स्वाधीनता ही उनके केंद्र में है। इस प्रकार से उनके उपन्यासों को हम स्त्री-जीवन के उपन्यास कह सकते हैं। स्त्री-जीवन की समस्याएँ स्त्री का सामाजिक जीवन, उसका स्वतंत्र कर्त्तव्य, प्रेम और विवाह से कुछ प्रश्न है। जो जैनेंद्र जी के सामने बराबर रहे हैं और उन्होंने अपने ढंग से इन प्रश्नों का समाधान खोजा है। स्त्री के संबंध में जैनेंद्र की भावना बराबर सूक्ष्म होती गई हैं उन्होंने इन समस्याओं को अन्यतम गहराई देने की चेष्टा की है। उसके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का कोई अंत नहीं था। प्रेमचंद और अन्य समसामयिकों की रचनाओं में भी स्त्री को केंद्रीयता मिली थी। वास्तव में 20वीं शताब्दी स्त्री जागरण की शताब्दी रही है और स्त्री की मुक्ति में ही हमारे युग के महापुरुषों और साहित्यकारों ने मानव-मुक्ति की कल्पना की है।

'सुनीता' उपन्यास पर अश्लीलता का आरोप लगा क्योंकि सुनीता अपने पति श्रीकांत के मित्र हरिप्रसन्न के सामने निर्वसन हो जाती है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने 'सुनीता उपन्यास की आलोचना साड़ी-जंफर और भाभीवाद कहकर किया।'[3] भाभीवाद इसलिए कि हरिप्रसन्न सुनीता को भाभी कहता है, और साड़ी जंफरवाद इसलिए कि सुनीता हरिप्रसन्न के सम्मुख अपने वस्त्र उतारकर एकदम निर्वस्त्र हो जाती है। 'सुनीता' में जैनेंद्र जी जीवन-विमुख क्रांति प्रेमी हरिप्रसन्न के सामने सुनीता को बिल्कुल नग्न खड़ा कर दिया। एक विवाहिता हिंदू नारी दूसरे पुरुष के आगे सेक्स के लिए खुद अपने कपड़े उतार रही थी और जीवन का महत्त्व समझा रही थी। वह अपने भीतर सैकड़ों साल से घुसे-बैठे चारों तरफ से बंद भाववाद से भी मुक्त हो रही थी। डॉ॰ शंभूनाथ लिखते हैं-'एक खादी पहनने वाले कथाकार का साहस के साथ यह दिखाना क्या था, स्त्री द्वारा देह की मुक्ति के जरिए अपने स्वत्व का उद्घोष, त्याग से मंडित गांधीवादी किस्म का सेक्स था या उसका निर्वस्त्र सत्याग्रह? जैनेंद्र निषिद्ध क्षेत्र में बार-बार प्रवेश करते हैं, अक्षत लौट आने के लिए।'[4] हरिप्रसन्न सेक्स के लिए उतावला था, पर अब उसने आँखें बंद कर लीं। उसके और सुनीता के बीच नैतिकता अपरिग्रह और त्याग के प्रश्न कूद पड़े थे, जिसमें सेक्स भस्म हो गया था।

पितृसत्ता परिवार और आदमी का अर्थ बदल देती है। 'परिवार' का अर्थ हो जाता है।त्री और 'आदमी' पुरुष को कहते हैं। आम बातचीत में पत्नी 'फेमिली' है। उससे उम्मीद की जाती है कि वह अपने पति के वाहन की आवाज इतनी पहचान ले कि दरवाजे की घंटी बजाने से पहले ही स्वागत में खड़ी हो जाए। आधुनिक भारत की पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था में स्त्री की दुर्दशाओं का अहसास करते हुए भी जैनेंद्र स्त्री के आदर्शीकरण से नहीं चूकते। वे 'सुनीता' में कहते है, 'स्त्री को 'स्त्री' संज्ञा देकर पुरुष को न छुटकारा है, न होगा। उसे कुछ न कुछ और भी कहना होगा, माता कहो, बहिन कहो, पत्नी कहो, उप पत्नी कहो-कुछ न कुछ अपनापन जतलाए बिना मात्र 'स्त्री' संज्ञा का प्रयोग करके उस स्त्री द्रव्य से छुट्टी तुमको नहीं मिलेगी।'[5] भारत में रिश्ते अपनापन देने के अलावा एक सामाजिक शृंखला में बाँधते हैं। पश्चिमी समाज में रिश्ते तरल हैं, इनका अहसास सतही है। वहाँ बंधन कम है, स्वतंत्रता ज्यादा है। भारत के राष्ट्रवादी सिर्फ पुरुष के पक्ष से सोचते थे, यह बात नहीं है।

स्त्री शिक्षित और किसी पेशे में निपुण होने के बावजूद कई बार पितृसत्तात्मक तर्कों से बँधी होती है। 'कल्याणी' उपन्यास में कल्याणी डाक्टर है। वह व्यक्तित्व की टकराहट में पति द्वारा अपमानित होती है, तब भी कहती है-'स्त्री स्वातंत्र्य और कुछ नहीं मातृत्व से बचने की चाह है। ...स्त्री की सार्थकता मातृत्व है।...प्रभु प्रेम ही सत्य है, बाकी प्रेम माया है। उस पर घर नहीं बन

सकता, जैसे रेत पर दीवार नहीं बन सकती।...भोग प्रेम नहीं, नहीं वह प्रेम कभी नहीं। प्रीति का भोग है त्याग। विवाह और सतीत्व-ये समाज और स्त्री के आधार है।'[6] जैनेंद्र बुद्धि और विश्वास की टकराहट के उस युग में पश्चिम से आई आधुनिकता पर संदेह करते हुए अपने को विश्वास के नजदीक ज्यादा पाते थे। पढ़ी-लिखी कल्याणी कहती है कि वह गृहस्थी और बाहरी दुनिया की जिम्मेदारी (डाक्टरी पेशा) में कोई एक सँभालेगी दोनों नहीं। इस उपन्यास में पुरुष का यह गर्व भी प्रकट होता है, मैंने ही तुम्हारा उद्धार किया' कल्याणी का दुखद अंत होता है जो स्त्री की ट्रेजेडी है। स्त्री रोटी बनाती है लेकिन उसमें दुनिया की विचित्रताओं को जानने और उनमें शामिल होने की उत्सुकता भी होती है। कुटुंब के कट्टर समर्थक जैनेंद्र कुमार ने निःसंदेह इस चीज को महसूस किया था। उन्हें संसार स्त्री-पुरुष में बँटा दिखा था। 'प्रथम : वह (मनुष्य जाति) द्विविधि है—स्त्री और पुरुष। कुटुंब-परिवार पीछे आते हैं, नाते-रिश्ते, नाम-गोत्र, मत-पंथ, वर्ण-संप्रदाय सब पीछे आते हैं।'[7] उन्होंने प्रेमचंद के अमीर और गरीब के विभाजन को बदल दिया, जैनेंद्र गृहस्थी से बँधी स्त्री की जिंदगी में गतिशीलता चाहते थे पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है, उसे खुलना चाहिए। जीवन को कुछ बहिर्गमन मिले और घर के भीतर की गृहस्थी मिले तो शायद कुछ इसकी सृष्टि हो, चैतन्य जागे।

'त्यागपत्र' की मृणाल पतन के अँधेरे गर्त में आकंठ डूबकर भी अपनी अस्मिता के लिए नहीं सभ्यता की उस रोशनी के लिए भी सवाल उठा रही थी, जिससे भारत का भद्र वर्ग वंचित था। यह उपन्यास एक दार्शनिक रूपक और फैंटेसी बनकर रह जाता, यदि प्रमोद और उसकी बुआ मृणाल के बेइंतिहा प्रेम की कथा भर होता। यह मृणाल की कथा है। उनमें आत्मसम्मान है, सांस्कृतिक गुलामी नहीं। प्रीति चौधरी लिखती हैं—'मृणाल हिंदी साहित्य की पहली आधुनिक स्त्री है जो नैतिकता की परंपरागत मान्यता को सिरे से खारिज करती है। वह न सिर्फ अपने स्त्रीत्व व अस्मिता के प्रति सजग है बल्कि खुद को तिल-तिल जलाकर भी वह नया रास्ता अख्तियार करती है। सच है कि जलना उसके जैसी स्त्रियों के नसीब में होता है, पर वह घर में इज्जत बचाते दम नहीं तोड़ती। मृणाल ने घर छोड़ा, बाहर निकली और हाशिए के लोगों के बीच पहुँच गई। यहीं उसका व्यक्तित्व नए आयाम पाता है।'[8] समाज ने मृणाल के ऊपर दुश्चरित्रता का दोष मढ़कर उसे हर तरह से प्रताड़ित किया। लेकिन जो कुछ मृणाल से होता गया, उसके लिए अगर कोई जिम्मेदार था तो केवल समाज।

'सुखदा' उपन्यास की नायिका सुखदा है। जिसका असाधारण व्यक्तित्व है। सुनीता उपन्यास की भाँति सुखदा उपन्यास में भी स्त्री के घर और बाहर की समस्या को एक नए परिप्रेक्ष्य में उठाया गया है। विवाह से पूर्व के नारी के स्वप्न विवाह के पश्चात अपने स्वतंत्र अस्तित्व का मिटाना, निजता की खोज में गृहस्थी से बाहर कर्म क्षेत्र में प्रवेश, अन्य पुरुष से प्रेम संबंध आदि विषयों के द्वारा नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रश्न 'सुखदा' उपन्यास में विवाह विच्छेद के द्वारा नारी की स्वतंत्र आकांक्षा को दिखाया गया है।

जैनेंद्र जी के स्त्री पात्रों में एक समानता है वे सभी, रिश्तों की बुनियाद सच्चाई पर रखना चाहती है। अपने तथा दूसरे के प्रति ईमानदार रहने की आकांक्षी है। 'परख' की कट्टो, त्यागपत्र की मृणाल, सुनीता की सुनीता, मुक्तिबोध की नीना, और दर्शाक की वेश्वावृत्ति करने वाली रंजना, ये सभी अपने कार्य के प्रति जिम्मेदार हैं और सीधा जवाब देती हैं। जैनेंद्र जी के यहाँ स्त्री प्रेम को स्वीकारती है, पर वह यथासंभव विवाह संस्था के संरक्षण का प्रयास करती है। 'सुनीता', 'सुखदा', 'विर्वत' और व्यतीत में जैनेंद्र जी ने स्त्री के प्रेम और विवाह की समस्याओं को विस्तृत रूप में पेश किया है। विवाह की समस्या के साथ स्त्री के पुरुष से स्वतंत्र जीवन की समस्या बँधी हुई है। एक

प्रकार से स्त्री के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का यह केंद्रबिंदु है। वह अपने लिए जी सके। विवाह-संस्था में आबद्ध स्त्री पति, पुत्रों के लिए जीती है। क्या वह अपने लिए जीने में स्वतंत्र है? पति के रहते और जानते क्या वह प्रेम कर सकती है और फिर भी सती बनी रहती है? सतीत्व बड़ा है या नारीत्व इस प्रश्न को बंगला उपन्यासकार शरदचंद ने भी उठाया है और नारीत्व को सतीत्व से बड़ा माना है।

'मुक्तिबोध' उपन्यास में जैनेंद्र जी ने ऐसी स्त्री को प्रस्तुत किया है जो अपनी देह के साथ सहज है। नीला अभिजात्य वर्ग की स्त्री है। पति के साथ रहती है किंतु प्रेम किसी और से है। प्रेमी से दैहिक समर्पण की अपेक्षा रखती है। वह प्रेमी की पत्नी से कहती है कि उसने अपने पति के अंदर देह का डर रहने क्यों दिया है। नीला समझती है कि डर से नियंत्रण की इच्छा उत्पन्न होती है। यह डर पर नियंत्रण उसकी देह का नियंत्रण नहीं हो सकता। नीला देह को प्राकृतिक-आदिम सत्य मानती है। इस पर नियंत्रण वाली व्यवस्था से उसे सख्त चिढ़ है।

जैनेंद्र का अंतिम उपन्यास 'दर्शाक' में स्त्री ऐसे समाज में है, जो अपने घर से ज्यादा बाजार की अधिक है। पैसा बहुत कुछ से अब सब कुछ हो जाता है। इस उपन्यास की नायिका सरस्वती पति से संबंध टूटने के बाद तत्काल वेश्या बन जाती है। वह सरस्वती से रंजना बन जाती है। विवाह की धारणा परिवार और नैतिकता को धता बताकर अपने 'प्रेम' से लोगों के रुग्ण मन का विरेचन करती है। वह शिक्षित है, संभ्रांत है और एक बड़ा दायरा पाती है। इसलिए जो करती है, वह जैनेंद्र की दृष्टि में अर्थ और देह से परे 'प्रेम का व्यवसाय' है। उसकी देह अक्षत है। वह यथार्थ से दूर एक चमत्कारी स्त्री-सी दिखती है। रंजना कहती है-'पैसे की दुनिया मर्दों की बनाई हुई है। हम औरतों की दुनिया वह नहीं है। न ही होनी चाहिए। हमारी दुनिया प्यार की है।'[9]

जैनेंद्र स्वातंत्र्योत्तर भारत में भौतिकता की चमक, दमक, परिवार की बिखराव, धन लोलुपता विवाहेत्तर संबंधों को देखते हुए ऐसे मुद्दों को उठा रहे थे। जैनेंद्र जी अपनी नारी पात्रों के लिए विद्रोह और आधुनिकता का निर्देश नहीं देते वे उनको सद्गृहस्थान और पुरुष के लिए प्रेरणा सिंहासन पर बैठाना चाहते हैं और इस प्रकार उन्हें शक्ति नहीं बल्कि शक्ति के सुंदर स्रोत के रूप में देखना चाहते है। लेकिन वास्तविकता यह है कि जैनेंद्र के रचना-संसार में नायिकाएँ लेखक से बार-बार विद्रोह कर देती है, जिन नायिकाओं ने परंपरा से विद्रोह किया और ठोकर खाने के बावजूद नई राह बनाई। यही नई राह आधुनिक नारी विमर्श बना रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जैनेंद्र के उपन्यास स्त्री-भावना प्रधान है। स्त्री उनके केंद्र में है। यह केंद्र केवल चारित्रिकता का ही नहीं है।मस्या और समाधान का भी है। कहने का तात्पर्य यह कि आधुनिक उपन्यासकारों में जैनेंद्र स्त्री-समस्याओं को उभारने में सर्वप्रथम है। जैनेंद्र के सभी उपन्यासों में पुरुष-स्त्री संबंधी द्वैत भावना उभरती है। पुरुष के परम पुरुषार्थ पर स्त्री मुग्ध है। परंतु यह पुरुषार्थ स्त्री को ओट में करके चलना चाहे तो इसमें स्त्री की पराजय है। इसी से स्त्री-पुरुष के भीतर स्त्रीत्व को उकसाती है और उसे हिंसा के मार्ग से हटाकर भीतर के दर्द से परिचित कराती है।

संदर्भ

1. राधाकुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2004, पृ॰ 15
2. जयशंकर प्रसाद, कंकाल, विक्रम प्रकाशन नई दिल्ली, पृ॰ 73
3. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृ॰ 165
4. शंभूनाथ, सभ्यता से संवाद, पृ॰ 138

5. निर्मला जैन, जैनेंद्र रचनावली, खंड-1, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ॰ 227
6. वही, पृ॰ 422
7. वही, पृ॰ 227
8. तद्भव, त्रैमासिक मासिक पत्रिका, अंक 25, मार्च 2012, संपादक अखिलेश, लखनऊ, पृ॰ 76
9. निर्मला जैन, जैनेंद्र रचनावली, खंड-3, पृ॰ 416

चकदादनपुर हनुमान नगर झलवा
निकट जीनियस पब्लिक इंटर कालेज, झलवा
पोस्ट-सूबेदारगंज
जिला-प्रयागराज 211015
मो॰ 9455624397
dr.ajaykumarhindi@gmail.com

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में चित्रित सामाजिक समस्याएँ

अफीफा फातिमा शेक, शोधार्थी, हिंदी
वेल्स इंस्टीट्यूट आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी
एडवांस स्टडीज (विस्टस), पल्लवरम, चेन्नई
डॉ॰ पूर्णिमा श्रीनिवासन
असिस्टेंट प्रोफेसर एंड हेड, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी
वेल्स इंस्टीट्यूट आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी
एडवांस स्टडीज (विस्टस), पल्लवरम, चेन्नई

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहते हुए अपने अभावों को पूरा करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। उसका यह प्रयत्न ही मानव सभ्यता के विकास की आधारशिला है। परस्पर सहयोग-सहवास में रहकर, पारस्परिक रीति-रिवाज, अधिकार और स्वतंत्रता को समग्र सामाजिक संबंध के लिए जीवनयापन करने वाला समूह ही 'समाज' है। समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों तथा समस्याओं का गहन जाल है।

समाज और साहित्य का संबंध–साहित्य और समाज का अटूट संबंध है। मानव के बगैर समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती, वैसे ही साहित्य भी केवल मानव को केंद्र में रखकर लिखा जाता है। साहित्य का विकास समाज के विकास के साथ अवरित होता रहता है। समाज के पर्यावरण की उपज साहित्य होता है। समाज परिवर्तन के बाद साहित्य में भी परिवर्तन आता है। समाज की समस्याओं को दूर करने का प्रयास साहित्य करता है, इस तरह साहित्य और समाज का अंत:संबंध है।

कथा साहित्य वस्तुत: जीवन की सबसे नजदीकी विधा है। इसमें जीवन की सामाजिक समस्याओं को उभारकर इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि हर घटना जीवंत लगती है। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है। 21वीं सदी के प्रथम दशक में हिंदी कथा साहित्य में जिन चुनिंदा और श्रेष्ठ कथाकारों ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई उनमें मनीषा कुलश्रेष्ठ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। समकालीन कथा लेखन में सार्थक हस्तक्षेप करते हुए वे सतत सक्रिय कथा लेखिका है जिनके अब तक 51 कहानियाँ और 6 उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में आधुनिक युग की सामाजिक समस्याओं, जैसे–पीढ़ी-अंतराल, जीवन में आने वाली विश्रृंखलताएँ, मध्यवर्ग के टूटते हुए व्यक्ति के मानसिक उद्वेलन, पुरुष की पैशाचिक कामुकता, वेश्यावृत्ति, आतंकवाद, रीति-रिवाज, बेमेल-विवाह, पाश्चात्य प्रभाव, बदलते परिप्रेक्ष्य और स्त्री संघर्ष को यथार्थ रूप में उभारने की कोशिश की गई है। उक्त विषयों को गरिमा सहित फलक पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। समाज की तह तक जाकर पात्रों के माध्यम से समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। समस्याओं का सामान्य परिचय निम्नलिखित है–

बिगड़ैल बच्चे–कहानी में पीढ़ी अंतराल एवं बच्चों के पालन-पोषण का वर्णन हुआ है।

 ISSN 0975-735X

आज के युवा सामाजिक व नैतिक मूल्यों की जानकारी में शून्य हैं। इनमें न समझदारी है और न ही संस्कार। इनका सारा ध्यान मौज-मस्ती और फैशन पर ही केंद्रित है। इनमें कुछ करने की न हिम्मत है और न काबिलियत है। यही पुरानी पीढ़ी की सोच है। वैसे तो हर पीढ़ी में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ रही हैं किंतु आम अवधारणा यह है कि नई पीढ़ी दिन-पर-दिन कुसंस्करी होती जा रही है। इस कहानी में लेखिका इस सोच को नकारती हैं। कहानी मुख्य रूप से तीन युवकों के माध्यम से युवा पीढ़ी को लेकर जमाने के नजरिए को व्यक्त करती है। लेखिका इस कहानी के माध्यम से यह भी कहती हैं कि बच्चों को कठोर अनुशासन और अति सुरक्षित वातावरण में पालने का परिणाम सदैव सकारात्मक नहीं होता। इस कारण बच्चों में आत्मविश्वास की कमी आ जाती है। लेखिका रेलयात्रा के दौरान उक्त तीन युवाओं की तुलना अपनी बेटी निशी से करती हैं। वे अपनी बेटी के आत्मविश्वास की कमी के बारे में सोचकर यह कहती हैं कि 'क्या निशी इस कठोर अनुशासन और अतिरिक्त सुरक्षित वातावरण में पढ़कर बेहद दब्बू बनकर नहीं रह गई।'[1] वह पता लगाती है कि अधिक अनुशासन की वजह से बच्चों का व्यक्तित्व दब जाता है। इस प्रकार इस कहानी के माध्यम से युवा पीढ़ी के बच्चों के प्रति कठोर अनुशासन की जो आम अवधारणा है उसे गलत साबित करने का भी प्रयास किया गया है। अपने इस उद्देश्य में लेखिका पूर्णत: सफल हैं।

अवक्षेप–इस कहानी के माध्यम से आदिवासी छात्राओं का यौन शोषण, सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार, गर्ल्स हॉस्टल के जीवन आदि पर विश्लेषणात्मक चित्रण खींचा गया है। आदिवासी छात्राओं की सुविधाओं की बात तो बखूबी निरंतर होती है पर लेखिका उस यथार्थ से पाठकों को रूबरू करवाती है जहाँ हकीकत कुछ और ही है। कहानी की मुख्य पात्र बेनू कहती है कि 'पहले के दो महीने की छातरवती इंचारज ने अटका रखी है पाँच सौ पूरे तो कभी देता ही नहीं, खा पी के दो सौ टिकाता है।'[2] किस प्रकार उनकी पूरी छात्रवृत्ति उन्हें नहीं दी जाती। अपने अधिकारों की माँग करने पर, हॉस्टल के अधिकारी किस प्रकार लड़कियों के साथ बलात्कार करते हैं उसका यथार्थ वर्णन लेखिका ने 'अवक्षेप' कहानी में किया है।

फाँस–इस कहानी का केंद्र पैशाचिक कामुकता है। कहानी के अनुसार राजस्थान के एक गाँव में पिता अपनी बेटी के साथ यौन शोषण करता है। कहानी के माध्यम से लेखिका मनीषा जी ने उन पहलुओं को सामने लाती हैं जहाँ एक स्त्री बाहरी दुनिया के साथ-साथ घर परिवार में भी असुरक्षित है। जिस प्रकार पुरुष एक पिता होने पर भी अपनी बेटी को एक नारी शरीर के नजरिए से ही देखता है। कहानी की नायिका अंतिमा सोचती है कि 'गोखलेनुमा खिड़की में खड़ी व रेत पर उतरते अँधेरे को देख रही थी, मानो कोई राक्षस रेत से निकलता हुआ बढ़ता आ रहा हो।'[3] इस कहानी के माध्यम से लेखिका ने लड़का-लड़की में भेद, पिता-पुत्री जैसे पवित्र रिश्तों में परिवर्तन का वर्णन किया गया है।

भगोड़ा–इस कहानी में सरकारी अफसरों के भ्रष्टाचार एवं अधिकारियों की चापलूसी की अहमियत का स्पष्ट चित्रण हमें प्राप्त होता है। कहानी का नायक प्रशांत कहता है कि 'सीनियर्स सपत्नीक अपने सी॰ओ॰ की चापलूसी में लगे रहते थे। औपचारिकताओं और कृत्रिमता की कोई सीमा ही नहीं।'[4] एयरफोर्स में भर्ती तीन नौजवान अपने अफसरों की चापलूसी, अफसरों के भ्रष्टाचार से तंग आकर एयरफोर्स से भाग जाते हैं। जिसकी वजह से उन तीनों को 20 लाख रुपए जुर्माना भुगतना पड़ता है और भुगतान न देने पर उन तीनों को भगोड़ा करार कर जेल में रहना पड़ता है। किस प्रकार ज्यादातर लोग आगे बढ़ने के लिए अपने से उच्च अधिकारियों की चापलूसी करते

हैं इसका सजीव चित्रण मनीषा जी ने दर्शाया है।

कुरजां–कहानी में जमीनदारी शोषण, अंधविश्वास, विधवा स्त्री का शोषण, बालविवाह आदि का मनीषा कुलश्रेष्ठ ने सराहनीय चित्रण किया है। अंधविश्वास किस प्रकार एक अच्छे भले इंसान को डायन मान उसके जीवन को बर्बाद कर देता है इसका चित्रण कहानी में हुआ है। कुरजां जिस गाँव में रहती है वहाँ के लोग उसे डायन मानकर गाँव से बाहर निकाल देते हैं। अशिक्षित कुरजां गाँव में आए नए हेडमास्टर के पास अपने बच्चे के दाखिले की बात करती है। मास्टर का नौकर कालू उन्हें कुरजां से दूर रहने के लिए कहता है। कालू कहता है कि 'मेरी ही औरत के जब तीसरी बच्चा होने को था तो हम देवता के यहाँ से लड़का होने की भभूत लाए, ये राँड सामने पड़ गई कि तीसरी भी लड़की पैदा हो गई।'[5] उसके हिसाब से कुरजां एक डायन है, उसकी नजर जिस पर पड़ती है वह बर्बाद हो जाते हैं। इस प्रकार एक गरीब बेसहारा विधवा औरत के प्रति गाँव वालों के अमानवीय व्यवहार का चित्रण किया गया है।

मास्टरनी–कहानी में कामकाजी स्त्री का संघर्ष, मंत्रियों के भ्रष्टाचार और दहेज की समस्या का वर्णन लेखिका ने पात्रों के माध्यम से किया है। नवविवाहित स्त्री बहुत आशाएँ और उम्मीदों के साथ पति के घर आती है। इसके विपरीत जब उसे पति का प्यार न मिलकर सिर्फ ताने मिलते हैं तो वह पूरी तरह से टूट जाती है। कहानी की नायिका सुषमा कहती है कि 'अब उसकी नौकरी को यही सास कोसती है यही पति उसे लापरवाह फूहड़ साबित करते हैं।[6] भ्रष्ट समाज में अपने पति का प्यार पाने के लिए अपने अस्तित्व को त्याग देती है। फिर भी अपने असंतुष्ट पति को देखकर सिकुड़ जाती है। इसका संवेदनात्मक चित्रण लेखिका ने किया है।

स्वाँग–कहानी में जातिभेद, विलुप्त कला और कलाकारों की गरीबी आदि समस्याओं का वर्णन हुआ है। भारत में विलुप्त पुरानी कला और कलाकारों की गरीबी का वर्णन पात्र गफ्फार खाँ के माध्यम से हुआ है। भौतिकवाद के कारण अपनी संस्कृति से आज व्यक्ति किस प्रकार वंचित होता जा रहा है उसका यथार्थ रूप 'स्वाँग' कहानी के माध्यम से लेखिका ने बताया है।

कालिंदी–कहानी की नायिका एक वेश्या की बेटी कालिंदी है। नायिका के माध्यम से वेश्यावृत्ति, परिवार वालों के आर्थिक लोभ आदि समस्याओं का वर्णन लेखिका ने गंभीरतापूर्वक किया है। कालिंदी अपने पड़ोसी लड़के के साथ भाग जाती है। अपने पति से धोखा खाकर गर्भवती कालिंदी अपने मायके आ जाती है। इस कहानी में मनीषा जी ने वेश्यावृत्ति की विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

अनामा–इस कहानी में वाराणसी की गंदगी, गंगाजल प्रदूषण का वर्णन हुआ है। लेखिका ने कहानी के माध्यम से पर्यावरण चिंतन की समस्या को उजागर किया है। अनामा अपनी माँ का तर्पण कराने के लिए वाराणसी जाती है। वहाँ पर गरीब, भिखमंगे और गंदगी देखकर दंग रह जाती है। आज के समय में मनुष्य आधुनिकता के नाम पर प्रकृति के साथ खिलवाड़ करता है। मानव अपनी सुख-सुविधाओं को पूरा करने के लिए पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ता है जिससे पर्यावरण प्रदूषण हो रहा है।

आर्किड–इस कहानी में मणिपुर की आतंकवादी समस्या का वर्णन लेखिका ने पात्रों के माध्यम से किया है। कहानी मणिपुर राज्य में सैनिक शासन के दौरान सेना और स्थानीय निवासियों के बीच होने वाले विभिन्न समस्याओं की कटु सच्चाई को प्रस्तुत करती है। जैसे तनाव, विरोध, झगड़े और तमाम तरह के जोखिम-भरे जीवन-संघर्ष आदि। अपने अधिकारों और आजादी के लिए

लड़ने वाले मणिपुर के लोग आपदा के समय सेना और अस्पतालों पर निर्भर हैं। तटरक्षकों के बनते-बिगड़ते संबंधों, मानवीय संवेदना की गहरी पड़ताल यह कहानी जीवंत रूप से करती है।

ठगनी–कहानी में कन्या भ्रूण हत्या की गंभीर समस्या पर लेखिका ने जोर दिया है। आज भी भारत में ऐसे गाँव हैं जहाँ पर कन्या भ्रूण हत्या हो रही हैं। 'ठगनी' कहानी स्त्री अस्मिता की जीवंत व मार्मिक कहानी है। कहानी में पुरुष सत्ता की क्रूर मानसिकता, स्त्री के अस्तित्व को कुचलने वाली सदियों से चली आ रही नवजात कन्या हत्या आदि कुरीतियों का पर्दाफाश किया है। मुख्यपात्र गूँगी कंचन के माध्यम से कन्या भ्रूण हत्या, जीवन की पीड़ा, त्रासदी और अस्तित्व शून्यता का सजीव चित्रण मनीषा जी ने किया है। इस कहानी में पिता किस प्रकार अपनी नवजात कन्या की हत्या करता है, उससे कंचन किस प्रकार बचकर गूँगी बनती है आदि का वर्णन है।

निष्कर्ष–मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियाँ समाज में फैली हर प्रकार की समस्या को उजागर करती हैं। आधुनिक काल के अनछुए पहलुओं को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। आदिवासी छात्राओं का शोषण, कन्या भ्रूण हत्या, विलुप्त कलाकारों की गरीबी, मणिपुर में राजनीतिक कारणों से उत्पन्न सामान्य जीवन का संघर्ष, अभिभावकों की अपनी संतान के प्रति अति सुरक्षित भावना, पर्यावरण चिंतन आदि अनछुए पहलुओं का विशेष चित्रण मनीषा जी की कहानियों में हुआ है।

संदर्भ

1. डॉ॰ व्यंकटकिशन राव पाटील, मैत्रैयी पुष्पा के साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2011, पृ॰ 69
2. मनीषा कुलश्रेष्ठ, रंग-रूप, रस-गंध (कहानी-बिगड़ैल बच्चे), सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृ॰ 121
3. वही, (कहानी-अवक्षेप), पृ॰ 109
4. वही, (कहानी-फाँस), पृ॰ 330
5. वही, (कहानी-भगोड़ा), पृ॰ 183
6. वही, (कहानी-कुरजाँ), पृ॰ 211
7. वही, (कहानी-मास्टरनी), पृ॰ 233

Afeefa Fathima Shaik
7/3 (2nd floor) Rebeiro street,
Gowdiamutt Road, Royapettah,
Chennai -600014
Mob. 9710623178
afeefasaboor@gmail.com

गोपालदास नीरज के फिल्मी गीतों का सामाजिक सरोकार

अनिल कुमार 'अनिवार्य'
शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

फिल्म साहित्यिक सृजनात्मकता और यांत्रिक प्रतिभा का ऐसा प्रभावशाली समन्वय होता है जो आम जनमानस को मनोरंजित करने के साथ-साथ तत्कालीन समाज की सभ्यता और संस्कृति को प्रदर्शित और प्रभावित भी करता है। यह साहित्यिक विधाओं और ललित कलाओं का एक कोलॉज होता है जिसमें गीत सबसे महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में विद्यमान रहता है। किसी भी सिनेमा की लोकप्रियता में उसके गीतों की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। गीत हमारे सुख-दुःख की भावावेश अवस्था की तीव्रतम अभिव्यक्ति के रूप में सदियों से महत्त्व पाता आया है। यह हमारे भारतीय समाज और संस्कृति का ऐसा अभिन्न अंग है जिसके बिना न तो हम अपने हर्षोल्लास को व्यक्त कर पाते हैं और न शोक को। यहाँ हर मौसम और हर त्योहार के अपने-अपने गीत हैं जिन्हें लोग गाते और गुनगुनाते हैं। इस संदर्भ में अशोक अंजुम अपने गीत-संग्रह 'एक नदी प्यासी' की भूमिका में लिखते हैं कि 'गीत भारतीय आत्मा में शताब्दियों से रचा-बसा है यहाँ प्रकृति भी गाती है नदियाँ, झरने ,पहाड़, ऋतुएँ, पक्षी आदि सभी गीत ही गाते हैं। वेद, उपनिषद, गीता, वैदिक ज्योतिष आदि सभी कुछ यहाँ छंदबद्ध है। छंदविहीन होकर कविता न तो यहाँ रही है और न आगे रह सकेगी। मेरे विचार से गीत अस्तित्व का ही नवनीत है।'[1] गीतों में आज भी लोकजीवन अपने नैसर्गिक रूप में सुरक्षित है। जब तक लोक रहेगा तब तक गीतों में लोकजीवन और मानवीय संवेदनाओं का स्पंदन होता रहेगा। 'गीत संपूर्ण मानवी संवेदना के सर्वोत्तम निचोड़ की सार्थक और संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। गीत जब व्यक्ति परक उदगार बन जाता है तब भी वह समाज के सामूहिक संवेग का ही प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए गीत का मर्म वही समझ सकता है जो उसकी आत्म परखता में अंतर्निहित मानवीयता की आवाज से भिज्ञ हो।[2]

कविता की अपेक्षा सिनेमा के गीतों की रचना-प्रक्रिया थोड़ी कठिन होती है तथा इसके लिए गीतकार का प्रतिभावान होना भी आवश्यक है, क्योंकि गीतों के निर्माण से पूर्व गीतकार को न सिर्फ लयात्मक सुग्राह्य भाषा और जनमानस की भावनाओं का ध्यान रखना होता है अपितु उसके साथ सिनेमा के कथानक को भी ध्यान में रखना पड़ता है। 'हर फिल्म का अलग मिजाज होता है, जुदा अंदाज होता है, अपना माहौल होता है। हर फिल्म में कुछ खास किरदार होते हैं। गीतकार फिल्म के माहौल और गीतकारों के मुताबिक ही गीत लिखता हैं।'[3] सिनेमा जैसे पूर्णतः व्यावसायिक माध्यम में भी साहित्यिक तत्त्व को समाहित करने वाले गीतकारों में चंद गिने-चुने नामों की ही आज गणना होती है जिसमें हरिवंशराय बच्चन, गोपालसिंह नेपाली, साहिर लुधियानवी, शैलेंद्र, गुलजार के साथ गोपालदास नीरज की भी गणना होती है।

फिल्मों में सर्वश्रेष्ठ गीत-लेखन के लिए नीरज जी को लगातार तीन बार फिल्मफेयर पुरस्कार भी मिला।'[4] आज स्थिति यह है कि 'नीरज' का नाम आते ही हिंदी गीतकारों की एक पूरी

 ISSN 0975-735X

की पूरी पीढ़ी ही आँखों की राह दिल में उतर जाती है। 'नीरज' आज एक व्यक्ति न रहकर पिछली अर्द्ध शताब्दी के पूरे गीतकाव्य की शृंगार निधि ही हो गया है।'[5] जब गोपाल के दर्द को नीरज अपने अंदाज में अभिव्यक्त करते हैं तो उसकी परिणति कुछ इस प्रकार गोपालदास नीरज का आत्मकथ्य बनकर दुनिया के सामने प्रकट होता है–

कानपुर आज जो देखे तू अपने बेटे को
अपने नीरज की जगह लाश उसकी पाएगा।
सस्ता इतना मैंने खुद को यहाँ बेचा है,
मुझको मुफलिस भी खरीदे तो सहम जाएगा।[6]

नीरजजी ने लंबे जीवन अनुभव में अनेक झंझावात झेले, चाहे वह प्रेमजन्य पीर हो, पारिवारिक संघर्ष हो या आलोचकों से मिली तीखी प्रतिक्रिया हो, इन सबको उन्होंने बेहद दृढ़ता से झेला फिर भी अपनी छत्रछाया में आने वाले जीवन से हताश और निराश पथिकों को शीतलता प्रदान करते हुए उनमें सकारात्मक ऊर्जा का ही संचार किया–

जब सूना-सूना लगे तुम्हें जीवन अपना
तुम मुझे बुलाना मैं गुंजन बन जाऊँगा
लेकिन जिस दिन पथ पर सपनों की उड़े धूल
तुम मुझे बुलाना मैं चंदन बन जाऊँगा।[7]

'उनके गीतों से मनुष्य को जीने की प्रेरणा मिलती थी। थके-हारे को एक सुकून व विश्रांति और दग्ध हृदय व्यक्ति को प्रेम और अनुराग की सच्ची अनुभूति और प्रतीतिं'[8] नीरज की मान्यता थी कि यह संसार प्रेम से चलता है और इस संसार में प्रेम को बनाए रखने के लिए गीतों की नितांत आवश्यकता है। प्राण गीत की भूमिका में नीरज जी ने गीत के संबंध में लिखा है कि 'गद्य जहाँ असमर्थ है वहाँ कविता जन्म लेती है और जहाँ कविता भी लाचार है वहाँ गीत आता है।'[9]

गीत जब मर जाएँगे, फिर क्या यहाँ रह जाएगा
एक सिसकता आँसुओं का कारवाँ रह जाएगा
प्यार की धरती अगर बंदूक से बाँटी गई
एक मुरदा शहर अपने दरमियाँ रह जाएगा।[10]

हिंदी फिल्म जगत में नीरज जी के गीत-लेखन का कारवाँ 'कारवाँ गुजर गया, गुबार देखते रहे...' गाने से प्रारंभ हुआ। इस संबंध में स्वयं नीरज जी ने लिखा है कि 'एक समय था जब वह मेरा सर्वाधिक प्रिय गीत था, जिसके कारण मुझे विश्वव्यापी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी क्योंकि 'कारवाँ गुजर गया' नामक फ्रेज हिंदी और उर्दू दोनों भाषाभाषियों ने पहली बार सुना था और इसे मैंने 1954 में पहली बार लखनऊ रेडियो स्टेशन से पढ़ा था। और यह रातभर में ही हिंदुस्तान में ही नहीं पाकिस्तान में भी लोकप्रिय हो गया था। इसी गीत की लोकप्रियता को भुनाने के लिए श्री आर॰ चंद्रा ने 'नई उमर की नई फसल' नामक फिल्म बनाई थी और जब रफी ने गीत गाया था तो ये गीत हिंदुस्तान की सरहदें लाँघकर सारे विश्व में प्रसारित हो गया और मैं जहाँ इंग्लैंड, अमेरिका, केनेडा, ऑस्ट्रेलिया, मॉरीशस में गया तो वहाँ ये मेरा सिग्नेचर गीत बन गया, जिस प्रकार बच्चन जी की 'मधुशाला'...।'[11] लगभग 1960 से शुरू हुआ उनका यह फिल्मी सफर 1973 तक जारी रहा इस दौरान उन्होंने हिंदी फिल्म जगत को लगभग 125 गाने समर्पित किए। उसके उपरांत उनका मायानगरी से मोहभंग हो गया और वे पुनः अपनी मंचीय दुनिया में लौटकर काव्यपाठ करने लगे।

नीरज जी के फिल्मी गीत लोकजीवन से संपृक्त हैं। उन्होंने गीत को केवल मनोरंजन का विषय नहीं बनाया वरन् उसे लोकरंजन से लोकमंगल तक की यात्रा कराई। हिंदी फिल्म जगत को समर्पित नीरज का प्रथम गीत 'कारवाँ गुजर गया...' ही उनका हस्ताक्षर गीत बन गया। इस गीत में उन्होंने जीवन की बारीकियों को दर्शन के आसान धागों से कुछ इस प्रकार बुना है कि श्रोता स्वत: अपनत्व भाव से उससे जुड़े बिना नहीं रह पाते। उनका यह गीत दिल की गहराइयों में उतरकर अनायास श्रोता के होठों पर आ जाता है। इस संबंध में मैत्रेयी पुष्पा अपने एक आलेख 'नीरज की कविता मेरे लेखन की प्रेरणा स्रोत में' में लिखती हैं कि 'मैंने वह कविता कुछ इस तरह मन में बसा ली कि जब मेरी शादी हुई और विदा का मंजर आया, कविता की पंक्तियाँ साकार होने लगीं। विछोह का माहौल कविता में सजीवता के साथ उभर आया–'शोर मच गया कि लो चली दुल्हन चली दुल्हन, गाँव था उमड़ पड़ा बहक उठे नयन नयन। झाँसी छूटी, गाँव छूट गया जिनके छूटने का मुझे आज तक रंज है। नीरज जी की उस रचना ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। नई उमर की नई फसल में फिर वही गीत गूँजा।'[12]

नीरज मानवप्रेम के अन्यतम गायक हैं। उनके गीतों में मानवता की अक्षुण धारा निरंतर प्रवाहित होती प्रतीत होती है। उनकी मान्यता थी कि 'जो साहित्य मनुष्य के सुख-दुख का साझीदार नहीं उसमें मेरा विरोध है। मैं अपनी कविता द्वारा मनुष्य बनकर मनुष्य तक पहुँचना चाहता हूँ। वही मेरी यात्रा का आदि है वही अंत है। रास्ते पर मेरी कविता कहीं भटक न जाए इसलिए उसके हाथ में मैंने प्रेम का एक दीपक दे दिया है...प्रेम और विशेष रूप से मानव प्रेम मेरी कविता का मूल स्वर है 'आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ' यह मेरी कमजोरी भी है और शक्ति भी। कमजोरी इसलिए की घृणा और द्वेष से भरे आज के संसार में मानव प्रेम के गीत गाना अपनी पराजय की कहानी ही कहना है, पर शक्ति इसलिए कि मेरे इस मानव प्रेम में ही मेरे आस पास बनी हुई धर्म, कर्म, जाति-पाति आदि की दीवारों को ढहा दिया है और वादों के भीषण झंझावत में भी पथभ्रष्ट नहीं होने दिया है।'[13]

एक खिलौना बन गया दुनिया के मेले में,
कोई खेले भीड़ में कोई अकेले में,
मुस्कुराकर भेंट हर स्वीकार करता हूँ,
आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ।[14]

नीरज के गीतों में प्रेम और जीवन दर्शन ये दो सबसे प्रमुख और अद्‌भुत पक्ष हैं। वे प्रेम के पुजारी थे जिसे उन्होंने 'प्रेम के पुजारी' फिल्म के 'टाइटल सॉन्ग' में कुछ इस प्रकार स्वीकारा भी है–'प्रेम के पुजारी हम हैं, रस के भिखारी।'[15]

नीरज के अनुसार 'मानवीय संबंधों में मेरे विचार से प्रेम सर्वश्रेष्ठ संबंध है एक ऐसी हृदय भावना है जो निरंतर हमारी विकृतियों का शमन करती हुई हमें मनुष्यता के निकट ले जाती है व्यक्ति के जीवन की मूल विकृति मैं अहम मानता हूँ जो सामाजिक रूप से यथार्थ का रूप धारण करता है। घृणा, द्वेष, दंभ, वैषम्य, युद्ध, संहार इन सबका कारण यही अहं है। इसी से मुक्ति होने में मनुष्य की मुक्ति है। मेरी परिभाषा में इसी अहं के समर्पण नाम प्रेम है और इसी अहं के विसर्जन का नाम साहित्य है जो प्रेम का ईष्ट है वही साहित्य का लक्ष्य है।'[16]

नीरज के गीतों में मानवीय जीवन की कड़वी सच्चाई और त्रासद स्थितियों का मार्मिक चित्रण दिखाई देता है। इस संबंध में 'मेरा नाम जोकर' फिल्म के एक गाने 'ये भाई जरा देख के चलो' की कुछ पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रिंग मास्टर के कोड़े पड़,
कोड़ा जो भूख है, कोड़ा जो पैसा है, कोड़ा जो किस्मत है,
तरह तरह नाच कर, दिखाना यहाँ पड़ता है,
बार-बार रोना और गाना यहाँ पड़ता है,
हीरो से जोकर बन जाना पड़ता है।[17]

नीरज जहाँ अपने गानों में उदासियों का कोना सजाते हैं वहीं उम्मीदों का दिया भी जलाते हैं। वे नाउम्मीदी के नहीं आशा और उजास के गीतकार हैं। नीरज जी ने इसी गाने में आगे लिखा है–

गिरने से डरता है क्यों?/ मरने से डरता है क्यों?
ठोकर तू जब न खाएगा,/ पास किसी गम को न,
जब तक बुलाएगा,/ जिंदगी है चीज क्या?
नहीं जान पाएगा,/ रोता हुआ आया है,
रोता चला जाएगा।[18]

इंसान की बफादरी हमेशा से शक के घेरे में घिरी रही है इसीलिए हमारे समाज में इंसानों की अपेक्षा पशुओं की बफादारी की मिशालें दी जाती रही हैं। इंसान की इस निकृष्ट प्रवृत्ति पर नीरज जी ने अपने इस गाने की इन पंक्तियों के माध्यम से कुछ प्रकार कटाक्ष किया है–

कैसा है करिश्मा, कैसा खिलवाड़ है,
जानवर आदमी से ज्यादा बफादर है,
खाता है कोड़ा भी रहता है भूखा भी,
फिर भी वो मालिक पर करता नहीं वार है,
और इंसान यहाँ,
माल जिसका खाता है, प्यार जिससे पाता है,
गीत जिसके गाता है, उसी के सीने में भोंकता कटार है।[19]

इसी गाने के अंत में नीरज जी ने संसार को एक सर्कस की भाँति बताते हुए जीवन दर्शन के सार को कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

हाँ बाबू यह सर्कस है,/ शो तीन घंटे का,
पहला घंटा बचपन है,/ दूसरा जवानी है
तीसरा बुढ़ापा है,/ और उसके बाद माँ नहीं बाप नहीं,
बेटा नहीं बेटी नहीं,/ तू नहीं मैं नहीं,/ कुछ भी नहीं रहता है।[20]

आज हमारे समाज में सर्वत्र पैसे का ही बोलबाला है। पैसों के आगे इंसान या उसकी इंसानियत का कोई महत्त्व नहीं। अगर आपके पास पैसे हैं तो पराए भी अपने बन जाते हैं वरना पैसों के अभाव में अपने भी पराए हो जाते हैं। हमारे समाज के इस नग्न यथार्थ को नीरज जी ने 'पहचान' फिल्म के एक गाने 'पैसे की पहचान..' में कुछ इस प्रकार उद्घाटित किया है–

बीवी, बहन, माँ, बेटी न कोई, पैसे का सब रिश्ता है,
आँख का आँसू, खून जिगर का, मिट्टी से भी सस्ता है।
सबका तेरी जेब से नाता, तेरी जरूरत कोई नहीं,
बच के निकल जा इस बस्ती में, करता मुहब्बत कोई नहीं।[21]

इसी गीत में नीरज जी ने सर्वभोग्याओं के जीवन और उनकी वेदना को कुछ इस प्रकार

प्रस्तुत किया है कि सुनने वाले की आँखें स्वत: नम हो जाती हैं।

जिंदगी क्या है चीज यहाँ, मत पूछ आँख भर आती है,
रात में करती ब्याह कली वो, बेवा सुबह हो जाती है।[22]

गीता जहाँ वेदांत दर्शन का सार है वहीं यह नीरज के काव्य सृजन भी आधार है। नीरज ने 'चंदा और बिजली' फिल्म के गाने 'काल का पहिया घूमे रे' के माध्यम से इंसान को निष्काम और निष्पाप कर्म के माध्यम से अपने घर को स्वर्ग का बनाने की प्रेरणा दी है–

कर्म अगर अच्छा है तेरा, किस्मत तेरी दासी है,
दिल है तेरा साफ तो प्यारे, घर में मथुरा काशी है।
सच्चाई की रह चलो रे, जब तक जीवन प्राण चले।[23]

सहजता में समाहित विशिष्टता ही नीरज के गीतों की लोकप्रियता का आधार है। उनके गीत, स्वरों का सायास संयोजन मात्र नहीं अपितु गीतकार के दीर्घ जीवनानुभव और गहन अंतर्दृष्टि का प्रतिफलन है। नीरज ने फिल्मों के लिए मुख्यत: प्रेमगीतों की ही रचना की है जहाँ प्रेम जिस्मानी दायरे से बाहर आकर इंसानी और रूहानी प्रतीत होता है। इस संबंध 'कन्यादान' फिल्म का यह लोकप्रिय गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लिखे जो खत तुझे, वो तेरी याद में
हजारों रंग के नजारे बन गए
सवेरा जब हुआ तो फूल बन गए
जो रात आई तो सितारे बन गए
कोई नगमा कहीं गूँजा, कहा दिल ने के तू आई
कहीं चटकी कली कोई, मैं ये समझा तू शरमाई
कोई खुशबू कहीं बिखरी, लगा ये जुल्फ लहराई।[24]

नीरज जब अपने गीतों में लौकिक प्रेम को अलौकिक रंग में रँगते हैं तो उसकी परिणति स्वरूप हमें कुछ इस प्रकार के गीत सुनाई देते हैं–

जैसे राधा ने माला जपी श्याम की,
मैंने ओढ़ी चुनरिया तेरे नाम की।[25]

प्रेम के नशे में मदहोश एक प्रेमी के मुख से नीरज जी ने प्रेम को जिस अंदाज में परिभाषित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ और अविस्मरणीय है–

शोखियों में घोला जाए फूलों का शबाब
उसमें फिर मिलाई जाए थोड़ी सी शराब
होगा यूँ नशा जो तैयार वो प्यार है।[26]

नीरज ने केवल प्रेम के संयोग पक्ष को ही प्रभावी ढंग से स्वरबद्ध नहीं किया अपितु वियोग पक्ष के दारुण दशा में विरह वेदना से पीड़ित प्रेमी और प्रेमिका की भावनाओं को भी उन्होंने उतनी ही तन्मयता से अभिव्यक्त किया है–

दिल आज शायर है, गम आज नगमा है, शब ये गजल है नम,
गैरों के शेरों को, ओ, सुनने वाले, हो इस तरफ भी करम।[27]

नीरज जब नायिका के विरह विद्ग्ध हृदय की संवेदनशीलता के चर्मोत्कर्ष को अपने गीतों में चित्रित करते हैं तब वह 'नागमती के विरह वर्णन' का पुनराख्यान–सा प्रतीत होने लगता है–

मेघा छाए आधी रात वैरन बन गई निंदिया
सब के आँगन दिया जले रे मोरे आँगन जिया
हवा लागे शूल जैसी, ताना मारे चुनरिया
आई है आँसू की बारात, बैरन बन गई निंदिया।[28]

दांपत्य जीवन की सबसे बड़ी सफलता और सबसे बड़ा सुख इंसान को तभी प्राप्त होता जब उसे संतान की प्राप्ति होती है। अपनी प्रथम संतान के आगमन की आकांक्षा में लोग भावविभोर रहते हैं क्योंकि उस संतान के माध्यम से लोग पुनः अपने बचपन को जीना चाहते हैं। इस भाव को नीरज अपने शब्दों में कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं–

मेरा राज दुलारा, वो जीवन प्राण हमारा
फूलेगा एक फूल खिलेगा प्यार हमारा
दिन का वो सूरज होगा, रातों का चाँद सितारा
थोड़ा हमारा, थोड़ा तुम्हारा, आएगा फिर से बचपन हमारा,
जीवन की बगिया महकेगी, लहकेगी, चहकेगी...।[29]

भारतीय फिल्म जगत में गोपालदास नीरज का नाम एक ऐसे गीतकार के तौर पर याद किया जाता है जिन्होंने प्रेम, विरह, प्रकृति और जीवन से रचे-बसे गीतों की रचना कर श्रोताओं का दिल जीता। नीरज के साहित्यिक संस्कार वाले हिंदी फिल्मी गीतों में उर्दू के शब्दों का सम्यक् प्रयोग तथा उर्दू मिश्रित सहज भाषा ने लोगों के मानस-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। नीरज के रचना-संसार के केंद्र में मानव और मानव समाज रहा। जिसे उन्होंने तरह-तरह से लिखा और गाया। स्वाभाविक है कि मनुष्य के दुख-दर्द को केंद्र में रखकर जिसका अधिकांश रचना-संसार रचा गया हो उसे समाज से आत्मीय प्रेम, प्रतिष्ठा तो मिलेगी ही। 'उसकी रचनाओं में जहाँ मानव के संवेदनशील हृदय की सरस, सरल अनुभूति के दर्शन होते हैं वहाँ संसार की क्षण भंगुरता के प्रति भी स्पष्ट किंतु सबल संकेत मिलता है। उसकी विद्रोहमयी वाणी में युग-युग से तड़पती, कसकती मानवता की जो करुण सजल पुकार देखने-सुनने को मिलती है वह हमारे राष्ट्र की नवीन पीढ़ी के लिए अनुकरणीय माननीय है। संक्षेप में नीरज हिंदी गीत काव्य की श्रृंगार निधि ही नहीं, प्रत्युत अनेक रूढ़ियों से आक्रांत हमारे समाज तथा विकासोन्मुख राष्ट्र का गौरव मुकुट प्रहरी है। साहित्य और समाज का ऐसा कोई भी अंग नहीं बचा जिसे उसने अपनी प्रतिभा के परस से जीवन दान न दिया।[30]

निष्कर्षतः पद्मश्री गोपालदास नीरज अपने गीतों की प्रयोगधर्मिता, सांगीतिक स्मृद्धि, पारिवेशिक चेतनता, धेयधर्मिता और प्रस्तुति की विशिष्ट शैली के कारण अद्वितीय हैं। उनके गीतों में मानवीय प्रेम, करुणा के विविध आयाम, जीवन दर्शन के सूक्ष्म संकेत, सामाजिक संसक्ति के संकल्प और गहन मानवीय संवेदना जहाँ हमें भावविभोर करते हैं वहीं दायित्वबोध के प्रति सजग भी करते हैं। नीरज जी जीवन के कारवाँ को बहुत समीप से देखते रहे और अपने अनुभवों को गीतों के लय में ढालते रहे। नीरज जी के इन्हीं सिंचित जीवनानुभवों का जब उनके गीतों के माध्यम से समाजीकरण होता है तब वे दीन-दुखी, पीड़ित, अभावग्रस्त, निराश और हताश व्यक्ति की वाणी बनकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत होते हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ अशोक अंजुम, गीत प्रेम और नीरज, नीरज एक जीवित किंवदंती, संपादक सफलता सरोज, सन्मति पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2018, पृ॰ 95

2. डॉ॰ श्याम गुप्ता, गीत कालजयी है, https://readerblogs.navbharattimes.indiatimes.com/shyamsmritithe worldofmy thoughts, जून 13, 2015
3. अनिल भार्गव, हिंदी फिल्मों के गीतकार, सिने साहित्य प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ॰ 5
4. https://hi.wikipedia.org, गोपालदास नीरज
5. क्षेमचंद्र सुमन, काव्यांजलि नीरज, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, द्वितीय संस्करण 2016, भूमिका, पृ॰ 13
6. वही, नीरज, कानपुर के नाम, पृ॰ 140
7. नीरज, जब सुना सुना, नीरज के प्रेम गीत, सं॰ अशोक अंजुम, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 41
8. डॉ॰ ओम निश्चल, जीवन और प्रगति के कवि नीरज की कविताओं से एक मुलाकात, नीरज एक जीवित किंवदंती, सं॰ सफलता सरोज, सन्मति पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, उ॰प्र॰, पृ॰ 84
9. नीरज, भूमिका, प्राणगीत
10. नीरज, गीत जब मर जाएँगे, https://www.hindi-kavita.com/HindiGeetikaNeeraj.php
11. नीरज, अपनी बात, काव्यांजलि, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, संस्करण द्वितीय 2016, पृ॰ 9
12. मैत्रेयी पुष्पा, नीरज की कविता मेरे लेखन की प्रेरणास्रोत है, नीरज एक जीवित किंवदंती, सं॰ सफलता सरोज, सन्मति पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, उ॰प्र॰, पृ॰ 52
13. वही, नीरज की कलम से, आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ, पृ॰ 10
14. नीरज, बस यही अपराध मैं, फिल्म पहचान, http://hindi.lyricsgram.com/song/bas-yahi-apradh-main-har-baar-25420
15. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com/song/prem-ke-pujari--title-26063
16. नीरज की कलम से, नीरज एक जीवित किंवदंती, पृ॰ 10
17. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com//song/ae-bhai-zara-dekh-ke-chalo-21904
18. वही
19. वही
20. वही
21. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com/song/paise-ki-pahachaan-yahaan-25419
22. वही
23. नीरज, https://www.lyricsindia.net/songs/505
24. नीरज, http://www.lyricsgram.com/song/likhe-jo-khat-tujhe-17468
25. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com/song/jaise-radha-ne-mala-japi-32723
26. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com/song/shoukhiyon-mein-ghola-jaye-26061
27. नीरज, http://www.lyricsgram.com/song/dil-aaj-shaayar-hai-11703
28. नीरज, http://hindi.lyricsgram.com/song/megha-chhaae-aadhi-raat-30395
29. नीरज, http://www.lyricsgram.com/song/jeevan-ki-bagiya-mehkegi-32724
30. क्षेमचंद्र सुमन, काव्यांजलि, नीरज, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल, 2016, भूमिका, पृ॰ 14

Vill-Jamalpur, PO. Nagwan
PS-Kako, Dist-Jehanabad 804420
Mob. 9431840994
a.k.anivarya94@gmail.com

बघेली लोकगीतों में मानवीय संवेदनाएँ

आरती सोनी (शोधार्थी)
डॉ॰ एच॰एस॰ द्विवेदी, हिंदी विभाग
शासकीय नर्मदा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, होशंगाबाद
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

बघेली लोकगीत वस्तुत: लोकमानस के संस्कारों में सिंचित और व्यापक भावों को स्वच्छ एवं स्वाभाविक रूप में लोकजीवन के मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठादित करने वाले गीत हैं। बघेली लोकगीत एकांगी नहीं, बल्कि बहुआयामी हैं। इन लोकगीतों में वैविध्य है। लोकगीतों में समाज के प्रत्येक मनुष्य के दृश्य देखने को मिलते हैं। लोकगीतों में हृदय की सरल किंतु तीव्र अनुभूति तथा भावों की पूरी गहराई होती है, उनमें गतिशील मानव जीवन की भावनाएँ निहित होती हैं। राष्ट्रीय भावना से समर्पित ओत-प्रोत गीत, माता का करुणा-वात्सल्य स्वर, शादी के अवसर के बधाई गान से लेकर गृहिणी के विरह स्वरों तक की अभिव्यक्ति लोकगीतों में मिलती है। इसके साथ ही सामूहिक भाव-भूमि मुक्तता आदि है जो लोकगीतों के स्वरूप निर्धारण में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करती हैं।

मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित जिले जैसे रीवा, सतना, सीधी, शहडोल, उमरिया, सिंगरौली, अनूपपुर आदि बघेलखंड में आते हैं। इस अंचल में निवास करने वाले जनमानस की मुँहबोली (आंचलिक भाषा) को बघेली कहा जाता है। बघेली जीवन अर्थात् बघेली लोकजीवन से जुड़े अलिखित वे परंपरागत गीत जिनका जन्म से लेकर मरण तक के लोक संस्कारों से संबंध है, बघेली लोकगीत कहे जाते हैं। लोकसाहित्य के विद्वानों ने बघेली लोकगीतों के समग्र अध्ययन हेतु क्रमश: परंपरागत लोकगीत, ऋतुगीत और संस्कारगीत में वर्गीकृत किया है। बघेलखंड के समालोचक डॉ॰ भगवतीप्रसाद शुक्ला, डॉ॰ आर्यप्रसाद त्रिपाठी, डॉ॰ सेवाराम त्रिपाठी, डॉ॰ शिवशंकर सरस ने अपनी कृतियों में इसका विस्तृत उल्लेख किया है।1

बघेली लोकगीतों की परिभाषा देते हुए डॉ॰ आर्यप्रसाद त्रिपाठी अपनी कृति 'बघेली साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं–'पुराण और शास्त्र तो कभी व्यास के कमंडल का तो कभी वाल्मीकि के कमंडल का पानी पीते हैं परंतु बघेली लोकगीत पानी पीते हैं, तो नदी, झरनों, और तालाबों का और झरबेरी, महुआ, पीपल, चार चिरौंजी और जिमी कंद खाकर जीता है। शास्त्र तो मेवा, मालपुआ खाता है परंतु लोकगीत शहद पीता है। सभी जानते हैं कि शहद पीने वाला दीर्घायु होता है। 'अक्षयबट और लोकसाहित्य भगवान का वरदान है कि ये गंगा और नर्मदा के संग-संग चलेंगे, संग संग बहेंगे और नए-नए स्रोतों से नए होते रहेंगे।'

संक्षेपत: बघेली लोकगीत लोकमानस के संस्कारों में जन्मे और लोकजीवन के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाले गीत हैं। बघेली लोकगीत एकांगी नहीं बल्कि बहुआयामी हैं। इन लोकगीतों में विविधता है। संस्कारगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जन्म से लेकर मरण तक के अलग-अलग अवसर के लिए अलग-अलग लोकगीत बने हैं। इसी प्रकार ऋतुगीतों में फाग,

कजली, हिंदूली, झूला गीत और तिथि त्योहारों के विशेष के लोकगीत गाए जाते हैं।[2-3]

सबसे बड़ी विशेषता है कि इन लोकगीतों में जहाँ मार्मिक करुणा, श्रृंगार विरह-वेदना है वहीं हास-परिहास, पौरुष, पराक्रम और ओज रसमूलक लोकगीतों का हृदय-स्पर्शी वैशिष्ट्य है। बघेली लोकगीतों का अपना अद्‌भुत एवं लोकप्रिय संस्कार है। समग्र लोकगीत बघेलखंड के जनमानस के व्यवहार, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, विवाह, खान-पान और सभ्यता, संस्कृति पर आधारित हैं। विद्वानों ने कहा है कि संस्कार गीत राम-सीता, शंकर-पार्वती की प्रवृत्तियों पर केंद्रित हैं इसलिए मंडप के नीचे बैठी हर कन्या को सीता, पार्वती का स्वरूप और हर वर को राम, शिव, विष्णु का स्वरूप माना जाता है। बघेलखंड के लोकगीत अत्यंत कर्णप्रिय एवं संस्कारित हैं।[4-5]

एक बघेली नायिका जिसकी कोख में एक भी संतान नहीं थी वह दुखित थी। दुखित ही नहीं बघेली समाज से तिरस्कृत भी थी। लोग सुबह-सुबह उसका मुँह देखना पाप समझते थे। वह अड़ोस-पड़ोस की महिलाओं का ताना सुनते हुए तंग हो गई थी। वह घर से निकलकर जंगल जाने को तैयार हुई उसी बीच एक पेड़ के नीचे रास्ते में थकान मिटाने को खड़ी हुई तभी उस वृक्ष ने कहा तुम यहाँ से जाओ और कहीं दूसरी जगह ठहरो। क्योंकि तुम्हारे स्पर्श से हमारी डालियाँ बाँझ हो जाएँगी। आगे चली तो साँप की बांबी मिली तो वही ठहरी तभी नागिन ने कहा आगे जाओ क्योंकि तुम्हारी छाया पड़ने से मेरी कोख बाँझ हो जाएगी। तब वह बघेली नायिका तिरस्कृत पीड़ा से परेशान होकर कारुणिक सौहर गीत गाने लगती है–

कोहू का दिहे राम एक दुइ
कोहू का दुइ चार कोहू का दुइ चार
हो रामा हमका इक ललन बिन ललचाए हो,
एक फूल फुला है अयोध्या दुसर फूल काशी
तिसर फूल फूला है बनारस हो।
एक फूल हम जो पउतै ता शिव का चढ़उतै
शिव का चढ़उतै हो रामा,
निहुरि-निहुरीर पनिया भरतेब हो।

बघेली लोकगीत का प्रभाव पड़ा और उस बघेली नायिका को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। इस बघेली लोकगीत में माँ अपने पुत्र को सोने के लिए लोरी गीत सुनाती है तथा माता का अपने पुत्र के प्रति कितना प्रेम होता है, इसी का मनोहर चित्रण दिखाया गया है–

रजवा के देश मा चांदनिया के भष मा
राजा हमार सोने चला,
आजा रे निंदिया, आजा रे निदिया
झुलवा झुलावै ठंडी हवा, लोरी सुनावै चांदनिया,
लाला हमार है नन्ही कली, लई जा निंदिया गली-गली
नखरा दिखावै न जा ना सतावै न लाला हमार सोने चला
आजा रे निंदिया आजा रे निंदिया।

कन्या का विवाह सुनिश्चित हो जाता है तो कन्या और वर मंडप के नीचे बैठते हैं और जैसे ही कन्या के सिर पर सिंदूर पड़ने का समय आता है तो चारों ओर से बादल उमड़-घुमड़ करने लगते हैं। बन्नी ने सोचा यदि जल वृष्टि हुई और मंडप के नीचे पानी टपककर मेरे माँग पर पड़ा तो मेरा

सिंदूर मिट जाएगा और यह बहुत ही अशुभ कहलाएगा। तब नायिका अपनी सहेलियों के साथ मेघ देवता से प्रार्थना करने लगती है। सुहागवा गीत के माध्यम से–

कउने दिशा से अरे उठी रे बदरिया
अरे कउने दिशा मे घहराइ
रानी के सोहगवा।
अरे पूरब दिशा से अरे उठी रे बदरिया
अरे पच्छु दिशा मा घहराइ
रानी के सोहगवा।
अरे निन्चिउ काही बुंदिया छिमाबा
मोरी मेछिया कि सेदुरा ता परै लिलाल
रानी के सोहगवा।

इस प्रकार इस तरह बघेली नायिका के निवेदन को सुनकर प्रकृति शांत हो जाती है और बन्नी का विवाह संपन्न हो जाता है। मंडप के नीचे पुष्पों की वर्षा होती है तथा सभी बाराती-घराती प्रकृति का जय-जयकार करने लगते हैं। विवाह के पश्चात विदाई का समय होता है उस समय से संबंध एक कारुणिक गीत मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ जिसमें अंजूरी लोकगीत का दृश्य सजीव हो उठता है। विदाई गीत की कुछ पंक्तियाँ–

भीतरे से माया रोबै बाहिरे से बाबुल हो के बाहिरे से बाबुल हो।
आगने मा आजी सिसके बाइबे मा बाबा हो कि बाइबे मा आजा हो।
कोठबा मा भउजी रौवै, द्वारे मा भाई हो कि
द्वारे मा ही भाई हो कि आज महला सून होईगा
बेटी का विदाई हो।

इसी प्रकार जब दुल्हन अपने ससुराल पहुँच जाती है और उसे अपने स्वामी से मिलने की बड़ी आतुरता रहती है। वह उसके स्वामी से मिले विलंब न होने पाए, इसलिए वह अपने सासु, जेठानी, छोटी गोंसाई और ननद का पैर भी पकड़ती है और निवेदन करती है कि मेरी जल्दी परछन कर दो। इसका वर्णन इस बघेली लोकगीत परछन में किया गया है। एक बानगी प्रस्तुत है–

जरौ चौहटा की गलिया हो मोर जिउना दरद भये
सासू गोंसाई मैं तोहरी पैया लागौ
जल्दी से करा परछनिया हो मोर जिउना दरद भये
जेठी गोसाई मैं तोहरी पैया लागौ
जल्दी से करा परछनिय हो मोर जिउना दरद भये
जरौ चौहटा की गलिया हो मोर जिउना दरद भये।

बघेली लोकगीत के माध्यम से सारे राष्ट्र को एकता की कड़ी में बाँधने का प्रयास किया गया है। राष्ट्र के समर्पित प्रेम भावना से ओतप्रोत यह गीत राष्ट्रीय भावना को पुष्ट कर रहा है–

आवा सबकेउ मिलके गाई कुछ अइसन गीत
देश के प्रति हम अलख जगावै चली सवै हम गीत
देश के खातिर हम मर मिट जावै पर न आवै देव आँच
यहइ हमार इतिहास कहत है और यहइ हमार राष्ट्र प्रीति

चला बतावै आज हमार है यह बघेली लोकगीत।

निष्कर्ष–उपर्युक्त बघेली के लोकगीत संबंधी परिभाषाओं, मान्यताओं एवं अवधारणाओं के समग्र अध्ययन से सहज ही सुस्पष्ट होता है कि बघेली लोकगीतों का सामर्थ्य बहुआयामी एवं कालजयी है। इसमें बघेली लोकमानस की आत्मा बसती है। बघेली लोकगीतों के माध्यम से लोगों के संयोग, वियोग, वात्सल्य, करुणा आदि मार्मिक भावों को अत्यंत रोचकता, उत्सुकता और माधुर्य भाव से अनुस्यूत किया है। बघेलखंड के इन लोकगीतों में एक विशेष स्वरूप तथा विभिन्न मानवीय संवेदनाएँ और आस्था एवं विश्वास के भाव परिलक्षित होते हैं।

संदर्भ

1. बघेली लोकगीत, लखनप्रताप सिंह, 'उरगेश', आदिवासी लोककला परिषद भोपाल, संस्करण 1985, पृ॰ 42
2. बघेली: अतरंग और बहिरंग, सेवाराम त्रिपाठी, म॰प्र॰ हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल, प्रथम संस्करण-2016, पृ॰ 34
3. बघेली साहित्य का इतिहास, डॉ॰ आर्यप्रसाद त्रिपाठी, साहित्य अकादमी म॰प्र॰ संस्कृति परिषद भोपाल, संस्करण-2011, पृ॰ 106
4. बघेली भाषा और साहित्य, डॉ॰ भगवतीप्रसाद शुक्ला, साहित्य भवन प्रा॰लि॰, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1971, पृ॰ 148
5. बघेली संस्कृति और साहित्य, गोमतीप्रसाद विकल, राजभाषा एवं संस्कृति संचलनालय, मध्यप्रदेश-भोपाल, प्रथम संस्करण-1999, पृ॰ 67

आरती सोनी
सुपुत्री श्री शिवप्रसाद सोनी
ग्राम राजगढ़, पोस्ट हिनौती
ब्लॉक सिहावल, जिला सीधी 486670 **म॰प्र॰**
मो॰ 7879356085
arti3456865@gmail.com

ISSN 0975-735X

अखिलेश की कहानियों में चित्रित मध्यवर्ग

अरविंद द्विवेदी, शोध छात्र, हिंदी विभाग
सेंट ऐंड्रयूज कॉलेज, गोरखपुर

अखिलेश हमारे समय के सर्वाधिक समर्थ कहानीकारों में से एक हैं। बहुपठित और चर्चित कथाकार अखिलेश की शुरुआती पहचान उनकी कहानियों के माध्यम से हुई थी। 1982-83 के आसपास अनेक ऐसी पत्रिकाएँ निकलती थीं, जिनमें कहानी-कविताओं के छपने पर रचनाकार को सम्मान की नजर से देखा जाता था। उनके बारे में जिज्ञासा एवं उनकी रचनाओं के प्रति उत्सुकता बनी रहती थी। मित्रों-परिचितों में उन रचनाकारों और रचनाओं पर चर्चा होती थी। पत्रिकाओं के संपादक ऐसे लेखकों के बारे में बातें करते थे। उनके बारे में लोगों को बताते थे। अखिलेश इसी समय में पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी शुरुआत करते हैं और आगे चलकर एक सशक्त कहानीकार के रूप में अपनी पहचान स्थापित करते हैं।

अखिलेश की आरंभिक कहानियों में 'कुचक्र' नामक कहानी सारिका पत्रिका में नवंबर 1978 में प्रकाशित हुई थी। जो उस दौर में चर्चित कहानी थी। इसके बाद विभिन्न पत्रिकाओं में अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। जिनमें आदमी नहीं टूटता, अभिमन्यु की हत्या, पिंजड़े में खुशबू, सोने का चाकू, हाकिम-कथा, घालमेल, मुक्ति, हनीमून, ऊसर, चिट्ठी, बायोडाटा, शापग्रस्त, जलडमरू मध्य, यक्षगान, वजूद, अँधेरा आदि प्रमुख कहानियाँ हैं। जो आदमी नहीं टूटता, मुक्ति, शापग्रस्त, अँधेरा एवं प्रतिनिधि कहानियाँ नामक कहानी-संग्रहों में संकलित हैं।

कहानीकार अखिलेश खुद एक मध्यवर्गीय परिवार से हैं, इसलिए मध्यवर्गीय जीवन को परिचालित व प्रेरित करने वाली प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, रूढ़ियों, जटिलताओं इत्यादि से भलीभाँति परिचित हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया है। अखिलेश ने मध्यवर्ग को केंद्र में रखते हुए मध्यवर्गीय जीवन की विभिन्न समस्याओं जैसे- मानव जीवन के विघटित होते मूल्यों, रिश्तों में आती अर्थ-केंद्रिता, आपसी टकराहट, कुंठा, संत्रास, अकेलापन, सामाजिक विघटन आदि पर खुलकर चर्चा की है।

समाज में मध्यवर्ग के व्यापक प्रभाव को देखते हुए उसकी सीमित परिभाषा दे पाना कठिन कार्य है। मध्यवर्ग की परिभाषा करते हुए विद्वानों ने उसकी विशेषताओं, सीमाओं सभी का उल्लेख किया है। बुद्धिजीवी के लिए जीवन का मापदंड निर्मित कर लेना सदैव कठिन होता है। मध्यवर्ग एक ऐसा वर्ग है जो मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी कारणों से दूसरे वर्गों से भिन्न है। मध्यवर्ग का अस्तित्व अपने-आपमें समाज के श्रेणीकरण की ओर संकेत करता है। इस वर्ग का यद्यपि प्रत्यक्ष अस्तित्व अपने आप इसके नामकरण की आवश्यकता बताता है, पर अपनी विशिष्ट विशेषताओं के अभाव में इसका अस्तित्व दो वर्गों के बीच में माना जा सकता है।

हिंदी साहित्य कोश में मध्यवर्ग की विशेषताओं और उसके व्यक्तियों के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है-'मध्यवर्ग सामंतवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता, क्योंकि उस समय जमींदार तथा किसान का सीधा संबंध था, किंतु पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना

दिया है कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन-सूत्र को सँभाल सके। इस वर्ग में नौकरी-पेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषत: बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्राय: विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में होता है।'[1]

डॉ॰ बी॰बी॰ मिश्र ने भारतीय मध्यवर्ग की परिभाषा देते हुए लिखा है–'ब्रिटिश राज के परवर्ती काल में जो मध्यवर्ग सर्वर्द्धित हुए, वे उद्योग के विकास की देन न होकर माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा की उपज थे। अत: मध्यवर्ग का अधिकांश बुद्धिजीवी (इंटेलिजेंशिया) हुआ–सिविल कर्मचारी, अन्य वेतन भोगी कर्मचारी तथा विद्यानुरागी पेशे के सदस्य।'[2]

शब्दकोशों की उक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों ने भी मध्यवर्ग के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। मध्यवर्ग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए आर॰एच॰ ग्रेटन ने मध्यवर्ग की परिभाषा देते हुए लिखा है–'मध्यवर्ग का नाम ही समाज के स्तर की ओर संकेत करता है। यह वर्ग आज भी मौजूद है और उसकी अपनी विशिष्टताएँ है। यह वर्ग अपनी विशिष्टताओं अथवा गुणों में इतना मिला-जुला है कि इस वर्ग को अन्य वर्गों के मध्य ही माना जाता है।'[3]

यशपाल ने मध्यवर्ग पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं–विकसित पूँजीवाद के युग में मध्यम श्रेणी की स्थिति को समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि श्रेणियों का विभाजन और संगठन उनके आर्थिक स्थिति से होता है।'[4]

पहले संग्रह की एक कहानी है–खोया हुआ पुल। यह कहानी अपनी संरचना में कई कोण छुपाए हुए है। इसके चरित्र हैं एक छोटा-मोटा पूँजीपति उपाध्याय जी, उनकी फूहड़ कवयित्री पत्नी अप्सरा, अप्सरा का चाटुकार बुद्धिजीवी युवक विनय और एक तेरह चौदह साल का किशोरराम उमर, जो बाल मजदूरी के लिए विवश है। घर में बेपनाह शोषण और हिंसा है। रहने के लिए जगह और कुछ दूसरी छोटी-मोटी सुविधाओं के एवज में कवि-बुद्धिजीवी विनय इस शोषण की तरफ से आँख मूँदे रहता है। जबकि किशोरराम उमर विद्रोह करता है। वह पहले मदद के लिए विनय के पास जाता है जो कि उसी के गाँव का है। विनय को नंगा करने वाले पर उमर अकेले ही जूझ जाता है। यह कहानी एक ऐसे मध्यवर्गीय जीवन की सच्चाई को सामने ले आती है जिसकी तरफ से हम जानबूझकर आँखें मूँदे रहने के आदी रहे हैं। यह कहानी इस बात को भी सामने रखती है कि मध्यवर्गीय समाज में बुद्धिजीवियों की उपहासास्पद स्थिति क्यों है। इसलिए भी कि जब कभी किसी स्तर पर प्रतिरोध का समय आया तो उनकी जमीनी उपस्थिति लगभग शून्य रही। जनता आगे निकल गई, उसके बुद्धिजीवी पीछे ही रह गए। इसी तरह कुचक्र, अभिमन्यु की हत्या, सैनिक लोग, बादल छँटने से धूप तक, पिजड़े में खुशबू और सेठ, मंत्री, देवी और श्यामलाल जैसी कहानियाँ गरीबी और शोषण के अंतहीन चक्र में फँसे लोगों के संघर्ष की कहानियाँ हैं। यह शोषण-प्रतिकार-हार से शोषण-प्रतिकार-जीत तक जाती है। जाहिर है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों की एक सघन छाया इस कहानी पर दिखती है या सैनिक लोग के चरित्र राजनीति की मशाल मानते हैं और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में अपनी हिस्सेदारी का दावा करते हैं। पिंजड़े में खुशबू का नायक मुनीराम नगर निगम के हड़तालियों को आधे दाम में ही चाय पिलाता है। बदले में मौका आने पर नगर निगम के कर्मचारी भी उसके साथ खड़े होते हैं और उसकी गुमटी गिराने वालों से जमकर लोहा लेते हैं। इन कहानियों के चरित्र बेहद साधारण और दीन-हीन हैं। कई बार वे आपस में भी एक-दूसरे से

 ISSN 0975-735X

उलझते है। एक-दूसरे के खिलाफ खड़े होते हैं पर उनकी ताकत यह है कि वे कहीं-न-कहीं इन विषम परिस्थितियों में भी अपने भीतर मनुष्यता का सोता छुपाए रखते हैं और उसी के सहारे फिर-फिर से उठ खड़े होते हैं। वे अक्सर हारते हैं तो कई बार जीतते भी हैं और उनकी ताकत है मुश्किल वक्त में एक-दूसरे के साथ खड़े होना और कभी न टूटना, जैसा कि आदमी नहीं टूटता का चरित्र जहीर मियाँ कहता है–'बिरादर इंसान समझता है कि वह टूट रहा है। यही बेवकूफी कर जाता है वह, मुझे देखो। मैं तुमसे कम तकलीफ में हूँ?'[5] यही ताकत है उनकी। एक-दूसरे की तकलीफ को समझना और मुश्किल वक्त में साथ खड़े होना। इन कहानियों में एक मासूम किस्म के राजनीतिक आशावाद को अगर छोड़ दें और इन कहानियों के दीन-हीन चरित्रों को देखें, उनकी बेकारी बेरोजगारी को देखें तो यहाँ एक बेहद तटस्थ और यथार्थपरक तस्वीर उभरती है। दूसरी जो बात इनमें हैं वह है एक सक्रिय संघर्ष चेतना। यह चेतना वैयक्तिक न होकर अक्सर सामूहिक रूप में ही संघर्ष का रास्ता तलाश करती है।

अखिलेश का दूसरा संग्रह मुक्ति इस मामले में अखिलेश के लेखक के विकास का पता देता है कि इसमें उनकी पहले संग्रह की अधिकतर कहानियों में व्याप्त आशावाद नहीं मिलता। यह एक बेहद मार्मिक प्रसंग है जो भावुक भी करता है। अखिलेश की कहानियों में आगे मार्मिक प्रसंग तो खूब-खूब मिलते हैं पर ऐसे भावुक करने वाले प्रसंग कभी-कभार अपवाद की तरह ही आते हैं। मुक्ति की बात करें तो मुक्ति का नायक सुभाष जो बहुत अच्छा नौजवान था। खूब पढ़ता था, खूब सोचता था। साहित्य-चित्रकला, राजनीति, इतिहास कोई भी विषय हो, वह अधिकारपूर्वक अपना मत प्रकट करता। जो भी उससे बातें करता प्रभावित होता। वह बेरोजगारी की जकड़ में आकर किस तरह से अपना यह मोहक व्यक्तित्व खो देता है यह भी देखें–'उसकी आँखें कहीं नहीं देख रही थीं। वह खोया-खोया-सा बिल्कुल धीमी चाल में चल रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे कोई नरकंकाल चल रहा है। कोई बच्चा देखता, बेशक डर जाता। पर सुभाष रास्ता निकालता है अपने लिए। वह किसानों और मजदूरों के संघर्षों से खुद को जोड़ता है और उनकी मुक्ति में ही खुद की भी मुक्ति देखता है।'[6] इन दिनों वह पहले की तरह सुंदर हँसी हँसने लगा है। नहीं, पहले से कहीं अधिक सुंदर हँसी। इसके पहले संग्रह की कहानी कोहरा और धरती का नायक भी लगभग ऐसे ही करता है। वह व्यवस्थित तरीके के रंगमंच से जुड़ा है और उसका छोटा भाई परिवर्तनकारी शक्तियों के साथ जुड़कर नुक्कड़ नाटक करता है। आखिर में बड़ा भाई भी छोटे भाई से जुड़कर नुक्कड़ करने का फैसला करता है। यह एक बिरल किस्म का आशावाद लगता है पर जब हम तमाम संघर्षों को जानते समझते हैं तो हमें मुक्ति या कोहरा और धरती के ये नायक बार-बार मिलते हैं। पर एक सवाल तो तब भी बनता है कि कितने बेरोजगार युवक अपने लिए इस तरह की मुक्ति तलाश पाते हैं। जाहिर है कि कुछ ऊसर या बायोडाटा के रास्ते पर भी मुड़ते हैं तो अनेक रोजमर्रा के संघर्षों में खो जाते हैं जिनकी कई कहानियाँ अखिलेश के पहले और दूसरे संग्रह में मौजूद हैं।

बेरोजगारी को लेकर लिखी गई कहानियों में अखिलेश की कहानी चिट्ठी बेहद चर्चित रही। वह बेरोजगारी की कहानी तो थी ही पर उसका सही पाठ किया जाए तो वह बेरोजगारी के आगे की कहानी भी थी। यह बात और ज्यादा फायदे से समझी जा सकती है, अगर चिट्ठी के तुरंत बाद शापग्रस्त कहानी को पढ़ा जाय। चिट्ठी कहानी का नायक कहता है–'तुम लोग समझते होंगे, मैं नशे में हूँ लेकिन मैं होशोहवास में कह रहा हूँ। बेरोजगारी के कारण मैं कई-कई बार रोया हूँ। पिछली बार का रक्षाबंधन था। बहन को देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं था। भाई उसके लिए कपड़े ले

आये थे। मेरे पास कुछ नहीं था। बहन ने मेरे सिरहाने की किताब में चुपके से सौ का नोट रख दिया। उसे पॉकेट में रख खूब रोया। मैंने उसे कुछ नहीं दिया। वह नोट अब भी मेरी डायरी में रखा है। मैं उसे देखता हूँ और उदास हो जाता हूँ।'[7] चिट्ठी के अलावा भी बेरोजगारी को लेकर अखिलेश ने अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। खुद उनका पहला उपन्यास अन्वेषण भी इसी केंद्रीय मुद्दे से दो-चार होता है उनके दूसरे संग्रह की कहानी 'अचानक नहीं' का चरित्र दिनेश जो अपने माता-पिता के सपनों के केंद्र में है रोजगार पाने के बाद भी बेरोजगारों जैसी हालत में रहता है। इतना दीन-हीन कि अपने छोटे भाई को भी साथ नहीं रख पाता है। क्योंकि एक बड़ी रकम की घूस देने के बाद उसे चपरासी की नौकरी हासिल हुई है और उसकी तनख्वाह का एक बड़ा हिस्सा हर महीने घूस की किश्त चुकाने में खर्च हो रहा है। यह अलग बात है कि उसके माँ-बाप ने जो उसकी एक कमाने वाली छवि अपने मन में और आसपास बना रखी है उसमें वह उसे नालायक और स्वार्थी समझ रहे हैं। अचानक नहीं और बच्चा कैसे बढ़ेगा ऐसे त्रासद सपनों की कहानियाँ हैं जिनके पूरे होने की जमीन और संभावना समय और समाज में है ही नहीं। वे पूरे हो ही नहीं सकते क्योंकि उनके आगे ऐसी स्थितियाँ और रुकावटें खड़ी हैं जो उन्हें दयनीय और हास्यास्पद बना देती हैं।

हनीमून एक ऐसे प्रेमी-प्रेमिका (बाद में दंपती) की कहानी है जो शादी के पहले से ही हनीमून मनाने की तैयारियाँ करते हैं पर उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि वह फिलहाल उन्हें हनीमून पर जाने की इजाजत नहीं देती हैं। यह निम्न-मध्यवर्गीय स्थितियों में दांपत्य की सुंदर कहानी है। इस कहानी में नायक कहता है-'अजीब औरत हो तुम! हमेशा ताना दिया करती हो हनीमून न मना पाने का। और अब जब एकदम पक्का हो गया है, तो यह रवैया। अरे भाई चौदह महीनों का एरियर मिलेगा। इस बार ब्रह्मा भी नही रोक सकते।'[8] मुहब्बत एक ऐसे युवक अभय और युवती सीमा की कहानी है जो किशोरावस्था के सहज आकर्षण के शिकार होते हैं। घर परिवारों में ऐसी घटानाएँ बहुत सहज रूप में घटती रहती हैं। यह कहानी हमारी सामाजिक बुनावट के बीच पैदा होने वाले किशोरोचित लैंगिक आकर्षण की एक सहज और कॉमिक और विडंबनात्मक प्रस्तुति है। पर हम जिस परिवेश में है उसमें कब यह कहानी त्रासदी में बदल जाएगी कौन जाने।

हाकिम कथा और घाल-मेल यह दो ऐसी कहानियाँ है जो लेखक के संदर्भ में एक नई रचनात्मक शुरुआत का पता देती हैं। यहाँ मध्यवर्ग और उसकी अनैतिक लिप्साएँ लेखक की रचनात्मक चिंताओं के केंद्र में हैं। दरअसल, यह ऐसे चरित्रों की कहानियाँ हैं जो निम्नवर्ग से मध्यवर्ग और मध्यवर्ग से उच्च मध्यवर्ग में छलाँग लगाने की प्रक्रिया में हैं। यह मुकम्मल नाउम्मीदी की कहानियाँ हैं। किसी तरह का अंतर्द्वंद्व नहीं। आशावाद का विलोम हैं ये कहानियाँ। 'सोने का चाकू' भी इन्हीं दोनों कहानियों के साथ रखकर देखी जा सकती है। यह मुस्लिम पृष्ठभूमि की कहानी है जिसमें सामंतवाद का ढहना केंद्र में है। यह बेहद महत्त्वपूर्ण कहानी है क्योंकि यह एक मानसिकता से दूसरी मानसिकता या एक काल से दूसरे काल में संक्रमण की कहानी है। कहानी में मीर साहब सामंती चेतना के प्रतिनिधि हैं। उन पर हुआ हमला उस सामंती मानसिकता पर हमला है और यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उन पर यह प्राणघातक हमला उनके ही खेत में काम करने वाले मजदूरों ने किया है। यह एक नई चेतना के आगमन का संकेत है। तो वहीं दूसरी तरफ खुद मीर साहब के लड़कों की चेतना का रूपांतरण उस मध्यवर्गीय चेतना में हो रहा है जहाँ परस्पर अविश्वास और स्वार्थ ही बचता है। इस बिंदु पर यह कहानी हाकिम कथा के साथ आकर खड़ी हो जाती है। 'सोने का चाकू' के भाइयों और हाकिम कथा की बहनों में मूलभूत रूप से कोई अंतर

नहीं। रही घालमेल तो वह आगे जाकर अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल में एक नया रूप अख्तियार करती है। और इन दोनों कहानियों के साथ अखिलेश के कथाकार का एक चक्र पूरा होता हैं। इन्हें बड़े कथाकार की प्रारंभिक तैयारियों के बतौर देखा जा सकता है। इसके बाद वह एक लंबी छलाँग लगते हैं।

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि मध्यवर्गीय विडंबना और बदलाव की हिंदी की दो बेहतरीन कहानियाँ 'शापग्रस्त' और 'जलडमरूमध्य' अखिलेश की कलम से निकली हैं। शापग्रस्त का नायक या प्रतिनायक प्रमोद शर्मा अपने भीतर के घनघोर आत्मसंघर्ष में मुक्तिबोध की क्लासिक कविताओं के नजदीक जा खड़ा होता है और वह कहता है–'भविष्य में आपको मुझसे ऐसी ही उम्मीद करनी चाहिए। पहले मैं दृढ़ आत्मबलवाला था, लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि मैं एक गिरा हुआ पतित इंसान हूँ।'[9] 'जलडमरूमध्य' कहानी में उत्तर-उदारीकरण वाले युग की दिशाहीनता और सब-कुछ अर्थ वाले समय का दहलाने वाला वृतांत है। जहाँ हर तरह के रिश्ते-नाते, उम्र, भावनाएँ और सभी कुछ का संबंध अर्थ की कसौटी पर चढ़ा दिए गए है। 'जलडमरूमध्य' कई पीढ़ियों का वृत्तांत है। वह कई पीढ़ियों से चली आ रही निरंतरता की कहानी है जो उदारीकृत अर्थव्यवस्था के इस दौर में टूट जाती है। अब भावनाएँ या घर से जुड़ाव या घर से जुड़ी स्मृतियाँ एक निहायत ही पिछड़ी हुई चीज बन रही है। अब किसी संपत्ति का मूल्य उसके प्रति संबंधित व्यक्ति के लगाव से नहीं इस बात से तय होगा कि उसका बाजार मूल्य क्या है। यह नए समय की बिसात है जहाँ बच्चों को भी लोभ लालच के मोहरों में बदल दिया गया है।

अखिलेश की कहानियाँ पढ़ते हुए हम पाते हैं कि भारतीय समाज का नब्बे के बाद जो स्वरूप बदला है जो उसमें नए परिवर्तन हुए हैं या हो रहे हैं, अखिलेश की कहानियाँ उसका एक विश्वसनीय साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। उनके तीसरे कहानी-संग्रह शापग्रस्त की कई कहानियों में एक तरफ तो मध्यवर्ग की लिप्सा या स्वार्थपरता के सनसनी दृश्य हैं। एक हद तक ये कहानियाँ मध्यवर्ग से नाउम्मीदी की कहानियाँ हैं। पर एक हद तक ही-बाकी जब तक शापग्रस्त के प्रमोद वर्मा का भीषण आत्मसंघर्ष है तब तक मध्यवर्ग से पूरी तरह से नाउम्मीद कैसे हुआ जा सकता है। पर इस आत्मसंघर्ष की सीमाएँ हैं जो अखिलेश को अँधेरा या उसके बाद की कहानियों की तरफ ले जाती हैं, जहाँ अन्याय है तो उसके बरक्स रचा जाने वाला प्रतिरोध भी। इसीलिए अखिलेश की कहानियों में कलात्मक न्याय जैसी चीजें न के बराबर ही मिलती हैं। उनका प्रतिरोध एक तरफ तो उत्पीड़न और प्रतिरोध की जातीय स्मृतियों से जुड़ता है तो दूसरी तरफ व्यक्तिगत स्मृतियों में भी उसकी एक सघन जमीन मिलती है। इसी लिए उनकी कहानियाँ अपने चरित्रों के व्यक्तित्व की गरिमा का हनन किए बिना सामूहिकता की कसौटी पर भी खड़ी मिलती हैं। तभी वजूद का नायक समय के सारे दबावों को ठुकराता हुआ अपनी स्मृतियों के साथ न्याय करने का फैसला कर पाता है।

अखिलेश के यहाँ प्रेम का विद्रूप अधिक मौजूद है। खासकर उनकी उन कहानियों में जो मध्यवर्ग को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं। हाकिम कथा, घाल-मेल, अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल, यक्षगान या जलडमरू मध्य जैसी कहानियाँ मध्यवर्ग पर केंद्रित है। उनकी ताकत यह है कि वह लोक के प्राचीन मिथकों को ही नहीं, मनुष्य विरोधी सत्ताओं द्वारा गढ़े जा रहे आधुनिक मिथकों को भी बखूबी पहचानते हैं और उनका तोड़ रचते हैं। वह हवा और पानी का आदिम स्पर्श पहचानते हैं। इसीलिए वह उन्हें अपने चरित्रों के भीतर देख पाते हैं, रच पाते हैं–कई बार वह यथार्थ भी जो अभी घटित होने वाला है। निश्चय ही वह मध्यवर्गीय जीवन के भावी यथार्थ को रचने वाले

सशक्त कहानीकार हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, प्रथम संस्करण, पृ॰ 17
2. बी॰बी॰ मिश्र, दि इंडियन मिडिल क्लासेज, रायल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशल अफेयर्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, संस्करण 1961, पृ॰ 343
3. आर॰एच॰ ग्रेटन, दि इंग्लिश मिडिल क्लास, जी वेल्स एंड संस लि॰, लंदन, संस्करण 1919, पृ॰ 1
4. यशपाल, मार्क्सवाद, विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण 1954, पृ॰ 173
5. अखिलेश, संपूर्ण कहानियाँ (कहानी-संग्रह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2021, पृ॰ 534
6. वही, पृ॰ 418
7. वही, पृ॰ 313
8. वही, पृ॰ 298
9. वही, पृ॰ 268

VILL- PARSA STATION, POST- PARSA STATION
DISTRICT -SIDDHARTHA NAGAR (UP) 272201
Mob. 9415217545
arvindddu@gmail.com

ISSN 0975-735X

ज्ञानरंजन की कहानियों में स्त्री-संवेदना

सरिता तिवारी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
रवींद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰)

आज की हिंदी कहानियों में स्त्री का जीवन-संघर्ष और अस्मिता की संवेदन मुखर रूप में व्यक्त हो रही है। यह सच है कि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव का भी चित्रण अपने बदलते स्वरूप में भी मौजूद है। आज स्त्रियाँ पहले की तरह बेड़ियों में जकड़ी नहीं रह गई हैं, पर वे पूरी तरह आजाद भी नहीं हुई हैं। लोग कहते रहें कि अब स्त्रियाँ आजाद हैं, अब उन्हें किसी की जरूरत नहीं है, पर बातें बेमानी-सी लगती हैं, जब हम पाते हैं कि स्त्री को आज भी भोग की वस्तु समझा जाता है। जब हम स्त्रियों के जीवन के अनछुए पहलुओं की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि किस तरह वे हर मोड़ पर अपने लिए निरंतर संघर्ष कर रही होती हैं। यह भी पाया गया कि 'सन् साठ के बाद की हिंदी कहानी एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु या कहानी का दूसरा इतिहास मानी गई और ज्ञानरंजन सामाजिक रूप से उसके सबसे बड़े रचनाकार कहे गए। लेकिन हर बड़े लेखक की तरह ज्ञानरंजन की कहानियाँ अपने दौर या समय को लाँघती गई और इसीलिए आज भी पढ़ने पर उनकी प्राय: सभी कहानियाँ उतनी ही जीवंत प्रासंगिक और प्रामाणिक महसूस होती हैं।'[1] देखा जाए तो संवेदना, अस्मिता, आत्म-चेतना, आत्म-सम्मान, समता, समान अधिकार तथा अस्तित्वबोध के प्रति स्त्री की सजगता स्वातंत्र्योत्तर कहानी में उभरने तेजी से लगी थी। लेकिन सन् 1960 के बाद के कहानी में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गई। ज्ञानरंजन ने इन सभी क्षेत्रों में नारी की निर्णायक भूमिका, सक्रियता तथा संघर्ष के द्योतक तो हैं ही तथा उनके उन्मेष के हिमायती भी हैं दशक हैं। इस युग के सभी कहानीकारों में स्त्री के प्रति सजगता, संवेदना, अधिकार एवं अस्तित्व की चेतना स्त्री-विमर्श की मुख्य पहल रही है, जिसे कहानीकारों की कहानियों में नित प्रखर से प्रखरतर होती गई हैं।

ज्ञानरंजन ऐसे कहानीकार हैं जो भारतीय समाज व्यवस्था के अन्यायपूर्ण, परंपरावादी धाराओं, अमानवीय अनैतिकतावाद के दबावों के बीच बेहद संवेदनशील होकर व्यक्ति के मुक्ति की मांग करते हैं। ज्ञानरंजन का जन्म 21 नवंबर, 1936 ई॰ को अकोला, महाराष्ट्र में हुआ है। इनकी उच्चशिक्षा इलाहाबाद में तथा इनके जीवन का अधिकांश समय अजमेर, दिल्ली तथा बनारस में व्यतीत हुआ। ज्ञानरंजन का पहला कहानी-संग्रह 'फैंस के इधर-उधर' हैं। इसके बाद 'यात्रा', 'क्षणजीवी', 'सपना नहीं' आदि कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के स्त्री-पुरुष कि कुरूपताओं, विसंगतियों और खोखलेपन के भाव और संवेदना को व्यक्त करने वाले यथार्थधर्मी कहानीकार हैं। इनकी ज्यादातर कहानियों में स्त्री जीवन और समाज की विषमताओं की विसंगतियों एवं अंतर्विरोधों में उलझी हुई है और इससे मुक्त होने की छटपटाहट देखी जा सकती है। नए पुराने मूल्यों और संस्कारों की टकराहट का बड़ा ही सूक्ष्म अंकन और विश्लेषण आपकी कहानियों में मिलता है। इनकी कहानियों में यदि स्त्री संदर्भ की बात करें तो यह समझना जरूरी है कि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव में हिंदी कहानी का स्वरूप भी

बदल रहा है, क्योंकि स्त्री के प्रश्न बदल रहे हैं। आज कहानीकारों ने अपनी कहानियों में न केवल घरेलू कामकाजी स्त्रियों के जीवन में हो रहे बदलावों को रेखांकित किया है, बल्कि उन चरित्रों को भी सामने लाने का प्रयास किया है जो महानगर एवं मध्यवर्ग में अपने बड़े सपनों के साथ जीना चाहती हैं। स्त्री के संघर्ष का कथाकारों की कहानियों में बखूबी देखने को मिल रहा है। जिस तरह दुनिया की सभी स्त्रियों के जीवन, संघर्ष और अस्मिता के प्रश्न अलग-अलग हैं, उसी तरह आज की कहानियों में स्त्री के जीवन की संवेदना का मर्म भी अलग-अलग स्वरूप में में मौजूद हैं। हिंदी कथा-साहित्य के वरिष्ठ कथाकार राजेंद्र यादव ने 'एक दुनिया : समानांतर' में स्त्री-पुरुष संबंधों के परिवर्तित स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'संबंधों के क्षेत्र की सबसे अधिक भीषण संक्रांतियों से गुजरना पड़ा है। नारी और पुरुष के आपसी संबंधों को आज के कथाकार ने शायद सबसे अधिक कहानियाँ इसी संबंध को लेकर लिखी हैं। आज ही क्यों समाज और कला का तो चिरंतन निर्णायक विषय ही यही रहा है। हाँ, यह तो जरूरी है कि पुरुष प्रधान समाज में अधिकतर पुरुष ने ही नारी को केंद्र बनाकर अपनी भावनाओं या चिंतन को अभिव्यक्ति दी है।'[2]

स्वतंत्रता के बाद स्त्री जीवन के संघर्ष और संवेदना को लेकर अनेक कहानियाँ लिखी जा रही हैं, जिनमें उनके जीवन की त्रासदी को विस्तारपूर्वक रेखांकित की जा रही हैं। इस संदर्भ में हिंदी के समकालीन कहानीकार ज्ञानरंजन भी अपनी कहानियों हमें स्त्री जीवन और संवदेना पक्ष को लेकर आश्वस्त करती हैं कि वे अब पहले से भी ज्यादा मुखर रूप में स्त्री के जीवन, संघर्ष और संवेदना के विविध रूपों को उद्घाटित कर रही हैं। कई लोग कहते हैं कि स्त्री का जीवन एक ऐसी पहेली है जिसे जल्दी में नहीं बूझा जा सकता है। ऐसा वे ही लोग कहते हैं जिन्होंने उसके जीवन को कभी पहेली या रहस्यों से बाहर आने नहीं दिया है। उसकी जटिलताएँ, उसकी मान्यताएँ, उसकी सीमाएँ पहले ही तय कर दी गई हैं जिसमें अब काफी बदलाव ज्ञानरंजन की कहानियों में देखने को मिलता है। ज्ञानरंजन की 'दिलचस्पी' कहानी के स्त्री के जीवन और अस्मिता की वेदना को बखूबी रेखांकित करती है। इस कहानी में, 'वंदना की माँ श्रीमती जोशी सुंदर हैं, दबकर बोलती हैं और तभी बोलना शुरू करती हैं जब आश्वस्त हो जाती हैं कि उनका बोलना, दूसरे, विशेषत: किसी पुरुष के साथ, अकस्मात् नहीं लड़ जाएगा। शायद अपनी सात्विकता के लिए उन्हें यह भी जरूरी हो। अकसर पुरुष औरत की बात का लड़ जाना लगभग शरीर के लड़ जाने की तरह बुरा समझा जाता है। पर वे बुरी नहीं हैं। वंदना के लिए बोलीं, 'मैं तो इसके पिता से हमेशा कहा करती हूँ, इसकी शादी पहाड़ पर ही करेंगे।' चूँकि वे काफी देर बाद, पहाड़ के प्रसंग के लगभग समाप्त हो जाने के बाद बोलीं, इसलिए लगता है, श्रीमती जोशी छोटी-छोटी काल्पनिक और स्वप्निल बातों में जीती रहकर खुश रहती हैं। 'पहाड़ पर ही रहेंगे' वंदना अपनी माँ के जुमले की पुनरावृत्ति वर्तुल ढंग से करके, उठ नहीं गई जैसा कि आमतौर पर लड़कियों के लिए जरूरी होता है। उसने पहले तो यह सोचा, वंदना कच्ची है इसलिए शरमाई नहीं। फिर सोचने लगा, भला लगता है कि लड़कियाँ आजकल उठकर कम जाती हैं, अब तो बंगाली फिल्मों में भी अपनी शादी की बात सुनकर वे भाग नहीं जातीं।'[3]

प्राचीनकाल से होते आए शोषण और दमन के प्रति पनपी स्त्री-चेतना ने ही स्त्री प्रतिरोध एवं विमर्श को जन्म दिया। वस्तुत: स्त्री-विमर्श समकालीन विचार चिंतन है। 'समकालीन' शब्द कालबोधक न होकर उस चेतना का संवाहक है जिसे आज हम जी रहे हैं। यह उस बोध का भी परिचायक है, जिससे आज हम सब संपृक्त हैं। समकालीन से अभिप्राय उस समस्त कालखंड से है।

जो हमने जिया है, भोगा है और जिसे जी रहे हैं। समकालीन हिंदी साहित्य में विशिष्ट विषय, विशिष्ट समाज को विमर्श के केंद्र में रखते हुए सशक्त लेखन हुआ है।

ज्ञानरंजन के लेखन काल में समाज में स्त्री स्वातंत्र्य अधिकारों में परिवर्तन तो आ रहा था, परंतु अभी भी स्त्री-समुदाय का बड़ा हिस्सा घर की चौखट के भीतर ही था। मध्यवर्गीय समाज में प्रतिरोध का स्वर मुखरता को ओर बढ़ रहा था। स्त्री अभी संकोच के भँवर में डूब रही थी लेकिन चेतना की शुरुआत हो चुकी थी। इस संबंध में ज्ञानरंजन 'अमरूद का पेड़' कहानी में लिखते हैं कि 'माँ अजमेर में जेल कर चुकी है–लंबी जेल। सत्याग्रह के दिनों में। पिताजी खुद राजनीतिक-सामाजिक उदारता वाले आदमी हैं। हमारी एक बुआ ने विवाह नहीं किया और पढ़ने-लिखने में ही उन्होंने अपनी जिंदगी डुबो दी, पर समाज उन्हें कोई चुनौती देने का साहस नहीं कर सका। एक को छोड़ हम सभी भाइयों में खिलाड़ीपन है।... खैर, यह तो ऊपरी बात हुई लेकिन मैं अकसर पाता कि अंदरूनी तौर पर भी हम सभी लोगों में कहीं पिछड़ेपन की भर्त्सना का भाव अंकुरा रहा है। वैसे अम्मा की प्रीतिकर, सुंदर, गोरी मुखाकृति पर अमरूद के प्रसंग में हमेशा भय की व्याति हो आती थी।'[4]

ज्ञानरंजन की कहानियों के सामाजिक ढाँचे में ढेरों परिवर्तन घटित हुए। इन परिवर्तनों ने ज्ञानरंजन की कहानी को भी प्रभावित किया। जैसाकि हम जानते हैं कि मानव सभ्यताओं का विकास समाज के बीच ही हुआ। समाज मानव को मानव से जोड़ने वाली कहीं बना। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की संपूर्णता समाज के ही माध्यम से अर्जित करता है अत: वह व्यक्ति बेबस होकर भी समाज विरोधी नहीं हो सकता है। समाज ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की संस्तुति करता है। अत: व्यक्ति अपने परिवेश से कटकर जीवित नहीं रह सकता है। परिवेश के अंतर्गत मनुष्य का बाह्य वातावरण, उसकी मानसिक स्थितियों और उसके मानस पर होने वाली बाह्य स्थितियों की प्रतिक्रियाएँ भी आ जाती हैं।

स्त्री ही परिवार की शोभा होती है। यदि स्त्रियों के जीवन में खुशहाली न हो तो उस परिवार में विघटन की समस्या एवं टूटती नैतिकता की दरारें पड़ जाती हैं। इस पहलु पर भी ज्ञानरंजन की नजर पड़ी है। वे 'हास्यरस' कहानी में पति द्वारा पत्नी के संदर्भ में जो चिंतन किया जा रहा है, उस पर लिखते हैं, 'यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि मैं भूल गया कि अपनी 1958 की एक डायरी में मैंने स्त्रियों के संबंध में क्या-क्या लिखा था। वैसे वे बातें बुरे वक्त में लिखी गई थीं। तब, जब पता चला था कि बचपन से प्रेम करने वाली एक लड़की एकाएक गलत हो गई है और तबीयत छटक-उटक जा रही है परंतु वे बातें बिलकुल सच थीं और मेरा दावा है कि उन पर अमल किया जा सके तो संसार में कोई भी व्यक्ति स्त्रियों का शिकार नहीं हो सकता। लेकिन अब मैं क्या करूँ, 1958 की डायरी लेकर रोऊँ या सिर पटकूँ? उस लड़की ने मुझे कम चोट नहीं दी थी लेकिन मैं इतना बेहया हो गया हूँ कि हमेशा बीती हुई चीजों को भूल जाता हूँ।'[5] यही है जीवन की कठिन सच्चाई है, जहाँ कभी-कभी पुरुष, स्त्री के प्रति असंवेदनशील हो जाता है। उसका सौंदर्यबोध सब-कुछ उससे छिन जाते हैं। यह कहानी स्त्री जीवन की इस बिडंबना पर बड़ी बेबाकी से अपनी बात रखी है।

डॉ॰ रामचंद्र तिवारी अपनी पुस्तक 'हिंदी का गद्य साहित्य' में रेखांकित करते हैं कि आपकी कहानी 'फैंस के इधर-उधर' कि चर्चा करते हुए डॉ॰ मदान कहते हैं कि 'ज्ञानरंजन की कहानी फैंस के इधर से निकलकर अब फैंस के उधर चली गई है, पुरातनता से निकलकर आधुनिकता में चली गई है, जहाँ शहर तेजी से बढ़ रहा है, नगरीकरण की प्रक्रिया तेजी से चल रही है।'[6] आधुनिकीकरण

की प्रक्रिया के कारण स्त्री के प्रति हमारी दृष्टि तथा पारंपरिक मानवीय संबंधों में अंतर आया। समाज, संस्कृति व व्यक्ति में परिवर्तन हुए। इसी कारण स्त्री का बदलता हुआ नया स्वरूप भी उभरकर सामने आया। परिवार में स्त्री का नया चरित्र और रूप उभरा। पुराने मूल्य और स्त्री की कमजोर छवि, दूसरी ओर वैश्विक सोच, स्त्री चेतना और शिक्षा का व्यापक दृश्य दुनिया के सामने आया। बदलती सामाजिक परिस्थितियों में भारतीय नारी जूझती हुई बराबर अपनी पारंपरिक छवि से अलग होती गई और बदलाव की प्रक्रिया को अपनाते हुए अपनी पहचान बनाने के लिए प्रयत्नशील होती गई। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका संस्कार सब कुछ बदला। अब स्त्री अपने को रिश्तों को नए सिरे से तलाश रही थी। वह अपनी अस्मिता की नई पहचान के लिए समाज, परिवार और परिवेश में अपनी भूमिका को पहचान के रूप दर्ज कर रही है।

ज्ञानरंजन की कहानियों में स्त्री के संबंध में मौलिक विशिष्टता यह है कि चरित्र के अंतरविरोधों को अभिव्यक्ति देने के लिए वे चरित्र के बारीक संस्कारों, चरित्रों, व्यवहारों, वृत्तियों, मनोवृत्तियों व विचारों को कलात्मक तरीके से मूर्त रूप देते हैं और मानसिक स्थितियों को मनोवैज्ञानिक ढंग से सामने रखकर उनकी स्थितियों को मनोवैज्ञानिक ढंग से दूर करने का प्रयास करते हैं। इनकी 'कलह' कहानी में एक स्त्री की संवेदना को बेहद मार्मिक ढंग से चित्रित करने का प्रयास किया गया है। इस कहानी में लेखक लिखता है कि 'स्वाति की सोती आँखें धीरे-धीरे अँधेरे को भेद गईं। अँधेरा अँधेरे को देख सकता है। उसकी आँखों को दीखने वाला सारा कुछ अज्ञात द्वारा परिचालित था। घने दृश्य उबल रहे हैं। जवान होने के बावजूद भी स्वाति को उनसे रोमांच नहीं हो पाया। गेस्ट हाउस में एक पुरुष है। वह उसका बाप है। एक औरत है लेकिन माँ नहीं है वह। और वहाँ कोई नहीं है। स्वाति को भय लग रहा है कि आसपास वह अकेली है। उसकी कनपटियों पर जोर से कई चुंबन टकराए। कुछ पल टक-टक खामोश बीते और एकाएक स्वाति की घिग्घी बँध गई। उनींदी, आक्रांत वह बड़बड़ाने लगी, 'गेस्ट हाउस' में माँ को कोई मार रहा है।'[7]

ज्ञानरंजन की 'दांपत्य' कहानी का केनवास भी स्त्री संवेदना को लेकर ही है। यहाँ भी स्त्री जीवन की जड़ में जो समझौता है, उसका ही एक रूप है दांपत्य। स्त्री दांपत्य के इस समझौते के कारण जीवन से खुशिओं के पल समाप्त हो गया है, यदि उसमें संवेदना नहीं है तो उसे जितनी ही कोशिश के साथ भरा जाय, वह और खाली खोखला और व्यर्थ होकर रह जाता है। इस कहानी में स्त्री को लेकर यह प्रसंग है कि 'मैंने सोचा, मुझे इस तथ्य को याद रखना चाहिए कि स्त्रियाँ ही जीवन को चलाती हैं इसलिए मर्दों का यह धर्म है कि वे उनके साथ ठीक तरह से पेश आएँ और उन पर अनावश्यक न उखड़ा करें। बीवी अभी भी गाफिल है। मैंने सोचा, काश यह किसी दूसरे का घर होता, यह सोती हुई औरत मेरी पत्नी न होती और मैं एक चोर होता तो आज चाँदी होती।'[8] विवाहोपरांत स्त्री-पुरुष गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं और उनका मेलापक बनता है दांपत्य प्रेम। सुखी दांपत्य जीवन का आधार है पति-पत्नी का परस्पर विश्वास, रिश्तों में संतुलन, प्रेम एवं समर्पण की भावना। यदि दांपत्य जीवन से विश्वास समाप्त हो जाए, तो दांपत्य जीवन कष्टकर बन जाता है।

इस प्रकार 'ज्ञानरंजन की कहानियाँ भीतरी अँधेरों की शिनाख्त की कहानियाँ हैं, हालाँकि ऐसी किसी भी उदात्त कोशिश का दावा न करते हुए वे इन्हें नैरेटर की लाउड बड़बड़ाहट का रूप देकर स्वयं नेपथ्य में चले जाते हैं। जाहिर है बड़बड़ाहट में और जो भी हो, राग और उल्लास, संतोष और आत्मसार्थकता का भाव नहीं होता।'[9] ज्ञानरंजन के लेखनकाल में समाज में स्त्री स्वातंत्र्य के

क्षेत्र में परिवर्तन तो आ रहा था, परंतु अभी भी स्त्री-समुदाय का बड़ा हिस्सा घर की चौखट के भीतर ही था। मध्यवर्गीय समाज में परदा प्रथा बनी हुई थी, जिसके कारण स्त्री का बाहरी दुनिया से संपर्क पुरुष जितना नहीं हो पाया था। परिणामस्वरूप स्त्री अभी संकोच के भँवर में डूब रही थी। परिवार ही स्त्री की शुरुआत और अंत था। ज्ञानरंजन का मानना है कि स्त्रियाँ, मनुष्य समाज से निकाली हुई होती थीं। इसे स्त्री जानती भी है। स्त्रियों के लिए यह अपमानजनक था कि अन्य चीजें उनसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझी जाएँ। वे मेरे मुहल्ले में चीटियों की तरह निकलतीं या टिड्डियों की तरह।

निष्कर्ष–निश्चित रूप से ज्ञानरंजन की ज्यादातर कहानियों में स्त्री जीवन के संघर्ष व समाज की विषमताओं, विसंगतियों में उलझे हुए बौद्धिक चरित्रों की निजी लड़ाई है, जिसमें स्त्री की जिंदगी और समाज के अंतर्विरोधों से विघटित हुए व्यक्तित्वों के अंतर्द्वंद्व का संवेदनशील पक्ष भी शामिल है। ज्ञानरंजन, स्त्री हालात का वर्णन करने में रुचि नहीं दिखलाते। वह अपने समय के हालात से टकराते पात्रों की जीवन स्थितियों पर खुद को केंद्रित कर प्रतिरोध करती है। जहाँ 'अमरूद का पेड़', 'दांपत्य संबंध', 'दिलचस्पी', 'कलह', 'बहिर्गमन', 'फैंस के इधर और उधर' जैसी कहानियों में स्त्री पात्रों की मानसिक व जीवन-स्थितियों के साथ संवेदनशीलता की अच्छी व ठोस स्थिति देखने को मिलती है।

संदर्भ

1. ज्ञानरंजन, संपूर्ण कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051, प्रथम संस्करण 2022, फ्लैप कवर से
2. डॉ॰ राजेंद्र यादव, एक दुनिया : समानांतर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण-1970, पृ॰ 32
3. ज्ञानरंजन, संपूर्ण कहानियाँ (कहानी-दिलचस्पी), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051, प्रथम संस्करण 2022, पृ॰ 95-96
4. वही, (कहानी-अमरूद का पेड़), पृ॰ 11
5. वही, (कहानी-हास्यरस), पृ॰ 114
6. डॉ॰ रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी-221001, सप्तम संस्करण 2009, पृ॰ 351
7. ज्ञानरंजन, संपूर्ण कहानियाँ, (कहानी-कलह), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110051, प्रथम संस्करण 2022, पृ॰ 158
8. वही, (कहानी-दांपत्य), पृ॰ 127
9. जैसे अमरूद की खुशबू, ज्ञानरंजन का ज्ञानरंजन के लिए, संयोजन-मनोहर बिल्लौरे, सेतु प्रकाशन, प्रा॰लि॰, सी-21, सेक्टर-65, नोएडा (उ॰प्र॰) 201301, प्रथम संस्करण-2021, पृ॰ 150

गली नं॰ 4**, मनोरमा कालोनी**
तहसील सागर (म॰प्र॰) 470001
मो॰ 8853309388
siddhsarita@gmail.com

हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध

डॉ॰ हंसराज चौहान, सहायक आचार्य, हिंदी
राजकीय कन्या महाविद्यालय, होंद, सीकर

साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध दोनों समाहित हैं। इससे साहित्य व संस्कृति दोनों ही ऊर्जावान होते हैं। दोनों ही समाज की उपज हैं। ये जीवन के संस्कारों व सरोकारों, दोनों से जुड़े हैं। साहित्य के संस्कार पैदा करने होते हैं, जबकि संस्कार संस्कृति से जन्म लेते हैं। जब कोई समाज अपने इतिहास, अतीत और परंपरा से कटने लगता है तब समय अपने साहित्य और संस्कृति की तरफ देखता है। इस तरह समय, समाज, साहित्य और संस्कृति एक-दूसरे से जुड़े हैं। इनका रसायन एक ही है। साहित्य में मूल्य बोध कायम है और यही इसकी मजबूती है। समस्त सृष्टि के साथ जुड़ने का उपक्रम भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति है। कहा कि वेद की महिमा लोक के साथ सम्मिलित होकर और मुखर होती है।

वर्तमान समय जीवन के विभिन्न स्तरों पर अंतर्विरोधों एवं मूल्यहीनता का माना गया है। मूलत: मनुष्य को समाजिक माने जाने के पीछे यह कारण दृष्टिगोचर होता है कि समाज का एक अंग होते हुए वह स्व:उन्नति के साथ समाज की भी उन्नति में सहायक होता है, जो भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक धरातल पर चलती रहती है। उन्नति तथा विकास के मार्ग को निश्चित करते हुए मनुष्य स्वयं मूल्यों का निर्माण एवं निर्धारण करता है। मूल्य वे संस्कार-परंपराएँ है, जो उसे प्रेरणा देती हैं। मात्र इस सृष्टि में शाश्वत कुछ भी नहीं। परिवर्द्धन एवं परिवर्तन संसार का नियम है और मूल्य भी इसके लिए अपवाद नहीं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परंपरागत मूल्यों का अस्तित्व अपनी बुनियादी नींव के साथ नष्ट हो रहा है और उनकी जगह आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति से परिचालित नव मूल्य ले रहे हैं।

संस्कृत के 'मूल्यम्' का हिंदी रूप है 'मूल्य'। जिसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मूल्यत् अर्थात् उखाड़ देने योग्य, मोल लेने योग्य है। अँग्रेजी शब्द value के पर्याय 'मूल्य' के लिए कीमत, मोल, लागत या मजदूरी, किराया, वेतन या लाभ, पूँजी, मूलधन शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। मूल्य का संबंध मन से होता है, विश्वास से होता है। इसलिए साहित्यकारों का मानना है कि 'वह ऐसा विश्वास है, जिन पर किसी कार्य विशेष की वांछनीयता या अवांछनीयता का निर्णय आधारित होता है।' किंतु प्रत्येक युग के मूल्य अपने-आपमें नए संस्कार लेकर उभरते हैं। पुराने रूपों में ही परिवर्तन-परिवर्द्धन होकर मूल्य नए रूपों में अवतारित होते हैं। देश, काल और परिस्थिति में जनसामान्य की उदात्त मान्यताओं को मानव मूल्य कहा गया है। लोककल्याण एवं व्यक्ति के उदात्तीकरण को मूल्य की कसौटियाँ माना गया है। समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझ उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए आज का साहित्य एवं रचनाकार तत्पर है। किंतु तत्पूर्व समकालीनता के अर्थ को मूल्यबोध के परिप्रेक्ष्य में समझना भी आवश्यक है। अँग्रेजी के Contemporary के समानार्थी इस शब्द का अर्थ है, जो समय के साथ हो। अर्थात नवीन जीवन संदर्भों को प्रकट करनेवाला शब्द है–समकालीनता, जो पूरे युग को, युग धारणाओं को प्रतिबिंबित करे। समकालीन साहित्य युग सत्य का अवलोकन-अन्वेषण

 ISSN 0975-735X

कर प्रचलित मूल्यबोध को रचना के धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

वर्तमान समाज में गहराई तक पैठ गई एकाकीपन, कुंठा, संत्रास, द्वेष, घुटन, अजनबीपन, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, धार्मिक विखंडनवाद, लिंगानुभेद, बाजारवाद, भुखमरी, बलात्कार, शोषण, भाषावाद-प्रांतीयता, देह व्यापार, निरक्षरता, यौन शोषण, हिंसा, कन्याभ्रूण हत्या, दहेज उत्पीड़न, रूढ़ियाँ समाज को विद्रूप बना रही हैं। बाजारीकरण की बाढ़ ने जहाँ 'वसुधैव कुटुंबकम' की संज्ञा से हमें जोड़ दिया, वहीं वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति का परिवार, उसका विश्व अपने-आपमें ही सीमित होने लगा। अपने ही व्यक्तित्व में वह सिमटने लगा, सिकुड़ने लगा। जिससे उत्पन्न स्वार्थजन्य प्रवृत्तियों ने नैतिकता को लुप्त कर दिया। समकालीन साहित्य इन मूल्य परिवर्तनों तथा इसके प्रभावस्वरूप उपजे परिणामों की प्रतिक्रिया है।

सूचना प्रोद्यौगिकी के अधुनातन विकसित माध्यमों ने जहाँ संसार को चंद पल में जोड़ने का दावा किया है, वहीं परिवार के सदस्य भावनिक धरातल पर एक-दूसरे से दूर हो रहे हैं। आज परिवार की परिभाषा बदल रही है। आधुनिकता के चलते विभक्त एवं छोटे परिवारों ने बच्चों को उन संस्कारों से दूर रखा, जो हमें बड़े-बूढ़ों से मिलते थे। जरूरत के समय कामकाजी माँ-बाप न बच्चों को वक्त दे पाते हैं और न बड़े होने पर बच्चे बूढ़े माँ-बाप को। रिश्तों में आई आधुनिक व्यावहारिकता ने भावनाओं को मार दिया है। यथा–

मैं दुनिया की सबसे खुशनसीब लड़की हूँ
वो इसलिए कि मेरी माँ इन दिनों
अपने पुरुष मित्र के प्यार में
डूबी हुई है और मैं उन्हें आपस में एक-दूसरे को
चुपके-चुपके प्रेम करते हुए देखती हूँ।

सामाजिक मूल्यों का अवमूल्यन हो रहा है। मूल्यों को सँजोने वाले घर टूट रहे हैं। भौतिक साधन जुटाने की आपाधापी में व्यक्ति परिवार की खुशी से दूर होता जा रहा है। आज प्रेम का स्थान वासना ने ले लिया है। उमाशंकर चौधरी की कविता 'पुरुष की स्मृति में कभी बूढ़ी नहीं होती लड़कियाँ 'उस पुरुष मानसिकता पर व्यंग्य कसती है, जो घर-परिवार की बातों से ज्यादा अपनी स्मृति में उस लड़की के शरीर को स्थान दिए है, जो मरने के बाद भी स्मरण मात्र से उसकी वासना को तुष्ट करती है। आज हर परिवार में एक अनजाना तनाव पैठ चुका है। विवाह के परिमाण बदल चुके हैं। इसलिए 'कन्यादान' जैसे श्रेष्ठ दान पर भी कुमार अंबुज लिखते हैं–

तुम्हारे लिए मैं चुनता हूँ एक तोता
हो सकता है मैं तुम्हें किसी गिद्ध को सौंप रहा होऊँ
आखिर हम मिल-जुलकर तुम्हें
एक कठपुतली के जीवन में अमर करते हैं।

आधुनिकता की इस बाढ़ में आत्मा, परमात्मा जैसे अलौकिक तत्त्व से जुड़े परंपरागत मूल्य क्षय हो रहे हैं। समकालीन कविता हमारी प्राचीन, गरिमामयी संस्कृति और उससे जुड़े मूल्यों को सामने रख वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता के कारण उपजी त्रासद स्थितियों पर कठोराघात करने से नहीं चूँकती। इस आधुनिकता ने हमें संवेदनहीन बना दिया है। ऐसा क्यों हो रहा है, सोचकर कवि भी परेशान हो रहा है। किसी स्त्री की अवमानना भी उसके पुरुषार्थ को गला पाने में अक्षम हैं–

सामने सड़क पर एक औरत की इज्जत जा रही है

और लोग अपने-अपने ओटों पर खड़े हैं चुपचाप
ऐसा क्यों हो रहा है?
पेड़ों को पत्थर बनने में लगा है हजार वर्ष
आदमी देखते-देखते पत्थर बन रहा है, ऐसा क्यों हो रहा है?

वर्तमान में नैतिकता का अर्थ बदल रहा है। जिन तत्त्वों को कभी त्याज्य माना जाता था, आज प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें वरीयता दी जा रही है। निजी स्वार्थ, हित को सराहते हुए मानव का व्यक्तित्व अध:पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। कर्म से जुड़ी धर्म की भावना तिरोहित होती जा रही है। स्वयं को सभ्य मानने वाला समाज खोखले उसूलों को लेकर बैठा है। व्यक्तिगत मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित वात्सल्य, स्वाभिमान, पराक्रम, विद्ववत्ता, परोपकार, कला प्रेम, क्षमा, नीति से हम दूर जा रहे हैं। पारस्पारिक सद्भावना, सहानुभूति, परस्पर प्रेम, बंधुता, संवेदनशीलता, त्याग, संतोष, करुणा को हम भूलते जा रहे हैं। व्यवस्था की निर्मम चक्की में पीस रहा जनसामान्य जीने के लिए अपनी ही संतान को कुपथ पर डाल रहा है। जीवन की सीधी राह छोड़ अँधेरी गली अपनाती बिनिया कहती है–

बोली थी–माँ का कहना नहीं मानती
तो खाती लात, तमाचे, हंटर
और भूखे रहकर राहों की खाक छानती
और बोली उसकी माँ-थानेदार को क्या कहती मैं
जो बिनिया को ले गए उठाकर मोटर में
उन सेठों से क्या लड़ती मैं?
बोला पति उसका-जीने की खातिर सब-कुछ होता है
अरे गरीब हम क्या कर सकते हैं
ईश्वर ही जब खिलाफ होता है।

खेती से जुड़े हुए किसान भी जीवन संघर्ष में लगे हैं। चारों तरफ से उनका शोषण हो रहा है। मुनाफाखोरी के चलते नई बाजार व्यवस्था विकसित हो रही है। जो किसानों को अधिक से अधिक आत्महत्या की ओर ही ले जा रही है। पर आश्चर्य तब होता है, जब उनकी आत्महत्या भी मृत्यु नहीं मानी जाती। देश में बढ़ रही ऐसी दलाली, व्यापार संस्कृति पर कवि कहता है–

जो कोई बाजार में आएगा/ चार पैसे में बिकाएगा
पर दो ही पैसा पाएगा/ दो तो दलाल ले जाएगा।

आतंकवाद के फलस्वरूप उभर रही विस्थापन की स्थितियों पर भी समकालीन साहित्यकार ध्यान दिए हुए हैं। कवि अग्निशेखर ने विस्थापन की समस्या को स्वयं झेला है। उनका काव्य विस्थापन की भयावहता एवं भय के प्रतिरोध को प्रस्तुत करता है–

उसकी आँखें पूछती हैं, जिस तिस से
क्यों होते हैं बार-बार
अपने पेड़ों पर बने घोंसलों से
परिदों के विस्थापन क्यों छिनते हैं आकाश
चुरा ली जाती है
पाँव तले की जमीन।

वैश्वीकरण के रूप में हो रहे साम्राज्यवादी शक्तियों के सांस्कृतिक आक्रमण पर भी

समकालीन साहित्यकार नजरें टिकाए हुए हैं। यह ऐसा दौर है जहाँ पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति के प्रभाव में आकर हम अपनी संस्कृति को उस बोतल की तरह 'क्रश' कर देते हैं, जिस पर निर्देश होता है–'क्रश द बोतल आफटर यूज।' उमाशंकर चौधरी अपनी कविता से पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। इसी उदारीकरण के चलते हम पर बाजार मूल्य अपना प्रभाव किए हुए हैं जिससे आपसी संबंधों की आत्मीयता नष्ट हो रही है और लाभ-नुकसान पर संबंध तय हो रहे हैं। अब मानवीय मूल्यों की नींव चरमराने लगी है–

हवा और पानी पहले भी कुछ न कुछ
दूषित थे लेकिन जब से खुले बाजारों की
हवा बही तेजी से तब से तो मूल्यों ने पूरी तरह
आचार-व्यवहार बदल दिए हैं।

नारी को जिस देश में कभी 'शक्ति रूपी देवी' का स्थान दिया गया, आज वहीं नारी केवल 'मादा' बनकर रह रही है। दिन दहाड़े खुलेआम महिलाओं की अवमानना, यौन उत्पीड़न ने उस वास्तविकता की पोल खोल दी है, जो नारी सशक्तिकरण के नाम पर प्रचारित की गई। जननी के रूप में गौरवान्वित नारी अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित है। कलंक के डर से बेटियों का जन्म भी पाप माना जा रहा है। सपना चमडिया की कविता 'बेटियाँ' में एक माँ अपनी दो साल की बच्ची के मुँह से ऑफिस जाने की बात सुन आतंकित हो जाती है। उसकी बेटी बस में भी सुरक्षित नहीं होगी यह डर उसके मन में व्याप्त है। क्योंकि–

उस पैंतालीस साल के कुंठित आदमी का
जो भीड़ का बहाना किए
उस पर ढहता रहेगा
माँ के दूध की ताकत बची होगी क्या
जो बिटिया को यह झेलने की ताकत दे।

जब संस्कारों पर चलने वाले बाप की नौकरी चली जाएगी, तब किसी तरह बेटी काम पर पहुँच भी जाएगी, फिर भी माँ को डर रहेगा–

किसी भी मोड़ पर से/ घर लौटने देगी क्या
दिल्ली की ये/ लाल-नीली बसें।
और बच भी गई इनसे किस्मत से
तो क्या गारंटी की/ कोई बड़े बाप का बेटा
छूटे साँड-सा सड़क पर/
घूमता हुआ अपने धारदार सींगों से
उसकी छाती न फाड़ जाएगा।

आधुनिकता के अभिशापों को झेल रही यह पीढ़ी ज्ञान को महत्त्व नहीं देती। अपने हिसाब से यह सब सीख जाते हैं–

जब होश सँभालते ही/ बिटिया पढ़ेगी
'बिना दर्द एबॉर्शन' और कॉन्ट्रसेप्टिक के विज्ञापन।

हमारी संस्कृति में नारी को माँ, बहन, बेटी की दृष्टि से देखा जाता था। इन रिश्तों को सँभाले रखने समाज ने नारी को सदैव सहनशीलता के अवगुंठन में रहने की शिक्षा दी है किंतु आज

अपने-आपको आधुनिक कहलाने वाले समाज में कन्याभ्रूण हत्या एक विकृति के रूप में उभर रही है, जब कि वे यह भूल जाते ही की नारी से ही सब की उत्पत्ति है। कवयित्री अंजु शर्मा को डर है, यदि ऐसा ही चलता रहा तो एक दिन नारी विलुप्त प्रजाति न घोषित हो जाए–

सुनो आधी दुनिया
तुम्हारे सीने पर ठोकी जाती है सदा
तुम्हारे ही ताबूत की कीलें
और तुम गाती हो सोहर, रखती हो सतिए
बजाती हो जोर से थाली
मनाती हो जश्न अपने ही मातम का

पर कवयित्री को विश्वास है–

नहीं बना पाएँगे वे ऐसे कारखाने जहाँ खत्म हो जाती है
जरूरत एक औरत की।

आज हमारा देश एक ओर तो विश्वगुरु बनने की ओर कदम बढ़ा रहा है, वहीं देश में पनप रही सांप्रदायिकता, भाषिकवाद जैसी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय चेतना के लिए मारक सिद्ध हो रही हैं। ऐसी विकृतियों के जोर पर सत्ता पाने वाले भी कम नहीं। आज राजनीति गुंडों का अखाड़ा बन चुकी है। हमारी संसद जनता के प्रश्न सुलझाने की जगह पैसा कमाने का साधन बन चुकी है। सत्ता हथियाकर राजनीति के गलियारे में भ्रष्ट आचरण करने वाले कितने ही कलंकी चेहरे यहाँ गर्व से घूमते नजर आएँगे। धर्म-जाति के नाम पर वोट बैंक खोल, अपने कर्त्तव्यों से दिशा भ्रमित नेता इस देश को भला किस राह पर लेकर जाएँगे। धर्मस्थापना के लिए किए गए युद्धों की स्तुति हमारे कितने ही धार्मिक ग्रंथों में मिलेंगी। किंतु उन दंगों को क्या हम धर्मयुद्ध का नाम दे सकेंगे, जो कुछ लोगों ने केवल अपने स्वार्थ हेतु भड़काया। धर्म के नाम पर पशु बनकर हमने इंसानों का ही खून बहाया। इतना ही नहीं ऐसे कुकृत्य करने वालों को संसद में ले जाकर बैठाया। राजनीति का गुण मानी गई अवसरवादिता एवं नीचता पर कवि कहते हैं–

वे सिद्धहस्त थे/ आँकने में/ अनुमानित मूल्य
इस समीकरण का,/ कि कितना नीचे गिरने पर
कोई बन सकता है/ कितना अधिक बड़ा

महिला आरक्षण का फायदा उठाकर अपनी औरत के नाम पर सत्ता सुख पाने वाले भी यहीं मिलेंगे। राष्ट्र कल्याण को छोड़ केवल नाम मात्र विरोध जताने वाले हमारे नेता राष्ट्र विकास की गति को धीमा कर रहे हैं। समाज का नियमन, संचालन करने के लिए जिस व्यवस्था का निर्माण समाज के नियंताओं ने किया था, वहीं व्यवस्था भीतर से सड़-गल चुकी है। समाज का एक वर्ग सुविधाभोगी, भ्रष्ट व्यवस्था को बदलना चाहता है, वहीं अपने धन और सत्ता के बलबूते पर इस व्यवस्था को अधिक पंगु कर अपने हाथ में इसे रखने के लिए भी तथाकथित कुर्सीधारियों का वर्ग तैयार कर रही है। आश्चर्य की बात है कि इन बेईमानों में बड़ी एकता है। इस कुर्सी पर बैठने वाले हर आदमी का चेहरा एक लगता है। मानो उनमें एक ही रुह हो। बेरोजगारी से परास्त कवि जब सबसे छोटी कुर्सी के सामने जाकर गालियाँ देता है, तब–

उस छोटी कुर्सी के बचाव में
सबसे बड़ी कुर्सी पर बैठा आदमी

अपने ओहदे की चिंता किए बगैर अपनी कुर्सी से उतरकर
मेरे सामने आ जाता है
वह चट्टान की तरह मेरे सामने खड़ा हो जाता है
और मैं देखता हूँ
यह शक्ल भी उन शक्लों में से ही एक है
जो इस देश की तमाम कुर्सियों पर बैठी है।

आज पाश्चात्य सभ्यता हमारी शिक्षा व्यवस्था से जुड़कर भारत की जड़ों तक समा रही है। अपनी संस्कृति को भूलकर विदेशी रंग-ढंग में ढल रहे हैं। सहजता से पाने की कामना ने हमें फिर से अनैतिकता के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है। जहाँ हम दूसरों के दु:ख, तकलीफों को समझना नहीं चाहते। कल-मशीनों में अपना भविष्य देखते हुए हम स्वयं प्रकृति से दूर जा रहे हैं। इतना ही नहीं जो आदिवासी प्रकृति के साथ अपनी जिंदगी में उन्मुक्त हँसते थे, कुछ स्वार्थपरायण लोगों एवं शासन के षड्यंत्रों द्वारा उनसे उनकी नदियाँ, पेड़, मिट्टी छीनी जा रही है। उनके प्राकृतिक आवासों से उन्हें दूर किया जा रहा है। क्योंकि–

उन्हें सिर्फ उसके पैरों तले की जमीन में दबी हुई
सोने की एक नयी चिडिया दिखाई देती है।

आज हमारे समाज में विषमता और विकृतियाँ अपने चरम पर है। एक ओर अर्थव्यवस्था की निर्भरता ने अमीर-गरीब, संपन्न-दरिद्र वर्ग की खाई को पाटने का काम किया, वहीं इन दोनों छोरों पर जनमानस में विकृतियों ने अपना डेरा बनाना प्रारंभ किया। संवेदनशून्य बन रहे मनुष्य को फिर से चेताने का काम साहित्य कर रहा है। आज संपूर्ण विश्व नाना असंतोषों की विध्वंसक छाया से घिरा हुआ है। ऐसे में भावी विनाश को रोकने के साथ मन-मस्तिष्क को पुन: मूल्यों की ओर मोड़ने में साहित्य उपर्युक्त माध्यम सिद्ध हो रही है। वास्तव में मूल्य ऐसे तत्त्व हैं, जो जीवन को परिमार्जित करते हैं। समकालीन साहित्यकार अपनी लेखनी द्वारा अवमूल्यन की स्थिति पर तीव्र आघात कर रहा है। वह अपने सृजन को परिवर्तन का हथियार बना रहा है।

संदर्भ

1. डॉ॰ राजेंद्र शर्मा, नैतिक मूल्य शिक्षा
2. सं॰ डॉ॰ धर्मपाल मैनी, मानवमूल्य कोश
3. कुमार अंबुज, कन्यादान, समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी, 2006
4. अरुण कमल, सबूत
5. राजकमल चौधरी, विचित्रा
6. बद्रीनारायण, शब्दपदीयम
7. अग्निशेखर, जवाहरटनल
8. भगवत रावत, ऐसी कैसी नींद
9. सपना चमड़िया, बेटियाँ, समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी, 2019

Dr. Hansraj Chouhan
New colony, ward 33, Pusph Nagar,
Shri Madhopur, Sikar 332715
Mob. 9928440405
hansrajchouhan88@gmail.com

राष्ट्रीय चेतना और बिरसा मुंडा

(धरती आबा नाटक के विशेष संदर्भ में)

डॉ॰ बन्नाराम मीना, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
पी॰जी॰डी॰ए॰वी॰ कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-65

भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भाषायी और राजकीय समानता वाले जनसमूह के देश को 'राष्ट्र' कहा जाता है। राष्ट्र की इच्छाओं, आकांक्षाओं, सांस्कृतिक गौरव, संघर्ष एवं आंदोलनों को राष्ट्रीय चेतना कहते हैं। राष्ट्र चेतना एवं क्रांति के संवाहक के रूप में बिरसा मुंडा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हृषिकेश सुलभ का 'धरती आबा' नाटक राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत जनजातीय समुदाय के नायक बिरसा मुंडा की मार्मिक कहानी है जिसे नाटककार ने बड़ी सूक्ष्मता और खूबी से मंचीय चौखटे में उतारने की कामयाब कोशिश की है। यह नाटक औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के साथ जनजातीय जनमानस के संघर्ष के यथार्थ को उसकी परिपूर्णता में प्रस्तुत करने की बेजोड़ अभिव्यक्ति है। लेखक ने राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत बिरसा मुंडा के किरदार को केंद्र में रखकर नाटक का ताना-बाना बुना है। इस शोध-पत्र में बिरसा मुंडा के उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष और उनकी राष्ट्रीय चेतना का विश्लेषण है। रंगकर्म के माध्यम से बिरसा मुंडा जैसे स्वतंत्रता सेनानी की समाज में पुर्नस्थापना आज समय की माँग है। 'धरती आबा' नाटक के माध्यम से जनजातीय समुदाय के इतिहास को भी जानने की पड़ताल की गई है। इस तरह से हम देखते हैं कि उनके समय में राष्ट्रीय संग्राम की समग्र चेतना में सारी शक्तियों को लगाकर भारत को पराधीनता से मुक्ति कराना ही केंद्रीय ध्येय बन गया था।

विश्व-साहित्य में नाटक को जो जगह मिली है, भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी इसे कम करके नहीं आँका गया। हिंदी नाटक के परिदृश्य को लेकर यदि समग्र भारतीय भाषाओं के नाटक की बात की जाए तो कई चिंताएँ हर जगह मुँह उठाए स्वागत करती हुई मिलेंगी। अब हिंदी में नाटकों का अभाव नहीं है, लेकिन आदिवासी विषयक नाटकों का अभाव तब भी था, आज भी है। हालाँकि पहले की अपेक्षा बदलाव आया है। इस बदलाव का श्रेय मोहन राकेश जैसे हिंदी साहित्यकारों को हैं जिन्होंने रंगमंच जैसी सामूहिक विधा से खुद को जोड़ा। नाटक वास्तव में बंद कमरे या एकांत का लेखन नहीं है। मंच से नाटककार का किसी-न-किसी रूप में संपर्क इस विधा की अनिवार्य शर्त है। भारतीय रंगमंच के इतिहास में यह पहली घटना थी। रंगमंच कितना प्रभावी माध्यम है इसका अंदाजा ब्रिटिश हुकूमत को भी हुआ था। यहीं से सेंसरशिप की शुरुआत हुई और राष्ट्रीय रंगमंच का प्रारंभ भी हुआ। नाटककार हृषिकेश सुलभ ने एक भारतीय पारंपरिक रंगदृष्टि का नया आयाम प्रस्तुत करने की कोशिश की है। 'धरती आबा' नाटक जनजातीय जीवन में संघर्ष और लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए कठिन हालातों का सामना करने के लिए प्रेरित करने वाली राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत गाथा है। सन् 1789-1799 की फ्रेंच क्रांति के साथ समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मूल्यों का जन्म हुआ। इसके साथ ही राष्ट्र की अवधारणा का जन्म होता है। राष्ट्रीयता के तत्त्वों

 ISSN 0975-735X

में भूमि, जनता, एकता और सार्वभौमत्व का विशिष्ट स्थान है। राष्ट्रीय चेतना जन्मभूमि का गौरव, देशी रजवाड़ों तथा मुस्लिम शासकों के दमन और शोषण के प्रति आक्रोश देखने को मिलता है। 'राष्ट्र की सांस्कृतिक रचना में जनजातियों का केवल योगदान ही नहीं अपितु मातृभूमि की रक्षा में इनका सर्वस्व त्याग भी बहुत बड़ा है। फिरंगी शासन के विरोध में तगड़ा विद्रोह करके मातृभूमि को दासता से मुक्त करने के लिए स्वतंत्रता की यज्ञवेदी पर चढ़े बाबूराव सेडमाके, बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हू संताल, तंटया भील आदि सभी वीर आदिवासी थे।'[1]

धरती आबा, लोकनायक, स्वतंत्रता सेनानी बिरसा मुंडा

'बिरसा मुंडा आज के झारखंड राज्य के एक आदिवासी नायक थे। उन्हें आज एक स्वतंत्रता सेनानी, आध्यात्मिक नेता और एक जननायक के रूप में जाना जाता है। बिरसा मुंडा ने 19वीं सदी के अंत में कई विद्रोह का नेतृत्व किया। यह आंदोलन मुख्य रूप से खूंटी, तामार, सर्वदा और बंदगाँव के मुंडा बेल्ट में केंद्रित थे।'[2] बिरसा के आजादी की लड़ाई में अवदान के चलते भारत के संसद संग्रहालय में उनकी फोटो लगी हुई है; वह इतने सम्मानित होनेवाले एकमात्र आदिवासी नेता हैं। आज बिरसा मुंडा आजादी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। देश के लिए अपने प्राण गँवा देने वाले महान गुमनाम आदिवासी नायकों की याद में इस साल आजादी का अमृत महोत्सव मनाया जा रहा है। सरकार ने राष्ट्र के लिए आदिवासी समुदाय के योगदान को सम्मानित करने के लिए 15 नवंबर को जनजातीय गौरव दिवस घोषित किया है। यह तिथि बिरसा मुंडा की जयंती भी होती है, जिनकी स्वतंत्रता के संघर्ष में अहम भूमिका ने आधुनिक भारत के इतिहास के पाठ्यक्रम को बदल दिया। उन्होंने देशभर के आदिवासियों के जीवन में मौलिक परिवर्तन लाने का कार्य किया। आदिवासी समुदाय को लेकर बिरसा चिंतित हैं तथा लोकल जमींदारों की जमीनी सच्चाई की राजनीति को लेकर भी चिंतित हैं। इस तरह से राष्ट्रीय चेतना के भिन्न-भिन्न पहलू हमारे समक्ष आते हैं। इसी नवजागरण के समय से राष्ट्रीय चेतना के भाव भारतीय जनमानस में जाग्रत होती है। जल, जंगल और जमीन पर सामुदायिक अधिकार एवं प्राकृतिक संसाधनों को बचाने और समाज में सामुदायिक भावना पैदा करने का प्रयास बिरसा मुंडा ने किया।

आदिवासी समुदाय की विशिष्ट पहचान इसलिए बनती है क्योंकि ये अपनी धरती, अपने जंगल और पानी को अपनी जान से बढ़कर मानते हैं और इन्हीं सबसे उपजती है इनकी सामुदायिकता। इसलिए आदिवासी समुदाय आज भी वहाँ जिंदा है। आज बिरसा मुंडा के उलगुलान ने आदिवासियों को वैचारिक समझ दी थी, संथाल हूल ने एक धार दी थी और तिलका माँझी ने परवान चढ़ाया, जिसमें देशज जनतंत्र को जमीन पर उतारा जा सके। बिरसा ने अपने लोगों को प्रेरित किया कि यह लड़ाई सामूहिकता से लड़ी जाए, तब फिर समुदाय स्तर पर सामूहिकता कायम हुई। तब जाकर सभी ने अँग्रेजों के खिलाफ संघर्ष किया। महाजन और सूदखोरों के खिलाफ संघर्ष किया। जाहिर सी बात है कि प्राचीनकाल से ही आदिवासियों में राष्ट्रीय चेतना के भाव दिखलाई पड़ते हैं। 'आदिवासियों ने अपना शत्रु अँग्रेजों, उनके कारिंदों और दलालों को माना, जो अपनी नई व्यवस्था जबरन उन पर थोप रहे थे। ये युद्ध महाजनों और जमींदारों के खिलाफ, यानी अँग्रेजों के हर प्रतीक के खिलाफ था।'[3] बिरसा मुंडा आदिवासी अधिकारों के एक अद्वितीय नायक, एक महान देशभक्त और छोटा नागपुर पठार के नायकों के लंबे उत्तराधिकार में एक शहीद के रूप में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। एक रचनात्मक प्रतिभा, जिसने मुंडा लोगों को उनकी राजनीतिक मुक्ति के लिए एकजुट किया और उनके भीतर राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया।

धरती आबा नाटक में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना

यह नाटक बिरसा मुंडा के उलगुलान के जरिए एक युगबोध का स्मरण कराता है और जनजातीय समुदाय के जीवन, धार्मिक अंधविश्वास और जुल्म को भी रेखांकित करता है। यहाँ राष्ट्रीय चेतना और अस्तित्व संघर्ष के दृश्य दृश्यांकित है। 'धरती आबा' एक विशिष्ट प्रकार की नाट्य कृति है। इस नाटक के कथ्य से कहीं अधिक इसकी अभिव्यक्ति-शैली में स्थानीयता का ताना-बाना ऐसा गुँथा हुआ है कि इसे भिन्न प्रकार प्रदान करती है। एक अंतर्यात्रा से नाटककार ने एक अंतदृष्टि अर्जित की, जिसकी वजह से वह आदिवासी समाज और उनके जीवन की समस्याओं के मूल बिंदु तक पहुँचने में समर्थ हुआ। बिरसा मुंडा आदिवासी समुदाय और उसने अन्याय और शोषण के साथ बिता रहे अपने जीवन में बराबरी लाने हेतु लगातार संघर्ष करते रहे। इस संघर्ष में कामयाबी हासिल करना एक दुर्लभ काम था जो बिरसा मुंडा ने इस कमजोर से दिखाई देने वाले आदिवासी समुदाय मे पूरा कर दिखाया। इनके आंदोलन से ब्रिटिश हुकूमत के किले की नींव हिलने लगी। आदिवासी दोहरी गुलामी भोग रही थे। उधर बिरसा मुंडा और उसके साथी स्थानीय स्तर पर दोनों (स्थानीय जमींदारों और अँग्रेजी सत्ता) से लड़ रहे थे। उन्होंने आदिवासी समुदाय को लामबंद किया और औपनिवेशिक अधिकारियों को उनके जमीन के स्वामित्व की रक्षा करने वाले कानूनों को पेश करने के लिए मजबूर किया। 'बिरसा को भगवान बतलाया जो स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, एक शहीद और एक नेता थे और जिन्होंने बाहरी शासकों द्वारा अपने निहित स्वार्थों के कारण सृजित दमनकारी भूमि व्यवस्था में पिसते हुए मुंडाओं के हितों के प्रश्न पर बहादुरी के साथ विद्रोह का झंडा उठाया और अपने लोगों को कष्टों और विपदाओं से बचाने के लिए एक मानवीय अभियान का नेतृत्व किया।'[4]

यह ऐतिहासिक रूप से तथ्यात्मक सच है कि सन् 1857 के विद्रोह से काफी पहले ही जनजातियाँ और उनके नेता औपनिवेशिक ताकतों के खिलाफ विद्रोह में उठ खड़े हुए थे। भारत भर में, संथाल, कोल, हो, पहाड़िया, मुंडा, उरांव, चेरो, लेपचा, भूटिया और पूर्व में भुइयां जनजाति, खासी, नागा, अहोम, मीमारिया, अबोर, न्यिशी, जयंतिया, गारो, पूर्वोत्तर में मिजो, सिंघपो, कुकी और लुशाई, दक्षिण में पदयागर, कुरिच्या, बेदा, गोंड और ग्रेट अंडमानी, मध्य भारत में हल्बा, कोल, मुरिया, कोई और डांग भील, मैर, नाइका, कोली, मीना और पश्चिम में दुबला ने अँग्रेजों पर लगातार और क्रूर हमले किए। इसी क्रम में 'बिरसा मुंडा ने घोषणा की कि वह पृथ्वी-पिता (धरती आबा) है। उसके अनुयायियों ने भी उसे इसी रूप में माना। उसने अपने को भगवान का दूत भी बतलाया।'[5] ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक और जनजातीय लोगों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के मिशनरियों के प्रयासों के बारे में जागरूकता प्राप्त करने के बाद, बिरसा ने 'बिरसैत' की आस्था शुरू की। जल्द ही मुंडा और उरांव समुदाय के सदस्य बिरसैत संप्रदाय में शामिल होने लगे और यह ब्रिटिश धर्मांतरण गतिविधियों के लिए एक चुनौती बन गया। 'मिशनरियों को स्थापित करने के परिप्रेक्ष्य में तर्क दिया कि इन्हें सभ्य और शिक्षित बनाना है। किंतु ये दलीलें तब झूठी सिद्ध हो गईं, जब संस्कृति और धर्म बदलने के ये कथित उपाय अँग्रेजी सत्ता के लिए चुनौती बनने लगे। स्वतंत्रता आंदोलन की पहली चिंगारी इसी दमन के विरुद्ध आदिवासी क्षेत्रों में फूटी।'[6]

बिरसा मुंडा आंदोलन भारत में सभी जनजातीय आंदोलनों का शिखर था। 'बिरसा मुंडा का उलगुलान बाहरी लोगों के हाथ से अपनी भूमि वापस लेने की लड़ाई की एक कड़ी रहा है, जिसकी शुरुआत इन आदिवासियों के पूर्वजों ने की थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि बाहरी शोषकों के खिलाफ आदिवासियों ने अपने इन आंदोलनों में बढ़कर भागीदारी की। कोल संघर्ष के तत्पश्चात्

जमींदार, ठेकेदार आदि दिकुओं ने नए कानून और इसके संरक्षण से बड़ी मात्रा में आदिवासियों को उनकी परंपरागत जमीन से बेदखल कर दिया था। कोल संघर्ष को कुचलने में लगे अँग्रेज अफसर कैप्टन विल्किंसन ने बिरसा के पूर्वजों से कई गाँवों को छीनकर उन्हें बेदखल कर उनका मानकी पद छीन लिया था। इसके खिलाफ बिरसा मुंडा ने आंदोलन किया, जिसे उलगुलान की संज्ञा दी गई।'[7]

'हम दखल करेंगे! एक साथ हम पूरे देश भर में लड़ेंगे! आज से इस लड़ाई का नाम होगा– उलगुलान!'[8]

'मुंडाओं की भूमि छीनी गई। जमीन हथियाने वाले मुंडाओं की जमीन वापस देने से मना कर दिया। इन्हीं विस्थापित मुंडाओं ने सरदार आंदोलन की नींव डाली।'[9] आदिवासी जंगल, झाड़ी, पहाड़ और नदियों से दूर नहीं रह सकता। इनको बचाने के लिए वह सदियों से लड़ाई लड़ रहे हैं। बिरसा ने इस शोषण–दमन के खिलाफ पहले से संघर्षरत मुंडाओं को भी अँग्रेजों के खिलाफ लड़ने का आह्वान किया। 1795 से ही संथाल परगना में अपने धरोहर–अस्तित्व बचाने हेतु संघर्ष अपने चरम पर थे। अब तक उनके मन–प्राण में पराधीनता से मुक्ति की बारूदी इच्छाएँ दहक रही थीं। समूचा संथाल परगना का इलाका 'हूल–उलगुलान' के नगाड़े से डोल रहा था।

बिरसा : और तुम उसके पहले भी लड़ते रहे हो। बोलो, क्यों लड़ते रहे हो?

धानी : अपने लोगों के लिए। जंगल हमारे थे...नदियाँ हमारी थीं..धरती हमारी थी। दिकू आए,...जमींदार आए,...मिशन आया...चर्च आया,...अँग्रेज आए,...सिपाही आए. ..कचहरी आई। सब पसरते गए और हम मुंडा लोग अपने पैर सिकोड़ते रहे। संथालों के साथ भी यही हुआ। उन्होंने हूल किया। मैं भी गया था हूल में लड़ने। सिंधू–कानून के लोगों के साथ मिलकर लड़ता रहा मैं।'[10]

बिरसा औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति को उसके व्यापक संदर्भ में देखने के आग्रही थे। जनजातीय क्षेत्रों में पराधीनता से मुक्ति का भाव जगाना उस समय का महत्त्वपूर्ण कार्य था।

बिरसा : कौन खदेड़ रहा है?

भरमी : सरकार...साहेब...सिपाही, सब मिलकर खदेड़ रहे हैं।

धानी : वे कहते हैं कि अब जंगल का कानून लागू हो गया है। पलामू... सिंहभूम... मानभूम, हर जगह एक ही कानून रहेगा।

बिरसा : कानून नया तो नहीं। पुराना है। सन् अट्ठारह सौ अठहत्तर का कानून है।'[11]

इतिहास के हर समय में आदिवासियों ने अपना यह इरादा व्यक्त किया है कि उनकी आदिम और अटूट आकांक्षा स्वशासी समाज है, जिसमें उनकी संस्कृति और विविधतापूर्ण जीवनशैली को निरंतर बनाए रखा जा सके। बिरसा के आंदोलनों की खास बात यह है कि इसने जंगल और जमीन के पहलू को हमेशा एजेंडा में प्रमुखता रखा था। बिरसा के उलगुलान में देशज मान्यताएँ प्रमुखता से उभरकर सामने आती है। ग्राम स्वशासन प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए बिरसा आजीवन संघर्ष करते रहे।

बिरसा : माँ..माँ..ये जंगल मेरे हैं। ये धरती मेरी है माँ। ये नदियाँ...ये पहाड़, सब मेरे हैं। मैंने धानी बूढ़े से वायदा किया है कि इन्हें छीनकर वापस लाऊँगा। मुंडाओं को अपने गाँवों से बेदखल नहीं होने दूँगा।[12]

अपने आंदोलन से बिरसा मुंडा ने अपने समुदाय के लोगों के मन में गहरी पैठ बना ली थी। एक तरफ तो उन्होंने अपनी जनजातीय पहचान को मजबूत किया और दूसरी तरफ उसे भारतीय

चिंतनधारा से जोड़ा और भारतीयता को मजबूती प्रदान की। धरती आबा की संज्ञा भी उनके राष्ट्रबोध को अभिव्यक्त करती है। वस्तुत: उस समय के समाज को ब्रिटिश हुकूमत और स्थानीय जमींदारों के खिलाफ लामबंद करना और जनजातीय समुदाय की सोच में परिवर्तन लाना धरती आबा के उलगुलान की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है।

करमी : मेरे आबा, पर वे तुझे जिंदा नहीं छोड़ेंगे।..मार डालेंगे।...तुम्हें भगवान बनना पड़ेगा। वे तुम्हें बहुत दुख देंगे। दुख सहने के लिए भगवान बनना पड़ता है मेरे आबा। इस धरती का आबा बनना पड़ेगा तुम्हें। बिना धरती का आबा बने, धरती की लाज नहीं ढक सकता कोई।[13]

बिरसा ने अँग्रेजों को अपने जंगल से खदेड़ दिया था। जिस जंगल-जमीन को बिरसा मुंडा अँग्रेजों तथा जमींदारों से मुक्त कराना चाहते थे, बिरसा उन जंगलों में घूम-घूमकर लोगों को 'उलगुलान' के लिए तैयार कर रहे थे। बिरसाइत, बिरसा की संघर्षशील चेतना के लिए, डोंबारी बुरू और सोनुआ के जंगलों में आज भी 'जंगल-जमीन हमारा है, इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है', का नारा गूँज रहा है। बिरसा का आंदोलन अँग्रेजों की हर चालबाजी का डटकर मुकाबला करता है।

बिरसा : सुनो, अब सुनो मेरी बात। सारे मुंडा गर्दन तक मुसीबत में धँसे हुए हैं। दिकुओं ने मुंडाओं को उधार-करजा-जेहल-कचहरी के चक्कर में फाँसकर रखा है। अब इस हर फाँस को अपने गले से निकालकर बाहर फेंकना होगा। अब हम किसी को कोई लगान नहीं देंगे...कोई सूद नहीं भरेंगे...खेती गिरवी रखकर कोई मुंडा अनाज उधार नहीं लेगा। उधार-कर्ज एकदम बंद। कुली बनने के लिए जंगल छोड़कर कोई चायबगान नहीं जाएगा। अब मुंडा कोयला के खानों में घुसकर कोयला निकालते हुए जान नहीं देगा। सारे बाहरी लोगों को, अँग्रेज हो या दिकू-महाजन, हम जंगल से भगा देंगे। सारे जंगल ले लेंगे। ये जंगल हमारे हैं।'[14]

बिरसा का अँग्रेजों के खिलाफ लड़ाई अपने मूल रूप में मानवीय है जो न केवल ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति के लिए संकल्पित है अपितु शोषण के विविध रूपों को नकारते हुए उलगुलान के जरिए मुंडा समाज को संगठित भी करता है। सम्मान, गरिमा और समानता के साथ-साथ एक राष्ट्रभाव इनके उलगुलान का उज्ज्वल पक्ष है।

बिरसा ने डेरा डाल दिया
जोजोहातु पर डेरा डाला
सलीहातु में डेरा डाला
डोंबारी पहाड़ पर डाल दिया
डेरा डाल दिया
काँपे अँग्रेज काँप गई पुलिस।[15]

बिरसा मुंडा डुंबारी पहाड़ पर चढ़कर उलगुलान का आह्वान करता है। अपने अस्तित्व, स्वायत्तता और देश की रक्षा करने का संकल्प लेते हुए आगे बढ़ते हैं। 'फिलहाल आज के झारखंड के आदिवासियों के इतिहास में जाकर जब हम बींसवी सदी के एक नायक जतरा भगत के नेतृत्व में हुए आजादी के संघर्ष को देखते हैं तो हम पाते हैं कि ऐसे कई चेहरे थे, जो विभिन्न स्थानों पर अपनी-अपनी तरह ब्रिटिश निरंकुशता के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे थे। इनमें से कई लोग अपने स्थानों पर भगवान के अवतार के रूप में पूजे जाते थे। यह स्वाभाविक लगता है कि इस तरह के

लोग, जो राष्ट्रीय असमानता के विरुद्ध सामान्य-जन को अपने साथ लेकर संघर्ष करते हैं और इससे कुछ सफलता भी प्राप्त करते हैं, भगवान के रूप में (जीवित भगवान) देखे जाते हैं।'[16] इसी संदर्भ में लोग बिरसा मुंडा को 'धरती आबा' की तरह याद करते हैं।

निष्कर्ष–'धरती आबा' नाटक राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत जनजातीय जीवन संघर्ष का फलसफा पेश करता है। एक बसी-बसाई दुनिया, एक पूरी जीवन-प्रणाली, अपनी सांस्कृतिक विरासत और सबसे बढ़कर राष्ट्रीय चेतना का एहसास इस नाटक के केंद्र में है। राष्ट्रीय चेतना और बिरसा मुंडा के विभिन्न आयामों, इसकी जद में आए समुदायों, व्यक्तियों के मनोविज्ञान को समझने के लिए यह महत्त्वपूर्ण नाटक है। 'धरती आबा' नाटक पाठक को राष्ट्रीय चेतना के अर्थ का एक नया विस्तार देता है और आदिम जनजाति समुदाय के जीवन संघर्ष, परेशानी और राष्ट्रीय चेतना के भाव को उद्घाटित करता है।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ॰ 25
2. सुरेश कुमार सिंह, उलगुलान, बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ॰ 19-20
3. रमणिका गुप्ता, एक क्रांति की पड़ताल, जनसत्ता, 6 मई 2007, पृ॰ 3
4. सुरेशकुमार सिंह, बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 20
5. वही, पृ॰ 69
6. प्रमोद भार्गव, सहरिया आदिवासी : जीवन और संस्कृति, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, 2021, पृ॰ 2
7. बिरसा का विद्रोह, हेराल्ड एस तोपनो, झारखंड अस्मिता के आयाम (संपा॰ हरिवंश, फैसल अनुराग), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2009, पृ॰ 133
8. हृषिकेश सुलभ, धरती आबा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 70
9. सुरेशकुमार सिंह, उलगुलान, बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ॰ 16
10. हृषिकेश सुलभ, धरती आबा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 23
11. वही, पृ॰ 27
12. वही, पृ॰ 33
13. वही, पृ॰ 35
14. वही, पृ॰ 46
15. वही, पृ॰ 88
16. विजयपाणि पांडेय, छोटा नागपुर के टाना भगत, (अनुवाद, धनंजय चोपड़ा), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, 2022, पृ॰ 2-3

Plot No.58, 2nd Floor, Pocket-6,
Sector - 21, Rohini, Delhi 110086
Mob. 9910272879
bannaramanshu@gmail.com

हिंदी सिनेमा में वृद्ध जीवन

बेलमती पटेल, शोधार्थी
शास॰ विश्वनाथ यादव तामस्कर स्नातकोत्तर
स्वशासी महाविद्यालय, दुर्ग (छ॰ग॰)
डॉ॰ अर्चना झा, शोध-निर्देशक, सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
श्री शंकराचार्य महाविद्यालय, जुनवानी, भिलाई (छ॰ग॰)

सिनेमा एक ऐसा दृश्य माध्यम है जो दर्शक के सामने संपूर्ण दृश्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करती है। साहित्यकार जो लिखता है वह एक अदृश्य बिंब होता है जिसे पाठक अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा मस्तिष्क में उभारता है। किसी प्रकरण को सुनकर और पढ़कर पाठक या श्रोता की जो अनुभूति अधूरी रह जाती है उसे पूरा करने का कार्य करता है–सिनेमा। इस प्रकार साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक हैं। साहित्यकार अपने सृजित पात्रों के मनोभावों की गहराई में शब्दों के माध्यम से उतरता चला जाता है जबकि सिनेमा में प्रत्येक चरित्र के मनोभावों को प्रकट करने के लिए उसके चेहरे के हाव-भाव को केंद्र में रखना पड़ता है। 'साहित्य और सिनेमा दोनों ही कलाओं का एक-दूसरे से परस्पर संबंध है और यह दोनों विधाएँ साथ मिलकर समाज सुधार की भूमिका निभाती हैं तो निश्चित ही देश का सामाजिक स्तर विकसित होगा। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि सरकारी एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर ऐसी कोशिश की जानी चाहिए कि सिनेमा आधुनिक तकनीक वाली साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो सके और समाज निर्माण में उसकी भी अहम भूमिका बने। क्योंकि सिनेमा माध्यम का करोड़ों लोगों के जीवन पर असर पड़ता है।'[1] सिनेमा और साहित्य दोनों में ही हर वर्ग के जीवन प्रसंगों को दिखाया जाता है। 'कहा जाता है कि जिस देश का जैसा साहित्य होगा वैसा वहाँ का समाज बनेगा। आज के परिदृश्य में कह सकते हैं कि जिस देश का सिनेमा जैसा होगा वैसा वहाँ का समाज बनेगा।'[2]

यहाँ हम बात करेंगे वृद्ध समुदाय की, जिन पर कम संख्या में ही सही पर साहित्य लेखन के साथ फिल्में भी बन रही हैं और इनकी ओर समाज का ध्यान आकर्षित कर रही हैं। सिनेमा में मनोरंजन तो होता ही है पर समाज में व्याप्त समस्याओं को दिखाना जोखिमपूर्ण कार्य होता है। ऐसी फिल्में ज्यादातर पैसे नहीं कमा पातीं इसलिए अधिकतर लोग ऐसी जोखिम उठाना पसंद नहीं करते। ऐसी समस्याओं को फिल्मों के जरिए समाज के समक्ष लाने के लिए निर्माता एवं निर्देशक दोनों का साहस सराहनीय है।

फिल्मों में परिवारिक कहानी शुरू से लेकर आज तक चली आ रही है और जहाँ परिवारिक कहानी है वहाँ वृद्धों का अपने बच्चों को पाल-पोषकर बड़ा करना एवं उन्हीं बच्चों से तिरस्कृत होना अक्सर दिखाया जाता है। कुछ बूढ़े अपने जिद्दी एवं अक्खड़पन में अड़े हुए भी दिखाए जाते हैं जो चाहे किसी भी प्रकार का परिवर्तन हो स्वीकार नहीं कर पाते। वृद्धों की अलग-अलग मनोवृत्तियों के कारण कई वृद्ध उपेक्षित एवं कई उच्छृंखल, अक्खड़ एवं चिड़चिड़े होते हैं। ऐसी फिल्मों में प्रमुख रूप से अवतार (1983), रूई का बोझ (1997), अमृत, पीकू (2015),

मुक्तिभवन (2017), बागवान (2003), टॉयलेट, 102 नॉट आउट (2018), शर्मा जी नमकीन (2022)आदि है। इनके अलावा और भी बहुत सारी ऐसी फिल्में हैं जिनमें आंशिक रूप से वृद्धों के जीवन को अलग-अलग रूप में दिखाया गया है। सिनेमा में कुछ ही समय में किसी के पूरे जीवन के सुख-दु:ख को एक साथ क्रम से देखकर कोई बिरला ही होगा जिसका मन न पसीजे।

वृद्धों पर फिल्मों की बात जहाँ हो वहाँ फिल्म 'अवतार' और 'बागवान' का जिक्र किए बिना यह अधूरा ही लगेगा। औलाद अपने स्वार्थ में इतना अंधी हो जाती है कि माँ-बाप के त्याग और तपस्या को नजरअंदाज कर देती है। जब तक उनकी जरूरत होती है। सामान की तरह उपयोग करके जरूरत खत्म होने पर टूटे-फूटे बेकार सामान की तरह उन्हें त्याग दिया जाता है। इन दोनों ही फिल्मों में हम इस स्थिति से परिचित हो सकते हैं। बागवान में राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) का यह कहना 'आज की पीढ़ी बड़ी होशियार और प्रैक्टिकल हो गई है। उनके लिए हर रिश्ता एक सीढ़ी की तरह है, जिस पर पाँव रखकर के वो आगे निकल जाते हैं और जब उस सीढ़ी का कोई इस्तेमाल नहीं करता है तो उसे घर के टूटे कुर्सी-मेज, टूटे-फूटे बर्तन, फटे-पुराने कपड़े, कल के अखबार की तरह रद्दी समझकर किसी कबाड़खाने में फेंक देते हैं।'[3] यह कथन आज की पीढ़ी को चरितार्थ करता है।

राजेश खन्ना द्वारा अभिनीत फिल्म 'अवतार' आधुनिक समाज का आईना है। संतान के लिए मनौती माँगते हुए, दिन-रात एक कर, आधा पेट भोजन कर संतान का पेट भरने वाले माँ-बाप केवल आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए होते हैं, आवश्यकताएँ खत्म होते ही घर से समान की तरह निकाल फेंका जाता है। इस फिल्म में भी कार मैकेनिक अवतार किशन और राधा बच्चों के उच्च शिक्षा एवं अच्छे भविष्य हेतु दिन-रात एक कर मेहनत करते हैं। बहुत दिन तक न सोने के कारण काम करते समय अवतार का हाथ कट जाता है और वह एक हाथ से सदा के लिए अपाहिज हो जाता है। संतान नालायक निकले तो कितनी भी अच्छी परवरिश हो, काम नहीं आती। अवतार का बड़ा बेटा घर पत्नी के नाम करवा लेता है, पिताजी की बीड़ी-तंबाकू तक बंद करवा देता है और छोटा बेटा अपनी प्रेमिका के घर घरजमाई बन जाता है। अवतार किशन और राधा बेघर हो जाते हैं। उनका नौकर सेवक सदैव उनके साथ रहते हुए बेटे का फर्ज निभाता है। सेवक के साथ अवतार अपनी हुनर द्वारा सफलता के ऊँचाइयों को छूता है। वह अपने दोस्त राशिद और आसपास के वृद्धों के जीवन दशा को देखकर सोचता है-'इस धरती पर जाने कितने अवतार किशन हैं, कितने राशिद हैं। ये एक समस्या है, एक मशला है।'[4] एक वृद्धाश्रम अपना घर नाम से शुरू करता है और कहता है-'दोस्तो, ये सराय अनाथाश्रम नहीं है, ये अपना घर है, हमारा घर है। जज्बाती रिश्तों का एक ठिकाना है। ये उन लोगों के लिए है, जो रिश्ते-नातों के भीड़ में रहते हुए भी अकेले हैं। ये घर उन लोगों का नहीं है जो जमाने के ठुकराए हुए हैं, बल्कि ये घर उन लोगों का है, जो अपनों के ठुकराए हुए हैं।'[5] उसमें सभी दु:खी वृद्ध खुशी से साथ रहते हैं। अय्याशी में सब-कुछ खोकर उनके बेटे वापिस माँ-बाप के पास लौट आते हैं पर अवतार माफ नहीं कर पाता और उसे हृदयाघात हो जाता है। अंत में वसीयत लिखकर और सभी शहरों में वृद्धाश्रम की अंतिम इच्छा के साथ अवतार की मृत्यु हो जाती है। ऐसे कितने ही परिवार हैं जहाँ माता-पिता के स्नेह, और ममता को उनके फर्ज का नाम देकर संतान अपने फर्ज से मुकर जाते हैं और वृद्ध माँ-बाप दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर एवं निस्सहाय होते हैं।

'रूई का बोझ' फिल्म भी ऐसी ही कहानी है। घर में हो रहे झगड़े को देखते हुए जमीन जायदाद के बँटवारे के साथ पिता का भी बँटवारा होता है और पिता किशुनशाह छोटे बेटे के साथ छ: बीघा जमीन के साथ रहने लगता है। बागवान के विपरीत सब-कुछ बाँट देने के पश्चात खाली

हाथ हो चुका किशुन शाह दूसरे बूढ़ों की स्थिति को देख सुनकर ऐसी भावना मन में पाल लेता है कि अगर अब वह अपने बेटे-बहू के सहारे है तो उसकी जिंदगी नरक बन जाएगी। वह समझने और समझौता करने को तैयार ही नहीं। इस पर माधो भगत उनको समझाते हैं कि 'बूढ़ा बाप रूई का बोझ होता है। शुरू-शुरू में भारी नहीं लगता लेकिन बढ़ती उम्र का हर पल उसे भिगोता जाता है और बूढ़ा बाप पानी खाए गट्ठे की तरह होता जाता है—भारी, और भारी, और भारी। जिसे हर बेटा अपने सर से उतारकर फेंक देना चाहता है।'[6]

बूढ़ा होते ही शरीर जवाब देने लगता है। पाचनशक्ति कम होती जाती है, शरीर के अंग ढीले पड़ जाते हैं जिससे नियमित क्रियाकलाप भी नियंत्रित नहीं रह पाता। परिवार के बाकी सदस्य इस बात से परेशान होकर खाने-पहनने तक नियंत्रित करना चाहते हैं परंतु बुजुर्गों को यह मंजूर नहीं होता। इन सब से खीझकर किशुनशाह कहते हैं, 'बुढ़ापे में खाओ मत, पीओ मत, पहनो मत इस दुनिया में पहली बार किशुनशाह ही तो बूढ़ा हुआ है। तुम सब बूढ़े नहीं होगे।'[7] वृद्ध अक्सर मन में वृद्धों के प्रति होने वाले व्यवहार का पूर्वाग्रह लेकर जीते हैं और हर छोटी-बड़ी बात उन्हें उनके विरुद्ध प्रतीत होती हैं।

फिल्म बागवान ऐसी कहानी है जो वर्तमान पारिवारिक जीवन में बुजुर्गों की स्थिति को शत-प्रतिशत दर्शकों के सामने उकेरकर रख देती है। जिन बच्चों के भविष्य सँवारने में माँ-बाप ने पूरा जीवन बिता दिया उन्हीं संतानों की स्वार्थपरता, भौतिकवादिता और एकल परिवार की चाहत इस फिल्म बागवान में दिखलाई पड़ती है। पिता राज मल्होत्रा (अमिताभ बच्चन) सेवानिवृत्ति पश्चात जब चारों बच्चों के साथ रहने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो चारों बेटे और बहुओं को उनकी उपस्थिति मुसीबत लगने लगती है। जीवनसाथी की जरूरत बुढ़ापे में ही सबसे ज्यादा होती है, यह भी इस फिल्म में चित्रित है। वृद्धावस्था में ही अकेलापन और सुख-दुःख बाँटने हेतु साथी की भावनात्मक सहारे की आवश्यकता पड़ती है, पर युवाओं को लगता है कि बुढ़ापे में पति-पत्नी का साथ रहना आवश्यक नहीं। अगर रहें तो वो उच्छृंखलता समझी जाती है। इस फिल्म में बेटों द्वारा माता-पिता को छह-छह महीनों के हिसाब से बाँट लिया जाता है। कालांतर में दोनों वृद्ध पति-पत्नी को बहुत दुःखों का सामना करना पड़ता है। अपने दोस्त के कहने पर राज मल्होत्रा अपनी पूरी जीवनकथा लिखता है और वह एक किताब के रूप में प्रकाशित होती है। पाठकों का स्नेह उन्हें मिलता है और उनकी किताब सफलता की ऊँचाइयों को छूने लगती है। इस सफलता की बात सुनकर झूठी माफी के बहाने उनके स्वार्थी बच्चे उनके पास आते हैं पर उन्हें माफी नहीं मिलती। अंत में पिता राज मल्होत्रा का ये कहना कि 'जिन बच्चों के खुशियों के लिए एक बाप अपनी मेहनत की पाई-पाई हँसते-हँसते उन पर खर्च कर देता है, वही बच्चे जब बाप की आँखें धुँधली हो जाती है तो उन्हें कतरा भर रोशनी देने से क्यों कतराते हैं। एक बाप अगर अपने बेटे की जिंदगी का पहला कदम उठाने में उसकी मदद कर सकता है तो एक बेटा अपने बाप के आखिरी कदम उठाने में उसे सहारा क्यों नहीं दे सकता।'[8] पिता का यह कथन मर्मस्पर्शी है जो मन को झिंझोड़कर रख देता है।

सेवानिवृत्ति के पश्चात् जहाँ बुजुर्ग बोझ लगने लगते हैं वहीं एक और समस्या सामने आती है कि वे अपना खाली समय कैसे व्यतीत करें? कुछ छोटा-मोटा व्यापार करना चाहें तो परिवार का विरोध, 'दुनिया क्या कहेगी' समाज का डर सताने लगता है। उनका जीवन उदासीनता और मानसिक असंतुष्टि में बीतने लगता है। ऐसी ही कहानी पर हाल ही में एक फिल्म बनी है—शर्मा जी नमकीन।

इस फिल्म के नायक शर्मा जी ईमानदार, मेहनती और उत्साही व्यक्ति हैं। पत्नी के देहांत के पश्चात अथक मेहनत करते हुए अपने दोनों बच्चों को पाल-पोसकर बड़ा करते हैं। सेवानिवृत्ति

के बाद घर में बच्चों के लिए खाना बनाकर, घर का काम करके, टीवी देखकर समय बिताने की पूरी कोशिश करते हैं पर ये काफी नहीं होता। शर्मा जी का दोस्त कहता भी है 'रिटायर्ड लाइफ ऐसी ही होती है, स्लो और लंबी। लग जाएगी आदत।'[9] अगर व्यक्ति शारीरिक रूप से स्वस्थ हो तो 65 वर्ष में उसे बुढ़ापा छू नहीं सकता। यही हाल है शर्मा जी का। वे कहते हैं 'क्या दिमाग काम करना बंद कर देता है 58 में? अमिताभ बच्चन अभी तक एक्टिंग कर रहे हैं, 78 के हैं और ये टाटा बिरले अंबानी घर बैठ गए 58 में?'[10] शर्मा जी खाना बनाने में सिद्धहस्त हैं। दोस्तों के कहने पर कोई चाट का ठेला खोलकर ही सही समय बिताने के साथ कुछ कमा लेना भी चाहते हैं जो उनके बेटों को मंजूर नहीं। अपने दोस्त के जरिए उन्हें एक मौका मिल ही जाता है खाना बनाने का। धीरे-धीरे उनको बहुत सारे ऑर्डर मिलने लगते हैं। जिनका ऑर्डर मिलता है वे किट्टी पार्टी करने वाली महिलाओं का होता है, जो वे गुप्त रूप से ही पूरा करते हैं। इस तरह उनको बहुत सारे साथी मिल जाते हैं और उनके अकेलेपन की समस्या का इस तरह निदान हो जाता है। व्यक्ति चाहे तो हर हाल में खुश रहने का जरिया ढूँढ सकता है आवश्यकता है तो बस उत्साह और मनोबल की।

उत्साह जीवन की अवधि बढ़ा देती है और हतोत्साहित व्यक्ति अवधि से पहले ही जीवन हार बैठता है। ऐसी ही कहानी फिल्म 102 नॉट आउट में दिखाई गई है। इस फिल्म में 75 वर्षीय पुत्र जो अपनी उम्र के अनुसार स्वयं को वृद्ध मानकर जीवन के प्रति अपनी दृष्टि संकीर्ण कर चुका है और 102 वर्षीय पिता जो इस उम्र में भी अपने आपको मन से जवान और तंदुरूस्त स्वयं को 26 वर्ष का मानता है। पिता हर पल का रस लेकर जीने वाला और बेटा उदासीन और नीरस। इस फिल्म में ऐसी इनकी जोड़ी को दिखाया गया है।

बाप बूढ़ा तब हो जाता है जब उसके अपने बच्चे उसे नकारकर आगे बढ़ जाते हैं। मन से टूटे और थके हुए व्यक्ति को जीवन अँधेरा ही नजर आता है। जीवन के सारे रंग बेरंग से हो जाते हैं। ऐसी ही हालत इस फिल्म में बाबूलाल वखारिया की है। 30 वर्ष पहले पढ़ने के नाम पर विदेश गया बाबूलाल का बेटा अमोल नौकरी लगने के बाद वहीं शादी कर लेता है और बच्चे होने पर भी हर बार I hope you understand कहकर एक बार भी घर नहीं आता है। पुत्र बिछोह में माँ अल्जाइमर से ग्रसित होकर मर जाती है। उसकी अस्थियाँ भी सालभर बेटे की राह देखते-देखते थककर प्रवाहित कर दी जाती हैं, पर बेटा कभी नहीं आता। बेटे के इंतजार में गमगीन जीवन जीने वाले अपने बेटे को 102 वर्षीय पिता दत्तात्रेय खुशमिजाज बनाना चाहते हैं, जीना सिखाना चाहते हैं इसलिए बाबूलाल जैसे बोरिंग और उदास बूढ़े व्यक्ति को वे वृद्धाश्रम भेजने की घोषणा कर देते हैं। अक्सर पुत्र पिता को वृद्धाश्रम भेजते हैं इसलिए दत्तात्रेय कहते हैं, 'एक पुत्र को वृद्धाश्रम भेजने वाला मैं दुनिया का पहला बाप होऊँगा।'[11] अपने बिस्तर, चादर और परदे को भी कभी न बदलने वाला बाबूलाल वृद्धाश्रम जाने की बात से डर जाता है और पिता की हर शर्त मानने को प्रस्तुत हो जाता है जिसमें उसे प्रेम-पत्र लिखने से लेकर जन्मदिन, शादी की सालगिरह, अपने बचपन का गार्डन घूमना ये सब यादों को जीना होता है। घड़ी और दवाई के सहारे मशीन जैसे जीवन व्यतीत करने वाले बाबूलाल शर्तों को पूरा करते हुए फिर से जीने लगता है। माँ-बाप होते ही ऐसे हैं, अपनी औलाद के लिए कुछ भी कर सकते हैं। भले ही बाबूलाल का बेटा माँ-बाप को भूल चुका है पर बाबूलाल एक सज्जन बेटा है, पिता का कभी तिरस्कार नहीं करता। अपने बूढ़े बाप की हर बात को मानता चला जाता है। यहाँ बाबूलाल और दत्तात्रेय दोनों ही पिता हैं और अपनी संतान का सुख चाहते हैं। जब आखिरी शर्त पता चलती है तो बाबूलाल आग बबूला हो जाता है। दरअसल, जिस बेटे की

राह वह वर्षों से देख रहा है उसको देखते ही 'गेट आउट' बोलना अंतिम शर्त होती है क्योंकि अमोल पिता से मिलने नहीं बल्कि प्रॉपर्टी अपने नाम करवाने आ रहा है। माता-पिता दूर रह रहे अपने बच्चों को आखिरी समय में देखने और साथ रहने की भीख माँगते रह जाते हैं, बाबूलाल स्वीकार करता है, 'मैं भिखारी ही हूँ बाबूजी और मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि वर्षों से जिसकी मैं भीख माँग रहा हूँ वो रोटी अब मेरी कटोरी में गिरने वाली है।'[12] हमेशा ऐसा होता है कि संतान मोह में व्यक्ति पितृ त्याग कर देता है। यहाँ बाबूलाल भी दत्तात्रेय को गुस्से में बोल देता है कि मरने की उम्र में हम पिता-पुत्र को अलग कर रहे हो। अपने बेटे को कमजोर होते देख दत्तात्रेय 'उसके बेटे को मैं मेरे बेटे के सामने जीतने नहीं दूंगा।'[13] कहकर अपनी बीमारी और होने वाले मौत के बारे में बता देते हैं, जिससे बाबूलाल पिता की आखिरी शर्त भी पूरी कर देता है, वो भी अपनी इच्छा से। आखिरकार अपने को वृद्ध घोषित कर चुके बेटे का नजरिया बदलने में पिता दत्तात्रेय सफल होते हैं।

यह फिल्म दर्शकों को यह सिखाती है कि बढ़ती उम्र का असर मन-मस्तिष्क पर नहीं होने देना चाहिए। ये फिल्म बुजुर्गों को यह सीख देती है कि अगर आपकी संतान निकम्मी और निर्मोही है तो क्या हुआ, अपने लिए आप स्वयं हो। जितने दिन बचे हैं उन्हें व्यक्ति को स्वयं के लिए खुशी से जीना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त वृद्ध प्रधान फिल्मों अलग-अलग तरह से बुजुर्गों के प्रति समाज के नजरिए को बदलने एवं वृद्धावस्था को समझाने का प्रयास करती हैं। साथ ही वृद्धों को भी अपने प्रति हो रहे अन्याय के लिए सचेत करते हुए जिंदादिली से जीने को प्रेरित भी करती हैं। ऐसी फिल्मों को देखने के पश्चात युवावर्ग पूरी तरह से न भी सुधरे तो भी कुछ समय के लिए ही सही उन्हें उनकी गलती का एहसास जरूर होगा। उनका ये एहसास शायद वृद्धों के जीवन को बेहतर कर दे।

संदर्भ

1. साहित्य और सिनेमा, संपादक प्रो॰ पुरुषोत्तम कुंदे, पृ॰ 301
2. साहित्य और सिनेमा : बदलते परिदृश्य में संभावनाएँ और चुनौतियाँ, संपा डॉ॰ शैलजा भारद्वाज, भूमिका से
3. फिल्म बागवान, https //youtube/fg1qeelh0vka
4. फिल्म अवतार, https //youtube/51he5bnt07qe
5. वही
6. रूई का बोझ, https://youtube/dlfk¯ergis
7. वही
8. फिल्म बागवान, https //youtube/fg1qeelh0vka
9. फिल्म शर्मा जी नमकीन (2022)
10. वही
11. फिल्म 102 नॉट आउट (2022)
12. वही
13. वही

श्री रामकेशर कुंज
नया दीपक नगर, दुर्ग (छ॰ग॰) 491001
मो॰ 7000347913
shanti020581@gmail.com

ISSN 0975-735X

21वीं सदी के उपन्यासों में वैवाहिक स्थिति: समस्या और समाधान

ब्रजेश उपाध्याय

पुरुष-प्रधान समाज में आज भी स्त्री को एक तरफ पुरुष के 'पाँव की जूती' माना जाता है तो दूसरी तरफ धर्म-कर्म के कार्यों में पुरुष की सहयोगिनी। नारी को बचपन से ही शोषित होने का अहसास दिलवाया जाता है जिससे वह सारी उम्र संकुचित होकर जुल्म सहने के लिए तैयार रहे। निर्मला सिंह (अक्षम्य) के डॉ॰ वर्मा कुसुम को समझाते हैं, 'दरअसल, हमारे देश में औरत का जन्म ही एक अभिशाप है। कोई दहेज के पीछे, कोई बाँझ होने के कारण, कोई आदमी के बलात्कार का शिकार होकर, कोई आपकी तरह पुत्र न जन्मने के कारण घुट-घुटकर जी रही है।'

यह सब कानून, संस्कार व मनोविज्ञान पर प्रश्नचिह्न अंकित करते हैं कि पुरुष स्वतंत्र है, अपनी इच्छा का मालिक है और नारी निर्मात्री है तब भी गुलाम है दासी है, छि: घृणा होती है, ऐसे समाज से 'कहते हुए डॉ॰ वर्मा के स्वर मद्धिम हो गए और नेत्र सजल।'[1]

भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियाँ हैं जो आजादी का अर्थ नहीं जानतीं। उनके पास न अपनी जमीन है, न ठिकाने को घर। ये जातियाँ सभ्य समाज में घृणा के पात्र हैं और पुलिस के अत्याचार का सबसे आसान शिकार। स्वतंत्रता के पश्चात, इन जातियों को भी समाज में नागरिकता का अधिकार दिया गया लेकिन रोजगार का कोई साधन नहीं दिया गया। इस कारण इस जाति के पुरुष अपराधकर्म में और स्त्रियाँ देहव्यापार में लिप्त हो रही हैं। मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' में इस कटु यथार्थ को बड़ी गहरी संवेदना व जबरदस्त सर्जनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। कबूतरा जाति में औरत को गिरवीं तक रखा जाता था। दुर्जनसिंह अल्मा को धमकाते हुए बोला, 'अल्मा तू गिरवीं धरी है, समझे रहना भला। इसमें बुराई भी नहीं। हम कबूतराओं में तो यह चाल-चलन रहा है। जेवल-गहनों-बासन और बेटी मुसीबत के समय काम आते हैं। अब तू मेरी खरीदी हुई..।'[2]

आज के सभ्य और सुसंस्कृत समाज में अनपढ़ औरत का शोषण ही नहीं पढ़ी-लिखी औरत का भी शोषण होता है। 'कमलिनी कौल' की 'तृषिता' में पूनम एक कामकाजी महिला है। महीने का आठ हजार कमाते हुए वह पहले माँ द्वारा शोषित होती है। जब वह पूरी तनखा लाकर माँ के हाथ में रखती है तो उसकी माँ उसी के वेतन में से उसको दो सौ रुपया देते हुए कहती है-'पूरा मास इसी से निकालना। एक पैसा भी और नहीं दूँगी।'[3]

अंतर्जातीय विवाह अपनी जाति से भिन्न जाति से स्थापित किया जाने वाला स्त्री-पुरुष का संस्कारित संबंध है। अंतर्जातीय विवाह जातिगत विवाह के नियमों के विरुद्ध है। जातिगत विवाह में अपनी ही जाति में विवाह करने का विधान होता है। जातिगत विवाह का प्रचलन आज समाप्त हो रहा है। अंतर्जातीय विवाह आज के युग की आवश्यकता है। अंतर्जातीय विवाह प्रेम पर आधारित होते है। अधिकांशत: देखा जाता कि प्रेम-संबंध अंतर्जातीय ही होते हैं। अंतर्जातीय विवाह को आज

हमारे समाज में सामाजिक तथा कानूनी दोनों रूपों से पर्याप्त मान्यता मिल चुकी है। अंतर्जातीय विवाह को हिंदी उपन्यासों में भी स्थान मिला है। 'वेणीमाधव रामखेलावन' के (निछावर) का पात्र बलवंत हिंदूधर्म से है। जबकि उसकी प्रेयसी मारी ईसाईधर्म से है। एक दिन मारी बलवंत से अपने डर को बतलाती है कि हमारा दोनों का अलग-अलग धर्म हमें कभी विवाह की इजाजत नहीं देगा। तब बलवंत उसे समझाता है कि ब्रिटिश शासन में हर व्यक्ति को अपना धर्म परिवर्तित करने का अधिकार है। इसलिए तुम्हें मेरा हिंदूधर्म अपनाने से कोई नहीं रोक सकता। इस प्रकार मारी अपने डर की बात बलवंत को बताती हुई कहती है–

'एक दूसरी कठिनाई है।'

'वह क्या?'

'धर्म। धर्म की भिन्नता। धर्म की भिन्नता शायद।'

'शायद रुकावट डाले, यही कहना चाहती हो न?'

'तुमने ठीक अनुमान लगाया।'

'अरी पगली।' बलवंत ने कहा, 'यह कैसे रुकावट डाल सकता है? हम तुम्हें अपने धर्म में ले लेंगे।'[4]

अंतर्जातीय विवाह को माता-पिता समाज के डर से नहीं अपनाना चाहते क्योंकि समाज इस विवाह को स्वीकार नहीं करता। 'शीला रोहेकर' 'ताबीज' की पात्र रेवा की माँ अंतर्जातीय विवाह को अपने धर्म पर एक कलंक मानती हैं। इसलिए रेवा द्वारा एक मुसलमान लड़के से विवाह होने पर वह खूब रोती-बिलखती हुई कहती है, 'मर गई वह कुतिया मेरे लिए। जिस दिन वह इस घर का ओटला चढ़ेगी मैं खुद को आग लगा लूँगी। करमजली, छिनाल, मेरे पिछले जन्मों की दुश्मन थी। भूल जाऊँगी मैं कि वह कोई मेरी थी।'[5]

मंजु सिंह, 'तृष्णा' का पात्र स्वप्निल 'प्रकृति' के प्रेम-विवाह को सफल करने के लिए प्रकृति के पिता मि॰ शुक्ला को मिला तो उन्होंने इस विवाह का विरोध किया क्योंकि उनका कहना था कि 'बेटे हम सरयूपारी ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण अपनी कन्या का हाथ किसी गैरजाति के वर को कभी नहीं देता। अंकल आज जब विश्व तेजी से विकास की ओर बढ़ रहा है। चंद्रमा पर पहुँच चुका है मानव, आप जाति की बात कर रहे हैं। पचास-पचपन वर्षीय शुक्ला जी को समझाने की असफल चेष्टा की नवयुवक स्वप्निल ने बुजुर्ग भी कहीं समझे हैं। बोले–'नहीं बेटे हम अपना धर्म नष्ट नहीं करेंगे। फिर प्रकृति की ओर उन्मुख हो उसे आदेश दिया–बेटी तुम अंदर जाओ।'[6]

इतिहास साक्षी है कि समाज में आए प्रत्येक परिवर्तन के पीछे युवावर्ग का हाथ है। वह अपने वैचारिक परिवर्तन से पुराने विचारों वाले बुजुर्गों को भी बदल सकता है। देवेश ठाकुर के उपन्यास 'कातर बेला' की पात्र सोनल की माँ सोनल को बताती है कि तुम्हारे पिता दर्जी होते हुए भी मेहता परिवार का दामाद बनाने को तैयार हो गए। क्योंकि उन्होंने तुम्हारे पिता में बहुत गुण देखे थे इसलिए उन्हें आगे पढ़ाया और अच्छा काबिल इंसान बनाया। इस पर जब पूरी बिरादरी में कानाफूसी हुई तो तुम्हारे नाना ने लोगों को मुँहतोड़ जवाब दिया। 'उन्होंने एक दिन शहर के बड़े- बड़े लोगों को दावत दी और कह दिया–मैं जाति-बिरादरी को नहीं मानता। इंसान अच्छा और काबिल होना चाहिए। बस। है कोई इतना पढ़ा-लिखा जामनगर में। है किसी में इतनी काबलियत। मैं सोचता हूँ कि मेरी इकलौती बेटी के लिए शंकर के भाई ही सही इंसान है।..लोगों के मुँह बंद हो गए।'[7]

अंतर्देशीय विवाह–आज समाज काफी सीमा तक बदल चुका है। पहले विवाह में

जाति-बंधन आड़े आता था लेकिन अब लोग देश में ही नहीं विदेशों में भी विवाह संबंध बना लेते हैं जबकि अलग-अलग परिवेश संस्कृति होने की वजह से ये विवाह बहुत कम सफल होते हैं। अभिमन्यु अनत ने 'अचित्रित' उपन्यास के पात्र विक्रम के माध्यम से अंतर्देशीय विवाह को दर्शाया है। 'विक्रम फ्रांस से पढ़ आया था। पाँच साल पहले वहाँ से जब लौटा था तो फ्रांसीसी पत्नी के साथ। उस औरत को यह देश नहीं भाया। दो ही वर्ष बाद वह अपने देश को लौट गई।'[8]

अंतर्देशीय विवाह सफल नहीं होते हैं क्योंकि दोनों में परिवेश का अंतर होता है।

प्रेम तथा अदालती विवाह–हिंदू-विवाह का आधार धर्म रहा है परंतु वर्तमान समय में वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रधानता है। पश्चिमी स्वछंदतावादी सभ्यता ने हमारे समाज को भी प्रभावित किया है। प्रेम-विवाह को आज हमारे समाज में मान्यता दी जाती है। साथ ही कानून भी प्रेम-विवाह को सही ठहराता है। आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से यह परिवर्तन आया है। वैसे तो हमारे समाज में प्राचीनकाल में भी प्रेम विवाह ही थे। पहले विवाह पूर्व लड़का-लड़की को देख भी नहीं सकता था। लेकिन आज विवाह पूर्व साथ-साथ उठना बैठना, घूमना-फिरना साधारण सी बात है। आज युवक-युवतियों की मैत्री को भी सामान्य माना जाता है। साधारणत: देखा जाता है कि प्रेम विवाह अधिकतर सफल नहीं होते हैं क्योंकि ये निर्णय भावुकता या शीघ्रता से लिए गए होते हैं। जो प्रेमी सोच-समझकर वयस्क आयु में सहजता से निर्णय लेते हैं उनका वैवाहिक जीवन सुखद होता है। हमारा कानून भी ऐसे युवा-वर्ग की सहायता करता है। प्रेम-विवाह तथा अदालती विवाह को हिंदी उपन्यासों में भी स्थान मिलता है। देवेश ठाकुर के उपन्यास 'कातर बेला' की पात्र रूपल अपने पिता की इजाजत के बगैर सुकांत बनर्जी से विवाह तय कर लेती है।

'पापा के विरोध के बावजूद उसने सुकांत बनर्जी से प्रेम-विवाह कर लिया। आज वह दो प्यारे-प्यारे बच्चों की माँ है। एक बड़े व्यवसायी की पत्नी है। उसके पास भी तो सब कुछ है अपने आप अर्जित किया हुआ। मुझसे कहती है–दीदी, जिंदगी जीने के लिए आखिर कितना पैसा चाहिए। पैसे को ही अपना लक्ष्य बना लो तो इंसानियत हाथ से निकल जाती है। पैसे के लिए कितने सही गलत समझौते करने पड़ते हैं। इंसान, इंसान नहीं, पैसा कमाने की मशीन बनकर रह जाता है। उसकी जिंदगी में सुख संतोष जैसी कोई चीज नहीं रहती। मैं भाग्यशाली हूँ कि सुकांत भी ऐसी ही मानते हैं...।'[9]

अदालती विवाह–अदालती विवाह युवावर्ग के सामाजिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश का परिणाम है। जब युवक-युवतियाँ अपने माता-पिता से निराश हो जाते हैं, तो वे अदालत का आश्रय लेते हैं। ताकि वे एक साथ रह सके। शीला रोहेकर 'ताबीज' की रेवा अपनी सहेली जीनत के भाई अनवर से प्रेम करती है माता-पिता की इच्छा से ही वह विवाह करना चाहती है। पिता चंपकभाई पटेल इस विवाह को स्वीकृति दे देते हैं लेकिन माँ नहीं दे पाती क्योंकि वह अंतर्जातीय विवाह को धर्म के नाम पर कलंक मानती है। इसलिए रेवा अपने पिता की अनुमति से अनवर के साथ अदालती विवाह कर लेती है।[10] मनमोहन सहगल के उपन्यास 'समझौते से पहले' के पात्र अरुणा और प्रमोद भी अदालती-विवाह कर लेते हैं।'[11]

देवेश ठाकुर के उपन्यास 'कातर बेला की पात्र रूपल के पिता जब सुकांत बनर्जी से विवाह के लिए नहीं मानते तो उसने अदालत में जाकर विवाह कर लिया। 'घर से निकल कर रूपल बंबई में बनर्जी के ही घर में रह रही थी और एक महीने बाद उसने कोर्ट मैरिज कर ली थी।'[12]

पुनर्विवाह तथा विधवा-विवाह–पुनर्विवाह के अंतर्गत ही विधवा-विवाह भी आता है। हमारी समाज-व्यवस्था विधवा को संयमपूर्वक जीवन जीने का आदेश देती थी। उसके कार्य केवल

भक्ति दान, तपस्या तक ही सीमित थे। इसलिए कठोर तपस्वी जीवन जीना उसकी मजबूरी थी। विधवा भी एक स्त्री है उसके भी अपने विचार व आवश्यकता होती है। विधवाओं के बिखरते संयम तथा टूटते आचरणों को देखकर ही हमारे समाज-सुधारकों ने यह कदम उठाया था।

बाल-विवाह हमारे समाज की सबसे बड़ी कुप्रथा है। हमारे संविधान ने 'हिंदू मैरिज एक्ट' के अधीन युवक व युवतियों की आयु निर्धारित कर दी है। लड़की की आयु कम से कम 18 वर्ष व लड़के की आयु 21 वर्ष। इससे कम आयु का विवाह अवैध व दंडनीय माना जाता है। पहले बाल-विवाह अधिक होते थे। दुर्भाग्य से उनमें से किसी की भी मृत्यु हो जाती थी तो दूसरे को जीवनभर वैधव्य भोगना पड़ता था। लेकिन उस समय भी विधवा विवाह हो तो सकता था लेकिन विशेष परिस्थितियों में। यदि किसी स्त्री का पति संभोग से पूर्व मर जाता था या उसे रजस्वला होने से पूर्व मर जाता था या गर्भवती होने से पूर्व मर जाता था तो उसे पुनर्विवाह की इजाजत दे दी जाती थी।

पुनर्विवाह–विधवा हो जाने पर या विधुर हो जाने पर किया जाने वाला विवाह या पति-पत्नी से तलाक लिए जाने पर किया जाने वाला विवाह पुनर्विवाह है। 'हिंदू विवाह कानून' के अधीन यदि पहली शादी के अंतर्गत पति या पत्नी जीवित है और पति पुनः विवाह करना चाहता है तो ऐसी अवस्था में वह केवल पत्नी की अनुमति से ही पुनः विवाह कर सकता है। पति या पत्नी में से एक को मृत्यु के उपरांत वे विवाह कर सकते हैं। कुछ विशेष कारणों से यदि उनमें से कोई दुराचारी है पर स्त्री गमन या पर पुरुषगामी हो, पागल हो तो वे पुनर्विवाह कर सकते हैं। परंतु इसके लिए कानूनी सहायता भी लेनी अनिवार्य है।

अनुजप्रताप सिंह के 'ढालती हुई शाम' में पुनर्विवाह को दर्शाया गया है। 'जब शाम ढल रही थी तो पूरी बारात उनके दरवाजे पर पहुँची द्वारचार हुआ एक लंबी गुमसुम के बाद एक नए पुरोहित जी विवाह कराने के लिए तैयार हुए। सभी को भय था कि विधवा-विवाह कराने पर मौत हो जाएगी। उनके दरवाजे पर भी कोई खास ताम-झाम नहीं थी।'[13]

'बेटा-बेटी एक समान' का नारा देने वाले इस समाज में आज भी औरतें बेटा न होने की वजह से सताई जाती हैं। निर्मला सिंह (अक्षम्य) की कुसुम अपने पति द्वारा लाई गई दूसरी औरत का विरोध करती है तो उसका पति गुर्राता हुआ कहता है कि तू मेरी जिंदगी में दखल देने वाली कौन है? 'मैं...मैं तुम्हारी बीवी हूँ।' अरी करमजली अभागन है तू। एक भी लड़का न पैदा कर सकी। उसने मुझे पहला ही लड़का दे दिया। वह लड़का मेरा खून है। उसने मेरे वंश में वृद्धि की है।'[14]

आज भी सास द्वारा बहू को बहुत शोषण किया जाता है। अमरकांत (काले-उजले दिन) की कांति का विवाह एक ऐसे व्यक्ति से कर दिया जाता है जो कुछ कमाता नहीं है। फिर भी कांति उसे अपना भाग्य समझकर स्थिति से समझौता कर लेती है। परंतु उसकी सास का बर्ताव उसके प्रति असहनीय है। कांति जब कपड़े धोने जा रही थी तो माताजी इधर-उधर देखती हुई आईं और साबुन उठाकर ले गईं। कांति उनका मुँह देखती रह गई। कांति द्वारा दुबारा साबुन माँगने पर वह बोलीं–'कैसा साबुन जी? तुम्हारे बाप ने खरीदा है या मर्द ने। जबसे तुम आई हो, साबुन का खर्च कितना बढ़ गया है, यह मेरा ही दिल जानता है। यह सब कहाँ से आएगा? इसमें पैसा नहीं लगता? वह तो इसी चिंता में दिन पर दिन दुबले हुए जा रहे हैं। अकेले कमाने वाले वह हैं। किसमें किसके लिए वह करें।'[15]

आज स्त्री की भूमिका समाज में बच्चे पैदा करने तक समिति है ऐसा नहीं कर सकी तो इस सभ्य समाज को उसका बहिष्कार करने का पूरा हक है। मैत्रेयी पुष्पा (विजन) की नेहा जिसकी एम॰एस॰ की पढ़ाई बीच में लटक रही होती है, माँ-बाप उसकी शादी कर देते हैं कि विवाह हो

जाता है। अपनी सास के विचार सुनती हैं जिन्हें वह महराजिन को समझा रही होती है–'बहु का मतलब है वंश बढ़ाने वाली माता। माता नहीं बनती तो बहु किस बात की? बाँझ औरत के ऊपर तो कानूनी तलाक भी मिल जाता है। अपने शास्त्र-पुराण ही नहीं कहते यह कोर्ट-कचहरी तक मानते हैं। महाराजिन तुम्हारी बहू के बच्चे नहीं होते तो छोड़ छुट्टी करो।'[16]

(पायदान) 'सोना चौधरी' की कशिश अपने घर परिवार के बारे में सोच रही है औरत का जीवन भी कितना दयनीय जीवन है। 'मजदूरों और घर की महिलाओं में काम को लेकर कोई अंतर न था। दोनों से ही कोल्हू के बैलों की तरह काम लिया जाता था और एक जैसा खाने को दिया जाता था। औरत को बर्तन छूने की छूट जरूर थी क्योंकि रसोई के काम भी उन्हीं को करने पड़ते थे। पर्त के अंदर पर्त थी। मम्मी बताती हैं कि उन्हें अपने आप खाना लेकर खाने की इजाजत नही थी।'[17]

निष्कर्ष–आज के सुशिक्षित व सभ्य समाज में औरत जब माँ-बाप के घर है तक 'चुप' सुसराल जाती है तब 'चुप' कुछ कहने का उसे कोई हक नहीं दिया जाता। गीताजंलिश्री की 'माई' में सुनैना की माँ जिन्हें वह माई कहकर बुलाती है बचपन से उन्हें चुपचाप काम करते देखा है। कभी आँगन में आज तक उनकी आवाज भी नहीं सुनी। सुनैना अतीत को याद करते हुए सोच रही है–'हमने देखा कि बाबू ने आँख बस उठा भर दी और माई सिमटकर दरवाजे की ओट में भेड़ की तरह, सट गई और हम उस 'बेचारी' को बचाने के लिए आगे आकर खड़े हो गए।'[18]

संदर्भ

1. निर्मला सिंह, अक्षम्य, पृ॰ 58
2. मैत्रेयी पुष्पा, कबूतरी, पृ॰ 244
3. कमलिनी कौल, तृषिता, पृ॰ 13
4. वेणी माधव रामखेलावन, निछावर, पृ॰ 39
5. शीला रोहेकर, ताबीज, पृ॰ 82
6. मंजु सिंह, तृष्णा, पृ॰ 75
7. देवेश ठाकुर, कातर बेला, पृ॰ 16
8. अभिमन्यु अनत, अचित्रित, पृ॰ 35
9. देवेश ठाकुर, कातर बेला, पृ॰ 13
10. शीला रोहेकर, ताबीज, पृ॰ 82
11. मनमोहन सहगल, समझौते से पहले, पृ॰ 304
12. देवेश ठाकुर, कातर बेला, पृ॰ 93
13. अनुजप्रताप सिंह, ढलती हुई शाम, पृ॰ 75
14. निर्मला सिंह, अक्षम्य, पृ॰ 23
15. अमरकांत, काले-उजले दिन, पृ॰ 33
16. मैत्रेयी पुष्पा, विजन, पृ॰ 132
17. सोना चौधरी, पायदान, पृ॰ 12
18. गीतांजलिश्री, माई, पृ॰ 20

पुत्र श्री ज्ञानेश्वर उपाध्याय
क्वार्टर नंबर-4, टाइप-3, टीचर्स कॉलोनी,
बीएसएफ कैंप, पलौरा, जम्मू-181124
मो॰ 7780851547
brajeshupadhyaya042@gmail.com

हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में चित्रित नारी

डॉ॰ सुमन देवी, एक्सटेंशन लेक्चरर हिंदी
राजकीय महिला महाविद्यालय, रोहतक

ऐतिहासिक उपन्यासकार हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अनामदास का पोथा', 'पुनर्नवा', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारूचंद्रलेख'; इन चारों उपन्यासों में भारतीय संस्कृति के इतिहास में छिपी घटनाओं के पौराणिक प्रसंगों द्वारा कल्पना के रंग से रँगकर नूतन पुरातन समन्वयात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने इन उपन्यासों में नारी के कई रूपों का चित्रण किया है। इनकी रचना का मुख्य उद्देश्य नारी की महिमा का ज्ञान और उसका आत्मबोधन करना है। इनके उपन्यासों में चित्रित नारी सांस्कृतिक चेतना और उदात्त मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय समाज में सर्वाधिक उपेक्षित नारी की समस्याओं को उठाया है और सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए पात्रों की कल्पना पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ में की है जो वर्तमान सामाजिक जीवन में नेतृत्व की क्षमता रखते हैं उन्होंने अपने उपन्यासों में नारी को दया, क्षमा और सतीत्व, मर्यादा, धर्मशीलता, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं उसकी महिमामयी मर्यादा को भी अपने उपन्यास में समाविष्ट किया है जो इन उपन्यासों के छोटे से छोटे व बड़े से बड़े नारी चरित्रों में दिखाई पड़ती है। समाज की उपेक्षित दलित और कलंकित समझी जाने वाली नारियों के प्रति भी उनकी दृष्टि सहानुभूतिप्रद एवं गरिमायुक्त रही है।

हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ख्याति प्राप्त करने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'आमनदास का पोथा', 'पुनर्नवा', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारूचंद्र लेखा' उपन्यासों की रचना कर इतिहास के बिखरे सूत्रों की प्रासंगिकता को वाणी देकर हिंदी साहित्य जगत की गरिमा में वृद्धि की। इनके उपन्यासों में वर्णित नारी चरित्र सांस्कृतिक चेतना और उदात्त मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण है। द्विवेदी जी ने निबंध इतिहास शोध, समीक्षा संपादन में अपनी लेखनी की कुशलता का परिचय दिया है। इन चार उपन्यासों में भारतीय संस्कृति के इतिहास में छिपी घटनाओं के पौराणिक प्रसंगों द्वारा कल्पना के रंग से रँगकर नूतन पुरातन समन्वयात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। अनामदास का पोथा, उपन्यास को कथा छांदोग्य उपनिषद् के चौथे अध्याय के प्रथम खंड से लिया गया है। इसकी छोटी-सी कथा को मनोवैज्ञानिक स्थितियों से जोड़कर मानवीय भावों के विकास में कुशल शिल्पी की भाँति उपन्यास की रचना की है—इस उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र जाबाला और ऋतंभरा हैं। जाबाला सहृदय नारी की एक ऐसी आकर्षक चेतन प्रतिमा है जिसमें सभी नारी श्रेष्ठ गुणों का पूर्ण समन्वय हुआ है। जो जड़ में भी चेतना का संचार करती नजर आती है। केवल रैक्व नहीं बल्कि उपन्यास के हर पात्र के हृदय में उसके प्रति श्रद्धा है। वह राजा जनश्रुति की कन्या है। जाति से शूद्र है। एक बार रथ पर आरूढ़ होकर वनगमन करने पर आँधी तूफान में फँसकर शिथिल मूर्च्छित पड़ जाती है। तापस कुमार रैक्व जो सदैव तत्त्वचिंतन, तप ध्यान में लीन रहता है उसकी नजर जब जाबाला पर जाती है तो वह उसे एक बार मरा समझ लेता है किंतु जब उसकी साँस का चलना देखता है तो उसके कपड़ों से हवा करके

 ISSN 0975-735X

उसकी जीवन रक्षा करता है किंतु उसे वायु के अलावा संसार के मोटे पदार्थ का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उसे तो स्त्रीलिंग व पुल्लिंग का भी ज्ञान नहीं है। जाबाला रैक्व को नारी शक्ति को समझने हेतु विवश करती है। विदुषी बुद्धिमती सुशीला एवं सुंदरता की मूर्ति जाबाला में तेज है, वह शक्ति का प्रत्यक्ष विग्रह है उसकी वाणी रैक्व को सामगान की भाँति पवित्र लगती है। जीवन के हर क्षेत्र से अपरिचित रैक्व को लोक व्यवहार और जीवन जगत की शिक्षा प्रदान करती हुई ज्ञान के माध्यम से ज्ञान का मार्ग बताते हुए कहती है–'ऋषि कुमार तुमने व्याकरण पढ़ा है? ...तो फिर जानते हो, व्याकरण में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग होता है... तुम पुल्लिंग हो, मैं स्त्रीलिंग हूँ। आगे मुझे संबोधित करना हो तो वह व्याकरण सम्मत स्त्रीलिंग के अनुसार होना चाहिए....तुम मुझे शुभे कहकर पुकारो। मैं देवलोक से नहीं आई हूँ। इसी पृथ्वीलोक पर महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ।'[1] जाबाला देश, जाति और समाज के लिए वरदान स्वरूप है। वह सेवा भावना से ओत-प्रोत संयत नारी है। अनभिज्ञ रैक्व द्वारा उसका स्पर्श करने पर एक मीठी सिडकी देकर लोक व्यवहार की शिक्षा देते हुए कहती है कि 'देखो ऋषिकुमार मैं महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ तुम्हें इतनी जानकारी तो होनी ही चाहिए कि इस तरह से स्त्रियों को स्पर्श करना अनुचित है, पाप है, परंतु मैं तुम्हारी सफलता पर मुग्ध हूँ।'[2] जाबाला एक गरिमामय स्त्री के रूप में प्रतिष्ठित है।

ऋतम्भरा–इसी उपन्यास की दूसरी प्रमुख नारी पात्र औषस्ति मुनि की पत्नी और साथ ही रैक्व की मुँहबोली माँ भगवती ऋतंभरा है जो वात्सल्य की प्रतिमूर्ति, उदारता की खान और नास्तिक को भी महान धार्मिक की संज्ञा देने वाली विशाल हृदया, सेवाभावी स्त्री है। वह जन को सेवा और प्रेम के रस से सींचने वाली स्त्री है–वह रैक्व को समझाती है कि 'तपस्या की कसौटी समाज है। मान ले, बेटा तू किसी जंगल में अकेला तप कर रहा है, तू सत्यवादी है अब इस बात की परीक्षा कैसे होगी कि तू सचमुच सत्यवादी है। जब दस मनुष्यों के संपर्क में आएगा, कहीं तेरे स्वार्थ को चोट पहुँचेगी, उस समय अपना मतलब साधने के लिए झूठ नहीं बोलेगा, किसी बात को छिपाने का प्रयत्न नहीं करेगा, तभी न मालूम होगा तू सत्य पर दृढ़ है...? अकेले अकेले तो हर आदमी सत्यवादी और धर्मनिष्ठ होने का दावा कर सकता है। दस जनों के संपर्क में आने से ही न उसकी निष्ठा की परीक्षा होगी, इतना ही नहीं वह परम तत्त्व की व्याख्या भी व्यावहारिक स्तर पर करती है–'जो अपने आपकी सुख सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दु:ख को दूर करने का प्रयत्न करता है सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए अपने प्राण तक त्याग सकता है वही धार्मिक है।...बड़ी बात यह है कि वह औरतों के साथ कैसा व्यवहार करता है, उनके लिए कितना त्याग कर सकता है, यही तय करेगा कि वह धर्मपरायण है या नहीं।'[3] अकाल पड़ने पर ऋतंभरा घूम-घूमकर जनसेवा कर रही है। मृत गाड़ीवान की बीवी अजुवा और बच्चे को संरक्षण प्रदान करती है और बच्चों जैसा प्यार भी प्रदान करती है। ऋतंभरा क्रियात्मक आस्था और सत्य में विश्वास करने वाली नारी है।

द्विवेदी जी नारी को समाज की आधारशिला मानते हैं तभी वे नारी के समान अधिकार और उसके उदात्त चरित्र पर बल देते हैं–उनका मत है कि नारी को पुरुष समान स्वतंत्रता व अधिकार मिलने चाहिए और दोनों ही एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने चाहिए। केवल नारी ही समर्पिता न मानी जाए। उन्होंने नारी के भीतरी मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया है। दूसरे उपन्यास 'पुनर्नवा' की प्रमुख नारी पात्र मंजुला, मृणालमंजरी, चंद्रा मांदी, मदनिका आदि हैं। 'मंजुला' नगर की अभिमानिनी गणिका है–रूप व कलात्मक नृत्य के कारण प्रसिद्ध है। 'देवरात' उसकी कलात्मकता या दूसरों की

भाँति रीझते नहीं, बल्कि नृत्य में कमी निकालते हैं अत: मंजुला उनसे ईर्ष्या रखती है। अन्य आयोजन वह अपनी कमी को दूर कर देवरात को प्रशंसा हेतु विवश कर देती है–देवरात उसमें देवत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। देवरात मंजुला से कहते हैं–'देवरात न बड़ा होता है, न छोटा, न शक्तिशाली होता है, न आशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उपासक बनाना चाहता है।'[4] इस कथन से एक नवीन मंजुला का अवतरण होता है। वह परिस्थितिवश भौतिकता की तरफ बढ़ रही थी। अब भौतिकता से ऊपर उठकर भावात्मकता की ऐसी ऊँचाई पर पहुँच जाती है कि वह गणिका से देवी बन जाती है। महामारी का शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त होती है और पीछे अपनी पुत्री मृणालमंजरी को छोड़ जाती है। मृणालमंजरी का चरित्र उच्च गौरवशाली नारी के रूप में प्रतिष्ठित है। देवरात के आश्रम में पलती है और विवाह गोपाल आर्यण से होता है। एक नगरवधु चंद्रा भी उसे चाहती है–विषम से विषम परिस्थितियों से भी टक्कर लेने वाली मृणालमंजरी एक आदर्श पत्नी व स्नेह वाली माता ही नहीं वरन् संकट के समय देवदासियों की प्रेरणादायी शक्ति भी है। वह एक उदार आदर्श पत्नी भी है। जो चंद्रा को सेवा की मूर्ति मानकर सखी तुल्य प्रेम देती है। उसके हृदय की उदारता देखते ही बनती है। 'चंद्रा' का चरित्र विवादास्पद जरूर है किंतु वह एक क्रांतिकारी महिला के रूप में हमारे सामने आती है। जिससे विवाह हुआ वह मुनष्य नहीं बल्कि पशु था अत: उसको अस्वीकृत कर दिया। समाज के बंधन, कुरीतियों, समाज परिवार के लोकोपवादों के भय को त्यागरकर वह अपना जीवन प्रिय गोपाल आर्यन के चरणों में समर्पित कर देती है? वह समर्पण और आत्मदान के भावों से संचालित है। वह धार्मिक रूढ़ियों का भी जमकर विरोध करती है–नट मंडली में 'मांदी' और 'मदनिया' का भी मनोहर चित्र सामने आता है। बसंतसेना भी साध्वी पत्नी रूप में है और धूता एक ऐसी प्रेरणामयी पत्नी है जो गणिकागामी चारूदत्त पर पूर्ण प्रेम रखती है। इन गणिका पात्रों में भी द्विवेदी जी ने देवता की प्रतिष्ठा की है। इनमें नारी चरित्र पुरुष चरित्र से कहीं बहुत ऊपर हैं। इनके नारी चरित्र जाति, धर्म, समाज के बंधनों से मुक्त होकर प्रेम, दया, सेवा, समर्पण, मानवता का संदेश देने वाले हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में प्रमुख स्त्री पात्र भट्टिनी, निपुणिमा, महामाया, मदनश्री और चारूस्मिता हैं। भट्टिनी का चरित्र गौरवशाली है। यह राजकुल में पैदा होकर दस्युओं द्वारा अपहृत छोटे राजकुल के अंत:पुर में बंदी जीवन व्यतीत करते हुए भी पवित्र हो महावराह की उपासक व तपस्विनी है। वह कमल से कोमल, चाँदनी से पवित्र, नवनीत से तरल, सागर से गंभीर, हिमालय से भी दृढ़ चरित्र वाली नारी है। संयम, मर्यादा, आदर्श एवं सरलता का अद्‌भुत संयोग हमें भट्टिनी के चरित्र में दिखाई देता है वह प्रेरक रूपवती शक्ति है जिसके कारण बाणभट्ट 'बंड' से ऊपर उठकर शिव का प्रतीक बन जाता है।

निपुणिका–भारतीय नारी के आत्म बलिदान की अपूर्व कथा का बेजोड़ चरित्र निपुणिका है–विवाह के एक वर्ष के बाद वैधव्य को प्राप्त निपुणिका नाटक मंडली में कार्य करती है–बाण की हँसी से दु:खी होकर मंडली छोड़कर भाग जाती है। छ: वर्षों के बाद पुन: अपने प्रेमी बाण के सान्निध्य में आती है किंतु बाण उसका प्रेम समझ नहीं पाता, अंत में उसका प्रेम भक्ति में बदल जाता है। इसका चरित्र उदार है। वह भट्टिनी के उद्धार में जान की बाजी लगा देती है। वह कुशल, निडर, चतुर और समर्पित स्त्री पात्र है। अभिनय में अपना जीवन अभिनय भी समाप्त कर लेती है। वह अपने सुख की खातिर दूसरों के मार्ग में बाधा नहीं बनती है। वह बाण की भक्त, गुरु, हितैषी और रक्षिका भी है।

महामाया–महामाया भी एक गरिमामय नारी चरित्र है। नारी सुलभ, श्रेष्ठ गुण, वात्सल्य,

सेवा, दया और प्रेम से युक्त है। इसी प्रकार 'सुरचिता' कलुषित समाज के कीचड़ में फँसी एक ऐसी मणि है जो समय आने पर अपनी चमक से रूढ़िग्रस्त समाज को आलोकित करती दिखाई देती है–'मदनश्री' सुंदर गणिका है जो अभिनय कला में निपुण, सहायता के भावों से युक्त स्त्री पात्र है। 'चारूस्मिता' स्थाणीश्वर की अत्यंत सुंदर राजनर्तकी है जो कलाप्रिय, प्रवीण नारी जनोचित कोमलता व उदात्त भावों से युक्त स्त्री पात्र है। द्विवेदी जी के तीसरे उपन्यास 'चारूचंद्रलेख' की प्रमुख नायिका 'चंद्रलेखा' इसकी प्रमुख नायिका है–इनका व्यक्तित्व रानी और सिद्ध योगिनी के रूप में हमारे सामने आता है। इनके जीवन में एक विचित्र अंतर्द्वंद्व है। चंद्रलेखा नागनाथ के प्रति आकर्षित होती है। वह पति धर्म की उपेक्षा कर कोटिबोधि रससिद्ध करने चली जाती है। पति की तरफ से भी कोई रुकावट नहीं होती है। उसका व्यक्तित्व दुविधा में विभक्त हो जाता है। वह न तो पूर्णरूपेण राजा की रह पाती है और न ही तपसाधना में लीन हो पाती है। इससे उसका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है तथा नागराज की मृत्यु से रानी विक्षिप्त-सी हो उठती है। माता विष्णुप्रिया के प्रयत्न से रानी की कुंठा धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है तब रानी के अंतर्मन में ग्लानि, लज्जा, पति निष्ठा, कर्त्तव्य के भाव उदित होते हैं। वह कहती है–'मैं पतिव्रत धर्म की उपेक्षा से अशुचि हो गई हूँ, मैं सौभाग्यवंचिता असती हूँ। मैं सिद्धयोगिनी नहीं महाअधम नारी हूँ।'[5] जबकि चंद्रलेखा वाकविद्ग्ध परिहास चतुर तीक्ष्ण बुद्धि नारी है। जब सातवाहन की रानी बनती है तो राजा के कार्यों में सहायक होने का संकल्प प्रकट करते हुए कहती है–'इस देश में मिथ्या खंड, अभिमानों को चूर्ण करने के लिए चंद्रलेखा वज्र के हथौड़े का काम करेगी और हतदर्प, दीन वीर्य पराजित प्रजा के चित्र में इतिहास को मंगलमयी प्रेरणा देने के लिए अमृत की तरह झरेगी।'[6] रानी की योजना चरितार्थ भी होती है लेकिन कोटिबोधिरस सिद्ध में जाने के साथ ही रानी चंद्रलेखा सिद्धयोगिनी में संशयशील होकर विलुप्त हो जाती है। दूसरी स्त्री पात्र 'मैना' है जो मैन सिंह के रूप में दोहरा व्यक्तित्व जीती है। मैना डेढ़ वर्ष की अवस्था में देवदासी के रूप में मंदिर के लिए किसी के द्वारा दी गई थी। उसका पोषण 'नारी माता के हाथों आश्रम में हुआ। बोधाप्रधान के कहने से उसने पुरुष रूप रखकर मैना से मैन सिंह होकर विभिन्न स्थानों से नटों एवं ग्रामीणों की सेना संगठित की। उसके व्यक्तित्व में त्याग तपस्या, सेवा, शौर्य, साहस और सूझबूझ से स्वयं राजा सातवाहन प्रभावित थे। मैना की सेवा में प्रेम और समर्पण भाव है। उसमें दलित द्राक्षा की भाँति क्षरित होने की दुर्दम जिजीविषा है उसके आत्म समर्पण की भावना और पुष्पवत् मन के बह जाने की आशंका निरस्त करने की उसकी इच्छा है। वह उसके व्यक्तित्व को महान बना देता है। उसके चरित्र में रानी दीदी के धन का लोभ नहीं है, राजा के संपर्क में रोमांटिक प्रभाव है किंतु आत्मदान का ही भाव दृष्टिगोचर होता है। 'नारी माता' सहजभाव से भक्ति करने वाली स्त्री ही कलुषित व्यवसाय से मुक्ति की खोज में वह संन्यासी हो गई थी। आरंभ में जयित्रचंद्र के यहाँ नर्तकी थी बाद में राज्य नष्ट होने पर जंगल में कुटी बनाकर भक्तिभाव में लीन हो गई। उसके आध्यात्मिक वातावरण में ही मैना को पालकर उसे ऐसा व्यक्तित्व दिया जो समय आने पर राष्ट्रहित में समर्पित हो जाता है। 'नारी माता' भक्ति की ऐसी प्रतिमूर्ति है जो मैना के माध्यम से सामाजिक गतिविधियों में योगदान देती है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास की निपुणिका में भी इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। 'द्विवेदी जी ने भारतीय समाज में सर्वाधिक उपेक्षित नारी की समस्याओं को उठाया और सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए ऐसे पात्रों की कल्पना पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में की है जो वर्तमान सामाजिक जीवन में नेतृत्व की

क्षमता रखते हैं। नारी पात्रों के माध्यम से सामाजिक जटिलताओं और मिथ्या आडंबरों के प्रति विद्रोह भावना को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। द्विवेदी जी के विचार में समाज में नारी-पुरुष के स्वस्थ रिश्तों से ही स्वस्थ समाज का विकास संभव होगा। उनका मानना है कि 'नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। वह धर्म कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य संगठन और राज्य व्यवस्थापन सब फेन बुद-बुद की भाँति विलुप्त हो जाएँगे, क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है तो यह सारा ठाठ-बाट संसार में केवल अशांति पैदा करेगा।'[8] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में नारी समस्याओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के साथ-ही-साथ भारतीय नारी की शालीनता, लज्जा, संयत प्रेम, उसकी दया, क्षमा और सतीत्व मर्यादा, धर्मशीलता, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा भक्ति एवं उसकी महिमामयी मर्यादा भी इस उपन्यास के छोटे से छोटे व बड़े से बड़े नारी पात्रों में दिखाई पड़ती है। समाज की उपेक्षित, दलित और कलंकित समझी जाने वाली नारियों के प्रति भी उनकी दृष्टि सहानुभूतिप्रद एवं गरिमायुक्त रही है–द्विवेदी जी की दृष्टि में भारतीय नारी का सबसे बड़ा अस्त्र सेवा व समर्पण है जो उसकी विजय यात्रा का आधारस्तंभ है। उनके आंतरिक जीवन मूल ही उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्ति में सहायक हैं। लोकमानस में शुष्क धर्माचार एवं रूढ़ मान्यताओं के कारण पुरुष प्रधान समाज में नारी के जिन अधिकारों की उपेक्षा की उन्हें दिलाने के लिए तथा उन मान्यताओं के विरोध में आवाज उठाने के लिए अपने उपन्यासों में नारी पात्रों को माध्यम बनाया। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नारी-विषयक दृष्टि को इन उपन्यासों में पूर्णत: देखा जा सकता है, जिसे द्विवेदी जी ने गरिमामय नारी पात्रों की सृजना की है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार ने नारी मुक्ति की आकांक्षा को व्यंजित किया, साथ ही मनुष्य के शुष्क धर्माचार एवं रूढ़ मान्यताओं के कारण पुरुष प्रधान समाज में नारी के जिन अधिकारों की उपेक्षा की, उन्हें अधिकार दिलाने के लिए तथा उन मान्यताओं के विरोध उठाने के लिए अपने उपन्यासों में नारी पात्रों को माध्यम बनाया। इस प्रकार द्विवेदी जी की नारी-विषयक दृष्टि को इन सभी उपन्यासों में पूर्णत: देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अनामदास का पोथा, राजकमल प्रकाशक, दिल्ली, संस्करण 1976, पृ॰ 31
2. वही, पृ॰ 31
3. वही, पृ॰ 31
4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पुनर्नवा, राजकमल प्रकाशक, दिल्ली संस्करण 1973 ई॰, पृ॰ 22
5. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, चारूचंद्रलेख, राजकमल प्रकाशक, दिल्ली, संस्करण 1963 ई॰, पृ॰ 208
6. वही, पृ॰ 32
7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशक, दिल्ली, संस्करण 1946 ई॰, पृ॰ 18
8. वही, पृ॰ 193

W/o Dr. Bhupinder Ahlawat
H.No. -46, Friends Colony, Behind Nakastra Property
Near Omax City Gate, Delhi Road, Rohtak 124001 Haryana
Mob. 9812138717
bhupinderahlawat1981@gmail.com

पं॰ बालकृष्ण भट्ट की साहित्यिक पत्रकारिता

डॉ॰ बृजेंद्र कुमार अग्निहोत्री
सहायक प्रोफेसर (हिंदी), मानविकी संकाय
लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय, फगवाड़ा (पंजाब)

23 जून 1844 ई॰ को प्रयाग में व्यापारी पिता बेनीप्रसाद भट्ट और माता पार्वती देवी के घर पं॰ बालकृष्ण भट्ट का जन्म हुआ। माता द्वारा प्रदत्त सुसंस्कारों ने इनके अंदर अध्ययन के प्रति विशेष रुचि जाग्रत की। इनके पिता एवं संबंधी यह चाहते थे कि वे पैतृक व्यापार में लगें, किंतु बालकृष्ण जी का मन व्यापार में नहीं लगा। भट्ट जी का व्यापार में रुचि न लेने का कारण यह था कि इनके घर में प्रायः गृह-कलह होती थी, जिससे ऊबकर बालकृष्ण जी को अपना पैतृक घर छोड़कर अलग रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। घर-परिवार से अलग होने के बाद इन्हें अपना जीवन अर्थाभाव से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं के मध्य व्यतीत करना पड़ा। ये समस्याएँ पं॰ बालकृष्ण भट्ट के स्वाभिमानी-व्यक्तित्व के विकास में सहायक ही बनीं। इन्होंने अपना संपूर्ण जीवन हिंदी साहित्य और पत्रकारिता को समर्पित कर दिया। हिंदी साहित्य के इस प्रवर योद्धा का निधन 20 जुलाई 1914 ई॰ को हुआ।

भारतेंदु युग के रचनाकारों में पं॰ बालकृष्ण भट्ट का स्थान केवल भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद आता है। आधुनिक हिंदी साहित्य और पत्रकारिता के विकास में एक निबंधकार और संपादक के रूप में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। हिंदी साहित्य में व्यावहारिक आलोचनाओं के प्रारंभिक प्रवक्ता पं॰ बालकृष्ण भट्ट निर्विवाद रूप से स्वीकार किए जाते हैं। 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित एक व्यावहारिक समालोचना 'एडिटरों की टरटर' का अंश दृष्टव्य है–

'हिंदी पत्रों के जितने संपादक हैं सबों को मैं जानता हूँ जो कुछ और जितनी उनकी पूँजी है उसे भी हम अच्छी तरह जानते हैं। बहुधा तो हिंदी की दो एक किताबें पढ़ पढ़ाय तुलसीदास की रामायण या मिडिल क्लास में जो गुटका प्रचलित है वह उनकी हिंदी की लियाकत का छोर है। बस इतनी ही पूँजी से वे संपादक बनना चाहते हैं–शुद्ध संस्कृत शब्द लिखने का भी उन्हें शऊर नहीं है तब संस्कृत का व्याकरण या संस्कृत का साहित्य समझना तो बहुत दूर है। इस पूँजी पर हिमाकत उन्हें यह है कि हम ऐसों पर बहुधा आक्षेप कर अपनी कलई खुलवाना चाहते हैं। उन्हें चाहिए हमारा लेख पढ़ें और लिखना सीखें, न कि हम पर बहुधा आक्षेप कर अपनी कलई खुलवाएँ। हम कहते हैं एक पेज भी तो ऐसा वे लिख लें जैसा हमारा लेख होता है। हम चाहे छह महीने में एक बार प्रकाश में आएँ पर अपने लेख से पढ़ने वालों का मनोरंजन अवश्य कर देंगे। हाल में बेंकटेश्वर समाचार के किसी पत्र-प्रेरक ने हम पर कुछ ताना लिखा है। अभी तो बेंकटेश्वर जी जनमें हैं कुछ दिन चले तो जानेंगे कि लेख और पत्र चलाना कैसा होता है।'[1]

पं॰ बालकृष्ण भट्ट सजग पत्रकार-संपादक होने के साथ उत्कृष्ट रचनाकार भी थे। इनके 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह नाटक', 'जैसा काम वैसा परिणाम', 'आचार विडंबना', 'भाग्य की परख', 'षड्दर्शन संग्रह' आदि चर्चित लेखों के अतिरिक्त 'पद्मावती',

'शर्मिष्ठा', 'चंद्रसेन', 'किरातार्जुनीय', 'पृथु चरित', 'शिशुपाल वध', 'नल दमयंती', 'शिक्षा दान', 'नई रोशनी का विष', 'वृहन्नला', 'सीता वनवास', 'पतित पंचम', 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' इत्यादि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। हिंदी साहित्य में भट्ट जी की गणना एक उत्कृष्ट निबंधकार के रूप में की जाती है। इनके निबंधों में शैली की प्रांजलता और भावनाओं का अद्‌भुत उभार दृष्टिगत होता है। इनके निबंधों में 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं', 'ईश्वर की भी क्या ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', 'अकल अजीरन रोग', 'भकुआ कौन कौन है', 'हम डार-डार तुम पात-पात', 'पंचों की सोहबत', 'अब तो बासी भात में भी खुदा का साझा होने लगा', 'इंग्लिश पढ़े सो बाबू होय' आदि विशेष चर्चित रहे। इनके निबंधों का संकलन 'भट्ट निबंधावली' नाम से हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा कई भागों में प्रकाशित हुआ है।

पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के माध्यम से तत्कालीन समय के अनेक लेखकों को प्रेरित और प्रभावित किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र से प्रेरणा ग्रहण करके पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने सितंबर 1877 ई॰ को प्रयाग से 'हिंदी प्रदीप' नामक मासिक पत्र का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया। 'हिंदी प्रदीप' एक साहित्यिक पत्र था, जिसमें हास्यपूर्ण और गंभीर दोनों प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन होता था। यह पत्र फरवरी 1910 ई॰ के अंक के प्रकाशनोपरांत बंद हो गया। हिंदी पत्रकारिता के प्रारंभिक समय में लगातार 33 वर्षों तक एक गंभीर साहित्यिक पत्र का संपादन-प्रकाशन करना, पं॰ बालकृष्ण भट्ट के साहित्यिक महत्त्व को स्थापित करता है। यह महत्त्व पं॰ बालकृष्ण भट्ट की असाधारण लगन और कर्मठता से हिंदी प्रेमियों को परिचित कराकर हिंदी जगत को गौरवान्वित कर नवोदित रचनाकारों में प्रेरणा का संचार करता है। 'हिंदी प्रदीप' के माध्यम से भट्ट जी ने हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में योगदान प्रदान करने के साथ राष्ट्रीय चेतना को बलवती बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'हिंदी प्रदीप' का प्रकाशन एक व्यापक साहित्यिक-सांस्कृतिक और सामजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने का लक्ष्य लेकर किया गया था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने सरकारी-नीतियों, ग्राहकों और अर्थाभाव से उत्पन्न अनेक समस्याओं का मुकाबला करते हुए निरंतर 33 वर्षों तक 'हिंदी प्रदीप' का संपादन-प्रकाशन किया। जहाँ 'हिंदी प्रदीप' के आरंभिक अंक भारतेंदु युग से पूर्णतः प्रभावित हैं, वहीं द्विवेदी युग में प्रकाशित 'हिंदी प्रदीप' के अंकों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्देशित साहित्य विधाओं की झलक दृष्टिगत होती है। इस तरह हम देखते हैं कि पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने आधुनिक हिंदी साहित्य के दो महत्त्वपूर्ण युगों—भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में अपनी उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रकारिता के माध्यम से अपनी गरिमामयी उपस्थिति दर्ज कराकर एक अलग पहचान स्थापित की, जिसके कारण वह आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। हिंदी साहित्य के लिए व्यक्तिगत रूप से त्याग करने वाला पं॰ बालकृष्ण भट्ट जैसा साहित्यकार-पत्रकार हमें हिंदी साहित्य में कठिनता से मिलेगा।

पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने परंपरावादी होते हुए भी परंपरा का अंधानुकरण कभी नहीं किया। भट्ट जी ने परंपरा को विश्लेषणात्मक पैनी बुद्धि और सतर्क मस्तिष्क से देखा-परखा, उसके पश्चात ही अनुकरण के बारे में विचार किया। पं॰ बालकृष्ण भट्ट निष्प्राण परंपरा और पाखंडपूर्ण धर्म को कभी स्वीकार नहीं करते थे। उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण और सजग साहित्य-सृजन हिंदी साहित्य में सदैव स्मरण किया जाएगा। चिरंजीत पं॰ बालकृष्ण भट्ट को हिंदी की राष्ट्रीय साहित्यिक पत्रकारिता का प्रवर्तक घोषित करते हुए लिखते हैं—'हिंदी साहित्य के इतिहासकार भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता का जनक मानते हैं और मानते हैं कि सन् 1868 ई॰ में प्रकाशित पत्रिका 'कविवचन सुधा' और सन् 1873 ई॰ में प्रकाशित 'हरिश्चंद्र मैगजीन' हिंदी की पहली साहित्यिक पत्रिकाएँ थीं। जब हम इन दोनों की तुलना 'हिंदी प्रदीप' से करते हैं, तो विषयवस्तु एवं विधागत विविधता की दृष्टि से 'हिंदी प्रदीप' को हम श्रेष्ठ पाते हैं। हमारा मत है कि 1857 ई॰ की सैनिक-क्रांति की विफलता के बाद 'हिंदी प्रदीप' हिंदी का पहला मासिक पत्र था, जिसने साहित्य को प्रखर राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर बड़ी निर्भीकता से जन-जागरणोन्मुख बनाया था और जिसे अपने तीखे राजनीतिक तेवर के कारण एक दो बार तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा था। इसी कारण हम मानते हैं कि 'हिंदी प्रदीप' के संपादक पं॰ बालकृष्ण भट्ट हिंदी की राष्ट्रीय साहित्यिक पत्रकारिता के सच्चे प्रवर्तक थे।'[2]

पं॰ बालकृष्ण भट्ट केवल अपनी लेखनी का प्रचार-प्रसार करने वाले साहित्यकार-पत्रकार नहीं थे, अपितु उनकी तटस्थ और संतुलित दृष्टि हिंदी साहित्य और पत्रकारिता जगत का अवलोकन सदैव सजगता के साथ करती थी। जो उनकी दृष्टि में सही होता, उसका वह समर्थन करते और जो उन्हें पसंद नहीं आता, उसकी खुलकर आलोचना करते थे। इस संबंध में 'हिंदी प्रदीप' की संपादकीय टिप्पणी दृष्टव्य है–'संपादक को धुँधला तथा उजला दोनों भाग दिव्य दृष्टि से देखना चाहिए। कलकत्ते की पत्रिका सदृश न हो कि गवर्नमेंट के हर एक काम में दोष ही निकाला करें, अंगरेजी शासन में कुछ भलाई भी है कभी एक बार संपादक महाशय अपनी फुटही जबान में नहीं कहते। सुयोग्य संपादक के लिखने का असर राजा प्रजा दोनों पर भरपूर पड़ता है, सर्वसाधारण के दु:ख को राजा कर्मचारियों तक पहुँचाने को संपादक का लेख अद्‌भुत द्वार है। जिसके नि:स्वार्थ और पक्षपात रहित लेख का ऐतबार सबको रहता है। देश का सच्चा बंधु जैसा संपादक है वैसा दूसरा नहीं है तब संपादक का जितना मान और प्रतिष्ठा की जाए कम है।'[3]

इनके साहित्यिक अवदान में वैयक्तिकता के साथ निर्भीकता, निश्छलता, परदु:ख-कातरता, सहृदयता, उग्रता, कर्त्तव्यपरायणता, राष्ट्रीयता, तेजस्विता और हास्यप्रियता का अद्‌भुत संगम मिलता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इन्हें 'अविष्कारक गद्य लेखक' की संज्ञा देते हुए इनकी तुलना अँग्रेजी के निबंध रचनाकार एडिशन, स्टील और चार्ल्स से की है। निष्कर्षत: पं॰ बालकृष्ण भट्ट हिंदी साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के ऐसे महान दृष्टा और उन्नायक थे, जिनके उन्नयन की कहानी की वाणी साहित्यिक पत्रकारिता से प्रस्फुटित होकर युग-प्रतिष्ठित हुई।

संदर्भ

1. हिंदी प्रदीप, बालकृष्ण भट्ट (सं॰), दिसंबर 1896, पृ॰ 20
2. राष्ट्रीय पत्रकार और अनन्य साहित्यकार : बालकृष्ण भट्ट, डॉ॰ पद्माकर पांडेय (सं॰), चिरंजीत द्वारा लिखित आलेख 'हिंदी की राष्ट्रीय साहित्यिक पत्रकारिता के प्रवर्तक : बालकृष्ण भट्ट, पृ॰ 64
3. हिंदी प्रदीप, बालकृष्ण भट्ट (सं॰), मार्च 1906, पृ॰ 8

Mob. 9918695656
agniakshar@gmail.com

आजाद भारत में मिशनरी से पेशेवर बनी पत्रकारिता

डॉ॰ चंदन कुमार एवं नरेंद्र अनिकेत

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास क्रांतियों और बलिदानों का इतिहास है। इस दौरान अँग्रेजी शासकों ने भारत की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना को कई स्तरों पर कमजोर करने का काम किया। अँग्रेज आक्रांताओं से आजादी दिलाने के लिए पत्रकारिता को एक मिशन के रूप में शुरुआत की गई थी। जिसका मुख्य उद्देश्य यह था कि भारत को आजादी मिले और जनमानस में राष्ट्रीयता की अलख को जगाया जाए। बौद्धिक विस्तार देने में भी भारतीय प्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी लेकिन आज के समय में पत्रकारिता मिशन से दूर नजर आ रही है। यह महज आज के दौर में एक उद्योग बनकर रह गया है जिसमें आपसी प्रतिस्पर्धा के लिए जनहित के मुद्दे गौण हो गए हैं। पत्रकारिता का यह दौर बहुत ही गैर जिम्मेदार होता जा रहा है जिसमें हम आधुनिक समाज के निर्माण में अपनी सहभागिता से कोसों दूर हो रहे हैं। साहित्यिक पत्रकारिता भी आज हासिए पर आ गई है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज में जिस तेजी से बदलाव हुआ है उसी तेजी से पत्रकारिता में भी बदलाव आया है। समाज बाजार की जरूरत के हिसाब से बदलता गया है और पत्रकारिता में सूचना के साधनों के विकास के साथ परिवर्तन हुआ है। जहाँ हम आज देख रहे हैं उस स्थिति तक पहुँचने के लिए समाज और पत्रकारिता ने अनगिनत पड़ाव पार किए हैं।

आधुनिक भारतीय समाज के निर्माण में महती भूमिका निभाने वाली पत्रकारिता आज आजीविका का एक जरिया बन चुकी है। आजाद भारत में पेशे का रूप ले चुकी पत्रकारिता से उसका मिशन लापता हो गया है। इसका कारण यह है कि बाजार के इस युग में आज यह एक उद्योग है और इसमें लाभ-हानि है। उद्योगपतियों का पैसा इसमें लगा हुआ है तो जाहिर है कि उद्योग के छल-छद्म इसमें समाए हुए हैं। आपसी प्रतिस्पर्द्धा के लिए जो कुछ हो रहा है और जिस तरह अखबार उत्पाद की श्रेणी में आकर खड़ा हो गया है उससे इतर अधिकांश हिंदी अखबारों पर गौर किया जाए तो पता चलेगा कि जिनका नाम संपादक के रूप में जा रहा है वह अखबार का मालिक है। यहाँ संपादक की तनख्वानह पाने वाला काम करता है और नाम किसी और का रहता है। ऐसे अखबारों में मालिक संपादक समय-समय पर अग्रलेख या त्वरित टिप्पणी में जो उद्‌गार व्यक्त करते हैं वह भी किसके लिखे होते हैं इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इसी दिन की कल्पना करते हुए मशहूर पत्रकार पराड़कर जी ने कहा था, 'एक समय आएगा जब हिंदी पत्र रोटरी पर छपेंगे, संपादकों को ऊँची तनख्वाहें मिलेंगी, सब-कुछ होगा किंतु उनकी आत्मा मर जाएगी। संपादक, संपादक न होकर मालिक का नौकर होगा।'

अखबार का बदलता स्वरूप

अखबार के बदले हुए रूप को आज हम देख रहे हैं। जिनके हाथों में समाचार का यह माध्यम है वह इसके आज के रूप तेवर से वाकिफ हैं। लेकिन इस माध्यम का भी इतिहास है। इस

 ISSN 0975-735X

माध्यम का भी आधुनिक समाज के निर्माण में योगदान है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर गौर करने पर इस माध्यम की भूमिका का पता चलता है। यह सच है कि अँग्रेजी राज की स्थापना के समय हमारे देश में शिक्षा का उतना प्रसार नहीं था। लोग रोजी-रोजगार के साधन या व्यापार तक सीमित थे। इसके लिए शिक्षा की जितनी जरूरत थी उतनी ही शिक्षा लोगों के पास थी। गरीबी, अभाव और तरह-तरह की सामाजिक बुराइयों से समुदाय पीड़ित था। फिर भी उस सीमित शिक्षा वाले समाज में इस माध्यम ने जो भूमिका अदा की उसे नजरअंदाज करना उचित नहीं। शुरू के उस दौर में साहित्यकारों ने भाषाई अखबारों को माध्यम बना भूमिका निभाई थी। कविता के माध्यम से समुदाय को जाग्रत करने का काम किया गया। कहानी के माध्यम से लोगों को गोलबंद होने की शिक्षा दी गई। साहित्यिक का लोगों को बाँधने और सत्य के प्रति सजग बनाने का यही गुण समाचारपत्रों में समाया। यही कारण है कि पत्रकारिता को हेस्टीत लिटरेचर अर्थात् जल्दबाजी में तैयार किया गया साहित्य कहा जाता है।

भारत में यह हेस्टीर लिटरेचर औपनैवेशिक सत्ता के साथ प्रकट हुआ। यूरोप में औद्योगिक क्रांति में मशीनों ने उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पाादन बढ़ाया जिसे खपाने के लिए बाजार की जरूरत पैदा हुई। इसी जरूरत ने उपनिवेशवाद को जन्म दिया। इसी दौर में मुद्रण का आविष्कार हुआ और हाथ से लिखी पुस्तकों की जगह छापाखाना से निकलने वाली किताबों ने ले ली। औद्योगिक क्रांति के बाद जो सामाजिक संरचना सामने आई और नगरों का जो स्वरूप उभरा उसमें सूचनाओं की संप्रेषणीयता की आवश्यकता पैदा हुई और अखबार सामने आए। इस नई विकसित दुनिया में पत्रकारिता का भी सकारात्मक योगदान है। इस माध्यम ने ज्ञान को व्यापक प्रसार दिया और विचार को जनांदोलन बनाया। भारत में इस माध्यम की ऐसी भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

समाचार पत्र का इतिहास

हमारे देश में अँग्रेजी राज की स्थापना के साथ ही यह माध्यम भी आया था। बंगाल में कंपनी राज की स्थापना के कुछ समय बाद ही 1780 में पहला मुद्रित अखबार कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर सामने आया था। जेम्सस आगस्टस हिकी ने इस अखबार की शुरुआत की थी। तत्कालीन सत्ता की प्रबल आलोचना का उन्हें जिस तरह कोपभाजन बनना पड़ा था उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में अभिव्यनक्ति की स्वतंत्रता के लिए उठी वह पहली आवाज ही स्वतंत्रता आंदोलन की आधारशिला है। 1780 से 1818 तक भारत में अँग्रेजी अखबार ही निकले और सभी सत्ता के दास रहे। 1818 में ही भारतीय भाषाओं में अखबार शुरू हुए सबसे पहले बांग्ला और गुजराती में अखबार निकले और हिंदी में 1826 में पहला अखबार 'उदंत मार्तंड' निकला।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारतीय भाषाओं अखबार का प्रकाशन शुरू होने के साथ ही पत्रकारिता का आरंभ माना जा सकता है। इसी सदी के उत्तरार्द्ध में साहित्यिक पत्रिकारिता का श्रीगणेश हुआ। हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता में सबसे बड़ा योगदान भारतेंदु हरिश्चंद्र ने दिया था। 1900 में प्रयाग से प्रकाशित 'सरस्वती' मासिक का साहित्यिक पत्रकारिता में विशेष योगदान माना जाता है। 1903 से 1932 तक महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके संपादक रहे। इसी तरह 1901 में जयपुर से प्रकाशित 'समालोचक' (संपादक चंद्रधर शर्मा गुलेरी), 1907 में महामना मदनमोहन मालवीय जी ने बनारस से 'अभ्युदय', 1910 में कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' का प्रकाशन शुरू किया। 1911 में काशी से 'मर्यादा', 1913 में खंडवा से 'प्रभा' (संपादक माखनलाल चतुर्वेदी) आदि पत्रिकाएँ निकलीं। शुरू के इन वर्षों में साहित्यिक पत्रिकारिता ने समाज में जगह बनाई तो

हिंदी को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए जो संघर्ष उन्नीससवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ था उसे बल देने का काम भी किया। जाने-माने आलोचक राजीव रंजन गिरि ने अपनी पुस्तक परस्पर में गहराई से इसकी छानबीन की है। यह भाषा संघर्ष हिंदी समाज की बोलियों का अंत:संघर्ष नहीं होकर सांप्रदायिक विद्वेष की नींव डालने वाला साबित हुआ। यह भाषाई सांप्रदायिकता थी जिसे हिंदी और देवनागरी के पैरोकार समझ न सके।

जिस तरह अँग्रेजी सत्ता और भारतीय जनमानस के बीच सेतु का काम करने के लिए सर ए ओ ह्यूम ने काँग्रेस की स्थापना की थी उसी तरह अँग्रेजी हुकूमत के सुधार प्रयासों को परवान चढ़ाने के लिए पत्रकारिता शुरू हुई थी। बाद में जिस तरह काँग्रेस स्वतंत्रता की इच्छा रखने वालों का संगठन बन गया उसी तरह पत्रकारिता भी स्वतंत्रता की आवाज बुलंद करने वाली साबित हुई। 1923 में कलकत्ता (तत्कालीन) से 'मतवाला' मासिक पत्रिका का संपादन शुरू हुआ। महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला इसके संपादक हुआ करते थे। दिल्ली से हिंदुस्तान टाइम्स, दैनिक अर्जुन, मद्रास से इंडियन एक्सप्रेस का प्रकाशन शुरू हुआ। 1925 में कृष्णदत्त पालीवाल ने सैनिक का प्रकाशन शुरू किया।

साहित्यिक पत्रकारिता

बुनियादी रूप से साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता पृथक नहीं है। पत्रिकाओं का प्रकाशन जैसे ही शुरू हुआ उससे जुड़े साहित्यकारों ने इस विधा का प्रयोग शुरू किया और जल्दीबाजी में लिखा गया यह साहित्य लोकप्रिय हो गया। यह लोकप्रिय माध्यम स्वतंत्रता आंदोलन में अलख जगाने लगा। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, माधवराव सप्रे, लक्ष्मण नारायण गर्दे, काशीप्रसाद जायसवाल, माखनलाल चतुर्वेदी जैसी विभूतियों ने अपनी प्रतिभा से भारतीय जनमानस को प्रभावित किया और भारतीय साहित्यिक पत्रकारिता स्वानधीनता आंदोलन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

साहित्यिक पत्रकारिता में रिपोर्ताज विधा का योगदान माना जा सकता है। 1938 में शिवदान सिंह चौहान ने हिंदी में रिपोर्ताज की शुरुआत की थी। बंगाल के दुर्भिक्ष और महामारी को लेकर रांघेय राघव का रिपोर्ताज अतुलनीय है। अकालग्रस्त क्षेत्रों में जाकर पूँजीपतियों, व्यापारियों और मुनाफाखोरों के अमानवीय कृत्यों को उन्होंने उजागर किया और भूख के मारे कंकाल से दिखने वालों की मर्मस्पमर्शी तस्वीर पेश की। उनका यह काम 'तूफानों के बीच' शीर्षक से संकलित होकर सामने आया। उनके अलावा प्रकाशचंद्र गुप्त, उपेंद्रनाथ अश्क, शिवसागर मिश्र, डॉ॰ धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि ने भी इस विधा में योगदान दिया। फणीश्वरनाथ रेणु के 'हड्डियों का पुल' शीर्षक रिपोर्ताज में मलेरिया और कालाजार जैसी जानलेवा बीमारियों से जूझते लोगों की पीड़ा सामने रखी गई है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाचारपत्र

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिंदी के समाचारपत्र बढ़े और पत्रिकाओं की भी बाढ़ आ गई। अँग्रेजी राज में दबावों के बीच भी जनसामान्य की समस्याओं पर जिस बेबाकी से साहित्यकारों और उस समय के चिंतनशील पत्रकारों ने कलम चलाई उसने भारतीय समाज में इस समुदाय को प्रतिष्ठित स्थान दिलाया। दूसरी बात यह थी कि सभी को लगा कि अब हिंदी का बोलबाला होगा। यही कारण है कि अँग्रेजी में समाचारपत्रों का प्रकाशन कर रहे समूहों ने भी हिंदी में अखबार

निकालने शुरू किए। साहित्य की दुनिया में अभिनव प्रयोग हुए। कई लघु पत्रिकाएँ आईं। इन सबके बीच साहित्य की मूल भूमिका गौण होती चली गई। परिमाण की दृष्टि से पत्रिका और समाचारपत्रों का विकास हुआ लेकिन गुणात्मणक दृष्टि से ह्रास हुआ है। आज अखबार और समाचारपत्रों की भरमार है लेकिन अब खोजने पर भी उसमें कुछ पढ़ने लायक साहित्य नहीं दिखता है। साहित्यिक पत्रकारिता विलुप्त हो गए वन्यजीव की तरह हो चुकी है। इसका कारण यही है कि स्वाधीनता के दौर का मिशन गायब हो गया है। नए युग में पत्रकारिता पेशा, व्यवसाय और उद्योग–व्यापार का रूप ले चुकी है। ऐसे में पराड़कर जी ने जो कहा था वह अक्षरशः सत्य दिख रहा है।

संदर्भ

1. डॉ॰ नगेंद्र, डॉ॰ हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
2. कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खड़ीबोली साहित्य की निर्माण–भूमि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1968
3. मधु अस्थाना, पत्रकारिता का आविर्भाव, सत्य प्रकाशन, दिल्ली, 2013

Chandan kuamr
Dainik Jagran, Dhaia,
Panchsheel campus,
District-Dhanbad (Jharkhand) 826001
Mob. 9472998654

दलित साहित्य और सौंदर्यशास्त्र का सवाल

फातिमा बीवी॰ आर, शोध छात्रा
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय कोच्चि, केरल

साहित्यकार की सौंदर्य चेतना काल सापेक्ष होती है। वह सामाजिक सोच से अभिन्न रहकर अपने सृजन के लिए विषय चुनता है। समकालीन साहित्य और साहित्यकार की सौंदर्य दृष्टि पुरानी परंपरा की दृष्टि से नितांत भिन्न है। समय व परिवेश इस भिन्नता का मुख्य कारण है। साहित्य में सौंदर्य चेतना सामाजिक मूल्यों से निसृत होती है। अब साहित्य दरबारी संस्कृति से बाहर निकलकर पूर्णत: सामाजिक बन गया है। इसलिए साहित्य छंद, अलंकार, रस आदि के चंगुल से निकलकर प्रामाणिक अनुभूति की अभिव्यक्ति पर जोर दे रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्य की गुणवत्ता का मूल्यांकन यदि उसकी कलावादी मूल्यों से होता था तो समकालीन साहित्य की गुणवत्ता का मूल्यांकन उसकी सामाजिकता से हो रहा है। इसलिए अब साहित्य का उद्देश्य मात्र आनंद प्राप्ति नहीं है। आज साहित्य नई सोच और ऊर्जा ग्रहण कर रहा है और अपना विकास कर रहा है। पहले साहित्य को 'सत्यम शिवम सुंदरम' की कसौटी पर रखते थे। लेकिन अब सौंदर्य का निर्माण और उसके आस्वादन के लिए सामाजिक यथार्थ और स्थिति महत्त्वपूर्ण तत्त्व बनकर सामने आता है। इसलिए समकालीन साहित्य में साहित्यिक मूल्यांकन के प्रतिमानों में भी बदलाव देखने को मिलता है। साहित्य के बदलाव के साथ उसके मूल्यांकन की पद्धति और प्रतिमान में बदलाव होना भी जरूरी है। मराठी आलोचक शरणकुमार लिंबाले के शब्दों में, 'कला नामक संकल्पना अस्थिर और परिवर्तनशील होती है। कला का स्वरूप असीमित होने के कारण उसकी निश्चित कसौटी देना संभव नहीं है। बदलती संस्कृति के साथ साहित्य भी बदलता है। यदि ये कसौटियाँ बदलती नहीं हैं तो साहित्य और समीक्षा दोनों का रिश्ता टूट जाएगा।'[1] इसलिए सामाजिक मूल्यों व परिवेश के अनुरूप साहित्य में बदलाव रेखांकित होते हैं और यही बदलाव समीक्षा में भी प्रतिफलित होते हैं। समकालीन साहित्य दृष्टि में आए इस बदलाव दलित साहित्य और उसकी सौंदर्य की दृष्टि में भी देखने को मिलते हैं।

दलित साहित्य जीवनवादी साहित्य है। उसके केंद्र में दलित समाज और उनका प्रतिरोध है। उसकी सौंदर्य दृष्टि प्रतिरोध की सौंदर्य दृष्टि है। इसलिए दलित साहित्य समीक्षा के लिए चिरंतन कसौटियों का प्रयोग करेंगे तो उसकी प्रगति संभव नहीं है। यहाँ पर आकर दलित साहित्य के लिए नए सौंदर्य शास्त्र की आवश्यकता सामने आती है। साहित्य और समीक्षा एक-दूसरे के पूरक हैं। सही समीक्षा के अभाव में साहित्य मुरझा जाता है। इसलिए साहित्य की समीक्षा के लिए उसके अनुरूप कसौटी का निर्माण करना होगा। कसौटियों को समय के अनुरूप बदलना अत्यंत आवश्यक है। लिंबाले इस संदर्भ में कहते हैं कि 'समीक्षा को कलाकृति का विश्लेषण, पृथक्करण और दोष-दिग्दर्शन करना है। कलाकृति के मूल्यांकन के लिए एक की अपेक्षा अनेक कसौटियों का उपयोग करना चाहिए। कलाकृति के अनेक पहलुओं का उचित आकलन होने के लिए उत्कट समरसता और सर्वांगीण विचार प्रणाली आवश्यक है। कलाकृति का उचित मूल्यांकन होने के लिए 'स्थिर कसौटी' अथवा 'निश्चित कसौटी' का आग्रह करना उचित नहीं होगा।'[2] इसलिए दलित

 ISSN 0975-735X

रचनाकार नए सौंदर्यशास्त्र की माँग कर रहे हैं। दलित साहित्य के स्वरूप, उसकी अवधारणा और लक्ष्य मुख्य धारा के साहित्य से नितांत भिन्न है। ऐसे में पुराने सड़ी-गली परंपरा के अंतर्गत आनेवाले प्रतिमानों से दलित साहित्य का मूल्यांकन करना सही नहीं है। उसके लिए नए सौंदर्यशास्त्र और मूल्यांकन पद्धति होनी चाहिए। रमणिका गुप्ता के अनुसार, 'दलित साहित्य का अपना सौंदर्यशास्त्र निर्मित हो रहा है। वर्षों पुराना घिसा-पिटा सौंदर्यशास्त्र अब उसकी कसौटी नहीं बन सकता। सवर्णों का सौंदर्यशास्त्र सत्यम-शिवम-सुंदरम पर आधारित है। उनका वही सत्य दलितों का शोषण रहा है। उनका शिवम दलितों की कुरूपता पर निर्मित होता है। इसलिए वह सौंदर्यशास्त्र दलित साहित्य के लक्ष्य के बिलकुल विपरीत है।'[3] दलित जीवन का सत्य सदियों से हो रहा उनका शोषण है। उनका साहित्य उस शोषण के खिलाफ उपजा विद्रोह है। उसका मूल्यांकन करना है तो पहले उस विद्रोह और उसके पीछे की चेतना को जानना होगा।

किसी भी साहित्य धारा के लिए समीक्षा पद्धति और प्रतिमानों का निर्माण उसके विकास के लिए होता है। दलित साहित्य का विकास दलित दृष्टि से निर्मित हो रहे। सौंदर्यशास्त्र से ही संभव है। इसलिए दलित साहित्य और दलित दृष्टि से दलित समीक्षा होना अनिवार्य है। साहित्य समीक्षा से साहित्य का गुण-दोष विवेचन संभव हो पाता है। यदि दलित साहित्य का सही विवेचन नहीं हो रहा है तो उसका विकास कैसे संभव होगा? अपनी कमियों को जाने बगैर विकास करना संभव नहीं है। इसलिए दलित साहित्य की समीक्षा बिना किसी पूर्वाग्रह से, बिना कोई स्वार्थपूर्ति से, ईमानदारी के साथ होना चाहिए। यह पुराने सौंदर्यशास्त्र से संभव नहीं है।

दलित साहित्य वंचित, उपेक्षित, शोषित दलित जीवन की स्थितियों को लेकर की गई साहित्यिक सर्जना है। वास्तव में दलित साहित्य दलित समाज के लिए सृजनात्मक आंदोलन है। ऐसे जीवनवादी, आंदोलनकारी साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक दृष्टि से होना जरूरी है। समकालीन साहित्य के लिए सौंदर्य की परिकल्पना बदल गई है। अब भी इसको समझे बगैर दलित साहित्यकार के नए सौंदर्यशास्त्र की माँग के विरोध में साहित्य जगत खड़ा हो जाता है। इसका मुख्य कारण दलित साहित्य के सौंदर्यबोध और उसके लक्ष्य के बारे में जानकारी न होना है। पहले साहित्य जगत को इस बात को स्वीकारना होगा कि दलित साहित्य का मूल्यांकन पुरानी दृष्टि से संभव नहीं है। इस संदर्भ में बेचैन जी सवाल उठाते हैं कि 'सवाल यह है कि आखिर सौंदर्य की हमारी अवधारणा क्या है? यदि साहित्य के मूल्यांकन के परंपरागत आधार को हम मान लें तो जैसा कि दलित साहित्य है और लिखा जा रहा है—उसका मूल्यांकन उस आधार पर नहीं हो सकता है। आप हिंदी में मोहनदास नैमिशराय के 'अपने अपने पिंजरे' और ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत 'जूठन' का मूल्यांकन किस प्रकार करेंगे? अगर दलित रचनाकार तयशुदा परंपरागत ढाँचे को अस्वीकार करता है और एक ऐसी रचना आपके सामने रखता है, जो मूल्यांकन के नए आधार की माँग करती है, तब यदि दलित साहित्य नए सौंदर्यशास्त्र की माँग करता है तो उसमें गलत क्या है? इस संदर्भ में दलित साहित्य की भाषा एक चुनौती के रूप में साहित्यशास्त्रियों के सामने खड़ी है कि उस भाषा और उसमें निहित चेतना का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए, क्योंकि दलित साहित्य की भाषा तो साहित्य की परंपरागत भाषा नहीं है।'[4] उनके इस सवाल पर गहराई से चर्चा करना जरूरी है। यदि दलित साहित्य का पूरा ढाँचा ही बाकी साहित्य से भिन्न है तो उसका मूल्यांकन पुरानी दृष्टि से कैसे संभव हो पाएगा? साथ ही दलित साहित्य की भाषा पर ध्यान देने पर पता चलता है कि उसकी भाषा और शैली मुख्य धारा के साहित्य की भाषा से भिन्न है। दलित साहित्य की भाषा दलित जीवन की पीड़ा और आक्रोश से निर्मित भाषा है। प्रतिरोध और

नकार उस भाषा की लहजा है। इस संदर्भ में जयप्रकाश कर्दम कहते हैं, 'दलित का दुख, उसकी पीड़ा, उसके अभाव और उत्पीड़न दूसरे लोगों से अलग हैं, उसकी छटपटाहट और आक्रोश अलग हैं, उसका संघर्ष और स्वप्न भी अलग हैं। जाहिर है अपनी बात को कहने के लिए उसकी भाषा और अंदाज भी अलग होगा।'[5] ऐसी भाषा से निर्मित साहित्य का मूल्यांकन संरचनावादी या कलावादी दृष्टि से नहीं करना चाहिए। दलित साहित्य से परिमार्जित भाषा की माँग करना अन्याय है। मात्र भाषा की दृष्टि से ही नहीं दलित साहित्य में प्रयुक्त बिंब, प्रतीक ,मिथक सब दूसरे से भिन्न हैं। दलित समाज के नग्न यथार्थ को, उनकी व्यथा को व्यक्त करने की क्षमता शिष्ट साहित्य में प्रयुक्त शिल्प, शैली या प्रतीक विधान में नहीं हैं। इसलिए दलित रचनाकार नए शिल्प व शैली का निर्माण कर रहे हैं और पुराने बिंबों, प्रतीकों व मिथकों में नए अर्थ भर रहे हैं। रमणिका जी स्पष्ट करती हैं कि 'दलित साहित्य के प्रतीक भिन्न हैं, जो यथार्थ की कोख से उपजे हैं। ये प्रतीक इनके दैनिक कार्य से जुड़े हैं। वे नफीज और नाजुक नहीं बल्कि खुरदरे हैं, मैले कुचले हैं, भोंडे हैं, पर मजबूत हैं। वे नए नहीं पुराने टूटे-फूटे समान से टेढ़े-मेढ़े, मुड़े-तुड़े होते हैं और जो उनकी अंत्यज दशा और अकिंचनता के प्रतीक होते हैं। वे कल्पना की रंगीनियों के लिए हुए नहीं बल्कि तथ्यों, तार्किक निष्कर्षों तथा सत्य से पैदा होते हैं। झाड़ू, टोकरी, चमड़ा, जूता, सिलाई करने वाला सुआ, चमड़ा छीलने वाला छुरा या अन्य औजार अथवा यंत्र आदि सब उनके दैनिक कार्यों से जुड़े हैं, उनके अपने पुश्तैनी वाद्ययंत्र भी उनके प्रतीक हैं।'[6] दलित साहित्य और उसका चरित्र अपने आप विशिष्ट है। उनका जीवन तथाकथित मुख्य धारा समाज से नितांत भिन्न है। मानवाधिकार से वंचित, सदियों से जाति व्यवस्था के चंगुल में फँसे एक समाज की कथा उनकी अपनी भाषा और शैली में कहना ही उचित है। प्रामाणिक अनुभूतियों का चित्रण सुनिश्चित नियमों के आधार पर करना मुमकिन नहीं है। इसलिए वे अपनी खुद की भाषा यानी दलित भाषा पर अपनी संवेदनाओं का चित्रण करने पर बल देते हैं। ऐसे लिखा गया साहित्य की समीक्षा के लिए नई साहित्य समीक्षा पद्धति का होना जरूरी है।

दलित साहित्य अपने आप में विशिष्ट है। यह ऐसा साहित्य है जिसका निर्माण आह से हुआ है। सदियों से शोषित, पीड़ित, अपने अधिकारों से वंचित एक समाज के रुदन और आक्रोश से उपजा साहित्य है दलित साहित्य। इतिहास से पन्नों से वंचित, युगों से हाशिये में धकेला गया दलित साहित्य अब अपना स्वरूप का निर्माण करके मुख्य धारा के साहित्य जगत में अपना स्थान पा रहा है। ऐसे साहित्य का मूल्यांकन परंपरावादी, वर्चस्ववादी साहित्य सिद्धांत से करना गलत है। दलित साहित्य स्वयं रूढ़ियों व वर्चस्व के विरोध में है। इसलिए दलित साहित्य के लिए प्रतिरोध के नए सौंदर्यशास्त्र का होना अनिवार्य है। ताकि आलोचक दलित साहित्य के साथ नीति कर सकें और दलित साहित्य का विकास संभव हो सके।

संदर्भ

1. दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, शरणकुमार लिंबाले, पृ॰ 108
2. शरणकुमार लिंबले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ॰ 109
3. रमणिका गुप्ता, दलित हस्तक्षेप, पृ॰ 20
4. श्यौराज सिंह बेचैन, चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, भूमिका
5. जयप्रकाश कर्दम, दलित साहित्य सृजन के संदर्भ, संपादक पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, पृ॰ 42
6. रमणिका गुप्ता, दलित हस्तक्षेप, सं॰ ओमपकश वाल्मीकि, पृ॰ 21

itsmefathi2012@gmail.com

श्री गुरुग्रंथ साहिब में पर्यावरण चेतना

गगनदीप कौर, शोधार्थी, हिंदी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
एवं सहा॰ प्रवक्ता, श्री गुरु गोबिंद सिंह खालसा कॉलेज, माहिलपुर
(पंजाब विश्वविद्यालय)
डॉ॰ राजिन्द्र पाल सिंह 'जोश' (से॰नि॰, प्रोफेसर), हिंदी विभाग
स्नातकोत्तर राजकीय कन्या महाविद्यालय, चंडीगढ़

साहित्यकार समाज तथा समय को अपने शब्दजाल में बाँधने का कार्य करता है, इसलिए उसके द्वारा रचित साहित्य युगों तक उस काल की संपूर्ण परिस्थितियों को परिलक्षित करता है। साहित्य जगत् में वही साहित्य सफल माना जाता है जो युगों-युगों तक उस काल एवं उसकी प्रवृत्तियों को तत्कालीन समाज के समकालीन रखता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वही साहित्यिक रचना सार्थक एवं कालजयी है जो युगों तक समाज में चर्चित रहती है। हजारों वर्ष पहले लिखे गए वेद, पुराण, उपनिषद् आदि अमर साहित्य की श्रेणी में आते हैं, यह आज के आधुनिक समाज में भी उतने ही प्रासंगिक है जितने अपने रचनाकाल के समय थे। ठीक इसी प्रकार हिंदी साहित्य के स्वर्णयुग का संत साहित्य आधुनिक समाज में उतना ही प्रासंगिक बना हुआ है जितना तत्कालीन समाज में था। आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास आदि की रचनाओं के साथ-साथ भक्तिकालीन संतों की वाणी का पठन-पाठन होना साहित्य की अमरता एवं गौरव का विषय है। हिंदी साहित्य में भक्तिकाल स्वर्णयुग के नाम से जाना जाता है जिसका कारण है। संत-महात्माओं द्वारा रचित वाणी जिसने जन सामान्य को आध्यात्मिक स्तर पर आह्लादित किया और उनके नैतिक आचरण को ऊँचा उठाने में विशिष्ट योगदान दिया। भक्तिकाल के प्रख्यात कवियों की जब बात की जाती है तब उनमें भक्त कबीर, रैदास, गुरु नानक जैसे संत कवियों का नाम प्रथम श्रेणी में आता है। भक्तिकाल में जहाँ एक ओर कबीर ने विपरीत परिस्थितियों में संत मत का नेतृत्व किया, वहीं श्री गुरु नानकदेव जी के आगमन से त्रस्त संसार को नई रोशनी दिखाई दी। ज्ञान के प्रकाश से उन्होंने इस नाशवान जगत् को सत्य का मार्ग दिखाया तथा मानवता का पाठ पढ़ाया और जीवन को कर्म की ओर अग्रसर करने का उपदेश दिया। गुरु नानकदेव जी द्वारा नए पंथ की नींव डाली गई जिसे 'नानक पंथ' नाम दिया गया। डॉ॰ जयराम मिश्र का कथन है, 'वे अपूर्व दूरदर्शी थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि वर्तमान परिस्थितियों में कौनसा धर्म भारत के लिए और वह भी विशेषत: पंजाब के लिए श्रेयस्कर होगा। इसी विचार से उन्होंने सिक्ख धर्म की स्थापना की। यद्यपि मध्ययुग में भारतवर्ष में अनेक समाज सुधारक हुए पर उन्हें वह सफलता नहीं प्राप्त हुई, जो गुरु नानकदेव जी को प्राप्त हुई।'[1]

भारत में धार्मिक साहित्य की एक सुदृढ़ परंपरा रही है जिसने मनुष्य को मानवता का मार्ग दिखाया है और श्री गुरुग्रंथ साहिब में संकलित गुरुवाणी ऐसे ही साहित्य का उदाहरण है जिसने मानव जीवन में पग-पग पर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। गुरुवाणी की महानता इसी में है कि उसमें

दिए गए संदेश आज भी अमर हैं।

मध्ययुगीन समाज तथा संस्कृति का गहन अध्ययन करना हो तो श्री गुरु ग्रन्थ साहिब से प्रमाणिक ग्रन्थ और कोई नहीं हो सकता। आदिग्रन्थ विश्व का एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसे शब्द गुरु होने का सम्मान प्राप्त है। सिक्ख धर्म से संबंधित छह गुरुओं, चार गुरु घर से संबंधित गुरु सिक्ख, पंद्रह भक्त एवं ग्यारह भाटों की वाणी के साथ-साथ लगभग 500 वर्षों की संस्कृति का इतिहास भी इस ग्रन्थ में समाया हुआ है, जिसका संपादन कार्य श्री गुरु अर्जुनदेव जी द्वारा 1604 में आदिगंन्थ के रूप में किया गया किंतु श्री गुरु गोबिंद सिंह द्वारा 1705 ई॰ में आदि ग्रन्थ में अपने पिताश्री गुरु तेगबहादुर जी की वाणी का संकलन कर इसे श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का नाम देकर शब्द गुरु के स्थान पर स्थापित किया गया। यह विश्व का प्रथम धार्मिक ग्रन्थ है जिसने एक साथ विभिन्न जाति, संप्रदाय के 36 महापुरुषों को एक समान स्थान देकर उनकी वाणी को गौरव प्रदान किया है।

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन पंजाब की भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति को भी समेटा गया है। गुरु साहिबान गुरुवाणी के माध्यम से जनसामान्य तक जो संदेश पहुँचाना चाहते थे उसके लिए उन्होंने अनेक प्रतीकों, संकेतों को माध्यम बनाया है और भाषा की सरलता के साथ अपनी विचारधारा को सामान्य जनता तक पहुँचाया है। वाणी के विषय क्षेत्र की विशालता ही है कि आज गुरुवाणी का सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ उसमें पर्यावरण के बिंदु भी खोजे जा रहे हैं। गुरुवाणी की अपनी वैज्ञानिक महत्ता भी है, विज्ञान जो तथ्य आज मनुष्य के समक्ष प्रकट रही है वह गुरुवाणी में अनेक वर्ष पूर्व स्पष्ट कर दिए गए हैं। वाणी में मनुष्य के आस-पास की प्रत्येक वस्तु-घटना, समाज, प्रकृति आदि का चित्रण हुआ है। परमसत्ता के महत्त्व को उदघाटित करना वाणी का परम उद्देश्य रहा है किंतु उसके साथ प्रकृति को भी जोड़कर देखा गया है। किंतु कहीं प्रकृति की पूजा/अर्चना करते नजर नहीं आते। बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड इत्यादि को उस परमसत्ता के अधीन चलते दिखाते हैं।

प्रकृति और पर्यावरण का सीधा संबंध है। इसलिए हम प्राकृतिक संकेतों में पर्यावरण के चिंतनीय बिंदु ढूँढने का प्रयास करते हैं। पर्यावरण को गहराई तक जान पाना मनुष्य के लिए कठिन कार्य है किंतु गुरुवाणी में पर्यावरण के प्रत्येक तत्त्व को जीवित रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पर्यावरण क्या है?

डॉ॰ मधु अस्थाना 'पर्यावरण : एक संक्षिप्त अध्ययन' नामक अपनी पुस्तक में पर्यावरण शब्द पर विचार करते हुए लिखती हैं, 'पर्यावरण शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के इन्वारोरेन (envororen) शब्द से हुई है जिसका अँग्रेजी अनुवाद है, इन्वायरनमेंट (Environment) इसका अर्थ है 'द राऊंड' (The Round) अर्थात् चतुर्दिक घेरता हुआ। हिंदी भाषा का पर्यावरण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है–परि एवं आवरण। 'परि' का अर्थ है 'चारों ओर' और 'आवरण' का अर्थ है 'घेरा' अर्थात् हमारे चारों ओर जो भी प्राकृतिक और मानव निर्मित चीजें हैं, जिसमें हम सभी तथा अन्य जीवधारी रहते हैं, सब मिलकर पर्यावरण का निर्माण करती हैं।'[2]

सामान्य अर्थ में पर्यावरण हमारे चारों ओर बना हुआ घेरा है जिसमें जैविक, अजैविक सभी तत्त्व समा जाते हैं, जिसका वर्णन बेहद संजीदगी से गुरुवाणी के माध्यम से किया जा रहा है। डॉ॰ ओमप्रभात अग्रवाल के अनुसार, 'पर्यावरण की एक सामान्य सी परिभाषा हो सकती है–वह प्राकृतिक परिवेश जिसमें मनुष्य अपना जीवन जीता है।'[3]

'प्रकृति को यहाँ 'कुदरत' शब्द से चित्रित किया गया है। गुरुवाणी में शब्दों का जो चयन

किया गया है वह अपने-आपमें विलक्षण है। वास्तव में वाणी का मूल उद्देश्य प्रकृति-चित्रण तथा पर्यावरण चेतना नहीं रहा अपितु उस परमसत्ता, परमात्मा तथा ईश्वरीय ज्ञान को प्रकट करने तथा मनुष्य तक अपने विचार पहुँचाने के लिए इस माध्यम को अपनाया गया है। किंतु इस बात से मुँह नहीं फेरा जा सकता कि अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरणीय बिंदु यदा-कदा वाणी से जुड़े हुए हैं। गुरुवाणी में किया गया शब्द चयन, प्रतीक, बिंब-विधान में फूल-फल, पेड़-शाख, जल-बूँद, पवन-पानी, आकाश, हंस, सरोवर इत्यादि का उदाहरण लिया जा सकता है जहाँ परमात्मा की सत्ता के साथ-साथ ये सभी वाणी में स्थान प्राप्त कर गए हैं।

मनुष्य का मनुष्य से संबंध, मनुष्य का पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, स्थान इत्यादि से संबंध प्रकृति के अंतर्गत आता है जिसे यहाँ कुदरत का नाम दिया गया है। देखा जाए तो यह सभी पर्यावरण के महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं तथा समाज और संस्कृति भी इसके दायरे से बाहर नहीं हैं। मनुष्य का जीवन केवल एक ही ग्रह पर संभव है और वह है पृथ्वी, जो संपूर्ण ब्रह्मांड का एक हिस्सा है जिसे उस परमसत्ता के अंतर्गत चलते माना गया है–

हुकम अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोई।[4]

संपूर्ण कायनात को उस परमात्मा के अंतर्गत माना गया है, गुरुवाणी में यह दिखाई देता है कि हवा, सूर्य, पृथ्वी, आकाश जो भी पर्यावरण के प्रमुख अंग है उस परमशक्ति से डरकर अपना कार्य व्यापार करते नजर आते हैं, यथा–

भै विचि पवणु वहै सदवाउ।
भै विचि चलहि लख दरीआउ।
मैं विचि अगनि कढ़े वेगारि।
मैं विचि धरती दबी भारि।
भै विचि इंदु फिर सिर भारि।
मैं विचि राजा धरम दुआरु।
भै विचि सूरजु भै विचि चंदु।[5]

संपूर्ण सृष्टि को उस परमात्मा की इच्छा के अंतर्गत माना गया है, मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को देखा जाए तो उसमें मिट्टी, पानी, हवा तथा समाज का अहम योगदान रहता है। मिट्टी के बिना खाद्य पदार्थ नहीं और पानी के बिना भूमि उर्वर नहीं, हवा के बिना श्वास नहीं लिया जा सकता, इस तरह यह सभी तत्त्व परस्पर संबंधित हैं। गुरु नानक वाणी में इन सभी के महत्त्व को देखते हुए ईश्वर की महिमा को भी स्पष्ट किया गया है। धरती को माँ तथा पानी को यहाँ पिता कहा गया है–

पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु।
दिवस राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु।[6]

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में यह पंक्ति थोड़े अंतर के साथ दूसरी बार महला 2 श्री गुरु अंगददेव जी की वाणी के अंतर्गत लिखी आती है–

पउणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु।
दिनसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु।[7]

महला 1 और महला 2 की वाणी की इन पंक्तियों में अधिक अंतर नहीं है जहाँ श्री गुरु नानक वाणी में 'पवणु' कहा गया है वही श्री गुरु अंगददेव जी की वाणी में 'पउणु' शब्द आता है।

ठीक इसी प्रकार दिवसु-दिनसु का अंतर पाया जाता है किंतु ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों में हवा, जल, धरती के महत्त्व को रेखांकित किया गया है जो मनुष्य के लिए चिंतन के विषय हैं।

श्री गुरु अमरदास जी अपनी वाणी में मानते हैं कि जल से ही सभी कुछ होता है तथा वह इस बात पर भी विचार करते हैं कि पानी के बिना प्यास नहीं जा सकती। इसलिए पानी अमूल्य है। वह निर्गुण परमात्मा रूपी जलपान करने की महत्ता को उजागर करती हैं कि उसको पीने के पश्चात् भूख भी नहीं लगती–

जल ही ते सभ ऊपजै बिनु जल पिआस न जाइ।
नानक हरि जलु जिनि पीआ तिसु भूख न लागै आइ।[8]

मनुष्य के जीवन में पानी के महत्त्व को हम भलीभाँति जानते हैं वही उसके जीवन का मूलाधार भी हैं, जल से ही मानवीय जीवन का प्रारंभ भी माना जाता है। गुरुवाणी में भी धरती पर जन्म लेने वाले पहले प्राणी के बारे में लिखा गया है कि पृथ्वी पर जन्म लेने वाला प्राणी जलीय जीव है जिससे धीरे-धीरे जीवन का विकास हुआ जिसका परिणाम मानव जीवन के रूप में देखा जा सकता है, इस तरह पृथ्वी पर जीवन के लिए पानी कितना महत्त्व रखता है, यह स्पष्ट होता है। आज पानी के प्रति हमारी अचेतना आने वाले समय में कितनी भयावह हो सकती है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि जल ही जीवन है–

पहिला पाणी जीउ है जितु हरिआ समु कोइ।[9]

अथवा–

साचे ते पवना भइआ पवने ते जलु होइ।
जल ते त्रिभवणु साजिआ घटि घटि जोति समोइ।[10]

यहाँ इस बात को स्पष्ट किया गया है कि उस सच्चे परमात्मा से पवन/वायु का जन्म हुआ है और वायु से जल बना है, जल से जीवन की लीला शुरू हुई और प्रत्येक जीव के अंदर उस ईश्वर का वास हो गया। सीधे अर्थों में देखा जाए तो परमात्मा का प्रत्यक्ष संबंध जल, वायु तथा जीवन से जुड़ा हुआ है। गंदा पानी कितने रोगों को जन्म देता है इस बात को सभी जानते हैं इसलिए प्रत्येक चेतन व्यक्ति पानी की निर्मलता पर ध्यान देता है। पानी की स्वच्छता, मिठास कितनी आवश्यक है इस पर भी यहाँ विचार किया गया है–

कलर केरी छपड़ी आइ उलथे हंझ।
चिंजू बोड़न्हि ना पीव हिउडण संदी डंझ।[11]

गुरुवाणी में पर्यावरण के इस फैलाव को उस परम पिता का ही रूप माना गया है और प्रत्येक जीव को चेतन रखने हेतु परमात्मा स्वयं उसमें निवास करते हैं और इस संसार की प्रत्येक वस्तु में उसकी सत्ता पाई जाती है। 'आसा दी वार' में यह स्पष्ट हुआ है कि उस परमात्मा ने कुदरत का सृजन किया और उसके पश्चात उसे सुचारू ढंग से चलाने के लिए उसी में निवास कर लिया–

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है राचिओ नाउ।
दुयी कुदरत साजीऐ करि आसणु डिठो चाउ।
दाता करता आपि तूं तुसि देवहि करहि पसाउ।[12]

गुरुवाणी के अनुसार उस परम सत्ता ने संपूर्ण प्रकृति को अपने साथ बाँध रखा है। मनुष्य के जीवन में धरती और माँ दोनों की अहम भूमिका रहती है। भारतीय संस्कृति में धरती को भी माँ का स्थान प्राप्त हैं क्योंकि वह भी मनुष्य का पालन पोषण माँ की तरह ही करती है। माँ की तरह

ही अपनी संतान के लिए कष्ट सहती है। अपनी छाती पर हल चलवाकर उसे अनाज के रूप में भोजन प्रदान करती है और मनुष्य की भूख मिटाती है। धरती और माँ सहनशीलता का प्रतिबिंब हैं। गुरुवाणी में बारह माह का वर्णन करते हुए धरती की सहनशीलता तथा त्याग की बात की गई है कि धरती किस प्रकार सूर्य से आने वाली गर्मी अपने भीतर समा लेती है–

आसाडु मला सूरजु गगनि तपै।
धरती दूख सह सोखे अगनि भखै।[13]

धरती अपने-आपमें सहनशीलता की मिसाल है जो मानव को भी सहनशील बनने की ओर प्रेरित करती है, जो अच्छे सामाजिक पर्यावरण निर्माण की ओर प्रथम कदम माना जा सकता है। प्रकृति के साथ सामंजस्य बैठाना और उस परमात्मा से मिलन के लिए हृदय का उत्सुक होना बारह माह में दिखाई देता है। इसमें प्रकृति की सुंदरता तथा उसके प्रभाव से पर्यावरण में फैला हुआ परमात्मा का रूप दिखाई देता है। यहाँ विभिन्न पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों के माध्यम से प्रकृति के सौंदर्य तथा ईश्वर से मिलन की इच्छा को प्रस्तुत किया गया है–

चेतु बसंतु भला भवर सुहावडे।
बन फूले मंझ बारि में पिरु घरि बाहुडे।
पिरु घरि नहीं आवै धन किंउ सुखु पावै विरहि विरोध तनु छीजै।
कोकिल अम्मवि सुहावी बोलै किउ दुखु अंकि सहीजै।
भवरु भवंता फूली डाली किउ जीवा मरू माए।
नानक चेति सहजि सुख पावे जे हरि वरु घरि धन पाए।[14]

यहाँ प्रकृति की प्रक्रिया को भी देखा जा सकता है किस तरह प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। ऋतुचक्र भी भौतिक पर्यावरण का ही अंग है। इसलिए हम देखते हैं कि यहाँ पर अनेक ऋतुओं का भी वर्णन आया है। श्री गुरु नानकदेव जी अपनी वाणी में कुदरत को प्रस्तुत करते हुए मानव को ब्रह्मांड के प्रति सचेत करते हैं–

सूरजु एको रुति अनेक।
नानक करते के केते वेस।[15]

जैविक पर्यावरण, पर्यावरण का बेहद महत्त्वपूर्ण अंग है जिसके अंतर्गत पर्यावरण के अधिकतर घटक समाहित हो जाते हैं जैसे–पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि। मूलत: इसके दो भाग हैं–(1) वनस्पति जगत, (2) प्राणी जगत।

शिवानंद नौटियाल विचार करते लिखते हैं, 'तात्पर्य यह है कि संपूर्ण प्राणी जगत, पृथ्वी जगत, पृथ्वी में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के ही सहारे जिंदा रहता है और इन वनस्पतियों को उत्पन्न करने में अनेक प्राणदायी गैसें और विभिन्न ब्रह्मांडों से आने वाली शक्तिशाली किरणों का विशेष योगदान रहता है। तभी पृथ्वी रहने योग्य होती है। वस्तुत: पृथ्वी में हवा, पानी, मिट्टी, पेड़-पौधे जीव-जंतुओं और मानव का सक्रिय सहयोगात्मक संतुलन रहता है। पेड़-पौधे भूमि को उपजाऊ मिट्टी को बाँधकर रखने, धरती की जीवनीय शक्ति को अक्षुण्ण रखने, बरसात करवाने, जल तथा वायु को स्वच्छ करने और हवा-पानी को विनाशकारी (आंधी, तूफान तथा बाढ़) से रोकने का कार्य करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य को जिंदा रखने के लिए धरती की प्रत्येक वनस्पति का बहुत बड़ा योगदान रहता है।'[16]

वृक्षों की बात करें तो श्री गुरु अर्जुनदेव जी करोड़ों की संख्या में वृक्षों की पैदावार मानते

हैं जो कि उस परमात्मा के प्रभाव स्वरूप ही है–'कई कोटि पाथर बिरख निपजाए।'[17]

पेड़-पौधे संपूर्ण प्राणी-जगत् के जीवन में क्या महत्त्व रखते हैं यह उनकी उपयोगिता ही सिद्ध कर देती है। मनुष्य को शुद्ध प्राण वायु से लेकर, भोजन पकाने, घर बनाने तक के लिए लकड़ी की आवश्यकता पड़ती है तथा पेड़-पौधों से प्राप्त खाद्य पदार्थ फूल-फल, पत्तियाँ, कंद-मूल उपयोगी रहती हैं। यहाँ तक कि मृत्यु के समय शव को जलाने में भी अधिकतर लकड़ी ही प्रयोग में लाई जाती हैं। पशु-पक्षियों के जीवन को देखा जाए तो उनका तो प्रमुख आधार ही पेड़-पौधे हैं जिनके पास वे आश्रय लेते हैं। पशु अधिकतर इनका सेवन करते हैं तथा पक्षी फूल-फल खाने के साथ-साथ अपना घोंसला पेड़ों पर बनाकर जीवन निर्वाह करते हैं। इसलिए मानव के साथ-साथ अन्य प्राणी जगत् के लिए भी वनस्पति जगत् वैसे ही प्राणदायक बना हुआ है–

परंदऐ न गिराह जर।
दरखत आब आस कर।
दिहंद सुई।
एक तुई एक तुई।[18]

कुछ दशक पूर्व तक पर्यावरण के अंतर्गत केवल जल, जमीन, वायु आदि को ही रखकर देखा जाता था किंतु आज समाज-संस्कृति भी पर्यावरण का प्रमुख अंग है। सही अर्थों में मनुष्य का आस-पास का आवरण ही पर्यावरण है तो उसमें उसका समाज भी उतना ही महत्त्व रखता है। गुरुवाणी में वैर-विरोध से दूर, सामंजस्य से भरपूर सहृदय की भावना से ओत-प्रोत समाज की कामना की गई है। वाणी ने जनसामान्य के दिलो-दिमाग से पाखंड को दूर करने में अहम भूमिका निभाई है। भारतीय समाज में जाति-पाति का भेदभाव विशाल फलक पर होता रहा है जो एक सामाजिक बुराई है। श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की वाणी में इसका विरोध दिखाई देता है, जिसके फलस्वरूप एक अच्छे समाज की नींव डाली जा सकती है–

मंदा किसै न आखीऐ पडि अखरु एही बूझीऐ।।[19]

मनुष्य एक ही भगवान की रचना है, एक ही माला के फूल हैं। उनमें कोई भेद-भाव नहीं। वे एक ही समाज के निर्माता हैं। यहाँ सभी जीवों में परमसत्ता को विद्यमान मानते हुए मनुष्य की समानता का संदेश दिया है। धर्म, जाति, नस्ल, रंग आदि असमानताओं से दूर रहते हुए गुरुवाणी कुछ इस तरह का संदेश देती है–

सभ महि जोति जोति है सोइ।
तिस दै चानणि सभ महि चानणु होइ।[20]

गुरुवाणी में चर्चा करते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे विषय-विकारों के प्रति जाग्रत किया गया है जिससे सामाजिक पर्यावरण के प्रति चेतना पैदा हो सकती है। इसके साथ ही गुरु साहिबान अपनी वाणी में समाज को सीख देते हैं कि मनुष्य को सदैव मीठी वाणी बोलनी चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति फीका बोलते हैं उनमें से प्रेम समाप्त हो जाता है जिससे सामाजिक पर्यावरण में रूखापन बढ़ता है–

नानक फिके बोलिए तनु मनु फिका होइ।
फिको फिका सदीऐ फिके फिकी सोइ।
फिका दरगह सटीऐ मुहि थुका फिके पाए।
फिका मूरखु आखीऐ पाणा लाहै सजाए।[21]

गुरुवाणी में मूल्य अपना अलग महत्त्व रखते हैं। मनुष्य का आचरण ही उसको समाज में सम्मान दिलाता है और समाज को उचित रूप दिलाने का कार्य भी करता है। गुरुवाणी में आचरण की उच्चता को यहाँ अधिक सराहा गया है–

सचहु उरै सभु को उपरि सचु आचारु।[22]

इन सभी विषयों के इलावा प्रकृति तथा परमसत्ता के अटूट संबंध को सिद्ध करते हुए उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण के प्रति चेतना दिखाई है। अपने चारों ओर वातावरण के प्रति सजग रहते हुए उन्होंने अनेक उदाहरणों के माध्यम से पर्यावरण के तत्त्वों को अनायास ही प्रस्तुत किया है तथा संसार की प्रत्येक वस्तु में उस भगवान की सत्ता को स्वीकार किया है जिसके फलस्वरूप हमारा नैतिक दायित्व बन जाता है कि हम अपने पर्यावरण की रक्षा करें।

संदर्भ

1. जयराम मिश्र, श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2019, पृ॰ 58
2. अस्थाना, मधु, पर्यावरण : एक अध्ययन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ॰ 2
3. अग्रवाल, ओम प्रभात, पर्यावरण दर्शन, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण प्रथम 2017, पृ॰ 13
4. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, श्री अमृतसर, संस्करण 2016, अंग, पृ॰ 01
5. वही, अंग, पृ॰ 464
6. वही, अंग, पृ॰ 08
7. वही, अंग, पृ॰ 146
8. वही, अंग, पृ॰ 1420
9. वही, अंग, पृ॰ 472
10. वही, अंग, पृ॰ 19
11. वही, अंग, पृ॰ 1380
12. वही, अंग, पृ॰ 463
13. वही, अंग, पृ॰ 1108
14. वही, अंग, पृ॰ 1107-08
15. वही, अंग, पृ॰ 12
16. नौटियाल शिवानंद, पर्यावरण समस्या और समाधान, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं॰ 2018, पृ॰ 14
17. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, श्री अमृतसर, सं॰ 2016 अंग 275
18. वही, अंग, पृ॰ 144
19. वही, अंग, पृ॰ 473
20. वही, अंग, पृ॰ 13
21. वही, अंग, पृ॰ 473
22. वही, अंग, पृ॰ 62

Gagandeep Kaur
#3375, 15 D Chandigarh 160015
Mob.8360143683
gagandeepkaur2391@gmail.com

राष्ट्रीय स्वाधीनता समर का एक विस्मृत स्तंभ : जबलपुर नगर का झंडा सत्याग्रह

गोविन्द पांडेय, शोध छात्र, इतिहास विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म०प्र०)
डॉ० आर०के० बिजेता, सहा० प्राध्यापक, इतिहास विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म०प्र०)

स्वाधीनता के इस महासमर में घटित बलिदानियों की गौरव गाथाएँ आज भी हमारे हृदय में ऊर्जा का संचार करती हैं। इतिहास में आजादी के कई वृतांत लिखे तो गए लेकिन कुछ इतिहास के पन्नों में मात्र किस्से बनकर रह गए। स्वाधीनता के इस आह्वान में मध्यप्रांत के जबलपुर नगर ने भी आंदोलन जीवियों की कई पीढ़ियाँ देखी हैं। महाकौशल क्षेत्र ने रानी दुर्गावती की शौर्यगाथा से लेकर सुभाषचंद्र बोस के ओजपूर्ण भाषण का उत्साह आज भी अपने हृदय में सँजोकर रखा हुआ है। इसी शृंखला में जबलपुर नगर एक राष्ट्र उत्प्रेरक आंदोलन का जनक भी रहा। जबलपुर में हुए इस शंखनाद ने अँग्रेज सरकार को यह भली-भाँति अनुभूत करा दिया कि भारतभूमि का प्रत्येक सत्याग्रही अपने हृदय के भीतर एक असीम ऊर्जा और क्रांति सँजोए हुए है। जबलपुर का दुर्भाग्य ही रहा होगा कि 'झंडा आंदोलन' या 'ध्वज सत्याग्रह' जैसे तार्किक अहिंसावादी आंदोलन के सफल संचालन के बाद भी इतिहास की पुस्तकों में इसे आज भी अपने अस्तित्व को तलाशना पड़ रहा है। झंडा आंदोलन, जिसने अपने स्फूर्त संचार से भविष्य में राष्ट्रीय महत्त्व को प्राप्त किया था, को आज भी इतिहास में पर्याप्त स्थान नहीं मिला है।

प्रस्तुत शोध आलेख झंडा आंदोलन में जबलपुर नगर का क्या योगदान रहा, इसका विश्लेषण करता है। इस शोध पत्र में विभिन्न प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों पर आधारित अभिलेखीय साक्ष्यों का उपयोग किया गया है। इस शोध पत्र के एक पहलू पर आलोचनात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग भी किया गया है। चूँकि यह शोध पत्र किसी घटना विशेष के पुनः अन्वेषण से संबंधित है अतः शोध हेतु ऐतिहासिक शोध पद्धति का प्रयोग हुआ है। साथ ही विश्लेषणात्मक शोध विधि का प्रयोग करते हुए निष्पक्ष निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

इतिहास अतीत से वर्तमान के बीच चलने वाला निरंतर संवाद है। लेकिन भारतीय इतिहास के लेखन में यह कुछ विकीर्ण-सा परिलक्षित होता है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम जो कि आधुनिक भारतीय इतिहास का एक प्रमुख पहलू है, के संदर्भ में व्यापक तौर पर गहन लेखन हुआ है। इतिहास लेखन को अधिक विस्तारित बनाने के फलीभूत इतिहास के कुछ पहलुओं पर तो विशेष अध्ययन हुआ लेकिन कुछ पक्षों को गैर जरूरी मान लिया गया। पिछले कुछ दशकों में इतिहास अध्ययन के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टगोचर हुए हैं। यह शोधपत्र भी उसी शृंखला का हिस्सा बनने हेतु आतुर है। जैसा कि विदित है कि वर्तमान में विभिन्न स्थानों, विस्मृत कर दिए गए नायकों को उनके शौर्य हेतु इतिहास में स्थान प्रदान करने हेतु प्रयास किए जा रहे हैं। साथ ही ऐसी कपोलकल्पित

 ISSN 0975-735X

विचारधाराओं जिन्होंने हमारे इतिहास को दूषित किया, का खंडन भी किया जा रहा है।[1] इसी क्रम में जब हम देखते हैं कि झंडा सत्याग्रह जो वर्ष 1923 में जबलपुर नगर में घटित हुआ था यह जबलपुर नगर ही नहीं वरन् संपूर्ण भारत के लिए गौरवमयी घटना थी क्योंकि ब्रिटिश शासन के दौर में किसी शासकीय इमारत में तिरंगा झंडा फहराया जाना देश में पहली बार घटित हुआ था।[2] इस घटना की प्रतिक्रिया पूरे देश में हुई और जगह-जगह इसकी अनुकृति की गई। झंडा आंदोलन ने देश में राष्ट्रीय महत्त्व को प्राप्त किया और राष्ट्र में यह संदेश प्रसारित किया कि छोटे स्थान में उद्‌भव होने वाली चिंगारी भी पूरे देश में क्रांति की ज्वाला का रूप धारण कर सकती है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता समर में मध्यप्रांत का महाकौशल क्षेत्र अपनी अहम भूमिका का निर्वाह करता है। बालगंगाधर तिलक जैसे कुशल राष्ट्रवादी नेतृत्व के निधन के पश्चात भारतीय स्वाधीनता समर में एक नवीन आयाम का अर्थात् अहिंसा और सत्य के युग का उदय हुआ। इस अहिंसात्मक क्रांति ने राष्ट्रीय भावना का ऐसा ज्वार खड़ा किया जिसने प्रत्येक भारतीय को स्वाधीनता संघर्ष में सहभागी बनने का साहस प्रदान किया। असहयोग आंदोलन की प्रगति और हिंदू-मुस्लिम एकता की जाँच के लिए वर्ष 1922 में काँग्रेस महासमिति ने एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी में पंडित मोतीलाल नेहरू, डॉ॰ अंसारी, विट्ठलभाई पटेल, राजगोपालाचारी एवं कस्तूरी रंगा सम्मिलित थे।[3] यह कमेटी अपनी देशव्यापी कार्ययोजना के मंतव्य एवं प्रगति की जानकारी हेतु दौरा करते हुए अक्टूबर 1922 में जबलपुर पहुँची। जबलपुर नगरपालिका सदस्यों ने देश के अग्रज नेताओं के स्वागत हेतु नगरवासियों की तरफ से एक मानपत्र अर्पित किया और अतिथियों के सम्मान में नगर के टाउन हाल में तिरंगा झंडा फहरा दिया गया।[4] यह देश में घटित होने वाली पहली घटना थी जब देश की किसी भी सार्वजनिक इमारत में तिरंगा झंडा फहराया गया हो। इस घटना ने देश में चिंगारी का कार्य किया और यह खबर लंदन में ब्रिटिश पार्लियामेंट तक जा पहुँची। इस घटना हेतु लार्ड विनटरडन को जवाब तलब किया गया और लार्ड ने आश्वासन दिया कि अब बगावत के प्रतीक तिरंगे झंडे को फहराने की घटना दुबारा न होगी।

लेकिन भारतीय राष्ट्रवादियों का लहू इतना कमजोर न था कि अँग्रेजों की किसी धमकी से भयाक्रांत हो जाए। मार्च 1923 में एक शिष्ट मंडल जिसमें बाबू राजेंद्र प्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, देवदास गांधी और मौलाना मुअज्जम अली सम्मिलित थे जबलपुर पहुँचा।[5] काँग्रेस द्वारा चलाए जा रहे रचनात्मक कार्यों के विस्तार और प्रगति के बारे में जानकारी के उद्देश्य से इस शिष्ट मंडल का आगमन हुआ था। पूर्व की भाँति इस बार पुनः जबलपुर नगरपालिका ने मानपत्र भेंट करने का निश्चय किया। इस समय नगरपालिका के सभापति बाबू कंछेदीलाल जैन थे जबकि डिप्टी कमिश्नर ब्लैनर हैसिट था। सभापति बाबू कंछेदीलाल के द्वारा हैसिट को यह सूचना दी गई कि मानपत्र के साथ ही टाउनहाल पर तिरंगा भी फहराया जाएगा। लेकिन डिप्टी कमिश्नर ने तिरंगे के साथ यूनियन जैक लगाने का प्रस्ताव रखा। इस संदर्भ में बाबू कंछेदीलाल ने अपना जवाब भेजा जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा कि टाउन हॉल में मानपत्र देते समय मात्र एक ही झंडा फहराया जाएगा और वह होगा राष्ट्रीय झंडा 'तिरंगा'।[6] यह जवाब ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदों को एक चुनौती के रूप में लगा और इसी घटना ने झंडा सत्याग्रह के लिए पर्याप्त और प्रभावी पृष्ठभूमि तैयार की।

मानपत्र दिए जाने का दिन निश्चत किया गया लेकिन पूर्वसूचना के अनुरूप डिप्टी कमिश्नर के आदेश पर टाउनहॉल को पुलिस द्वारा घेर लिया गया, परिणामस्वरूप नगरपालिका सदस्य उस दिन नेताओं से मुलाकात नहीं कर सके। चूँकि कमेटी इस अवसर की तलाश में ही थी कि सत्याग्रह

करने का अवसर मिले अत: तिलकभूमि (अलफ खान तलैया) नामक स्थान पर विशाल जनसभा आयोजित की गई। इस सभा में राजगोपालाचारी और बाबू राजेंद्रप्रसाद ने जन आह्वान किया[7] और राष्ट्रीय झंडे के सम्मान हेतु सभी से आगे आने हेतु कहा। मध्यप्रदेश काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पं॰ सुंदरलाल ने सभी को विश्वास दिलाया कि वे स्वयं तथा जबलपुर का जनमानस राष्ट्रीय झंडे की आन-बान-शान हेतु सहर्ष प्राण देने हेतु भी तैयार हैं।

अब राष्ट्रीय आंदोलन में झंडा प्रतीक मात्र नहीं था वरन् सत्याग्रह का पर्याय हो चुका था। सत्याग्रह की तैयारियाँ जोरों पर की जाने लगीं। जिसमें पं॰ सुंदरलाल, सुभद्राकुमारी चौहान, ताजुद्दीन, अब्दुल रहीम वकील, माखनलाल चतुर्वेदी की टोली कार्यक्षेत्र में उतरी। अंतत: 18 मार्च 1923 का दिन सत्याग्रह हेतु निश्चित हुआ।[8] पूरा जबलपुर नगर एक अलग ही उत्साह में सराबोर था। सभी राष्ट्रवाद के प्रतीक तिरंगे ध्वज को टाउन हॉल में फहराने हेतु उत्साहित थे। सत्याग्रह की शुरुआत एक जुलूस के रूप में हुई जो ओमती पुल से होते हुए आगे बढ़ा। इसी बीच जबलपुर के जोशीले युवक जो अपने पौरुष और राष्ट्रभावना के द्वारा मातृभूमि के प्रति समर्पण हेतु तैयार थे, इन्हीं युवकों की टोली में से कुछ युवक जो जुलूस के अंत में चल रहे थे, उन्होंने बड़ा ही साहसिक कदम उठाया। उस्ताद प्रेमचंद के नेतृत्व में सीताराम जाधव, खुशहाल चंद जैन और प्रेमचंद जैन ने पुलिस की घेराबंदी को तोड़कर, गुप्तरूप से विद्युत प्लेटस् के सहारे सरकारी भवन पर चढ़कर टाउनहाल के ऊपरी गुंबद पर तिरंगा फहराया दिया। जबलपुर नगर में टाउनहाल में तिरंगा झंडा फहराए जाने की घटना झंडा सत्याग्रह के बिगुल की सफल शुरुआत मानी गई। जब पुलिस की नजर तिरंगे पर पहुँची तो झंडे को जबरदस्ती नीचे उतरकर पैरों से रौंद दिया गया।[9] झंडा फहराने वाले चारों युवकों को कोतवाली थाने में बंद कर दिया गया। शासन द्वारा पूरे नगर में धारा 144 लागू कर दी गई। तत्कालीन पुलिस कप्तान बंबावाले ने जुलूस को सिविल लाइंस पहुँचने से पहले रोक दिया। पं॰ सुंदरलाल, सुभद्राकुमारी चौहान[10], चिदंबरम पिल्लई, विश्वंभरनाथ पांडेय, प्यारेलाल, गोपाल महाराज जलवाले, देवीप्रसाद शुक्ल 'नीमपत्ती', माखनलाल चतुर्वेदी, ओंकारप्रसाद विश्वकर्मा, कंछेदीलाल पाठक, छिंगेलाल स्वर्णकार आदि भारत माता के सपूत हाथ में झंडा लेकर आगे बढ़े और पुलिस के द्वारा सभी को गिरफ्तार कर लिया गया। अगले दिन रिहाई के पश्चात जब पं॰ सुंदरलाल ने झंडे की माँग की तो पुलिस अधिकारी द्वारा यह कहा गया कि वह वापिस नहीं होगा। इसके जवाब में सुंदरलाल ने कहा कि 'राष्ट्रीय झंडे के अपमान से जनता के आक्रोश की ऐसी चिंगारी निकलेगी जिससे ब्रिटिश साम्राज्य भस्म हो जाएगा।' इस जवाब के बाबत पं॰ सुंदरलाल को 6 माह की सजा सुनाई गई। इस घटना के बाद उन्हें लोगों ने 'तपस्वी' कहना प्रारंभ कर दिया।[11]

इसी समय देवीप्रसाद शुक्ल 'नीमपत्ती' नामक एक सत्याग्रही ने प्रतिज्ञा ली कि जब तक जबलपुर नगरपालिका भवन पर झंडा न चढ़ाया दिया जाएगा तब तक वे केवल नीमपत्ती और जल का सेवन करेंगे। बाद में उनका यह संकल्प पूरा भी हुआ। उसी समय नागपुर में सरदार वल्लभभाई पटेल को कार्यकारिणी द्वारा झंडे के संबंध में सत्याग्रह का नेतृत्व सौंपा गया। सेंट्रल प्राविन्स की राजधानी होने के कारण नागपुर में पटेल जी के नेतृत्व में यह नगर 'झंडा सत्याग्रह' का केंद्र बन गया।[12] यह सत्याग्रह 110 दिनों तक चला। जिसमें लगभग 1265 सत्याग्रही तत्कालीन मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों से सम्मिलित हुए। नागपुर में हुए इस 'झंडा सत्याग्रह' में जबलपुर से भी तीन जत्थे शामिल हुए थे जिनका नेतृत्व विश्वंभरनाथ पांडेय, माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान ने किया था। लगभग 110 दिनों तक चलने के बाद यह आंदोलन 17 अगस्त 1923 को समाप्त

हुआ।[13] राष्ट्रीय झंडे की आन और सुरक्षा के लिए जिस आंदोलन की चिंगारी जबलपुर नगर में प्रारंभ हुई थी वह नागपुर में राष्ट्रीय ज्वाला बनकर उभरी।

जबलपुर में हुए 'झंडा सत्याग्रह' ने जिस प्रकार सभी को एक सूत्र में बाँध दिया था वह अतुलनीय था। नाथुराम मोदी का जिक्र इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि इस 'झंडा सत्याग्रह' हेतु उन्हें सश्रम 1.5 वर्ष का कारावास हुआ था।[14] प्रश्न यह उठता है कि क्यों जबलपुर नगर को इस आंदोलन हेतु श्रेय नहीं दिया जाता है। जब आंदोलन जबलपुर में प्रारंभ हुआ, इसकी प्रगति जबलपुर में रही तो इसका कार्यक्षेत्र क्यों स्थानांतरित किया गया। खैर, जो भी रहा हो लेकिन आज भी झंडा सत्याग्रह का मूल उद्‌गम स्थान जबलपुर नगर ही है।

निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि जबलपुर में प्रारंभ हुए आंदोलन ने एक अमिट प्रगति प्राप्त की और पूरे देश में जबलपुर नगरवासियों ने अपने नेतृत्व के कौशल का परिचय कराया। केवल झंडा सत्याग्रह ही नहीं, वरन् आजादी के समस्त आंदोलनों में जबलपुर के जनसामान्य की अप्रतिम भूमिका रही। जबलपुर के जनमानस ने सदा से ही जबलपुर आनेवाले प्रत्येक मार्गदर्शक का तहेदिल से स्वागत किया साथ ही उन्हें निर्बाध और पूर्ण समर्थन से आंदोलन में सहयोग किया। भले ही काँग्रेस के नेतृत्व ने झंडा सत्याग्रह का केंद्र स्थान नागपुर को राजधानी होने के कारण बना दिया हो। लेकिन आज भी जबलपुरवासी झंडा सत्याग्रह की जन्मभूमि कहे जाने की विरासत को सँजोए हुए हैं।

इतिहासकारों की लेखनी ने यदि उदासीन मानसिकता और पूर्वाग्रह ग्रसित होकर न लिखा होता तो शायद आज जबलपुर नगर ही नहीं, वरन् कई ऐसे भुला दिए गए वीर वीरांगनाओं और ऐसी घटनाओं को इतिहास के पन्नों में दर्ज किया गया होता। आज राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वाधीनता के सतत संघर्ष का इतिहास नए सिरे से संकलित करना हमारा एक आवश्यक कार्य है।[15] इतिहास के पुनर्लेखन किए जाने की इस कड़ी में ऐसी गौरवमयी घटनाओं को उजागर करने की, इतिहास के छिपे हुए तथ्यों को अन्वेषित करने की आज आवश्यकता है। जबलपुर नगर के इस झंडा आंदोलन जैसे न जाने कितने ही आंदोलनों, शहीदों और मौखिक (अलिखित) इतिहास को दबा दिया गया। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से इतिहास में झंडा सत्याग्रह को जबलपुर नगर के नाम से पढ़ाया और जाना जाए। इसी तथ्य को संज्ञान में लाने का प्रयत्न इस शोध आलेख में किया गया है।

संदर्भ

1. मोरोपांत पिंगले, (1987 व्याख्यान अंश), इतिहास दर्पण, वर्ष-10, अंक-1-2, 2003-04, पृ॰ 139
2. रामेश्वर गुरु और शंकरलाल शुक्ल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ॰ 18
3. महेशचंद्र चौबे और मदनमोहन उपाध्याय, जबलपुर अतीत दर्शन, इंटेक जबलपुर, 2018, पृ॰ 151
4. Sadan Jha, The Indian national flag as a sight of daily plebiscite, Economic and Political Weekly Vol- 43, Oct- 25 & 31, 2008, P. 103
5. रोशनलाल गंगवार और राजेश मोहन चौधरी, अमर शहीद गुलाब सिंह पटेल, पटेल प्रकाशन बरेली, 2012 पृ॰ 112
6. रामेश्वर गुरु और शंकरलाल शुक्ल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ॰ 19
7. Sadan Jha, The Indian national flag as a sight of daily plebiscite, Economic and Political Weekly Vol- 43, Oct- 25 & 31, 2008, P. 104

8. रामेश्वर गुरु और शंकरलाल शुक्ल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ॰ 20
9. Archana Basod,Sardar Patel's Role in Nagpur Flag Satyagraha, research guru, sep-2019, Vol-13,issue-2, P. 22
10. अनिल कुमार पांडेय, मध्यप्रांत में स्वाधीनता संग्राम, गोंडी पब्लिक ट्रस्ट संस्कृति भवन, पृ॰ 107
11. देशबंधु प्रवेशांक, 16-10-1988 एवं जबलपुर गजेटियर, पृ॰ 114
12. Archana Basod,Sardar Patel's Role in Nagpur Flag Satyagraha, research guru, sep-2019, Vol-13,issue-2, P. 22-24
13. महेशचंद्र चौबे और मदनमोहन उपाध्याय, जबलपुर अतीत दर्शन, इंटेक जबलपुर, 2018, पृ॰ 151
14. रामेश्वर गुरु और शंकरलाल शुक्ल, स्वतंत्रता संग्राम और जबलपुर नगर, स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ, 1985, पृ॰ 22
15. मोरोपांत पिंगले, इतिहास दर्पण, वर्ष-01, अंक-1, नवंबर 1994, पृ॰ 14

Govind Pandey
H No. 626 kotwali Bazar ,
City kotwali Jabalpur
Mob. 09399055023
govindpandey7070@gmail.com

 ISSN 0975-735X

महाकवि भाई संतोख सिंह : जीवन और रचना

हरपाल सिंह, शोधार्थी, गुरु नानक अध्ययन विभाग
गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, श्री अमृतसर साहिब

संसार में कवियों, लेखकों, शास्त्रियों, विद्वान खोजकर्ताओं की विशेष भूमिका होती है। उनकी कलम से लिखी गई लिखतों ने समसामयिक परिस्थितियों को अपने आगोश में समाहित किया है। सिक्ख धर्म में महाकवि भाई संतोख सिंह का नाम उन महाकवियों में आता है, जिन्होंने श्री गुरु नानक प्रकाश और श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ आदि रचनाओं के माध्यम से सिख जगत की सेवा की है। इस लेख में महाकवि भाई संतोख सिंह के जीवन और रचनाओं के बारे में संक्षिप्त जानकारी देने का प्रयास किया गया है।

महाकवि भाई संतोख सिंह : जन्म और स्थान

महाकवि भाई संतोख सिंह के जीवन के बारे में कई बुद्धिजीवियों ने अपनी कलम चलाई है, लेकिन विद्वानों द्वारा उनके जीवन और रचनाओं के बारे में अधिकांश सामग्री भाई वीर सिंह द्वारा संपादित श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ से ली गई है। महाकवि भाई संतोख सिंह के जन्मस्थान और जन्मतिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं।

भाई वीर सिंह ने अब अपने तर्क के आधार पर भाई संतोख सिंह की जन्म भूमि 'नूर दी सरां' लिखी है–

भाई वीर सिंह ने 'नूर दी सरां' के एक 60 वर्षीय वृद्ध व्यक्ति से जानकारी प्राप्त की कि उनका आवास भाई संतोख सिंह के आवास के ठीक सामने था। केवल बीच के रास्ते की दूरी थी। उन्होंने बताया कि यह कमरा कवि जी के परिवार का है। महाकवि का जन्म यहीं पर हुआ था और उन्होंने अपने बचपन का कुछ समय यहीं बिताया था।[1]

एक और 70 वर्षीय बुजुर्ग कहते हैं कि मैं जवानी के समय गुरुद्वारा साहिब में बैठा था। एक बूढ़ी माँ आई। मैंने उनसे कई बातें पूछते हुए उनकी उम्र के बारे में पूछा। उसने अपनी उम्र 100 से 120 के बीच बताई। श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ के बारे में कहते हुए बोलीं कि जो बहुत लोकप्रिय ग्रंथ है, उसके रचनाकार महाकवि भाई संतोख सिंह थे, जो इसी गाँव के निवासी थे। जब वह कुछ पढ़-लिख गया तो कविता पाठ करने में निपुण हो गया। यदि आप उसे कोई कहानी सुनाते, तो वह तुरंत दोहे, चौपाई आदि छंदों के माध्यम से कविता में कहने लग जाता था।[2]

रतन सिंह, जो रिश्ते में कवि जी के ताया का पुत्र था। उसने अपने पिता, दादा और भाई देवा सिंह के पारिवारिक नाम सहित कुरुक्षेत्र के पंडे चुन्नीलाल तोताराम के बही खाते में अपने गाँव का नाम 'नूर की सरां' लिखवाया।[3]

महाकवि की पुत्रवधू माई जीवणी थी। शादियों के समय उसका अपने 'नूर दी सरां' के संबंधियों, रिश्तेदारों को न्यूंदरे पाने के लिए जाने के लिखित सबूत प्राप्त हुए।[4]

जसावा सिंह की पत्नी जो रिश्ते में महाकवि की भाभी थी। जब वह 1936 विक्रमी को

हरिद्वार गई तो उसने पांडेय मंगलदत्त के बही खाते में इस प्रकार लिखवाया–

'देवा सिंह जात छीम्बा, गोत करीर, बासी नूर दी अमृतसर..'[5]

इन विवरणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि भाई संतोख सिंह का गाँव 'नूर दी सरां' था।

महाकवि भाई संतोख सिंह : जन्मतिथि

भाई काहन सिंह नाभा, भाई वीर सिंह और जय भगवान गोयल ने अनुमानित जानकारी के आधार पर महाकवि भाई संतोख सिंह का जन्म संवत् 1845 विक्रमी लिखा है। ज्ञानी खजान सिंह लिखते हैं कि महाकवि भाई संतोख सिंह की जयंती पर हर साल एक समारोह किया जाता है। 1962 ई॰ के समारोह में 'छोटा कोट' गाँव निवासी सरदार भाग सिंह ने एक सुंदर कविता पढ़ी। इस कविता में उन्होंने महाकवि भाई संतोख सिंह की जन्मतिथि 7 अस्सु संवत् 1844 विक्रमी थित वदी एकादशी रविवार समय प्रात:काल अनुराधा नक्षत्र का उल्लेख किया है। दीवान समाप्त होने के बाद मैंने उनसे इस तिथि का आधार स्रोत पूछा।

उन्होंने कहा कि 'हमारा गाँव छोटा कोट यहाँ से बहुत नजदीक है, मेरे पड़दादा सरदार दया सिंह महाकवि जी से सिर्फ दो दिन बड़े थे, और पड़ोस के गाँव के होने के कारण उनका आपस में बहुत प्यार था। महाकवि जी के बाबा गुलाब सिंह ने अपने पोते कवि जी के जन्म की खुशी मनाने के लिए मेरे नकड़दादा से 18 रुपए कर्ज लिए थे, जो हमारी बही में दर्ज हैं और मेरे परदादा तथा कवि जी के जन्म की तिथि भी लिखी हुई है।[6]

इस तर्क को आधार बनाकर प्रो॰ प्यारा सिंह पदम महाकवि के जन्म की तिथि[7] अपनी रचना में लिखते हैं। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर तथा महाकवि के जन्मस्थान के दर्शन करने के बाद मेरा व्यक्तिगत मत यही है कि उनका जन्मस्थान एवं जन्म तिथि यही है। यह स्पष्ट है कि पहले न तो महाकवि जी का कोई स्मरणोत्सव होता था और न ही उन्हें समर्पित कोई कार्यक्रम आयोजित किया जाता था। जिसके कारण यह साक्ष्य अनुपस्थित रहा।

महाकवि भाई संतोख सिंह : जीवन

प्राचीन ग्रंथों का गंभीर ज्ञान रखने वाले महाकवि भाई संतोख सिंह का जन्म उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर भाई देवा सिंह के घर में माता रजी (राज देई) की कोख से दिनांक 2 अस्सु (वदी एकादशी) सम्मत 1844 विक्रमी रविवार (23 सितंबर 1787 ई॰ के अनुसार) अमृतसर जिला[8] के नूरदी सरां गाँव में हुआ था। यह कस्बा पहले अमृतसर जिले में था। लेकिन 31 मई 2006 को इसे तरनतारन के नवगठित जिले में शामिल कर लिया गया। लाहौर राज्य की ओर से सरकारी अधिकारियों के लिए निर्मित सरायों में से नूरदी सरां एक है।

महाकवि भाई संतोख सिंह की शिक्षा

भाई देवा सिंह जी धार्मिक गुणों के स्वामी होने के कारण गुरमत का गहरा ज्ञान रखते थे। आपके पिता स्वयं विद्वान होने के कारण चाहते थे कि उनका पुत्र भी किसी उच्चकोटि के विद्वान से शिक्षा ग्रहण करे। इस सिलसिले में भाई देवा सिंह ने अपने भाई राम सिंह की सलाह से महाकवि को उस समय के प्रसिद्ध विद्वान संत सिंह का शिष्य बनाने का फैसला किया। हालाँकि भाई संत सिंह की जिंदगी अस्त-व्यस्त थी, लेकिन उन्हें एक तो यह एहसास हुआ कि यह एक प्रतिभाशाली बच्चा है और दूसरी बात, वे भाई राम सिंह और भाई देवा सिंह के प्यार भरे अनुरोध को ठुकरा नहीं सकते थे। जिसके

तहत भाई संतोख सिंह जी लगन से भाई संत सिंह जी से शिक्षा ग्रहण करने में जुट गए। महाकवि भाई संतोख सिंह नानक प्रकाश में लिखते हैं कि मैंने अपनी शिक्षा ज्ञानी संत सिंह जी से प्राप्त की।

श्री मति सिमरन रति गुरु, संत सिंह शुभ नाम।
बिदया जिन ते मैं पठी, तिन पद करो प्रणाम।।[9]

ज्ञानी खजान सिंह महाकवि भाई संतोख सिंह के बारे में लिखते हैं कि महाकवि 11 वर्ष की आयु में अपने विद्या गुरु के पास आए। सम्मत 1865 से विक्रमी[10] (1809 ई॰), तक 10 वर्ष शिक्षा प्राप्ति के लिए कार्यशील रहे। अपने विनम्र स्वभाव के कारण ज्ञानी संत सिंह का अपने छात्रों से गहरा लगाव था। इस कारण विद्यार्थियों में सीखने की रुचि भी उच्चतम स्तर की थी। उन्होंने हमेशा अपने शिक्षक की सेवा में सक्रिय रहते हुए शिक्षा प्राप्त की। शिक्षक और छात्रों के बीच अच्छा तालमेल था। ज्ञानी जी के साथ रहकर महाकवि जी संस्कृत, हिंदी, गुरमत के सांकेतिक प्रतीकों और काव्य कला की गूढ़ युक्तियों से भली-भाँति परिचित हो गए। यह भी स्वाभाविक है कि अपने विद्वतापूर्ण स्वभाव के कारण इन दीर्घकाल में वे सिक्ख जगत के धर्मग्रंथों और सिक्ख साहित्य के साथ-साथ अन्य धर्मों और शास्त्रों के अध्ययन में भी लगे रहे। महाकवि जी की रचनाओं में इसकी स्पष्ट पुष्टि होती है।

ज्ञान में अधिक वृद्धि करने के लिए उन्होंने काशी जाने का निश्चय किया। ज्ञानी खजान सिंह विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर कहते हैं कि महाकवि जी काशी के दर्शन के लिए गए थे, जो बिल्कुल सही है। अपने शोध के अनुसार ज्ञानी जी कहते हैं कि महाकवि जी 21 वर्ष के थे जब वे काशी गए और वहाँ 5 वर्ष रहने का विवरण दिया।[11] इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ पंडितों ने महाकवि जी से अनेक गुणों को ग्रहण किया, वहीं स्वाभाविक रूप से इस दीर्घकाल में उन्होंने भी पंडितों, विद्वानों आदि से भी बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की होगी।

महाकवि भाई संतोख सिंह बूड़िया निवास

सरदार नानू सिंह, भाग सिंह और राय सिंह का संबंध भंगी मिसल से था। 1764 ई जब उन्होंने सरहद पर विजय प्राप्त की, तो इन सिंहों ने बूड़ियानगर पर कब्जा कर लिया। नानू सिंह अमृतसर जिले के जाट निवासी थे। औरंगाबाद के पठानों ने नानू सिंह को घर बुलाकर धोखे से मार डाला। इसके बाद राय सिंह और भाग सिंह ने पठानों को हराकर 204 गाँवों पर अधिकार कर लिया और उन्हें आपस में बाँट लिया। राय सिंह के पास 24 गाँव थे। उनकी सेना के वीर सेनापति दयाल सिंह थे। जिनके नाम पर दयालगढ़ नगर बसाया गया। राय सिंह की मृत्यु के बाद सारी जिम्मेदारी उनके पुत्र भगवान सिंह के कंधों पर आ गई। दयाल सिंह महाकवि जी के जातिगत मित्र थे। दयाल सिंह ने बड़े सम्मान के साथ महाकवि जी को भगवान सिंह का दरबारी कवि बनाया। अब तक महाकवि लगभग हर तरह की शिक्षा हासिल कर चुके थे। उनकी गुरुओं का इतिहास लिखने की हार्दिक इच्छा थी। इस वजह से महाकवि जी अकालपुरख और गुरु साहिब का आशीर्वाद पाने के लिए सांसारिक गतिविधियों को छोड़कर पाँच साल तक यमुना के तट पर बंदगी करते रहे। अंत में अकालपुरख जी के आशीर्वाद से वे कलम सेवा में लीन हो गए।

महाकवि भाई संतोख सिंह का वैवाहिक जीवन

महाकवि भाई संतोख सिंह का विवाह 34 वर्ष की आयु में रुहेले परिवार की बीबी राम कौर से सम्मत 1878 ई॰ में हुआ। महाकवि को विवाह के समय गुरु घर के जात-पात के सिद्धांतों को

सामने रखा था। जात-पात में विश्वास रखने वाले रूहेले परिवार में विवाह नहीं करवाते थे। महाकवि ने इस प्रथा को तोड़ा और रूहेले परिवार में विवाह किया। अभी तक कई प्रयासों के बाद भी जगाधरी शहर में बीबी राम कौर जी के परिवार का कोई पता नहीं चला है। महाकवि के घर पाँच पुत्रों अजय सिंह, बिजय सिंह, मकसूदन सिंह, बलदेव सिंह, अनुद्ध सिंह और तीन बेटियाँ बीबी प्रेम कौर, मेमन कौर, मान कौर पैदा हुईं। यह परिवार बढ़ा भी और फला-फूला भी। भाई वीर सिंह के अनुसार यह परिवार पटियाला और कैथल में अपना आवास रखता था। वर्तमान समय में इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि यह परिवार दिल्ली और पटियाला में रह रहा है। अब कैथल में इस परिवार का कोई आवास नहीं मिलता है।

महाकवि भाई संतोख सिंह पटियाला निवास

पटियाला के महाराजा करम सिंह ने ज्ञानी संत सिंह के माध्यम से महाकवि को सम्मत 1880 को अपने यहाँ आमंत्रित किया। महाकवि जी परिवार सहित पटियाला में आ गए। यहाँ उन्हें राज दरबार के महाकवि होने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके साथ ही उन्हें खाने के लिए आजीविका और रहने के लिए बढ़िया प्रबंध किया गया। संत बाबा बीर सिंह के डेरे गुर इतिहास का वर्णन करना आपकी दिनचर्या थी। पटियाला रियासत के बच्चों और बुजुर्गों ने महाकवि से गुरमति की शिक्षा प्राप्त की। आप जी की कथा से गुरमति का प्रचार होने लगा। महांकवि के गुरमति प्रचार से कथा प्रसार का सिलसिला भी आसपास के इलाकों में शुरू हो गया। आप जी का मान-सम्मान लगातार बढ़ता ही चला गया। उनकी प्रशंसा देखकर पुराने दरबारी उनके साथ ईर्ष्या करने लगे। यहाँ कवि जी 1823 ई॰[12] में आए और लगभग दो वर्ष तक पटियाला में निवास किया।

महाकवि भाई संतोख सिंह कैथल निवास

कैथलपति 12 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठे थे। सिक्ख सिद्धांतों के अनुसार वे महाराजा कहलाने के स्थान पर स्वयं को भाई साहब कहलवाते थे। भाई उदय सिंह की माता साहिब कौर की हृदय से इच्छा थी कि वे अपने पुत्र की शिक्षा के लिए किसी अच्छे विद्वान की व्यवस्था करें। उस समय महाकवि की विद्वता की चर्चा जोरों पर थी। भाई उदय सिंह और माता साहिब कौर दोनों ने मिलकर महाकवि को पक्के तौर पर कैथल बुलाने के संबंध में पटियाला के महाराजा करम सिंह को एक पत्र लिखा। इस पत्र का सम्मान करते हुए उन्होंने भाई संतोख सिंह को कैथल भेज दिया। कैथल पहुँचने पर कवि को पूरा सम्मान दिया गया। पहली मुलाकात के बाद, उन्हें दरबारी कवि नियुक्त कर दिया गया। यहाँ उन्हें रहने के लिए एक शानदार हवेली और सवारी के लिए एक हाथी दिया गया। इस हलेवी के दरवाजे से अंबारी सहित हाथी गुजरता था। उस समय के साहूकार लोग हाथी की सवारी किया करते थे। खाने-पीने का सामान, दैनिक खर्च और अन्य बड़े खर्चों के लिए कवि जी के नाम पर एक गाँव लगा दिया गया। इस गाँव की सारी आमदनी आप ही के पास आती थी। भाई उदय सिंह भी गुर इतिहास के कार्य को संपूर्ण होते देखना चाहते थे। वह कवि की हर संभव मदद कर रहे थे। परिवार की रोजी-रोटी की चिंता का बोझ उनके मन से उतर गया और उन्होंने अपने दिल में यह धारण कर लिया कि वह गुरु घर के प्रेमी भाई उदय सिंह के पास गुर इतिहास लेखन के इस कार्य को लगन से निभाएँगे।

श्री गुर नानक प्रकाश और अमर कोश

महाकवि ने बूड़िया नगर में गुर इतिहास को लिखती रूप देने की शुरुआत कर दी। महाकवि

ने गुर इतिहास से संबंधित सामग्री एकत्र करने के लिए अमृतसर के साथ-साथ अन्य स्थानों का भ्रमण किया। यह सामग्री लिखित और मौखिक दोनों रूपों में थी।

आद सुधासर जो अस्थाना, खोज-खोज नीके बिधि नाना।।
लिखी देख तेती बहू थाई, केती सुनी जो मनहि भाई।।
बीन बीन गुर महिमा आछी, माखन जयों लीनी तज छाछी।।

इस चल रहे कार्य के दौरान, महाकवि एक संस्कृत कृति, अमर कोश का बृजभाषा में अनुवाद कर रहे थे। यह ग्रंथ 1878 में पूरा हुआ और इस कृति का नाम 'नाम कोश' रखा गया। अब महाकवि ने अपना सारा ध्यान श्री गुर नानक प्रकाश पर केंद्रित कर दिया और कड़ी मेहनत के परिणामस्वरूप इस पुस्तक को 1880 विक्रमी (1824 ई॰) को पूर्णिमा के दिन अमृतसर में पूरा किया।[13]

तुकबंदी से भरपूर इस रचना के दो भाग और 130 अध्याय हैं। इस रचना में भाई संतोख सिंह ने अकाल पुरुख और गुरुओं की प्रशंसा में मंगल करते हुए गुरु नानक देव जी के आगमन से लेकर ज्योति-ज्योति समाने तक के हर पहलू को शामिल करने का प्रयास किया है।

महाकवि भाई संतोख सिंह 1825 ई॰ में भाई उदय सिंह के पास कैथल आ गए थे। जब भाई उदय सिंह ने साधु आनंदघन की जपु बानी का किया हुआ टीका पढ़ा तो उन्हें अपनी समझ के अनुसार उसमें अनेक अहंकारपूर्ण त्रुटियाँ नजर आई। यह देखकर भाई उदय सिंह ने महाकवि को जपू बाणी का टीका करने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप भाई संतोख सिंह ने 1825 ई॰ से 1829 ई॰[14] तक जपू बाणी अलंकार सहित टीका करने का सफलतापूर्वक प्रयास किया। इस टीके का नाम गरबगंजनी टीका रखा गया जिसका अर्थ है—अभिमान का नाश करने वाला।

इसके बाद कवि ने संस्कृत भाषा के महान ग्रंथ बालमीकी रामायण का अनुवाद ब्रजभाषा में किया। इस रचना को लगभग 1829 ई॰ में आरंभ करके 1834 ई॰ को संपूर्ण किया। सात कांडी इस रचना के 647 अध्याय और 24000 श्लोक हैं।[15] भाई उदय सिंह ने लगभग दो महीनों में इस ग्रंथ को सुना और खुश होते हुए महाकवि को मोरथली नगर की भूमि ईनाम के तौर पर हमेशा के लिए सौंप दी। कैथल के निवासियों से प्राप्त जानकारी के अनुसार कुछ समय पहले तक इस कस्बे की सारी आय कवि के परिवार के पास जाया करती थी।

आत्म पुराण का टीका

महाकवि श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ की रास पहली अस्सू सात में लिखते हैं कि रामायण के टीके के पश्चात मैंने आत्मपुराण टीके की रचना की है। संस्कृत भाषा के इस ग्रंथ को वेदांत विद्या का मूल ग्रंथ माना जाता है। भाई वीर सिंह ने इस टीके को खोजने के लिए अथक प्रयास किए लेकिन इस शास्त्र को लेकर असफलता ने उनके हाथ चूमें। भाई साहब के अनुमान के आधार पर इसका निर्माण काल 1834 ई॰[16] माना गया है।

श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ

श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ-कथा प्रधान ऐतिहासिक प्रबंध काव्य है। इसका रचनाकाल डॉ॰ रतन सिंह जग्गी 1836 से 1843 ई॰ के बीच का बताते हैं। इस ग्रन्थ को 12 राशियों, 6 ऋतुओं और 2 ऐनों में बाँटा गया है। इस ग्रंथ में दस गुरु साहिबानों के जीवन और उनके संपर्क में आकर बने सिक्खों के बारे में जानकरी देते हुए बाबा बंदा सिंह बहादुर के जीवन के बारे में भी

विस्तारपूर्वक जानकारी दी है। इस ग्रंथ का उद्देश्य जहाँ गुरुओं के जीवन परिचय पर प्रकाश डालना है, वहीं यह गुरमति के सिद्धांतों की भी विस्तारपूर्वक व्याख्या करता है। इसके साथ ही गुरु साहिबानों के समकालीन समय की लगभग हर प्रकार की स्थितियों की प्र्याप्त जानकारी इस ग्रंथ द्वारा मिलती है। सिक्ख जगत में इस ग्रंथ की कथाएँ ऐतिहासिक गुरुद्वारों में पढ़ी जाती हैं। इस लिए सिक्ख धर्म में इस महान ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[17]

इस ग्रंथ की महत्ता के अलावा, इसके शाब्दिक अंतर और ऐतिहासिक पहलुओं के संबंध में भी कई संदेह व्यक्त किए जाते हैं। उपरोक्त शंकाओं को दूर करने के लिए भाई वीर सिंह ने इस ग्रंथ की प्राचीन रचनाओं को एकत्र किया और पाठ का मिलान किया। जहाँ कहीं कोई पाठ-भेद, ऐतिहासिक पहलू या कोई गुरमति के विरुद्ध कोई प्रसंग सामने आया तो भाई साहब ने मूल पाठ के साथ छेड़छाड़ करने से परहेज किया और फुटनोट्स में उपर्युक्त शंकाओं और संदर्भों को स्पष्ट करने का प्रयास किया ताकि हर पाठक संदर्भ को आसानी से समझ सके।[18]

महाकवि भाई संतोख सिंह उपर्युक्त रचनाओं को सिक्ख जगत की झोली में डालकर 1843 ई॰[19] को प्रभु चरणों में विलीन हो गए।

संदर्भ

1. वीर सिंह (भाई), श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ, संस्करण प्रथम, पृ॰ 86
2. वही, पृ॰ 87
3. वही, पृ॰ 87
4. वही, पृ॰ 87
5. वही, पृ॰ 87
6. खजान सिंह (ज्ञानी), जीवन कथा चूड़ामणि कवि भाई संतोख सिंह जी, पृ॰ 37
7. पदम, प्यारा सिंह (प्रो॰), महाकवि भाई संतोख सिंह, पृ॰ 13/20
8. हुण ऐह पिंड तरन तारन जिले अधीन आता है।
9. श्री गुरु नानक प्रकाश, अध्याय 57, अंशु 101
10. खजान सिंह (ज्ञानी), जीवन कथा चूड़ामणि कवि भाई संतोख सिंह जी, पृ॰ 17
11. वही, पृ॰ 19
12. श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ, संस्करण प्रथम, पृ॰ 101
13. संतोख सिंह (भाई), श्री नानक प्रकाश, पृ॰ 2125-26
14. जय भगवान गोयल, महाकवि संतोख सिंह जीवन तथा रचना, पृ॰ 31
15. काहन सिंह नाभा (भाई), महान कोश
16. श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ, संस्करण पहला, भाषा विभाग, पंजाब, पृ॰ 133
17. रतन सिंह जग्गी, सिक्ख पंथ विश्वकोश (भाग-1), पृ॰ 644
18. श्री गुर प्रताप सूरज ग्रंथ, (संस्करण पहला), भाषा विभाग, पंजाब, पृ॰ 7
19. वही, पृ॰ 161

VILL. JAWANDPUR PO. MIANWIND,
DISTT. TARN TARAN, PUNJAB, 143112
Mob. 9501941619
dr.harpalsjawandpur@gmail.com

फणीश्वरनाथ रेणु एवं नवकांत बरुवा के प्रमुख उपन्यासों में चित्रित स्त्री-पुरुष संबंध : एक तुलनात्मक अवलोकन

जैनेन्द्र चौहान, पीएच॰डी॰ शोधार्थी, हिंदी विभाग
गौहाटी विश्वविद्यालय, असम

प्राचीनकाल से ही स्त्री विनम्रता, त्याग, प्रेम, कोमलता व मधुरता के साथ कर्त्तव्यपरायणता का प्रतीक रही है, वहीं पुरुष शौर्य, शक्ति एवं कठोरता का प्रतीक रहा है। स्त्री-पुरुष का संबंध माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि कई रूपों में हो सकता है। स्त्री-पुरुष का संबंध अनंतकाल से चलता आ रहा है, स्त्री बिन पुरुष अधूरी है तो वहीं पुरुष भी बिन स्त्री अधूरा है, दोनों एक सिक्के के दो पहलु हैं। इस संसार में मानव जाति स्त्री-पुरुष के इसी संबंध से ही चल रही है। स्त्री-पुरुष के संबंध में पुरुष को पेड़ की उपमा दी जा सकती है, जो अपने आस-पास छोटे-छोटे पौधों का जीवनरस पान कर नभ की ओर बढ़ता है किंतु स्त्री को ऐसी लता कहना होगा, जो धरती से किंचित मात्र स्थान लेकर अपनी सघनता में बहुत से नव-अंकुरों को पनपाती हुई, उस पेड़ की विशालता को अपनी क्षत्रछाया में ढक लेती है। स्त्री-पुरुष का संबंध ही मानव समाज की संरचना करता है। उनके आपसी स्नेह, सहयोग व सहभाव से समाज का विकास संभव है। अत: वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष के संबंध का महत्त्व अधिक है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य फणीश्वरनाथ रेणु एवं नवकांत बरुवा के उपन्यासों में चित्रित स्त्री-पुरुष संबंध का तुलनात्मक अवलोकन करना है। रेणु जहाँ हिंदी साहित्य के अमर साहित्यरथी हैं, जिन्हें आंचलिक उपन्यास का प्रवर्तक माना जाता है। वहीं बरुवा असमीया साहित्य के अनश्वर साहित्यकार हैं, जिन्हें 'ककादेउतार हाड़' उपन्यास के लिए 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार प्राप्त हुआ था। वे असम में एक कवि के रूप में भी काफी लोकप्रिय थे।

विश्लेषण

रेणु ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक संबंधों के माध्यम से स्त्री-पुरुष के संबंधों में आए बदलाव और टकराव को यथार्थपूर्वक पाठकों के सम्मुख रखा है। उन्होंने 'मैला आँचल' उपन्यास के अंतर्गत स्त्री-पुरुष संबंधों का यथार्थ रूप से वर्णन किया है। स्त्री-पुरुष संबंधों के संदर्भ में लेखक ने पारिवारिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से अनैतिक, रुग्ण और गर्हित प्रवृत्ति को ही अधिक अभिव्यक्ति दी है। गाँव के स्त्री-पुरुषों के गलत शारीरिक संबंधों की उपकथाएँ 'मैला आँचल' शीर्षक की सार्थकता को स्पष्ट करती है। इन संबंधों को लेकर यह नहीं कहा जा सकता है कि ये एक विशिष्ट वर्ग में ही व्यवहृत होते हैं। सभी वर्गों में इस प्रकार के अनैतिक संबंधों की स्थिति हैं– यहाँ तक कि डॉ॰ प्रशांत भी इससे अछूते नहीं रहते। तहसीलदार की बेटी कमला उनके प्रति आकर्षित होती है। यह आकर्षण परस्पर आकर्षण में बदलता है। विवाह से पहले ही कमला गर्भ धारण करती है और जब घर में बात खुलती है और शिशु का जन्म होने वाला होता है, उस समय डॉ॰ प्रशांत कम्युनिष्ट होने के संदेह में जेल गए होते हैं। यह दूसरी बात है कि डॉ॰ प्रशांत के नायकत्व की प्रतिष्ठा के लिए लेखक ने यह योजना अवश्य प्रस्तुत की है कि जेल से छूटने के

पश्चात् कमला को अपनी पत्नी और उसके शिशु को वह अपना शिशु स्वीकार कर लेता है। इस स्वीकारोक्ति में स्त्री-पुरुष का यह संबंध विशेष रूप से गरिमायुक्त हो जाता है। अन्यथा अन्य स्त्री-पुरुष संबंधों में अशिक्षा, कुंठा, गलत संस्कारों और रूग्ण परिवेश की छाया ही अधिक परिलक्षित होती है। मठ की दासिन लछमी को सेवादास, रामदास, नागा बाबा सभी भोगना चाहते हैं लेकिन वह काँग्रेसी कार्यकर्ता बालदेव से अपना सही संबंध अनुभव करती है–'आज मठ सूना है, आज ही लछमी सब-कुछ कह देगी बालदेव जी से। ...आप चन्ननपटी चले जाइएगा ...और मैं? ...लछमी बालदेव जी की आँखों में आँखें डालकर देखती है। लछमी जब-जब इस प्रकार देखती है, बालदेव जी न जाने कहाँ खो जाते हैं। ...एक मनोहर सुगंध हवा में फैल जाती है। पवित्र सुगंध! बीजक से जैसी सुगंध निकलती है। ...हाँ! मैं कहाँ जाऊँगी? मेरा क्या होगा? महंथ की दासी बनकर ही मैं मठ पर रह सकती हूँ। लछमी की आँखें भर आती हैं। ...नहीं लछमी, तुम ...रामदास की दासी नहीं। मैं... तुम... आप...। ..बालदेव जी! ...लछमी पागल की तरह बालदेव जी से लिपट जाती है, 'रक्षा करो बालदेव जी! तुम कह दो, एक बार-तुम्हें रामदास की दासी नहीं बनने दूँगा। तुम बोलो– चन्ननपट्टी नहीं जाऊँगा। मुझे छोड़कर मत जाओ बालदेव! दुहाई।' (रेणु, 1954:25)

फूलिया खलासी से विवाह रचाती है और 'पेटमान' तथा सहदेव मिसिर से अनैतिक संबंध रखती है। यही स्थिति रमपियरिया और रधिया की है। चरखा संघ की मंगलादेवी के बारे में अनेक किस्से प्रचलित हैं। नैतिक दृष्टि से अवांछित इन समस्त संबंधों को निरूपित करने के पीछे लेखक का उद्देश्य मेरीगंज के अंचल में व्याप्त रूग्णता को उभारकर प्रस्तुत कर देना है। इस योजना के द्वारा लेखक ने जैसे यह कहना चाहा है कि अशिक्षा, कुसंस्कार और असंस्कृत परिवेश में इन सबका होना बहुत स्वाभाविक है। लेकिन स्वाभाविक होते हुए भी यह गलत है। डॉ॰ प्रशांत एक संस्कारित व्यक्ति है। यद्यपि यह गलती उससे भी होती है लेकिन अपने शिष्ट और परिष्कृत संस्कारों के माध्यम से वह अपनी इस गलती को सुधार लेता है। तब उसकी गलती, गलती न रहकर उसके लिए गरिमा प्राप्ति का साधन बन जाती है; हालाँकि सैक्स की प्रवृत्ति स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण की यह भावना बहुत नैसर्गिक है, यह ठीक है।

'परती परिकथा' उपन्यास में रेणु ने आंचलिक क्षेत्र के स्त्री-पुरुष संबंधों में व्याप्त विसंगतियों को यथार्थ रूप में उजागर किया है। उपन्यास में लुत्तो अपनी पत्नी से प्रेमपूर्वक व्यवहार नहीं करता है। इसका कारण वह हीरिया की सुंदरता का दिवाना हो जाता है। लुत्तों की पत्नी अपनी पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहती है–

'हाँ-अ, खा-म-खा जानवर समझ लिया है किसी को क्या कोई? बेर-बेर नींद तोड़कर गाली क्यों सुनाता है कोई? नटिनियाँ छोड़ी हीरिया के कारण मैं गले में घड़ा फाँस कर दुलारीदाय के कुंड में डूब मरूँगी।' (रेणु, 1957: 271)

इस तरह लुत्तो और हीरिया के अनैतिक संबंध जयवंती के जीवन में कलह ला देता है। इसी तरह अंचल के पुजारी भक्त होकर भी मलारी के साथ रात बिताना बुरा नहीं समझते। उपन्यास में इस तरह के तमाम अनैतिक संबंधों का यथार्थ चित्रण हुआ है, जो समाज को दूषित करता है।

'जुलूस' उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध का अनैतिक व घृणित रूप दृष्टिगत है। इस उपन्यास में पवित्रा को दुष्प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति हर जगह घेरे रहते हैं। उसे हर स्थान पर कासिम जैसे हैवान की एक जोड़ी आँखें पीछा करती नजर आती हैं। कासिम एक स्थान पर कहता है–

'यहाँ है मेरा चाँद। तुम जो कहोगी करने को तैयार हूँ।' (रेणु, 1966: 87)

जब पवित्रा कैंप में रहती है तब सुपरवाइजर, रिहबिलिटेशन ऑफिसर सब की आँखों से शैतान सी नियत झाँकती प्रतीत होती है। रेणु ने उपन्यासों में प्रस्तुत स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता को अधिक विस्तार प्रदान कर रूग्ण प्रवृत्ति के प्रति अपनी चिंता व्यक्त की है।

नवकांत बरुवा के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण दृष्टिगोचर होता है। स्त्री-पुरुष के संबंध से समाज का निर्माण होता है। 'कपिली परीया साधु' उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध के विविध रूप चित्रित हुए हैं। असमीया समाज में स्त्रियों को पुरुष के साथ सहयोगी के रूप में पाया है। उपन्यास में नायक रूपाइ के पिता धीर सिंह एक कर्मठ व्यक्ति हैं। धीर सिंह की पत्नी का नाम रेङली है। दोनों आदर्श पति-पत्नी हैं। वैसे भी असमीया समाज में नारी शक्ति का महत्त्व है। परिवार हो या समाज स्त्रियों को पुरुष के समान ही समझा जाता है। वैसे तो उपन्यास में धीरसिंह और उसकी पत्नी रेङली कभी किसी भी बात को लेकर झगड़ा या गाली-गलौच नहीं करते हैं। परिवार में हम देखते हैं कि बच्चे यदि कोई नादानी कर बैठते हैं तो माएँ अधीर होकर व्याकुल हो जाती हैं। उपन्यास में जब रूपाइ का भटकाव कपिली की ओर हो जाता है और वह रात को ही बिस्तर से उठकर कपिली नदी की तरफ चला जाता है। जब इस घटना की खबर रेङली के कानों पर पड़ती है तब वह अधीर होकर चिल्लाने लगती है। उसी समय धीरसिंह का कठोर हृदय जाग्रत हो जाता है और वह उसे डाँटते हुए कहता है–

'मने मने थाकचोन तइ, आहिब सि एतियाइ-दीघलदरिलै भाओना चाबलै गॅल नेकि बालक। धीरचिङे मनर दुर्बलताचो लुकूवाबलै डाबि दिए।' (बरुवा, 1953:13)

(भावार्थ–तू चुप रह, वह अभी आएगा। शायद वह दीघलदरि में भोओना (नाटक) देखने गया होगा? धीरसिंह अपने मन की कमजोरी को छिपाने के लिए धमकी देता है।)

इस उपन्यास में वकील और उसकी पत्नी का भी चित्रण हुआ है। स्वभाव से दोनों धूर्त और चालाक हैं। रूपाइ जब उनके घर पढ़ने के लिए गया था, तब दोनों ने ही पढ़ाई के नाम पर उससे मात्र अपना काम निकलवाया तथा उसका शोषण किया। शहरी जीवन में ऐसे स्त्री-पुरुष दिख ही जाते हैं, जिनका स्वभाव प्राय: निर्दयी तथा शोषित प्रवृत्ति का होता है। उपन्यास में रूपाइ और सोनपाही का संबंध प्रेमी-प्रेमिका का होता है। इन दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम का संचार तब जाग्रत होता है, जब रूपाइ को यह पता चलता है कि वह धीरसिंह का सगा पुत्र नहीं है और इसी बात से आहत होकर वह आत्महत्या करने के लिए कपिली में कूद पड़ता है तथा उसे बचाकर सोनपही के पिता अपने घर लाते हैं, जहाँ रूपाइ और सोनपाही के नैन मिलते हैं तथा भावनात्मक प्रेम अपना पैर पसारने लगता है। रूपाइ का भटकना कपिली की तरफ से मुड़कर सोनपाही की तरफ चला जाता है, वह सोनपाही की यादों में खोया रहता है–

'पाहीलै हठाय तार मनत परे। सि पानीत बुरि नमार आरु सोनपाहीये ताक निचारि पोवार माजते किबा एटा संकेत पाय सि। सोनपाहीक तार येन बर प्रयोजन।' (बरुवा, 1953: 56)

(भावार्थ–उसे अकस्मात सोनपाही की याद आ जाती है। उसके पानी में डूबकर न मरने और सोनपाही का उसको खोजकर पाए जाने के मध्य कुछ संकेत देखता है। उसको सोनपाही का मानो बड़ा प्रयोजन है।)

दोनों के हृदय में प्रेम भाव जाग्रत होने के पश्चात वे लोग रात-रात को मिलने लगते हैं। यही प्रेम एक दिन दैहिक प्रेम में रूपायित हो जाता है–

'तार निशाहर तपत बताह खिनि ताइर मुखत लागे–ताइ ताक जोरेरे सावाटि धरे आरु जोरे

...ताइर गौटैइ मानुहजनीर स्पर्श सि अनुभव करें, तार गोटैइटो शरीरे। निस्तब्ध! उशार-निशाहर बाहिरे सकलो नीख। जिलिंटोरो मात बंध है गॅल। सि चुमा खाले। चकुत गालत...ओठत...वुकुत...।' (बरुवा, 1953: 59)

(भावार्थ–उसकी गर्म साँस उसके मुँह को स्पर्श करती है, उसके पूरे शरीर का स्पर्श वह अपने शरीर से अनुभव करने लगता है। दोनों शांत है। नि:श्वास लेने और छोड़ने के सिवा और कोई ध्वनि नहीं। झिंगुरों की आवाज भी बंद हो गई है। उसने उसे चूम लिया, आँख पर, गालों पर, होठों पर, छाती पर।)

रूपाइ और सोनपाही का प्रेम चरमसीमा तक पहुँच जाता है और वह गर्भवती हो जाती है। परंतु उनके संबंध में बाधा तब आ जाती है जब रूपाइ अपनी माँ द्वारा दिए विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा नहीं पाता। जब इस बात की खबर सोनपाही को लगती है। उसका दिल टूट जाता है। अपनी इज्जत एवं आबरू की रक्षा में वह आत्महत्या कर लेती है।

'ककादेवतार हाड़' उपन्यास में भी स्त्री-पुरुष संबंध की कई झलकियाँ हैं। उपन्यास के आरंभ में ही हेमंत और नमिता का जिक्र है। दोनों एक-दूसरे को पसंद करते हैं। दोनों का प्रेम प्रसंग भी कई दिनों से चल रहा होता है। दोनों विवाह भी करना चाहते हैं। हेमंत के बड़े भाई और भाभी को यह रिश्ता पसंद भी होता है। प्रारंभ में इनके विवाह के पक्ष में घर की मुखिया इनकी दादी नहीं होती है परंतु बाद में मान जाती है और कहती है–

'तहँते निय यदि मइ जोरोन पिन्धाबलै जाम।' (बरुवा, 1975:103)

(भावार्थ–तुम लोग यदि ले जाओगे तो मैं जोरन पहनाने के लिए जाऊँगी।)

भोगाइ और माहिंद्री का संबंध पति-पत्नी का होता है। उपन्यास में माहिंद्री एक आदर्श स्त्री के रूप में दिखाई देती है। परंतु भोगाइ अनैतिक कार्यों में लिप्त होता है। समाज में अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहता है। वह किसी की उन्नति देख नहीं सकता था। उसके इस तरह के व्यक्तित्व को सुधारने के लिए माहिंद्री कई बार प्रयास भी करती है–

'कांदि कांदि ताइ बुजिले, कांदि लाभ नाई, आरु नाकांदिओ उपाय नाइ।' (बरुवा, 1957: 40)

(भावार्थ–रोते-रोते वह समझ गई, रोकर कोई फायदा नहीं है और रोने से रहा भी नहीं जाता है।)

'गरमा कुँवरी' उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध के कई रूप दिखाई देते हैं। उपन्यास की नायिका गरमा कुँवरी का विवाह कामता राज्य के राजा दुर्लभ नारायण से हुआ था। गरमा कुँवरी को रानी बनकर राज भोगने की बड़ी इच्छा थी। परंतु कामता राज्य में उसे पटरानी बन कर जीवनयापन करना स्वीकार नहीं था। फलस्वरूप दुर्लभ नारायण के प्रति उसका लगाव कम होने लगा–

'एतिया कामतापुरत बहुपत्नीक रजा एजनर घरत ताईर जीवन जने एटा स्वप्नहे।' (बरुवा, 1984:18)

(भावार्थ–कामतापुर के बहुपत्नी वादी राजा के घर उसका जीवन मात्र एक स्वप्न के समान है।)

सुशुद्धि (गरमा) को शिव जैसा वर चाहिए था और पार्वती की तरह उसके साथ जीवनयापन करना चाहती थी। इसी वजह से ब्राह्मण पुत्र चंद्रशेखर जब से राजभवन में हरगौरी संवाद का पाठ करने आता है तभी से वह चंद्रशेखर को ही देखती रहती। उसे चंद्रशेखर के रूप में शिव नजर आता है–

'हठाथ् ताइर कानर काषत जेन कोनोबाइ डाङरके किंतु फुचफुचाइ कूले चं-द्र-शे-ख-र-शिवर

नाम।' (बरुवा, 1984:18)

(भावार्थ–अचानक कोई उसके पास आकर कान के सामने जोर से किंतु फुसफुसाते हुए बोला चं-द्र-शे-ख-र शिव का नाम है।)

चंद्रशेखर का मन भी इस रूपवती रानी सुशुद्धि के प्रति लगने लगा। दोनों के हृदय में प्रेम का भाव जाग्रत हो गया। चंद्रशेखर रोज शाम को दरबार में पाठ करने आता है। दोनों प्यार भरी निगाहों से देखते और प्रेम भरी बाते करते। उसका दिन-प्रतिदिन आकर्षण बढ़ते चला जाता है। इन दोनों के आकर्षण की भनक राजा को लग जाती है–

'रानीर देहत संभोगर चिन देखिछिल यदियों रजाइ कि करिव-नकरिव एको भाबिब परा नाछिल।' (बरुवा, 1984: 32)

(भावार्थ–रानी के शरीर पर संभोग के चिह्न को देखकर राजा असमंजस में पड़ जाता है कि करूँ तो क्या करूँ।)

राजा अपने संदेह को यकीन में बदलने के लिए दोनों के पीछे जासूस लगाकर दोनों के संबंध के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है और सुशुद्धि को घर से निकाल देता है। कहने के लिए तो इसे स्त्री-पुरुष का अनैतिक संबंध ही कह सकते हैं किंतु अनमेल विवाह ही इस संबंध का मूल कारण है। आज के आधुनिक समाज में भी ऐसी कई समस्याएँ देखने को मिल जाती हैं। बरुवा के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के संबंधों में प्राय: प्रेम, मिठास व अपनापन अधिक दृष्टिगोचर होता है। समाज में पुरुषों के सामान ही स्त्रियों को स्थान प्राप्त होता है। स्त्री-पुरुष के अनैतिक संबंध कम ही नजर आते हैं, कुछ अनैतिक संबंध हैं भी तो उनके कई कारण भी हैं।

निष्कर्षत: रेणु एवं नवकांत बरुवा के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंध के अवलोकन के पश्चात यही दृष्टिगत होता है कि रेणु के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के नैतिक संबंधों की कमी है तथा अनैतिक संबंध की व्यापकता है, पारिवारिक जीवन में शांति कम कोलाहल अधिक है। वहीं नवकांत बरुवा के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के नैतिक संबंध की व्यापकता है, पति-पत्नी में आपसी प्रेम, सद्भाव है, तथा स्त्री-पुरुष के अनैतिक संबंध किंचित मात्र ही हैं जो भी हैं या तो अनमेल विवाह मूल कारण है या कोई विशेष कारण है। रेणु के उपन्यास की कथा बिहार के अंचलों को केंद्र करके लिखी गई है जहाँ समाज में अनैतिकता घर कर गई है, वहीं बरुवा के उपन्यास असम के अंचलों को केंद्र करके रचा गया है, जहाँ समाज में नैतिक विचार व व्यवहार की अधिकता है।

संदर्भ

1. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1954
2. फणीश्वरनाथ रेणु, परती : परिकथा, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1957
3. फणीश्वरनाथ रेणु, जुलूस, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
4. नवकांत बरुवा, कपिलीपरीया साधु, प्रथम संस्करण, लयार्स बुक स्टॉल, गुवाहाटी, 1953
5. नवकांत बरुवा, ककादेउतार हाड़, प्रथम संस्करण, एल॰बी॰एस॰ पब्लिकेशन, गुवाहाटी, 1974
6. नवकांत बरुवा, गरमा कुँवरी, प्रथम संस्करण, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 1984

Mob. 8253815072
jaichauhan271@gmail.com

त्रासद वक्त में उम्मीद का वितान रचती इंदिरा दाँगी की कहानियाँ

डॉ॰ कनकलता रिद्धि, सहा॰ प्राध्यापक, हिंदी विभाग
निर्मला कॉलेज, राँची विश्वविद्यालय (झारखंड)

इंदिरा दाँगी, भूमंडलोत्तर हिंदी कथा साहित्य का महत्त्वपूर्ण युवा चेहरा है। उन्होंने कम समय में ही हिंदी कथासाहित्य में अपनी जो पहचान बनाई है वह एकबारगी सभी को चकित कर सकता है। नई सदी के दूसरे दशक की शुरुआत में कहानी का जो कहन और गढ़न लेकर वे आती हैं उसमें एक ताजगी है। उनकी कहानियों में समकाल की जटिलताओं को सर्जनात्मक तरीके से समझने की ईमानदार कोशिश है। अकारण नहीं कि इनमें वर्तमान जीवन के तमाम संदर्भ पूर्णता के साथ मौजूद हैं। यहाँ हाशिए का समाज प्रतिबद्धता के घोषित दावों के बगैर पूरी मजबूती के साथ खड़ा मिलता है। उनकी कहानियों में विमर्श नारे के बजाए सताए हुए वर्ग के जीवन की सच्चाई से जुड़कर चलता है। उत्तर आधुनिक युग में बाजारवाद के नियमों से परिचालित आदमी अपना अस्तित्व खो रहा है। इंदिरा दाँगी की कहानियाँ इस अकेले आदमी का हाथ दूसरे आदमी के हाथ में थमाने और उसे समाज के साथ जोड़ने का एक अदद प्रयास है। उनकी कहानियों में वक्त का संत्रास है किंतु इसकी परिणति दुख या अवसाद में नहीं होता है। वे उत्पीड़क, समय में उम्मीद का वह वितान रचती हैं जिसकी छाँव में मानवता न केवल जीवित है बल्कि निरंतर सशक्त हो रही है।

इंदिरा दाँगी व्यापक अनुभवों की कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ इस सोच का प्रतिकार करती है कि स्त्री साहित्यकार केवल घर और परिवार के अनुभव ही प्रमाणिक तौर पर लिख सकती हैं। इनमें भ्रष्ट तंत्र के रेशे-रेशे की सघन पड़ताल है। बिजली, पानी, सड़क, चिकित्सा, शिक्षा आदि जीवन की मूलभूत जरूरतों के लिए संघर्ष करता भारतीय समाज का वह बहुलांश है जिसे विकास के भ्रमित करते आंकड़ों में छुपाने के तमाम प्रयास किए जा रहे हैं। यह विदेशी मेहमान के आगमन पथ के किनारे खड़ी झुग्गी-झोपड़ियों को दीवार की आड़ देने का क्रूर दौर है। 'हर घर नल जल' जैसी सरकारी योजना बनती तो है पर सड़क खोदकर बिछा दी गई पाइपों से पानी नहीं पहुँच पाता है। इंदिरा दाँगी पेयजल की समस्या को बड़ी संजीदगी से कहानी में उठाती हैं। 'एक चोरी प्यासी घाटियों के नाम' कहानी का निम्नमध्यवर्गीय नायक गलती से खुली रह गई चमचमाती कार से पानी की बोतल सिर्फ इसलिए चुराता है कि यह उन महँगी कॉलोनियों के खिलाफ एक प्रतिशोध है जो गरीबों के हिस्से का पानी भी सोख लेते हैं। गर्मी शुरू होते ही गरीब बस्तियों में पानी के टैंकर और पानी के लिए हाथापाई तथा सिरफुटौव्वल के विजुअल्स समाचार चैनलों के रोज की खुराक बन जाते हैं। इंदिरा दाँगी उन प्यासी घाटियों का सच लिखती हैं, 'हमारी बस्ती में—जिसे गर्मियाँ शुरू होते ही नगर निगम पानी देना अक्सर ही भूल जाता है—जब पानी का टैंकर आता है बिना बर्तन-कपड़े धोए, बिना नहाए हुए लोग पानी-पानी-पानी जुटाने के संघर्ष में सिर-फुटौव्वल को खड़े हो जाते हैं जबकि टैंकरवाला किसी सुंदर लड़की को एक्स्ट्रा पानी देने के दौरान, एक ओर ले जाकर यहाँ-वहाँ छू भी लेता है।'[1]

खुली अर्थव्यवस्था में बाजार निर्णायक ताकत बनकर उभरा है। जल्द से जल्द पढ़े जाने और

 ISSN 0975-735X

बिकने के प्रलोभन ने युवा लेखन में जो अधैर्य पैदा किया है उससे सरोकार का दायरा संकुचित हुआ है। उपन्यासों और कहानियों से गाँव विलुप्त होते जा रहे हैं। '1990 के बाद मुक्त अर्थव्यवस्था की बयार ने चीजों को परिवर्तित कर दिया, जटिल और ठोस यथार्थ से इतर जनसामान्य को आभासी संसार में विचरण करने के लिए प्रेरित किया गया। एक तरह से ग्लोबल विलेज की अवधारणा से विलेज और उसके लोग गायब होते चले गए।'[2] मनोज कुमार पांडेय, सत्यनारायण पटेल, तरुण भटनागर, कैलाश बनवासी, आशुतोष आदि की कहानियों में गाँव अपनी समस्याओं के साथ मिलता है। इंदिरा दाँगी की कहानी 'मैंने परियाँ देखी हैं' के सनातनपुर गाँव में बिजली नहीं है। ऐसा नहीं है कि बिजली कभी थी ही नहीं। गाँव के भूखे-नंगे लोग बिजली बिल नहीं दे सके तो बिजली काट दी गई। 'तीन बरस हुए आधी पठार के देहात में बिजली नहीं है। वैसे भी गरीब बुंदेलखंड के अरबपति लालफीता साहब-मेमसाहबों और रजवाड़े झक्क सफेद कुर्तों को यों कभी जल्दी भी नहीं रही।'[3] यह विडंबना ही है कि 21वीं सदी के भारतीय लोकतंत्र में मुफ्त बिजली खाए-अघाए शहराती लोगों को वोट के बदले मिलने वाली सहूलियत भर बनकर रह गई है।

भ्रष्ट तंत्र में सरकारी अस्पताल खुद बीमार हो गए हैं। वे मरीजों का इलाज क्या करेंगे। महँगे प्राइवेट अस्पतालों ने कई मध्य वित्त एवं निम्न मध्य वित्त परिवारों को गरीबी रेखा के नीचे धकेल दिया है। 'आयुष्मान भारत योजना' में इलाज के नकली बिल कई अस्पतालों एवं डॉक्टरों की जेबें मोटी कर रहे हैं। इंदिरा दाँगी ने 'व्यवस्था बाइज्जत बरी है' और 'सरकारी मदद आ रही है' जैसी कहानियों में सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया है। 'व्यवस्था बाइज्जत बरी है' में कस्बाती जिला अस्पताल के मुख्य सर्जन पद से सेवानिवृत्त डॉ॰ सेवाराम अपने बतौर डॉक्टर किए गए गुप्त पापों के प्रायश्चित स्वरूप संसार के भले के लिए क्लीनिक खोलते हैं। इसी कहानी में तेरह साल का प्रखर अपनी बीमार माँ को स्ट्रेचर के अभाव में कंधे पर ढोकर लाता है और डॉक्टर के कमरे के आगे लगी लंबी कतार के अंत में फर्श पर अपना शर्ट बिछाकर उसे लिटा देता है। सरकारी डॉक्टर एक खास दुकान से ही दवा खरीदने की हिदायत देता है। सरकारी अस्पताल की लचर व्यवस्था प्रायवेट अस्पताल में जाने को मजबूर करती है। सारी जमापूँजी के साथ गरीब की झोंपड़ी तक बिक जाती है और मरीज की मौत एक ऐसा सवाल छोड़ जाती है जिसका जवाब जनता के प्रति जवाबदेह तथाकथित लोकतांत्रिक व्यवस्था को देना ही चाहिए। 'सरकारी मदद आ रही है' कहानी में मुख्यमंत्री के स्वेच्छानुदान निधि से पचास हजार रुपए मिलने में इतनी अधिक देर होती है कि उसके पहले ही रघु की जिज्जी की ऑपरेशन के अभाव में मौत हो जाती है। सरकारी डॉक्टर के लिए वार्डबॉय कहता है, 'ये डॉक्टर भी न ...खुद तो सरकारी दवाइयाँ चुरा-चुराकर बेचते हैं। प्राइवेट प्रैक्टिस करते हैं। मेडिकल वालों से कमीशन खाते हैं।'[4] महान गजलकार दुष्यंत कुमार ने लिखा था–'यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियाँ/ मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा होगा।' इंदिरा दाँगी ने अपनी कहानियों में इस ठहरी हुई व्यवस्था की मुकम्मल शिनाख्त की है।

बेगाने शहर में एक अपना आशियाना आम आदमी का सबसे बड़ा सपना होता है। इंदिरा दाँगी 'पार्क फेसिंग घर' में इस सपने के टूटने का दर्द बयां करती हैं। निम्नमध्य वर्ग की चारू का सपना है पार्क फेसिंग घर। सात सौ स्क्वायर फीट के पार्क फेसिंग प्लाट पर एक कमरे का उसका मकान जैसे-तैसे बन जाता है। पार्क के नाम पर छह हजार स्क्वायर फीट का गंदला मैदान है जो कूड़े-कचड़े से अटा पड़ा है। सार्वजनिक मैदान को बुहारती घरेलू स्त्री चारू को पास-पड़ोस का साथ मिलता है और साफ-सुथरे हो चुके मैदान को अब पार्क में तब्दील करने के लिए स्थानीय

पार्षद निधि से राशि की घोषणा होनी बाकी है। लालची बिल्डर की काली करतूत का भांडा फोड़ तब होता है जब उस पार्क बनाम हजार-हजार फीट के छह प्लॉट के ठगे गए खरीददार रोते-गिड़गिड़ाते अपनी रजिस्ट्रियाँ दिखाते हैं। आबादी बढ़ने के साथ शहरों का विस्तार हो रहा है। ऐसे में नकली रियल स्टेट कंपनियों और बिल्डरों के जाल में फँसकर अपनी जीवनभर की जमा-पूँजी गवाँ चुके लोगों को न घर नसीब होता है और न न्याय। विवेच्य कहानी में लेखिका ने इस समस्या को जिस संजीदगी के साथ उठाया है वह काबिले तारीफ है।

सड़क शहर की जीवनरेखा होती है। यही सड़क जब नेताओं, अफसरों और ठेकेदारों की काली कमाई का जरिया बन जाए तो आम आदमी का जीना मुहाल हो जाता है। इंदिरा दाँगी की कहानी 'मोहल्ले की सड़क' में दिखाया गया है कि कैसे टेंडर के खेल में मोहल्ले की अच्छी-खासी सड़क खोद दी जाती है और रास्ता लगभग बंद हो जाता है। ठेकेदार अलग साइट पर काम करवाता है और मोहल्ले की एकमात्र सड़क का हाल यह है कि 'आधी सड़क जैसे सुरसा के मुँह की भाँति गहरे, लंबे गड्ढे में तब्दील होती जा रही थी, बाकी आधी माटी के फुसफुसे पहाड़ में। बजरी, गिट्टी, मिट्टी के ऊपर से, पहले से ही झल्लाए हुए लोग और ज्यादा झल्लाते हुए, अपने दुपहिया वाहन जैसे-तैसे घसीटते-बचाते रास्ता पार करने के लिए जूझ रहे थे।'[5]

इंदिरा दाँगी की खासियत यह है कि वे ऐसे सशक्त पात्र रचती हैं जो त्रासद वक्त को बदलने का माद्दा रखते हैं। उनकी कोशिशें उम्मीद का ऐसा बितान रचती हैं जहाँ सुंदर जीवन का सपना पलकर साकार होता है। 'ये जो साहित्य है मेरी जान' कहानी में सफल हो रहे युवा लेखक का स्वगत कथन अमानवीय समय में साहित्य को सही दिशा दिखाता है, 'जबकि आधी दुनिया अव्यवस्था और अपमान से या तो मर रही है या कुहनियों के बल घिसट रही है, मैं चर्चित प्रेम कहानियाँ लिखने वाला दंभी लेखक बना हुआ हूँ।'[6] साहित्यकार की जीवनदृष्टि कैसी हो इस पर उन्होंने अपने उपन्यास 'रपटीले राजपथ' में लिखा है, 'जीवन से मिलती है। ये कोई बाजारू बिकाऊ वस्तु नहीं कि शॉपिंग मॉल से खरीद लाए; इसके लिए तपना पड़ता है लोकजीवन के नीरस और असहनीय धूप में जैसे कोई कच्चा फल पकता है आग जैसी धूप को खूब-खूब सहकर।'[7] इंदिरा दाँगी इसी जीवनदृष्टि को पाथेय बनाकर अपनी कथा यात्रा तय करती हैं। उनकी कहानियों में भयावह स्थितियाँ हैं तो उन्हें बदलने की दिशा का संकेत भी मिलता है। परिवर्तन का उपदेश कहानी के शिल्प को कमजोर करता है इसलिए लेखिका केवल संकेत भर के साथ कहानी समाप्त कर देती हैं।

'द हीरो' कहानी का अदना सा क्लर्क मनोहर जिला पंचायत के नए मुख्य कार्यपालक अधिकारी आई॰ए॰एस॰ रैंक के अफसर के सामने स्कूलों के मध्याह्न भोजन के बजट की राशि कम करने के खिलाफ पहाड़ की तरह खड़ा हो जाता है। गाँव के स्कूल के दौरे पर अधिकारी साहब गिनते हैं और आठ साल का बच्चा एक के बाद एक सात रोटियाँ पनीली तुअर दाल के साथ खा जाता है। वे जाते हुए मुड़कर देखते हैं, और बच्चा बची हुई डेढ़ रोटी स्कूली बस्ते में छिपा रहा होता है। उनके कमजोर पड़ते कदम के संकेत से लेखिका ने बता दिया है कि आई॰ए॰एस॰ अधिकारी की सोच और निर्णय दोनों बदलेगा। परिवर्तन का यही संकेत 'मोहल्ले की सड़क' कहानी के अंत में हैं जब सड़क खोदने वाले मक्कार ठेकेदार के खिलाफ चौबे जी कलछुल, बाऊजी छडी, विधवा शांति डंडा और सब्जी वाली काकी हाथ में चप्पल लेकर खड़ी हो जाती हैं।

नब्बे के दशक की शुरुआत में भूमंडलीकरण के साथ स्त्री विमर्श का नया और सशक्त दौर

हिंदी साहित्य में आया। 'हंस' की अगुवाई में जो स्त्री मुक्ति आंदोलन चला उसका एक धड़ा स्त्री की जमीनी हकीकत से न जुड़कर 'देह की मुक्ति' तक ही सिमटकर रह गया। देह की आजादी का सवाल स्त्री मुक्ति का एक पक्ष हो सकता है किंतु उसे महिला सशक्तिकरण का संपूर्ण पर्याय मान लेना सही नहीं है। ऐसे में इंदिरा दाँगी का लेखन व्यापक सामाजिक सरोकारों के बीच स्त्री को देखता है। 'वेब दुनिया' को दिए अपने साक्षात्कार में उन्होंने कहा था कि हम उस मजदूर स्त्री के बारे में लिखें जो खुले में नहाने और खुले में शौच करने को विवश है। वे इसी स्त्री के सवाल को अपनी कहानियों में उठाती हैं।

'इंदिरा दाँगी' की कहानियों में आई स्त्री सीधी-सरल तो है किंतु कमजोर नहीं हैं। उनकी 'बकरी' कहानी की गरीब विधवा अनिता अपनी अंतिम उम्मीद तगड़ी बकरी को बचाने के लिए तेंदुए से भिड़ जाती है और उसे खदेड़कर ही दम लेती है। अपने स्त्री पात्रों के बारे में कहानीकार कहती हैं कि उनकी कथाओं में स्त्रियाँ आत्महत्या नहीं करती क्योंकि वे खुद संघर्ष में यकीन करती हैं। साहस का यह बीज उनकी किशोरी से युवती होती स्त्री में अवसर पाकर फूट पड़ता है। 'रेस्तरां में बॉयफ्रेंड के साथ' की दिव्या प्रथम डेट पर बुरे ख्वाब की तरह घुस आए एक दुष्ट अजनबी से पहले तो भयभीत होती है फिर ऐसे डटकर उसके सामने खड़ी होती है कि वह भागने पर मजबूर हो जाता है। 'उस रात वो अकेली लड़कियाँ' की कस्बे से निकलकर शहर में पढ़ने के लिए आई परिवार से दूर अकेले रह रही लड़कियाँ शीतल और संगीता आधी रात को बदमाश लड़के की धमकी भरे काल्स से पहले तो बुरी तरह डर जाती हैं किंतु अंत में पुलिस की धमकी के रूप में उनका साहस फूट पड़ता है। समस्या से निजात तो मिलती ही है लड़का शहर छोड़कर भागने को मजबूर हो जाता है।

इंदिरा दाँगी अपनी कहानियों में स्त्री देह की शुचिता की संकीर्ण अवधारणा को खंडित करती हैं। 'आवाँ' उपन्यास पर विचार करते हुए लेखिका एवं पत्रकार क्षमा शर्मा लिखती है– 'गिल्ट, जिसे लड़की जबसे जन्मती है, उसके व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा बना दिया जाता है। जो पाप करता है उसे अपराधबोध नहीं होता है; वह चुटकले सुनाता है स्त्रियाँ उसे जिंदगीभर भोगती हैं।'[8] वास्तव में समाज में यही होता है। बलात्कार की शिकार स्त्री ही सबके निशाने पर होती है। इंदिरा दाँगी की कहानी 'हमें मुस्कराना आता है' ऐसी स्त्रियों के प्रति मानवीय सोच सामने रखती हैं। इसमें बलात्कार की शिकार नायिका अपना आत्मसम्मान नहीं खोती है। नायक आहम ही अपने सारे अहम और पूर्वाग्रह त्यागकर उसे पत्नी रूप में स्वीकार करता है। 'जिंदगी कैसी भी यहाँ तक कि फुटपाथ तक की व्यर्थ और एकांगी जिंदगी जीते पुरुष की जिंदगी में भी किसी स्त्री की संभावना कितने रंग बिखेर देती है।'[9] इंदिरा दाँगी की कहानियों में स्त्रियाँ जिंदगी को सतरंगा बना देने का सामर्थ्य रखती हैं। 'रमाकांत स्मृति कहानी सम्मान' से पुरस्कृत कहानी 'शुक्रिया इमरान साहब' में सिम उर्दू से एम॰ए॰ स्कूल बस ड्राइवर इमरान की जिंदगी में उन सारी उम्मीद और खुशियों का प्रतिरूप है जिसका वह हकदार है।

इंदिरा दाँगी की कहानियाँ दुख और अवसाद का प्रतिवाद करती हैं। उनके पात्रों में मुश्किल जिंदगी में लड़ने का हौसला है। यहीं से हालात बदलने की हिम्मत भी फूट निकलती है। 'पहाड़' कहानी का नौ साल का मोहन अपने बूते से बाहर लगने वाली ऊँचा चट्टान पर खुद से चढ़कर ही दम लेता है। 'आगे जाइए भाई' में किशोर भिखारी सिद्धू 'भीख माँगकर खुद को क्यों जलील करना' की मीठी झिड़की से मेहनत की राह पकड़ता है। 'कंबल' कहानी में पुलिस इंस्पेक्टर साहब अपना

कीमती कंबल ठंड में ठुठरती पगली भिखारिन और उसके बच्चे पर ओढ़ा देते हैं। 'पार्क फेसिंग घर' की चारू पार्क न बन पाने पर अपने छोटे से छत को ही छोटे से पार्क की शक्ल देने में जुट, जाती है। सबसे बढ़कर 'ये जो साहित्य है मेरी जान' कहानी में मैं के रूप में मानो इंदिरा दाँगी स्वयं ही बतौर साहित्यकार और सजग नागरिक समाज के दबे-कुचले वर्ग के पक्ष में शोषण के पूरे तंत्र के खिलाफ खड़े नजर आती हैं। उनकी कहानियों में दुख और निराशा के बीच भी बेहतर जीवन का स्वप्न देखने का हौसला है। मानवता को मुखरित करती ये कथाएँ अँधेरे समय में भी उम्मीद का दीप जलाए रखती हैं।

संदर्भ

1. इंदिरा दाँगी, एक सौ पचास प्रेमिकाएँ, पृ॰ 40
2. सं॰ ऋत्विक राय, लमही, जनवरी-मार्च 2020, पृ॰ 204
3. इंदिरा दाँगी, एक सौ पचास प्रेमिकाएँ, पृ॰ 47
4. इंदिरा दाँगी, शुक्रिया इमरान साहब, पृ॰ 70
5. इंदिरा दाँगी, एक सौ पचास प्रेमिकाएँ, पृ॰ 111
6. इंदिरा दाँगी, शुक्रिया इमरान साहब, पृ॰ 110
7. इंदिरा दाँगी, रपटीले राजपथ, पृ॰ 99
8. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य, पृ॰ 154
9. सं॰ हरिनारायण, कथादेश, नवंबर 2019, पृ॰ 6

Dr. Kanak Lata Riddhi
Flat no 304, Mrinalini Apartment
South office Para, Doranda ,
Ranchi (Jharkhand) 834002
Mob.6202419309
klriddhi@gmail.com

ISSN 0975-735X

नेपाल की हिंदी पत्रकारिता की दशा और दिशा

डॉ॰ कविश्री जायसवाल, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी
एन॰ए॰एस॰ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)

उर्दू के मशहूर शायर अल्लामा इकबाल ने पत्रकारिता के संदर्भ में कहा था–

मैं कहाँ रुक सकता हूँ अर्श और फर्श की आवाज से।
मुझको जाना है बहुत दूर हद-ए-परवाज से।

शायर ने स्पष्ट कर दिया है कि पत्रकारिता की कोई सीमा नहीं रखी जा सकती है, वह असीम यात्रा का राही होता है। भारत के पड़ोसी राष्ट्र नेपाल में हिंदी पत्रकारिता का पथ निर्देशित करता है। 'नेपाली भारतीय संविधान' की आठवीं सूची में सम्मिलित भाषा है। क्रमानुसार अकारादि सूची में सोलहवीं नंबर पर है। संसार में नेपाल और भारत दोनों देशों की लिपि देवनागरी है। यह भी एक विशिष्ट उदाहरण है।

नेपाल के जनकपुर धाम बाट से प्रकाशित 'विश्व जागरण' दैनिक पत्र का आप्त वाक्य 'मोटो' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' है। यह पत्र आफसेट प्राविधिमा में पहले-पहल वहाँ से प्रकाशित हुआ था। इसके संस्थापक, प्रकाशक तथा संपादक स्व॰ रविंद्र शाह थे। बाद में श्री राघवेंद्र शाह हुए। मुद्रण राजर्षि जनक आफसेट प्रिंटर्स से होता है।

हिंदी दैनिक 'नेपाल टाइम्स' जो कि काठमांडू से प्रकाशित होता है, इसके संपादक उमाकांत दास हैं। 'मुक्त नेपाल' हिंदी साप्ताहिक पत्र के संपादक श्री रायस्वरूप प्रसाद वी॰ए॰ हैं जो नेपाल के महोतरी जलेश्वर के निवासी हैं। 'नेपाल पुकार', 'लोक मंच', 'नेपाल टाइम्स', 'नवराष्ट्र पत्र' भी प्रकाशित होते हैं। यहाँ 'सगर माथा संवाद समिति', 'राष्ट्रीय संवाद समिति', गोरावा के प्रतिनिधि तथा युग पुकार साप्ताहिक के संपादक रामस्वरूप जी रह चुके हैं।[1]

शाह वंश के पुराने राजाओं के काल में नेपाल में दो ही भाषाओं की प्रधानता थी–नं॰-1 खस कराकानी और नं॰-2 हिंदी।[2] सन् 1958 से काठमांडू से 'नेपाली हिंदी दैनिक' का प्रकाशन हुआ जिसके संपादक उमाकांत दास हैं। इसमें राजनीतिक समाचारों का आधिक्य हुआ। श्री उमाकांत दास रोतहट जिला कडरवामा नेपाली संवत के आधार पर उनका जन्म 1977 साल में हुआ था। ये संस्कृत में शास्त्री और बी॰ए॰ उत्तीर्ण हैं। साल 2008 से हिंदी पत्रकारिता में क्रियाशील हैं। साल 2012 से काठमांडू से प्रकाशित 'नेपाल टाइम्स' में भी संपादक रहे। तदंतर वे 2015 साल में 'नेपाली हिंदी' के संपादक हैं। हिंदी साहित्य में वे नेपाल में अपना वैशिष्ट्य बनाए हुए हैं। सन् 1956 से 'विश्व भाषा कंपास पत्रिका' काठमांडू विश्वविद्यालय से साइक्लोस्टाइल में प्रकाशित हुआ। जिसके प्रधान संपादक स्व॰ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र थे। वस्तुत: यह पत्रिका नेपाल में विश्वविद्यालयीय परिक्षेत्र में हिंदी जगत में अपनी उपस्थिति से बीजारोपण किया।

कालांतर में यह 'साहित्यलोक' नाम से प्रकाशित होती है। प्राय: इसमें विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापकों का महनीय सहयोग रहता है। वर्तमान समय में यह पत्रिका हिंदी विभाग की प्रमुख पत्रिका बन गई है। सन् 1981 में 'प्रेमचंद' का केंद्रित कर इसका प्रकाशन स्तरीय

हिंदी-विमर्श का मानदंड स्थापित किया। तदंतर सन् 1993 में अपना वर्ष 11, अंक एक 'नेपाल में राहुल सांकृत्यायन' पर ऐतिहासिक सामग्री का प्रकाशन किया। मुख्य पृष्ठ पर 'राहुल जी' का चित्र रेखांकन भी प्रस्तुत किया। जबकि वर्ष 2, अंक 1 में प्रेमचंद का चित्र भी छपा है। इस अंक में संपादक मंडल में डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र, डॉ॰ रामदयाल राकेश, प्रो॰ श्रीमती सीता रानी श्रेष्ठ तथा मूल्य भारतीय रुपए में चार रुपए और नेपाली रुपए में छः रुपए मुद्रित हुआ था।

वस्तुतः यह त्रिभुवन विश्वविद्यालय हिंदी विभाग का मुख-पत्र है। फलतः हिंदी छात्रों के लिए बहुत उपयोगी माना जाता है। तदर्भ इसके अंतिम पृष्ठ पर यह विज्ञप्ति प्रकाशित होती है। साहित्य लोक, नेपाल में हिंदी विषय की एकमात्र पत्रिका है, जिसका प्रकाशन त्रिभुवन विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा विशेषकर इस विषय के शिक्षकों, छात्रों तथा शोधार्थियों के लिए होता है। इस पत्रिका में प्रकाशन के लिए लेख, पुस्तक समीक्षा, टिप्पणी आदि नेपाल में हिंदी भाषा और साहित्य के शिक्षण अध्ययन, अनुसंधान से संबद्ध रचनाएँ भेजने के लिए सभी लेखक बंधुओं से आग्रह है। रचनाएँ भेजने और इस संबंध में पत्राचार का कार्य निम्न पते पर होना चाहिए–

हिंदी शिक्षण समिति
कीर्तिपुर कैंपस
काठमांडू, नेपाल।[3]

नेपाल में समय-समय पर 'चर्चा' और 'आरोहण' आदि लघु पत्रिकाएँ भी येन-केन-प्रकारेण प्रकाशित होती रहती हैं। नेपाल 'हिंदी साहित्य कला संगम' का मुख पत्र 'साहित्य संगम' नाम से वर्ष-एक, अंक एक, सितंबर 1997 में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रधान संपादक श्री विजयकुमारदास, सहयोगी रूप में जयकांत लाल, जी॰पी॰ सिंह, संजीता बर्मा तथा परामर्श मंडल में कविवर केदार मान 'व्यथित' प्रो॰ खड्माल मल्ल, श्री ध्रुंस्वा सायमी रखे गए थे। मल्ल काल के नाटकों की एक और विशेषता यह है कि उनके संवाद हिंदी में हैं, पर स्थान-स्थान पर संकेत-निर्देश 'नेवारी भाषा' में हैं जो मल्ल राजाओं की राजभाषा थी। आज भी काठमांडू उपत्यका की मूल भाषा 'नेवारी' ही है। इसका पुराना तथा प्रचलित नाम 'नेपाल भाषा' है।[4] 'हिमालिनी' त्रैमासिक पत्र में मिलती है। इसका प्रकाशन 'स्व॰ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र अकादमी', काठमांडू से होता है। इसका प्रबंध संचालन, प्रकाशन श्री सच्चिदानंद मिश्र जी करते हैं। हिमालिनी के अंक सम-सामयिक साहित्यिक विषय पर केंद्रित होते हुए नेपाल में हिंदी के वर्चस्व को बनाए हुए है। हिमालिनी का कवर पृष्ठ रंग-बिरंगा होता है। अब तो यह पत्रिका दक्षिण एशिया की संपूर्ण हिंदी विधा की मानी जाती है। यह पत्र नेपाल से प्रकाशित एकमात्र हिंदी पत्रिका गौरव भी प्राप्त कर चुकी है।

नेपाल में हिंदी पत्रकारिता का ऐतिहासिक धरातल से लेकर उत्तुंग-शिखर तक पहुँचाने में यह एक दृष्टांत का पर्याय भी है। नेपाल में हिंदी पत्रकारिता का इतिहास बड़ा संघर्षशील रहा है। सर्वप्रथम काठमांडू से 'तरंग' साप्ताहिक का भोजबहादुर सिंह के संपादन में हुआ था और फिर 'सही आवाज' का प्रकाशन श्री मजिराज उपाध्याय के संपादन में आरंभ हुआ था। उसी समय जनकपुर धाम से गिरिंद्रमोहन भट्ट के संपादन में 'सात दिन' 26 मई 1952 से और उसके साढ़े चार महीने बाद 15 अक्टूबर से युगेश्वर प्रसाद के संपादन तथा रामस्वरूप प्रसाद वी॰ए॰ के प्रकाशन में 'मुक्त नेपाल' साप्ताहिक का प्रकाशन आरंभ हुआ था। उसी समय विराट नगर से लक्ष्मण शास्त्री का 'आदर्श वाणी', पाक्षिक 2009 में तथा 'राजहंस' 2014 (1957 ई॰) में रघुनाथ ठाकुर के संपादन में, वीरगंज से कृष्णप्रसाद मानधर के संपादन में 2008 में तथा 'नया नेपाल' और नेपाल गंज

से 2012 साल में स्व॰ महावीरप्रसाद गुप्ता के संपादन में साप्ताहिक 'नया संदेश' आदि का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण माना जाता है तथा 'नया संदेश' को लखनऊ में मुद्रित कर प्रकाशन किया गया। पं॰ योगेश्वर मिश्र के संपादन में साप्ताहिक 'मातृभूमि' का 2016 साल फाल्गुन में हुआ। 'अनुराधा' साहित्यिक मासिक का प्रकाशन हुआ।

इसी तरह हिंदी दैनिक 'जय नेपाल' का प्रकाशन इंद्रचंद्र के संपादन में 23 जुलाई 1955 को काठमांडू से हुआ था। इसके कुछ ही महीने बाद 1956 जनवरी 16 से राम सिंह के संपादन में 'नेपाल टाइम्स' दूसरा दैनिक का प्रकाशन हुआ था। जो अधावधि नेपाली दैनिक है। 21 दिसंबर 1958 से उमाकांत दास के संपादन में प्रकाशित 'नेपाली' इन दिनों तक एकमात्र हिंदी दैनिक है। राजधानी से प्रकाशित 'साप्ताहिक विश्लेषण' शुकेश्वर पाठक और 'इंकलाब' गजेंद्रप्रसाद मिश्र के संपादन में प्रकाशित होता है। फिलहाल 'इंकलाब' बंद है।

जनकपुर धाम से राजेश्वर नेपाली के संपादन में प्रकाशित 'लोकमत' नेपाल का एक सर्वश्रेष्ठ हिंदी साप्ताहिक है। जलेश्वर से 'मुक्त नेपाल' रामस्वरूप प्रसाद वी॰ए॰ के संपादन में और वीरगंज में राजेशशाह के संपादन में 'संडे टाइम्स' प्रकाशित होता है।[5] इन सब प्रकरणों से प्रमाणित होता है कि नेपाल में हिंदी पत्रकारिता का प्रचलन बड़े ही मनोयोग से सतत होता रहा है। श्री रामभरत साह एक प्रकाशक के साथ हिंदी साहित्य की झाँकी प्रस्तुत करते रहे हैं। डॉ॰ कौशलेंद्र श्रीवास्तव हिंदी पत्रकारिता से जुड़े हुए हैं। ये नगर परासी के प्रक्षेत्र से हैं। नेपालगंज बांबे के श्री पन्नालाल गुप्त हिंदी रचनाकार के साथ हिंदी पत्रकारिता से जुड़े रहे हैं। प्रथम नेपाल राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के आयोजक समिति में भी थे। यह सम्मेलन सन् 1996 में जनकपुर धाम में 10 मार्च को संपन्न हुआ था।

राजर्षि जनक जानकी और याज्ञवल्क्य की पावन भूमि में होने पर भारत से अनेक साहित्यकार, पत्रकार और हिंदीप्रेमी भी उपस्थित थे। नेपाल से प्रकाशित 'सुमन-संचय' जो पत्र-पत्रिकाओं के लेखों का संग्रह है, प्रकाशित हो चुका है।[6] नेपाल से भारत का संबंध सदा से रहा है। जब जनकपुर धाम में 25 जनवरी 1982 में 'जय जानकी जीवन यात्रा' हुई थी तो इसमें अनेक भारतीय साहित्यकारों के साथ श्री सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय भी गए थे।

काठमांडू से प्रकाशित हिमालिनी त्रैमासिक पत्र में विश्वयात्री डॉ॰ कामता कमलेश की 'नेपाल की हिंदी कहानियाँ' नामक कृति में इसका उल्लेख ससम्मान हुआ है।[7] इस प्रकार हुआ है– नेपाल की हिंदी कहानियों को उजागर करने और प्रकाशित करने का श्रेय विद्वान डॉ॰ कामता कमलेश जी को है।[8]

त्रिभुवन विश्वविद्यालय हिंदी विभाग का मुख पत्र 'साहित्यलोक' में हिंदी साहित्य के सभी प्रसंगों का प्रकाशन समय-समय पर होता रहता है जिसमें भारत में लिखे जाने वाली पुस्तकों की समीक्षा भी होती है जो नेपाल और भारत को हिंदी माध्यम से जोड़े रहती है। उदाहरणार्थ 'साहित्यलोक' में 'मारीशस की हिंदी कहानियाँ' संपादक डॉ॰ कामता कमलेश की समीक्षा द्रष्टव्य है।[9]

इससे यह प्रमाणित होता है कि नेपाल में हिंदी पत्रकारिता का वैश्विक अवलोकन कर उसकी महत्ता को अग्रसर करने में विस्तृत दृष्टिकोण का पालन निष्पक्षता के साथ होता है। 'साहित्यलोक' पत्रिका इसका ऐतिहासिक उदाहरण है। यह पत्र अब तक निरंतर प्रकाशित हो रहा है। प्रारंभ में यह पत्र साइक्लो स्टाइल पद्धति में होता था पर अब यह विधिवत मुद्रित होता है।

संपादन मंडल में हिंदी विभाग के सभी प्राध्यापकों का सहयोग लिया जाता है। स्व॰ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र विभागाध्यक्ष ने इसका बीजारोपण किया था।

प्रारंभ में इसका नाम 'विश्वभाषा कंपास पत्रिका' था। प्रारंभ में संपादक मंडल था जो इस प्रकार है–

1. श्री राजाराम कर्माचार्य, अध्यक्ष
2. श्री जगन्नाथ शर्मा त्रिपाठी, सदस्य
3. श्री रीओजी ओमुकाह, सदस्य
4. श्रीमती क्रियटल वसु, सदस्य
5. श्री रूद्रप्रसाद बुलास, सदस्य
6. सहयोगी श्री मुकुंद राज 'पथिक'
7. श्री पन्ना रत्न तुलाघर

जून 14, 1981

उस समय नेपाल में मुद्रण कला का अधिक प्रभाव नहीं था अत: यह पत्र हिंदी तथा अँग्रेजी में साइक्लो स्टाइल कराकर प्रकाशित होता था। संपादक मंडल के सदस्य श्री जगन्नाथ शर्मा त्रिपाठी लेख–नेही नेपाली आज्ञार्थक रूप देवनागरी लिपि में छपा था। 'हिंदी भाषा की विशेषता' शीर्षक से श्री चंद्रदेव ठाकुर का लेख हिंदीभाषा का भाषा–वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करता है। संबंधित प्रसंगों का उदाहरण भी दिया गया था।[10] श्री चंद्रदेव ठाकुर ने लिखा था–'हिंदी' अपने में अनुपम विशेषता ली हुई जनभाषा को प्रभावित एवं आकर्षित करती है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।[11]

यद्यपि इस अंक में हिंदी, अँग्रेजी, नेपाली और जापानी आदि लिपियों के लेख होने से विश्वभाषा अंक देने का सफल प्रयास संपादक मंडल ने किया है। प्रसन्नता और गर्व की बात है कि इसके बाद यह पत्रिका मुद्रित होकर आज तक विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से निरंतर से प्रकाशित हो रही है। स्व॰ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र जोकि हिंदी विभाग के अध्यक्ष पर अपना कार्यकाल पूरा कर पद मुक्त हुए थे। प्रसन्नता और गर्व की बात है कि उनके दिवंगत होने पर वहाँ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र अकादमी संस्था की स्थापना हुई जिसमें उनके सुपुत्र श्री सच्चिदानंद मिश्र संस्थापक पद को सँभालते हुए नेपाल की प्रमुख हिंदी पत्रिका 'हिमालिनी' को विश्व परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर रहे हैं। स्व॰ डॉ॰ कृष्णचंद्र मिश्र का जन्म जनकपुर धाम के महोतरी के पिपरा ग्राम में वि॰सं॰ 1991 साल में अश्विन कृष्ण नवमी को नेपाली गणनानुसार हुआ था। डॉ॰ मिश्र नेपाल के गिने–चुने विद्वानों में से एक रहे हैं। संपूर्ण नेपाल को एकसूत्र में बाँधने वाली संपर्क भाषा हिंदी के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। उनकी मृत्यु दिनांक 2053 साल ज्येष्ठ 28 को आकस्मिक एवं असामयिक निधन पर त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू से प्रकाशित 'साहित्य लोक' हिंदी पत्रिका में विश्वविद्यालय में हार्दिक श्रद्धांजलि में डॉ॰ उषा शर्मा ठाकुर, डॉ॰ सूर्यनाथ गोप, श्रीमती सीतारानी श्रेष्ठ, उमानाथ शर्मा, वसंत कुमार विश्वकर्मा, रामबहादुर दुवाल श्रेष्ठ तथा शिवबहादुर कार्की आदि उपस्थित थे।[12] नेपाल में हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में वर्तमान समय में कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलते हुए भी अपनी वैश्विक स्थिति को सुपुष्ट करने में सतत चल रही है। जनकपुर बौद्धिक समाज, जानकी पथ जनकपुर धाम से अनेक वर्षों से हिंदी के सम्मेलन, गोष्ठियाँ, प्रपत्र तथा चर्चाओं का आयोजन होता रहता है। वहाँ के प्रसिद्ध कर्मठ हिंदी पत्रकार श्री रोजश्वर नेपाली का योगदान हिंदी साहित्य में प्रशंसनीय और ऐतिहासिक कार्य में अहोरात्रि संलग्न रहते हैं। डॉ॰ शिवशंकर यादव

साहित्यिक नाम विमल कृष्ण नेपाली का पत्रकारिता के धरातल पर उनकी रचनाएँ इस यज्ञ में समिधा का कार्य करती हैं।

नेपाल में नई बौद्धिक चेतना और नया युग लाने में यहाँ हिंदी साहित्य ने बड़ी भूमिका निभाई है। आज ज्ञान-विज्ञान के युग में हिंदी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ तथा सिनेमा नेपालियों के लिए बहुत बड़ा बौद्धिक संबल है।[13] पत्रकारिता के क्षेत्र में आकाशवाणी का भी योगदान माना जा सकता है। नेपाली आल इंडिया रेडियो के प्रसारण सुनकर भी हिंदी सीखने का प्रयास करते हैं।[14]

समाचारपत्र के प्रकाशन तथा उपयोगिता के बारे में जनकपुर धाम के श्री सरयुग चौधरी की रचना 'अखबारों की जान' बहुत ही प्रेरणादायक रचना है।[15] सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मीडिया भी पत्रकारिता को प्रसारित करने में अहोरात्रि अपना योगदान देता रहता है। संचार माध्यम या मीडिया को हम तीन भागों में विभाजित मानते हैं–(1) अखबार, पत्र-पत्रिका (प्रिंट मीडिया), (2) रेडियो (आकाशवाणी), (3) टेनीविजन (दृश्य श्रव्य माध्यम)।

इन सबके कार्यों से हमारा जनजीवन प्रतिक्षण प्रभावित होता है। वर्तमान युग में अब तो यह जीवन की संजीवनी बन गया है। जहाँ तक नेपाल की हिंदी पत्रकारिता का प्रश्न आता है, उसमें भी इसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। नेपाल की उत्कृष्ट हिंदी पत्रिका 'हिमालिनी' त्रैमासिक पत्रिका का स्थान उच्च शिखर पर है, ऐसा मेरा मानना है। अब तो इसका अपना ई-मेल और फोन नं॰ भी है। इसका कवरपृष्ठ से मेरी पूरी आशा है कि भविष्य में इसके संपादक, व्यवस्थापक, प्रकाशक इस ओर भी पाठकों को बर्चुअल के माध्यम से पूरे विश्व को अपना परिवार बना सकते हैं। यह विश्वास ही नहीं वरन् समय की माँग भी है।

संदर्भ

1. राजेश्वर नेपाली, नेपाल में हिंदी की अवस्था, पृ॰ 13
2. राजेश्वर नेपाली, नेपाल में हिंदी की अवस्था, पृ॰ 24
3. साहित्यलोक, कवरपृष्ठ का अंतिम पृष्ठ
4. श्री सूर्यनाथ गोप, नेपाल में हिंदी विश्व में हिंदी, खंड-दो, प्रथम संस्करण, हरिबाबू कंसल, पृ॰ 156
5. राजेश्वर नेपाली, नेपाल में हिंदी की अवस्था, पृ॰ 32
6. रामानंद साहित्यमाला में प्रकाशित सूची
7. हिमालिनी वर्ष 3 अंक-एक व दो, पृ॰ 39
8. हिमालिनी त्रैमासिक पत्रिका सं॰ 2000, पृ॰ 39
9. साहित्यलोक, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू, अंक वर्ष 3, अंक 1, पृ॰ 39
10. विश्व भाषा कैंपस पत्रिका, अंक तीन 1981, पृ॰ 32
11. वही, पृ॰ 33
12. साहित्यलोक, डॉ॰ मिश्र स्मृति अंक, पृ॰ 17
13. भाग्यनाथप्रसाद गुप्ता, हिंदी और नेपाल लेख, नेपाल में हिंदी की अवस्था, पृ॰ 25
14. उषा आनंद, नेपाल में हिंदी, आजकल, फरवरी, 1982, पृ॰ 35

Dr. Kavishri Jaiswal
E-52 Meenakshipuram
Mawana Road , Meerut 250001U.P.
Mob. 9412365513
kavishrijaiswal01@gmail.com

तेजेंद्र शर्मा कृत 'दीवार में रास्ता' कहानी-संग्रह में बिखरता दांपत्य जीवन

डॉ॰ कृष्णा जून, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक
कोमल, शोधछात्रा, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

हमारे समाज में विवाह को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है जिसमें बँधकर पति-पत्नी के जीवन को एक नई दिशा मिलती है। विवाह के बाद जिस जीवन का निर्वाह वे हँसी-खुशी, थोड़ी नोक-झोंक के साथ करते हैं वो दांपत्य जीवन के अंतर्गत ही आता है। सुखी एवं सफल दांपत्य जीवन की कामना तो हर व्यक्ति करता है लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की हर इच्छा पूरी हो ऐसी जरूरी तो नहीं। पति-पत्नी का रिश्ता आपसी विश्वास, समझ और सच्चाई पर आधारित होता है। इसके विपरीत यदि उनके रिश्ते की नींव ही झूठ, धोखे एवं फरेब पर टिकी हो तो वह संबंध ज्यादा समय तक टिक नहीं पाता। दंपति (पति-पत्नी) का रिश्ता भवन की उस नींव के समान होता है जिसके कमजोर पड़ने पर एक सुंदर भवन बहुत जल्दी ही ढह जाता है। मनुष्य के हर रिश्ते-नाते बहुत नाजुक होते हैं जिसको सहेजकर रखना बहुत जरूरी होता है, उसमें से ही एक रिश्ता है पति-पत्नी का। हमारे समाज में विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण फैसले बड़े-बुर्जुगों पर ही छोड़ दिए जाते है क्योंकि उन्हें रिश्ते-नातों की समझ ज्यादा होती है। लेकिन कई बार उनके द्वारा जोड़े गए संबंधों में भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी तरह प्रेम विवाह भी कई बार सफल होते देखे गए हैं और कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि विवाह के कुछ समय बाद ही तलाक की नौबत आ जाती है।

दांपत्य जीवन में बिखराव के कई कारण होते हैं जैसे–अनमेल विवाह, वैचारिक भिन्नता, प्रेम विवाह, यौन शोषण, एक-दूसरे को सम्मान न देना आदि। ये सभी कारण दांपत्य जीवन में इतनी बड़ी बाधा उत्पन्न कर देते हैं जिससे मनुष्य का जीना दूभर हो जाता है। तेजेंद्र शर्मा जी ने 'दीवार में रास्ता' कहानी-संग्रह में बिखरते दांपत्य जीवन की इन्हीं समस्याओं को उजागर किया है।

दांपत्य का शाब्दिक अर्थ

दांपत्य–पु॰ (सं॰) दंपती-संबंधी कृत्य; पति-पत्नी का संबंध। वि॰ दंपती का; पति पत्नी-संबंधी।[1]

दांपत्य–(वि॰) दंपती का; पति पत्नी-संबंधी। (पुं॰सं॰) पति-पत्नी का संबंध, दंपती-संबंधी कृत्य।[2]

उपर्युक्त शाब्दिक अर्थों के आधार पर हम कह सकते हैं कि दांपत्य वह है जिसमें विवाह के बाद पति-पत्नी अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

महेंद्रकुमार जैन के अनुसार, 'दंपति का अर्थ है विवाहित पति-पत्नी युग्म। भारतीय संस्कृति में स्त्री-पुरुष के लौकिक एवं आध्यात्मिक संबंध को दांपत्य की संज्ञा दी गई। पति और पत्नी दांपत्य के अविभाज्य अंग होते हैं।'[3]

राधाकृष्णन के अनुसार, 'भारतीय दांपत्य जीवन कोमलता एवं प्रगाढ़ प्रेम से परिपूर्ण जीवन है।'[4]

तेजेंद्र शर्मा जी ने 'दीवार में रास्ता' कहानी-संग्रह में बिखरते दांपत्य जीवन के कुछ बिंदुओं को उजागर किया है जो इस प्रकार है–

अनमेल विवाह–प्राचीन समय में बहुत से ऐसे अनमेल विवाह देखने को मिलते थे, जिसमें पति-पत्नी की आयु में बहुत अंतर होता था। कहीं-न-कहीं यह स्थिति आज भी विद्यमान है। बहुत बार ऐसा देखा गया है कि जब लड़की के माता-पिता अपनी गरीबी के कारण अपनी बेटी के दहेज का इंतजाम नहीं कर पाते, तब उन्हें न चाहते हुए भी अपनी बेटी की शादी उसकी दुगुनी आयु के व्यक्ति के साथ करनी पड़ती है। जिससे आगे चलकर उनकी शादीशुदा जिंदगी में कड़वाहट देखने को मिलती है। कई लड़कों का आकर्षण अपनी से दस-बारह साल छोटी लड़की के प्रति हो जाता है, जिसे वो प्यार का नाम दे देते है और इसी प्रेम के नाम पर उससे शादी भी कर लेते हैं। लेकिन जैसे ही उनका ये आकर्षण खत्म होता है वैसे ही उनकी शादीशुदा जिंदगी में प्रेम भी खत्म हो जाता है। प्रेम के अभाव में दांपत्य जीवन में बिखराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तेजेंद्र शर्मा जी ने अपनी कहानी 'तरकीब' में इसी प्रकार की स्थिति को दर्शाया है। वे कहते है कि 'वैसे अदनान का अपना बिजनेस है–बिल्डर है वह। लोगों के घर बनाता है ...पर अपना घर आज तक बसा नहीं पाया। समीना को भारत जाकर ब्याह लाया था। खुद लाहौर का रहने वाला। उसने समीना की फोटो देखी तो पंजाबी मन से एक ही आवाज निकली–ऐहो कुड़ी लैणी है। ...धुन का पक्का अदनान, उम्र में समीना से दस-बारह साल बड़ा था–लेकिन चाहिए तो बस चाहिए। जैसे किसी बच्चे को किसी भी खिलौने में बहुत कम समय तक रुचि रहती है, फिर उसे एक नए खिलौने की तलाश की तलब होने लगती है। अदनान का दिल भी समीना के दो बच्चों और तीन गर्भपातों के बाद उससे भर गया।'[5] समीना को अपने पति से मात्र जिल्लत और गालियाँ ही मिलती हैं। अदनान उसको (समीना को) घर के अन्य नौकरों की तरह ही मानता और नौकरों जैसा बर्ताव ही उसके साथ करता है। जिससे आहत होकर समीना अपने पति से तलाक की माँग करती है।

'कल फिर आना' कहानी में लेखक ने कबीर और रीमा के बेमेल विवाह पर प्रकाश डाला है। कबीर की उम्र पचास वर्ष है और रीमा की सैंतीस वर्ष। जैसे-जैसे कबीर की उम्र बढ़ती जाती है वैसे-वैसे रीमा के प्रति उसका प्रेम कम होता जाता है। जिस रीमा के रूप सौंदर्य को देखकर कभी वह उस पर आसक्त था, अब वह उसे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती। एक बार वह अपनी पत्नी को कह देता है कि अब मेरी उम्र पचास की हो चली है। मेरे लिए अब स्त्री के शरीर का कोई मतलब नहीं है। यह बात रीमा को बुरी तरह चुभ जाती है और वह कहती है कि 'कबीर आप पचास के हो गए तो इसमें मेरा क्या कुसूर है? मैं तो अभी सैंतीस की ही हूँ।...आप कहना चाहते हैं कि हमारी शादीशुदा जिंदगी बस आपके एक वाक्य से खत्म हो गई ?'[6] कबीर ने उसकी बातों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया और वह खर्राटे मारने लगता है अर्थात् सो जाता है। यह देखकर रीमा को अपनी बात बीच में ही बंद करनी पड़ी। हर बार ऐसा ही होता है जब रीमा अपने पति से कुछ सवाल-जवाब करती या उससे प्रेम की उम्मीद करती, तब वह या तो सो जाता या फिर कमरे से बाहर चला जाता। रीमा को अपनी शादीशुदा जिंदगी नीरस लगने लगी और उसकी रातें रो-रोकर गुजरने लगीं।

प्रेम विवाह–हमारे समाज में अरैंज मैरिज तथा लव मैरिज की परंपरा काफी लंबे समय से चली आ रही है। लव मैरिज अर्थात् प्रेम विवाह को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना कि अरैंज

मैरिज को दिया जाता है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि परिवार के बड़े-बुर्जुगों का मानना है या उनका ऐसा विश्वास है कि विवाह जैसे बड़े-बड़े फैसले घर के बड़े सदस्यों पर छोड़ देने चाहिए। उनका मानना है कि परिवार की इच्छा के विरुद्ध की गई शादी लंबे समय तक नहीं चल सकती। लेकिन वर्तमान समय में स्थिति काफी बदल चुकी है। माता-पिता स्वयं बच्चों की खुशी के लिए उनका प्रेम विवाह करवा देते हैं। परंतु कई बार ऐसा देखा जाता है कि प्रेम विवाह होने के बावजूद भी पति-पत्नी अपने दांपत्य जीवन से नाखुश ही रहते हैं।

'इंतजाम' कहानी में लेखक ने प्रेम विवाह की ऐसी ही स्थिति को दिखाया है। पीटर और एलिसन का प्रेम विवाह हुआ था। जब पीटर ने एलिसन को शादी के लिए प्रोपोज किया था, तब वह बेरोजगार था। लेकिन एलिसन को उसकी इस स्थिति से कोई फर्क नहीं पड़ा क्योंकि उसका प्रेम पीटर के प्रति सच्चा था। एलिसन और पीटर की शादीशुदा जिंदगी में पैसों की तंगी के कारण भी कोई मनमुटाव नहीं हुआ। वह अपनी पत्नी को अपने लिए भाग्यशाली मानता था। वह एक जगह कहता भी है कि 'एली, तुम मुझे कितना प्यार करती हो। अगर तुम बैंक में नौकरी न करती होती तो भला हम दोनों जिंदगी कैसे बिता पाते? तुम बेटी का सारा खर्चा भी उठाती हो।'[7] पीटर को रेलवे में नौकरी मिल गई और उनका जीवन ठीक गति से चल रहा था। एलिसन अपने पति को हर काम के लिए प्रोत्साहित भी करती थी। लेकिन जब से एलिसन दो बच्चों की माँ बनी थी, तभी से उसकी शरीर की बनावट बदल चुकी थी। वह पहले से ज्यादा मोटी हो गई थी। एक बार पीटर उसे कहता भी है कि 'एली, तुम्हारा वजन बढ़ता जा रहा है। ...तुम मोटी होती जा रही हो। ...अपने शरीर का ध्यान रखा करो।'[8]

एलिसन अपने पति की गंभीरता से कही बातों को हँसी में टाल देती है और कहती है, 'क्या फर्क पड़ता है? अरे मैं तो पतले बदन से भी तुमको ही प्यार करती हूँ और अब मोटी हो रही हूँ, तो भी तुमको ही प्यार करती हूँ।'[9] लेकिन पीटर को अब उसके शरीर में कोई रुचि नहीं रही थी। वह उसको जिम जाने की हिदायत भी देता और साथ-साथ खाने में बदलाव की सलाह भी देता। अपने पति की इन बातों से एलिसन परेशान हो जाती है और उसकी परेशानी दिन-प्रतिदिन इतनी बढ़ जाती है कि उसका चेहरा पीला पड़ना शुरु हो जाता है। अब पीटर पहले वाला पीटर नहीं रहा, अब वह एलि की उपेक्षा करने लगा था। यही बात एलिसन को भीतर ही भीतर खाए जा रही थी और यहीं से उसके दाम्पत्य जीवन में बिखराव की स्थिति शुरु हो गई थी।

विवाहेतर संबंध–पति-पत्नी का रिश्ता बहुत पवित्र माना जाता है जो विश्वास पर टिका होता है। दंपति (पति-पत्नी) में से जब कोई एक किसी अन्य स्त्री या पुरुष से शारीरिक संबंध बनाते है तब उनके इन संबंधों को विवाहेतर संबंधों की श्रेणी में रखा जाता है। इन संबंधों के चलते उनका आपसी विश्वास तो टूटता ही है और साथ-साथ उनके दांपत्य जीवन में ऐसी दरार आ जाती है जिसे भर पाना मुश्किल होता है।

'तरकीब' कहानी में लेखक ने अदनान के विवाहेतर संबंधों को दिखाया है। इन संबंधों के चलते वह न तो अपनी पत्नी को ही प्रेम करता है और अपने बच्चों से भी उसे कुछ खास लगाव न था। एक जगह लेखक बताता है कि 'बीवी तो रोज-रोज बदल नहीं सकता था। अब उसकी सेक्रेटरी हर दो-तीन साल में बदल जाती। शनिवार रात का खाना वह हमेशा अपनी सेक्रेटरी के साथ ही खाता। ...कुछ रातें ऐसी भी होती, जब भोजन के बाद वह सो भी वहीं जाता। ...समीना की जवानी अपना निरादर सहती रहती और अदनान के दोनों बच्चों को पालती रहती।'[10]

'कल फिर आना' कहानी में भी विवाहेतर संबंधों को दिखाया गया है। कबीर अपनी पत्नी रीमा से तेरह वर्ष बड़ा है। जब रीमा दो बच्चों की माँ बन जाती है तब उसे अपने पति की उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। कबीर को अब उसके शरीर में कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। लेखक बताता है कि 'जब कबीर की पहली सेक्रेटरी ऐनेट आई थी तो कबीर ने घर देर से आना शुरू कर दिया था। ऐनेट स्कॉटलैंड से आई थी। उसकी भाषा कभी भी रीमा को समझ नहीं आती थी। मगर उसके शरीर की भाषा शायद कबीर को पूरी तरह समझ आ गई थी। कबीर जब घर आता तो चेहरा निचुड़ा हुआ सा लगता। बस किसी तरह खाना खाता और सो जाता। रीमा को महसूस होने लगा कि कबीर के कपड़ों से दूसरी औरत के शरीर की गन्ध आने लगी है।'[11]

ये सब जानने के बाद रीमा अपने पति से जब सवाल जवाब करती है तो वह उसे ही खरी-खोटी सुनाकर चुप करा देता है। रीमा के पास उसकी बातें सुनने के अलावा कोई और रास्ता भी नहीं था क्योंकि वह आर्थिक रूप से उसी पर आश्रित थी। उसे यह डर था कि अगर कबीर उसे निकाल देगा तो वह कहाँ जाएगी।

आपसी समझ न होना–पति-पत्नी का रिश्ता दोनों की आपसी समझ के अनुसार ही चलता है। जब वे एक दूसरे को ही नहीं समझेंगें तो उनके विचार भी आपस में कभी नहीं मिलेंगे। वैचारिक मतभेद के कारण दंपति के बीच लड़ाई-झगड़ा ही देखने को मिलेगा।

'ओवरफ्लो पार्किंग' में लेखक बताता है कि नायक का एक बहुत ही भयंकर एक्सीडेंट हो जाता है। वह बच तो जाता है लेकिन उस हादसे के बाद से वह ड्राइविंग नहीं करता। उसके मन में एक डर बैठ जाता है जिसके कारण वह कार चलाने के नाम से सहम जाता है। इसलिए उसे कहीं भी जाने के लिए अपनी पत्नी पर ही निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन पत्नी उसकी इस परेशानी को न समझकर उसे हर वक्त ताने देती रहती है। एक जगह लेखक बताता है कि 'बेसुरी तो उनकी शादीशुदा जिंदगी भी है। वे दोनों कभी एक ही सुर में नहीं बोलते।'[12] उन दोनों को हमेशा एक-दूसरे से शिकायत रहती है। परंतु इस समस्या का समाधान दोनों में से कोई नहीं निकालना चाहता था।

अभद्र भाषा–इस संसार में प्रेम से बढ़कर तो कोई चीज नहीं होती। प्रेम के द्वारा तो मनुष्य अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेता हैं। वहीं दूसरी ओर प्रेम के स्थान पर गाली-गलौच करके व्यक्ति अपने प्रियजनों को ही अपना शत्रु बना लेता हैं। पति-पत्नी का रिश्ता भी कुछ ऐसा ही होता है। एक साथी जब अपने दूसरे साथी को प्रेम देता है तो प्रत्युत्तर में प्रेम ही पाता है। जब पति-पत्नी आपस में अभद्र भाषा का प्रयोग करने लगे तो उनके जीवन में निरंतर कड़वाहट बढ़ने लगती है।

'ओवरफ्लो पार्किंग' कहानी में नायक की पहली पत्नी पूनम की मौत हो चुकी होती है। उसकी दूसरी पत्नी जब भी उसके साथ किसी बात को लेकर झगड़ा करती है तो बीच में उसकी मरी हुई पत्नी को भी लाती है। नायक के बच्चे उसकी पहली पत्नी से है इसलिए उसकी दूसरी पत्नी उन्हें बिल्कुल प्यार नहीं करती और कहती है, 'मैंने बहुत देखभाल कर ली तुम्हारे पिल्लों की। अब मुझसे और कुछ ज्यादा की उम्मीद न करना।'[13] अब तक उसके पति ने हर जगह बस समझौता ही किया लेकिन अब पानी सिर से ऊपर जा चुका था अर्थात् उसकी सहनशक्ति ने जवाब दे दिया था। वह कहता है, 'तुम मेरे बच्चों को पिल्ला कैसे कह सकती हो? ...तुम इनसान हो क्या? ऐसी बातें तो झोंपड़पट्टी वाले भी नहीं करते ...तुमने उन्हें पिल्ला कहा कैसे? क्या पूनम कुतिया थी या मैं कुत्ता हूँ? ...मेरे बच्चे पिल्ले हैं?'[14]

नायक अपनी पत्नी को माफी माँगने के लिए कहता है लेकिन वह ऐसा नहीं करती। यहीं

से उनके दांपत्य जीवन में टकराव इतना बढ़ जाता है कि नायक घर जाने के बजाय किसी दूसरे रास्ते पर निकल जाता है।

निष्कर्ष–मनुष्य के जीवन में हर रिश्ते के अलग-अलग मायने होते हैं। हर रिश्ते को सहेजकर रखना उसका पहला कर्त्तव्य होता है। कोई भी मनुष्य बिना रिश्ते नातों के इस संसार रूपी नैया को पार नहीं कर सकता। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण रिश्ता होता है–पति और पत्नी का, जिन्हें दो जिस्म एक जान कहा जाता है। जब जिस्म में से जान ही निकल जाए तो उस शरीर का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। जब लड़का-लड़की की शादी होती है तो वो अपनी अलग ही दुनिया बसाते हैं, उनकी इस दुनिया में थोड़ा बहुत मनमुटाव तो चलता ही रहता है। कोई भी इस संसार में ऐसा नहीं है जिसमें थोड़ी-बहुत कमी न हो। ऐसा ही कुछ दंपति के बीच भी होता है। कमी तो दोनों में होती हैं लेकिन इस कमी को अगर वे नजरअंदाज करके जीना शुरू कर दें तो उनकी जिंदगी हँसी-खुशी बीत जाती है।

तेजेंद्र शर्मा जी ने 'दीवार में रास्ता' संग्रह में यही दिखाने का प्रयास किया है कि दांपत्य जीवन में बिखराव की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब पति-पत्नी एक-दूसरे की भावना को न समझकर, एक-दूसरे को नीचा दिखाना शुरू कर देते हैं।

संदर्भ

1. लक्की कमल, मानक हिंदी-हिंदी शब्दकोश, पृ॰ 417
2. डॉ॰ बी॰एस॰ पंडित, अमित स्टूडेंट हिंदी शब्दकोश, पृ॰ 388
3. महेंद्रकुमार जैन, हिंदी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण, पृ॰ 87
4. सं॰ हरिवंशराय शर्मा, राजपाल बृहत् सुभाषित कोश, पृ॰ 314
5. तेजेंद्र शर्मा, तरकीब (दीवार में रास्ता), पृ॰ 63-64
6. तेजेंद्र शर्मा, कल फिर आना (दीवार में रास्ता), पृ॰ 119
7. तेजेंद्र शर्मा, इन्तजाम (दीवार में रास्ता), पृ॰ 164
8. वही, पृ॰ 165
9. वही, पृ॰ 165
10. तेजेंद्र शर्मा, तरकीब (दीवार में रास्ता), पृ॰ 64
11. तेजेंद्र शर्मा, कल फिर आना (दीवार में रास्ता), पृ॰ 121
12. तेजेंद्र शर्मा, ओवरफ्लो पार्किंग (दीवार में रास्ता), पृ॰ 49
13. वही, पृ॰ 58
14. वही, पृ॰ 59

कोमल सुपुत्री श्री कृष्ण कुमार
मकान नं॰ 680/7**, उत्तम विहार कॉलोनी**
नजदीक हनुमान मंदिर, रोहतक (हरियाणा)
parmarkomal027@gmail.com

संजीव कृत अहेर उपन्यास में ग्रामीण समाज का यथार्थबोध

लक्ष्मीन चौहान, शोधार्थी (हिंदी)
शास॰ विश्वनाथ यादव तामस्कर स्नातकोत्तर
स्वशासी महाविद्यालय, दुर्ग (छ॰ग॰)
डॉ॰ (श्रीमती) श्रद्धा चंद्राकर, शोध निर्देशक
प्राचार्य, शासकीय घनश्याम सिंह गुप्त
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बालोद (छ॰ग॰)

समाज की विसंगतियों, कुरीतियों, आडंबरों का बेबाकी पूर्वक वर्णन विश्लेषण कथाकार संजीव के लेखन कौशल की विशेषता रही है। समाज में फैली अराजकता का यथार्थ रूप उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से प्रतिपादित किया है जिसका सूक्ष्म अवलोकन 'अहेर' उपन्यास में दिखाई पड़ता है । 'अहेर' उपन्यास में धर्म, जाति, अज्ञानता, अर्थ व्यवस्था, लिंग, पद आदि के आधार पर होनेवाले शोषण का संजीव ने जिक्र किया है। जहाँ सबल पक्ष (अहेरी) द्वारा निर्बल पक्ष (अहेर) का शोषण किया जाता है। 'अहेर' उपन्यास में एक भारतीय ग्रामीण समाज की विकृतियों का, वहाँ के परिवेश तथा परिस्थितियों का वर्णन विवेचन किया गया है। संजीव कृत उपन्यास 'अहेर' में आर्थिक शोषण के पश्चात जातिगत और धार्मिक शोषण का विवेचन किया गया है। संजीव 'अहेर' उपन्यास के माध्यम से हमारे समक्ष एक झाँकी प्रस्तुत करते हैं जहाँ पिछड़े ग्रामीण अंचलों में शोषण का स्वरूप बदलता दिखाई पड़ता है परंतु शोषण तंत्र अभी विराजमान है। गरीब, कमजोर, दलित, उपेक्षित वर्ग की स्त्री की शोषित दशा, अंधविश्वास, भ्रष्टाचार, सामंतवाद, धार्मिक पाखंड का, अपंग संस्कृतियों का विरोध संजीव ने 'अहेर' उपन्यास के प्रतिनिधि पात्रों के माध्यम से किया है। ग्रामीण समाज में ग्रामीणों का शोषण विविध रूपों में नाना प्रकार से किया जाता है। संजीव का उद्देश्य एक शोषण मुक्त समाज की कल्पना है।

हमारे भारतीय समाज की विशेषता है यहाँ की संस्कृति, रहन-सहन, भाईचारा, राग-द्वेष रहित आपसी संबंध। ग्रामीण भारतीय समाज एकता का परिचायक है। आज भारत का ग्रामीण समाज फलीभूत हो एक फलदार वृक्ष की भाँति फलों एवं फूलों से अच्छादित है। संजीव कृत 'अहेर' उपन्यास हमें ऐसे ग्रामीण परिवेश की परिस्थितियों से मुखरित कराता है जहाँ शोषक वर्ग 'अहेर' द्वारा शोषित वर्ग 'अहेरी' उत्पीड़न का शिकार है। जहाँ पशु-पक्षियों का आखेट न करके मानवीय संवेदनाओं का आखेट करता नजर आता है। 'अहेर' उपन्यास में किशनगढ़ का गाँव दो वर्गों में विभाजित दिखाई पड़ता है–एक धनाढ्य वर्ग 'अहेर' एवं दूसरा गरीब, शोषित, दलित अहेर वर्ग। जहाँ सत्ताधारी वर्ग अपनी पहचान पहुँच से अपनी क्रूरता से शोषित दबे-कुचले वर्गों पर वार करके ऐश्वर्य स्थापित कर जीवन व्यतीत करते दिखाई पड़ते हैं। 'अहेर' उपन्यास में मुखौटे धारण किए 'अहेरी' बने घूम रहे अहेरी वर्ग अपना वर्चस्व स्थापित करने हेतु संस्कृति, आस्था, विरासत और मर्यादा का मुखौटा चढ़ाए फिर रहे हैं इनका विवेचन संजीव ने किया है।

'अहेर' उपन्यास में हमारे समाज के तथाकथित प्रचलित जाति-व्यवस्था, वर्णव्यवस्था,

सामंती व्यवस्था, नारियों का शोषण, धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास का यथार्थ रूप दिखाई पड़ता है। जहाँ ढोंग रूपी चश्मा चढ़ाए अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु शोषित वर्ग पर अन्याय-अत्याचार करते हैं। शोषित वर्ग को शोषण का शिकार बनाते हैं। मानवीय उत्थान के स्थान पर मानवीय त्रासदी का चित्रण 'अहेर' उपन्यास के माध्यम से संजीव प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय समाज का ढाँचा वही पुरानी वर्ण व्यवस्था पर आधारित है। जातिगत अंतर्विरोध का स्पष्ट चित्र आज भी भारतीय ग्रामीण परिवेश में परिलक्षित होता है। जातिवाद का प्रभाव आज संपूर्ण ग्रामीण परिवेश पर बना हुआ है। जहाँ समाज पूँजीपति धनाढ्य वर्ग और पिछड़े दलित मजदूर वर्ग में विभाजित है। वर्ग संघर्ष का यह खेल 'अहेर' उपन्यास में संजीव ने दिखाया है। ठाकुर, उस्ताद, ब्राह्मण, राजपूत जैसे वर्ग अपनी थोथी वंश गरिमा को बनाए हुए दलित मजदूर वर्ग पर प्रहार कर रहे हैं। एक ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि पात्र 'ब्राह्मण व्यक्ति' अपनी वंश गरिमा को बचाए रखने हेतु कैसे मर जाता है पर एक दलित व्यक्ति के यहाँ पानी नहीं पीता। इस घृणित, कुंठित मानसिकता का चित्रण संजीव ने 'अहेर' उपन्यास में किया है।

'चाँदनी ने बाल-सुलभ जिज्ञासा से पूछा, 'यह कैसे हो सकता है कि गाँव होने के बावजूद उस ब्राह्मण को पीने का पानी ही न मिले?' कक्का ने समझाया, 'पानी तो था बिटिया, लेकिन चमरौटी का पानी भला कैसे पी सकता था एक बाभन!'[1]

छुआछूत की कुसंस्कृति आज भी ग्रामीण क्षेत्र में विद्यमान है जहाँ एक समाज को हेय की दृष्टि से देखा जाता है उनका आंकलन एवं मूल्यांकन जाति के आधार पर किया जाता है। यह गहरी खाई न कभी पटी है और न ऊच्चवर्ग द्वारा पाटने दी जाएगी। जातिगत भेदभाव हमारे समाज में इस कदर विद्यमान है मानो कोई लाईलाज बीमारी हो जिसका इलाज असंभव सा प्रतीत होता है–

'बाभन! अकेले किशनगढ़ को क्यों दोष देते हों कलिका ने कहा, 'धर्म और जाति से बड़ा कोई अहेरी हुआ है। तीन हजार सालों का मारा हुआ ऊँच-नीच का बान, जहर है कि उतरने का नाम ही नहीं ले रहा। जो जहर उतारने आए, वे भी कहर (कराह) और बर्री रहे हैं–बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई, सिख सब। पेड़-पौधों, नदी-पहाड़, चरिंदों-परिंदो, दरिंदों–सब की जाती बना दी हमने।'[2]

आज हमारा देश जहाँ नित नए कीर्ति मान स्थापित किए जा रहा है वहीं कुछेक क्षेत्र जातिगत भेदभाव का दंश झेल रहे हैं। 'अहेर' उपन्यास के माध्यम से संजीव बताते हैं कि कैसे हमारा समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया है और दोनों वर्गों के लिए अलग-अलग कायदे कानून व जातियाँ निर्मित कर दी गई हैं। पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, धर्म, पशु-पक्षी, दिशा, ज्ञान, ईश्वर इन सभी को जातीयता के आधार पर विभाजित करते दिखाया गया है 'अहेर' उपन्यास में।

'जैसे कुम्हड़ा बाभन है, लहसुन-प्याज शूद्र।

'बेल बाभन है, कैंत शूद्र।'

'पीपर बाभन है, नीम बभनी।'

'गंगा बाभन है, कर्मनाशा शूद्र।'

गाय बाभन है, भैंस, बकरी, ओबीसी यानी शूद्र; सिंह–बाघ ठाकुर, कुकुर, गदहा, सूअर, सियार, महा शूद्र; चिरइन में हंस, नीलकंठ, तोता–बाभन; कौआ, चील, गिद्ध शूद्र।'[3]

वर्ग वैषम्य का सूक्ष्म अंकन 'अहेर' उपन्यास में बताया गया है। ब्राह्मणवाद या जातीयता का संघर्ष ग्रामीण परिवेश में रच-बस गया है। जहाँ से उभर पाना असंभव प्रतीत होता है। अशिक्षा, कुंठित मानसिकता के कारण इससे ऊपर उठने में कितने वर्षों का पतन होगा कोई अंदाजा नहीं है।

हमारे भारतीय समाज में जातिवाद एक कटु सत्य है जिसके कारण न जाने कितनी विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। वर्ण व्यवस्था को सुधारने हेतु वर्णभेद और वर्गभेद के प्रति विरोध, सवर्णों एवं अछूतों के मध्य विवाह-संबंधों को स्थापित करने हेतु, उपन्यास में कुछ प्रतिनिधियों पात्रों द्वारा विरोध करते दिखाया गया है।

समाज में जहाँ एक ओर औरतों को देवी, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा रूप मानकर पूजा की जाने की बातें कहीं जाती हैं वहीं दूसरी ओर औरतों के दामन को रौंदा जा रहा है। कभी एक धनाढ्य वर्ग द्वारा, तो कभी सत्ताधारी द्वारा, तो कभी समाज में ऊँचे पद पर आसीन पदाधिकारियों द्वारा। हमारे भारतीय समाज में औरतों के प्रति हो रहे बर्बरता का ज्वलंत चित्रण संजीव 'अहेर' उपन्यास में दिखाते हैं।

'चमरौटी में उस रात सूअर का नहीं, एक औरत का अहेर किया गया था–दोनों ओर से खदेड़कर गर्म राख से बेधना...। पंचायत का यही फैसला था चर्र-चर्र जली होगी घास, चर्र-चर्र जले होंगे बाल, सों-सों सनसनाई होंगी हरि टहनियाँ, सों-सों सनसनाया होगा जवान औरत का चाम। चट-चट चटकी होंगी लकड़ियाँ, चट-चट चटखी होगीं हड्डियाँ। केरोसिन की गंध में जलती नारी-देह की गंध घुलकर एकाकार हो गई होगी। उस दिन कोई सामान्य अहेर नहीं, एक औरत भूनी गई थी गाँव में मरजाद की आग में।'[4]

'अहेर' उपन्यास में संजीव एक ऐसे ही प्रतिष्ठित समाज का सवर्ण वर्ग कहे जाने वाले ब्रह्मबाबा द्वारा किए जाने वाले दुराचार का वर्णन करते हैं, जहाँ बताया जाता है कि एक स्त्री अपनी आबरू को लोकलाज के भय से कैसे चुपचाप सहन कर जाती है। उपन्यास में एक औरत को आखेट करते दिखाया गया है जहाँ एक सवर्ण ब्रह्मबाबा आखेटक और सोना आखेट बताई गई है।

'आहट भाँप नहीं पाई सोना और जनेऊ कान पर चढ़ाए ही पीछे से उसे गँझौटे में पकड़कर ले गए बाबा। सोना ने चीखना चाहा, मगर लोकलाज के भय से चीख न पाई और बाबा ने उसे ब्राह्मणी बना ही दिया।'[5]

औरतों पर होनेवाले अत्याचार एवं शोषण का स्पष्ट चित्रण संजीव ने 'अहेर' उपन्यास में किया है। किस प्रकार पति की मृत्यु के पश्चात सतीत्व के नाम पर पत्नी को जला दिया गया, हिस्सा हड़पने के लिए अपने ही पतोहू को जलाकर मार डाला गया, नीच जाति के औरतों के साथ दुर्व्यवहार इसका स्पष्ट रेखांकन 'अहेर' उपन्यास में किया गया है। आजादी के पूर्व एवं आजादी के पश्चात भी महिलाओं का शारीरिक शोषण हो रहा है। संजीव ने 'अहेर' उपन्यास में चाँदनी, सोना, रतिया, राजा के पतोहू जैसे स्त्री पात्रों के माध्यम से यथार्थ को सामने रखकर शारीरिक शोषण की बात उठाई है। संजीव ने समाज में स्त्रियों के दर्जे पर प्रकाश डाला है। 'अहेर' उपन्यास में यह चार महिला प्रतिनिधि शोषण का स्वरूप स्पष्ट करती हैं।

ग्रामीण परिवेश में अंधविश्वास का काफी बोलबाला रहता है। अंधविश्वास के गर्त में डूबते जा रहे कुछ परिदृश्य का अंकन संजीव ने 'अहेर' उपन्यास के माध्यम से बताया है। जहाँ आत्मा, भूत प्रेत, जादुई विद्या, राख-भभूत, राक्षस, बलि प्रथा का स्पष्ट रेखांकन देखने को मिलता है। गाँव में आज भी ओझा, वैद्य ,बाबाओं पर विश्वास किया जाता है। अंधविश्वास और स्वार्थसिद्धि हेतु कई लोग कई ठग बाबाओं का शिकार बनते जाते हैं।

'एहमें कौनो अजुगत नाहीं है बिटिया। बड़ा महातम है, राखि का। आँख के तकलीफ होय तो सती माई का नाम लेइके आँख में लगाय देवो, कान में तकलीफ होय तो कान में... ओह भभूत

से कौनो भी दुख-बियाधी हो, दूर हो जात है।'[6]

बलि प्रथा का जिक्र आज भी ग्रामीण परिवेश में देखने को मिलता है जहाँ बैरागी बाबाओं, ओझाओं के वश हो व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु बेजुबान पशुओं को बलि देते देते हैं यह बलि प्रथा आज भी विद्यमान है–'अब पियासे बरह्म बाबा को आते-जाते दुइ चुल्लू साफ पानी न डालो तो ऊ रिसियाइ जायँ, चमरदोख से बचने के लिए राजा साहेब बैरागी बाबा के लिए हर साल सूअर के छौने की बलि ना दें तो ऊ कोहाँइ (रूठ) जायँ और सती माई के थान पर दुइ-चार लकड़ी तोड़कर न फेंको तो ऊ नाराज होइ जायँ। चट-पट गोरु-बछरू, पशु-परानी मरने लगे।'[7]

ग्रामीण परिवेश की अधिकतर जनता अशिक्षित होती है अशिक्षा का भी एक कारण है, अंधविश्वास। 'अहेर' उपन्यास में संजीव का एकमात्र उद्देश्य जनता के मध्य जागृति उत्पन्न करना है। जहाँ बाबाओं जैसे आखेटक से भोली-भाली ग्रामीण जनता का आखेट होने से बचाना और उनको अपनी पहचान दिलाना ही संजीव के लेखन कौशल की सार्थकता रही है।

निष्कर्ष–ग्रामीण पिछड़े अंचलों में शोषण का स्वरूप बदला है पर शोषणतंत्र आज भी विद्यमान है। पूँजीपति व्यवस्था और नौकरशाही ने समय-समय पर नए-नए रूप धारण कर शोषण को बनाए रखा है। 'अहेर' उपन्यास में समाज में प्रचलित सामंती व्यवस्था, धार्मिक पाखंड, जाति व वर्ण व्यवस्था, नारी पर होने वाले शोषण को बड़ी ही क्रूरता के साथ प्रस्तुत किया है। हमारा भारतीय समाज जातीयता के कारण विभिन्न गुटों में बटा हुआ दिखाई पड़ता है। अंधविश्वास, नारियों पर अत्याचार एक विषैले दंश की तरह आज भी समाज में विद्यमान है जो 'अहेर' उपन्यास में दिखाई पड़ता है जिसका यथार्थ चित्रण संजीव ने किया है। संजीव की पैनी दृष्टि इन सभी विकृतियों का अवलोकन करती है इसके पीछे हुए शोषक वर्ग के स्वार्थ को पहचानती है। हमारे समाज में पनप रही जंगली व्यवस्था, सामाजिक विसंगतियाँ और विडंबनाओं को वर्तमान समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना, मानवीयता का संदेश देना, इक्कीसवीं सदी के ग्राम जीवन की तमाम विसंगतियों को उजागर करना संजीव का एक मात्र लक्ष्य या ध्येय रहा है।

संदर्भ

1. काशिद, गिरीश, कथाकार संजीव, शिल्पायन, दिल्ली, 2019
2. संजीव, अहेर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981
3. वही, पृ॰ 13
4. वही, पृ॰ 110
5. वही, पृ॰ 110
6. वही, पृ॰ 70
7. वही, पृ॰ 36
8. वही, पृ॰ 14

लक्ष्मीन चौहान
श्री राम केशर कुंज
नया दीपक नगर,
दुर्ग (छत्तीसगढ़) 491001
मो॰ 9630747852
sunilchouhan1909@gmail.com

अमरकांत की कहानियों में सामाजिक समस्याएँ

मनीषा देवी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

समाज मानव द्वारा निर्मित एक ऐसी संस्था है, जिसके माध्यम से वह अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति करता है। समाज शब्द से अभिप्राय है–'समूह, गिरोह, दल, एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वालों का वर्ग या समुदाय। समाज के लिए अँग्रेजी में 'सोसायटी' शब्द का प्रयोग होता है। समाज लोगों का वह समूह है, जो किसी भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है जिसकी एक निश्चित संस्कृति होती है। उनमें एकता की भावना होती है तथा वे स्वयं को विशिष्ट अस्तित्व के रूप में मानते हैं। इयान राबर्टसन के शब्दों में, 'समाज आपस में अंत:क्रियाएँ करने वाले व्यक्तियों का समूह है जो एक भूखंड पर रहते हैं तथा जिनकी संस्कृति समान रहती है।'[1]

समाज से संबंधित समस्याओं को सामाजिक समस्याएँ कहते हैं। समाज में घटनाओं, भावनाओं तथा विचारों का घटित होना ही सामाजिक समस्याएँ है। सामाजिक समस्याएँ देश और मनुष्य के सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग है। कोई भी व्यक्ति कभी भी सामाजिक समस्याओं से पूर्णत: मुफ्त नहीं रहा है और न ही भविष्य में रहेगा। सामाजिक समस्याएँ समाजशास्त्र के अध्ययन के दायरे में निहित है। समस्या विहिन समाजशास्त्र निराधार एवं निर्मूल है। कोई भी साहित्यकार चाहे वह उपन्यासकार हो या कहानीकार समाज से हटकर नहीं लिख सकता। चाहे वह अपने साहित्य में कल्पना की कितनी ही ऊँची उड़ानें भरे, किंतु उनका आधार समाज ही सब-कुछ है। जहाँ वह जन्म लेता है और जीता है। उस परिवेश का चित्रण वह अपने साहित्य में अवश्य प्रस्तुत करता है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में अमरकांत एक ऐसे हस्ताक्षर के रूप में जाने जाते है, जिन्होंने अपनी कहानियों में समाज की विभिन्न समस्याओं का अंकन अत्यंत यथार्थ रूप किया है। समाज का केंद्र बिंदु परिवार होता है। अमरकांत की अनेक कहानियों में परिवार की विभिन्न समस्याएँ चित्रित हुई हैं। जैसे–निर्धनता, दांपत्य जीवन की समस्याएँ, बेरोजगारी की समस्या, भिक्षावृत्ति की समस्या, नारी विषयक समस्या जैसी विभिन्न सामाजिक, पारिवारिक समस्याएँ आदि।

निर्धनता–निर्धनता अमरकांत की कहानियों का केंद्रबिंदु है। निर्धनता भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडंबना है। इस निर्धनता को अमरकांत ने अपने आस-पास के समाज में बड़ी गहराई से देखा है। स्वतंत्रता आंदोलन में कूदने से पूर्व उनका यह सपना था कि स्वतंत्रता के बाद निर्धनता जड़-मूल से उखड़ जाएगी, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। औद्योगिकरण, मशीनीकरण से भी जनता की आर्थिक समस्याएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। किसी-न-किसी प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का शिकंजा मजबूत होता रहा। भाग्यवाद, व्यवसायों का जातिगत आधार, भ्रष्टचार आदि ने इस विपन्नता को बढ़ाया है। इस विपन्नता को देखकर अमरकान्त का मन पीड़ा से भर और यही कारण है कि उनकी कहानियों में विशेषत: विपन्नता के ही चित्र मुखर होकर उभरे और उनमें विपन्नता के खिलाफ संघर्ष की भी चिंगारियाँ दिखाई पड़ीं।

जहाँ निर्धनता होती है वहाँ सब-कुछ विद्रूप होता है। व्यक्ति का रहन-सहन, वेशभूषा, व्यवहार तथा चरित्र सभी कुछ उस निर्धनता से प्रभावित होता है। अमरकांत की कहानियों में निर्धनता का जहाँ चित्रण आया है वहाँ उसके परिवेश को भी जीवंत रूप में चित्रित किया गया है। 'दोपहर का भोजन' कहानी का एक अंश देखिए–'सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आँगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टँगी थी, जिसमें पैबंद लगे हुए थे।'[2] इसी प्रकार 'डिप्टी कलक्टरी' कहानी में निर्धनता के वातावरण का चित्रण अत्यंत प्रभावशाली ढंग से हुआ है–'सारे घर में मुर्दनी छाई हुई थी। छोटे से आँगन में गंदा पानी, मिट्टी, बाहर से उड़कर आए हुए सूखे पत्ते तथा गंदे कागज पड़े थे और नाबदान से दुर्गंध आ रही थी। ओसारे पर पड़ी पुरानी बँसहट पर बहुत से गंदे कपड़े पड़े थे और रसोईघर से उस वक्त भी धुआँ उठ-उठकर सारे घर की साँस को घटा रहा था। कहीं कोई खटर-पटर नहीं हो रही थी और मालूम होता था कि घर में कोई है ही नहीं।'[3]

अमरकांत ने अपनी कहानियों में जीवन की जिन विसंगतियों को दिखाया है, वे निर्धन और दलित वर्ग की दास्तान-ए-जिंदगी है। उनके कथानक निर्धनता के धरातल से निकलकर एक ऐसा चमत्कारिक दृश्य प्रस्तुत करते हैं कि निर्धनता अचपचाकर सामने दृश्यमान हो जाती है। उनकी एक बहुचर्चित कहानी 'घर' में एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक विपन्नता की दशा के परिणामस्वरूप उत्पन्न मानवीय त्रासदी और जीवन की अर्थहीनता का परिदृश्य स्पष्टत: लक्षित होता है–'खुले बाक्स की आधारभूमि की तरह उस मकान का आँगन था, जिसमें तीन खाटें पड़ी थीं। बड़ी खाट पर पंद्रह वर्ष, तेरह वर्ष और चौदह वर्ष के क्रम में तीन लड़के सिरहाने की तरफ लंबाई में एक-दूसरे पर हाथ-पैर चढ़ाए सो रहे थे और उनके पैरों की तरफ नीचे पैताने की तरफ आठ वर्ष और छह वर्ष की दो बच्चियाँ चौड़ाई में सो रही थी। एक पतले और झोलर बँसहट पर उनके पिता दाँई 'ऊँ' बने हुए थे। तीसरी चारपाई पर एक जवान लड़की पड़ी हुई थी, और उसी पर उसकी माँ पाटी के नीचे पैर लटकाए तथा हथेली पर ठोड़ी टिकाए बैठी थी और सिर उचकाकर कमरे की ओर देख लेती थी।'[4]

दांपत्य जीवन एवं उसकी समस्याएँ–निर्धन परिवारों में पति-पत्नी के बीच आर्थिक अभावों के कारण टकराट एवं कलह सर्वदा बना ही रहता है। दांपत्य जीवन अशांत बना रहता है। पति-पत्नी एक-दूसरे को दोषी ठहराते रहते हैं। दांपत्य जीवन किस प्रकार घिसटता चलता रहता है। अमरकांत पति-पत्नी के बीच इस प्रकार के संबंधों का बड़ा ही यथार्थ चित्रण करते हैं। इनकी 'निर्वासित' कहानी में इन्हीं स्थितियों से घिरे 'गंगू' की कथा है जिसका परिवार अकाल के कारण दाने-दाने का मुहताज हो गया है। वह अकाल के समय की अपनी विकट स्थिति का वर्णन कर रहा है। उस वर्णन में पत्नी के विषय में उसका जो दृष्टिकोण है, वह भी वर्णित है। वह कहता है–'उसी समय मुझे बुखार आने लगा था। दो महीने तक मैं इसी तरह चारपाई पर पड़ा रहा। मैं खाना पूरा न मिलने पर मेहरारु और बच्चों को गालियाँ देता। एक दिन शाम को मेहरारु बाबू लोगों के यहाँ से आई, तो उसका हाथ खाली था। बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। मैं तो गुस्से से पागल हो गया। चिल्लाकर बोला, 'हरामजादी' अपने तो यहाँ लुक-छिपकर अपना गड्ढा भर आती है और यहाँ आकर बहाना कर देती है। मेहरारु क्रोध में फूस की तरह जलने लगी। उसका मुँह लाल भोथर पत्थर की तरह हो गया। आँखें निकल आईं। छाती पर दोनों हाथ से पीटती हुई वह बोली, 'हाँ! खाती हूँ, खाती हूँ। क्या कर लेगा? इसके पेट में हमेशा डाढ़ा लगा रहता है। साफ-साफ सुन ले, मैं तेरा गड्ढा नहीं भर सकती। खाना है तो अपना जाँगर चला। जाँगर नहीं चलता है तो भीख माँगकर ला। समझ ले, मैं तेरी दुश्मन हूँ...।'[5]

इसी कथन से यह स्पष्ट है कि अति निर्धनता और तंगहाली पति-पत्नी के बीच अविश्वास पैदा कर आपसी रिश्तों में दरार उत्पन्न कर देती है। निर्धनता की विभीषिका इस कदर दांपत्य जीवन पर प्रभावित होती है कि वह अपने भीतर जीवन के छोटे-छोटे सुखों को भी समेट लेती है। इस प्रकार अमरकांत की इस कहानी में दांपत्य जीवन का जो पक्ष हमारे सामने आया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि निम्न-मध्यवर्गीय समाज के दांपत्य जीवन में दु:ख और कलह अधिक होता है और इसका प्रमुख कारण होता है जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव जो आर्थिक तंगी का परिणाम होता है, और इसी के कारण पति-पत्नी में एक-दूसरे को समझने के प्रयास में कमी आती है। मध्यवर्गीय परिवार में सुखी दांपत्य जीवन के भी दर्शन होते हैं, किंतु सुखी जीवन व्यतीत करने वालों की संख्या कम ही दिखाई देती है।

बेरोजगारी की समस्या–बेरोजगारी हमारे देश के नवयुवकों की सबसे बड़ी समस्या बनकर उभर रही है। स्वतंत्रता के बाद हमारे देश की विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो विभिन्न समस्याओं के मध्य में नवयुवकों का वर्ग निश्चत रूप से विद्यमान है। बेरोजगारी की समस्या इसी वर्ग से जुड़ी समस्या है। आज हमारे देश में मध्य एवं निम्न-मध्यवर्ग के नवयुवक उच्च डिग्री प्राप्त कर नौकरी की तलाश में दर-दर की ठोकरें खा रहे है। कड़ी मेहनत तथा अच्छे अंक प्राप्त करके तथा अलग-अलग परीक्षा तथा साक्षात्कार देकर भी उन्हें कहीं नौकरी नहीं मिल पाती। अधिक उम्र हो जाने पर नौकरी की सारी संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं, जिससे युवावर्ग को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता है। इसी बेरोजगारी के कारण युवावर्ग के स्वर्णिम जीवन के सारे सपने काँच के टुकड़ों की तरह टूटकर बिखर जाते हैं और उनका मन घुटन एवं कुंठा से भर जाता है। परिणामत: अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। अमरकांत ने अपनी कहानियों में बेरोजगारी युवावर्ग की मानसिक स्थिति का चित्रण 'घर' और 'इंटरव्यू' कहानियों में किया है। 'घर' कहानी में एक उच्चशिक्षा प्राप्त नवयुवक की बेरोजगारी का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। उस नवयुवक का चित्रण अमरकांत इस प्रकार करते हैं, 'वह एक दुबला-पतला, लंबा और साँवला-सा नौजवान था, जो एम०ए० पास करके दो वर्ष से बेकार था। वैसे बेकारी कोई नई बात नहीं थीं, वह इधर राष्ट्र की एक खास पहचान बन गई थी, जिसका वह पूरी तरह अभ्यस्त भी हो गया था। उसके हाईस्कूल करने के बाद ही एक ऐसी स्थिति आ गई कि उसने रोजगार दफ्तर में अपने नाम का पंजीकरण कर लिया था, लेकिन एम०ए० करने तक तथा उसके बाद टाइप सीखने के बावजूद उसे जो कुछ मिला, उसे कारण वह रोजगार दफ्तर को बेकारी दफ्तर कहने लगा।'[6]

बेरोजगारी के कारण निम्न-मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही है। समाज में बढ़ रही जनसंख्या, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार के कारण बेरोजगारी बढ़ रही है। आज का शिक्षित युवक यह जानता है कि इंटरव्यू तो केवल दिखावा होता है, परंतु सब-कुछ जानते हुए भी वह मन में आशा लेकर इंटरव्यू देने जाता है और निराश होकर लौट आता है। इंटरव्यू के पूर्व की निराशाजनक स्थिति का वर्णन करते हुए अमरकांत कहते हैं, 'क्या पढ़ते हो यार। मुझे तो मालूम है चुना जानेवाला पहले ही चुन लिया गया है, इंटरव्यू तो ढोंग है।'[7] बेरोजगारी का प्रमुख कारण है देश में बढ़ रहा भ्रष्टाचार, जिसकी ओर यहाँ संकेत किया है। हमारे समाज में शिक्षित नवयुवकों को अपनी योग्यता के अनुसार नौकरी नहीं मिल पाती, परिणामस्वरूप शिक्षित युवक निम्न स्तर के कार्य करने के लिए विवश हो जाता है। बेरोजगारी शिक्षित युवा-समाज को किस प्रकार अपाहिज बना रही है, इसका चित्रण अमरकांत ने अपनी कहानियों के माध्यम से उजागर किया है।

भिक्षावृत्ति की समस्या–भिक्षावृत्ति भारतीय समाज की एक व्यापक समस्या है। जीवन की आर्थिक विपन्नता तो इसके लिए जिम्मेदार है ही, लोगों की दानवृत्ति तथा व्यक्ति की अकर्मण्यता भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं है। वैसे सामान्यत: मनुष्य के सामने जब जीवीकोपार्जन का अन्य साधन उपलब्ध नहीं होता तभी वह भिक्षावृत्ति अपनाता है। कोई सम्मानजनक धंधा करने के लिए शारीरिक या मानसिक अयोग्यता भी किसी को भीख माँगने के लिए विवश करती है। अमरकांत इस सामाजिक समस्या के प्रति अत्यधिक सजग है। उनकी दृष्टि में इस सामाजिक बुराई का पूरा श्रेय समाज को है। उन्होंने अपनी 'दो चरित्र' कहानी में कहा है–भिक्षावृत्ति इसलिए बढ़ी कि हम आप भीख देते हैं, अगर हम आप दें नहीं तो किसी साले की माँगने की हिम्मत नहीं पड़ेगी? हारकर सबको कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि जो लोग भीख देते हैं वे देश के बड़े दुश्मन हैं।'[8]

यह वर्ग वास्तव में समाज के लिए एक चुनौती है। समाज एवं सरकार हमेशा कहती रहती है कि भिक्षावृत्ति को समाप्त करना है। कितनी सरकारें आईं और गईं, पर इस समस्या का निदान नहीं हो पाया। आज तक इस समस्या के समाधान के लिए कोई सार्थक पहल नहीं हुई। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि 'दो चरित्र' नामक कहानी के जनार्दन जैसे लोग भिखारियों को गोली मारकर इस समस्या के समाधान का रास्ता ढूँढते हैं–'अरे जाइए साहब, यहाँ डिक्टेटरशिप नहीं है, नहीं तो ऐसे सारे निकम्मों को लाईन में खड़ा करके गोली से उड़ा दिया जाता। मैं तो साफ-साफ कह देता हूँ बिना डिक्टेटरशिप के देश एकदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।'[9] समाज के ठेकेदारों का भिखारियों के प्रति कितना अमानवीय और विकृत दृष्टिकोण है, कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार कहानीकार अमरकांत ने भिखावृत्ति और विकट अर्थाभाव में जीते मनुष्य की स्थिति का जहाँ बेलौस चित्रण किया है, वहीं भिखारियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण पर भी गहरा व्यंग्य किया है।

नारी विषयक समस्याएँ–नारी विषयक समस्या भारत में केवल वैवाहिक जीवन के बाद ही शुरू नहीं होती, उसकी शुरुआत तो तभी हो जाती है जब वह यौवन की दहलीज पर पैर रखती है। मध्यवर्गीय परिवारों में अविवाहित लड़कियों को कठोर अनुशासन में रखने का प्रयत्न किया जाता है। अमरकांत ने अपनी कहानियों में नारी समस्या के विविध स्वरूपों का अत्यंत विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन किया है। समाज में भारतीय नारी की स्थिति, उसके प्रति समाज का दृष्टिकोण, उसका यौन-शोषण आदि पक्षों पर उन्होंने अपनी कहानियों में स्थान-स्थान पर विशेष प्रकाश डाला है।

अमरकांत ने नारी यौन-शोषण का वर्णन अपनी कहानियों में किया है। कहीं उसका यौन-शोषण छोटी जाति होने के कारण होता हैं तो कहीं अर्थ की लोलुपता में तथा कहीं स्वच्छंद वृत्ति के कारण। 'प्रिय मेहमान' कहानी में विश्वविद्यालय के एक शिक्षक नीरज का एक स्वच्छंद प्रकृति की लड़की नीलम को अपनी हवस का शिकार बनाने की चेष्टा है, किंतु नीलम उसके कुत्सित इरादे को भाँप जाती है और उसे हतप्रभ मुँहबाए छोड़कर चली जाती है और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। नारी-शोषण के पीछे पुरुष की अहंकारी विचारधारा, नारी के प्रति हीन दृष्टि तथा उसे पुरुष की भोग्या समझने की मानसिकता विशेष काम आती है। सदियों से नारी का शोषण समाज में पुरुषों द्वारा होता आया है। विवाहोपरांत अन्य स्त्री के साथ संबंध और पूर्व पत्नी का त्याग कर अलग जीने की प्रवृत्ति भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एक समस्या के रूप में उभरी है। कभी-कभी वह विवाहिता से परित्यक्ता बन जाती है। 'प्रिय मेहमान' की नीलम के साथ भी यही हुआ–'जिसको उसके पति ने जवानी में ही छोड़ दिया था और जिसे बाद में उसके पति के मित्र ने कुछ दिनों तक रखा और बाद में मारपीट कर निकाल

दिया।'[10] इस प्रकार परित्यक्ता नीलम का शोषण प्रारंभ हुआ। विवाह के बाद भी नीलम शोषण का शिकार हुई। वह जहाँ नौकरी करने गई वहाँ भी भूखीं आँखों ने उसके जिस्म को ही निहारा और नीलम हमेशा दोहरी मार खाती रही। 'नौकरी उसको जितनी आसानी से मिलती उतनी ही आसानी से छूट भी जाती थी और वह इस तरह प्राइमरी से लेकर इंटर कॉलेज तक ऐसे विद्यालयों में साठ-साठ रुपए तनख्वाह पर पढ़ चकु थी, जिनके व्यवस्थापक बड़े-बड़े विद्वान और मानवतावादी नेता थे। यह भी कहा जाता था कि महत्त्वाकांक्षी लोग शादी का लालच देकर उसको अपने जाल में फँसा लेते और अंत में गन्ने की तरह चूसकर फेंक देते।'[11]

विभिन्न पुरुषों के शोषण का शिकार बनी नीलम अंत में नीरज की लोलुपता को तोड़कर उससे अपने आप को मुक्त कर लेती है। नीलम जैसी नारी की कहानी इस समाज की शाश्वत कहानी है। मात्र शोषकों के मुखौटे बदले हैं। कभी यौन शोषण का यह कार्य जमींदार करते थे। और अब बड़े-बड़े विद्वान और मानवतावादी नेता करते हैं। अमरकांत ने इस प्रवत्ति को यथार्थपरक शैली में चित्रित करने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अमरकांत की कहानियों में सामाजिक समस्याओं का गहन चिंतन है और वह लेखक के परिवेश से गहरे रूप में जुड़ी हुई है। अमरकांत ने जिस परिवेश को भोगा, नजदीक से देखा और अनुभव किया उसी की सशक्त अभिव्यक्ति उनकी कहानियों में दिखाई पड़ती है। अनुभूति की सच्चाई अमरकांत की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता रही है। यद्यपि अमरकांत जनता की किसी समस्या को नगण्य नहीं समझते और शायद इसीलिए उन्होंने समाज की किसी भी विसंगति या समस्या को अछूता नहीं छोड़ा, फिर भी उनकी कहानियों का केंद्रबिंदु मध्यवर्ग विशेषत: निम्न-मध्यवर्ग रहा है। वस्तुत: यही अमरकांत का असली परिवेश रहा है। अमरकांत ने अपने परिवेश की समस्याओं को अत्यंत पैनी दृष्टि से देखा और व्यंग्यधर्मी लहजे में अपनी सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति दी। इस दृष्टि से अमरकांत अपनी पीढ़ी के तमाम कहानीकारों से अलग दिखाई पड़ते हैं।

संदर्भ

1. राम आहूजा, मुकेश आहूजा, समाजशास्त्र: विवेचना और परिप्रेक्ष्य, पृ॰ 87
2. अमरकांत, दोपहर का भोजन, (प्रतिनिधि कहानियाँ), पृ॰ 104
3. अमरकांत, डिप्टी कलक्टर, (प्रतिनिधि कहानियाँ), पृ॰ 28
4. अमरकांत, घर, पृ॰ 10
5. अमरकांत, निर्वासित (मित्र-मिलन तथा अन्य कहानियाँ), पृ॰ 108-109
6. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियाँ, खंड-2, पृ॰ 136
7. अमरकांत, अमरकांत की संपूर्ण कहानियाँ, खंड-1, पृ॰ 07
8. अमरकांत, दो चरित्र, (मित्र-मिलन तथा अन्य कहानियाँ), पृ॰ 128
9. वही, पृ॰ 128
10. अमरकांत, प्रिय मेहमान, पृ॰ 67
11. वही, पृ॰ 67

H. No. 1327/31, Kamla Nagar,
Rohtak - 124001 Haryana
Mob. 9728144001
manirathee1992@gmail.com

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री विमर्श

डॉ॰ मंगल ससाणे
विद्या प्रतिष्ठानका
कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय, विद्यानगरी, बारामती

इतिहास इस बात का साक्षी है की दुनियाभर की महान त्रासदियों का बहुत बड़ा हिस्सा स्त्रियों ने झेला है। पुरुष वर्चस्ववादी शिकंजे ने स्त्री की ख्वाहिशों को पालतू बना दिया था। अब स्त्री विमर्श ने उसे बदला है। नारी संवेदनाओं की मूर्ति है। साथ-ही-साथ वह जीवन की पारखी भी है। स्त्री का व्यक्तित्व परिवेशगत असामंजस्य के कारण बहुत बार हाशिए पर चला जाता है और वह अपनी अस्मिता एवं आत्माभिव्यक्ति के लिए निरंतर संघर्षरत रही है। साहित्य में उभरे स्त्री-विमर्श के माध्यम से स्त्री को अपने अनुभवों को साझा करने की आजादी मिली है। स्त्री विमर्श के बारे में लेखिका प्रभा खेतान कहती हैं–'आज की स्त्री ने सदियों की खामोशी तोड़ी है। उसकी नियति में बदलाव है। उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन-मिजाज सभी तो बदल रहा है।'[1]

समाज में अनेक बंधनों ने उसे जकड़ लिया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही समाज के विविध क्षेत्रों में स्त्री ने अपनी एक सी पहचान बनानी शुरू कर दी है । तब ऐसा कहना सार्थक होगा कि वर्तमान समय में स्त्री विमर्श संपूर्ण विश्व साहित्य के केंद्र में है। आज स्त्री विमर्श को बढ़ावा देने में लेखिकाओं का आत्मकथा साहित्य विपुल मात्रा में चर्चित है।

सामाजिक ढाँचे में मनुष्य और साहित्य का संबंध बेहद महत्त्वपूर्ण है, जिसमे स्त्री केंद्रबिंदु है। प्रकृति को आगे ले जाने वाली अग्रदूत भी वह है। आज के आधुनिकिकरण के युग में विज्ञान, इंटरनेट, तकनीकी ने काफी अविष्कार दिखाए है लेकिन स्त्री और स्त्री के कोख को लेकर अभी किसी भी प्रकार के विकल्प का नवनिर्माण करने में नाकाम रहे हैं। देश-विदेश के पर्दे पर तमाम बुनियादी सुविधाओं की आड़ में स्त्री शोषण का अध्याय शुरू ही है। स्त्री और साहित्य की चर्चाओं को देखकर ऐसा लगता है कि स्त्री का अस्तित्व युगों-युगों से संघर्ष तथा समर्पण के दो पाटों से होकर गुजर रहा है। उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है। समाज में अनेक बंधनों ने उसे जकड़ लिया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही समाज के विविध क्षेत्रों में स्त्री ने अपनी एक अलग-सी पहचान बनानी शुरू कर दी है। तब ऐसा कहना सार्थक होगा कि वर्तमान समय में स्त्री विमर्श संपूर्ण विश्व साहित्य के केंद्र में है।

इक्कीसवीं सदी क्रांति और प्रगति की सदी हैं, जिन्होंने पीड़ितों, शोषितों को वाणी देने का काम किया है। इनमें मुख्यत: स्त्री भी है। स्त्री मूलत: सर्जक के रूप में है। महिला लेखन स्त्री विमर्श या अस्मिता की तलाश मानी जाती है। साहित्य को जीवन की आलोचना कहा जाता है। साहित्य की विविध विधाओं में आत्मकथा विधा सार्थक सिद्ध हुई है। वह जिए हुए जीवन का, भोगे हुए क्षणों का, झेले हुए सुख दु:खों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। Oxford Dictionnary 'TheStory of one's life writen by Himself ' (अर्थात्-लेखक की अपने जीवन की स्वयं लिखी हुई कहानी आत्मकथा है।)[2] औद्योगिकरण के कारण स्त्री के जीवन में बदलाव आया और वह स्वयं को अभिव्यक्त करने लगी। वह साहित्य के कहानी, कविता उपन्यास आदि से भी ज्यादा आत्मकथा

 ISSN 0975-735X

विधा को चुनकर अपनी अभिव्यक्ति देने लगी। सचमुच बीसवीं सदी के अंतिम दशक से स्त्री लेखन में निरंतर बढ़ोतरी होने लगी। महिला लेखिकाओं ने आत्मकथा विधा में अपना वजूद स्थापित कर एक नया विमर्श हिंदी साहित्य में चर्चित कर दिया है। जुलाई 2008 के 'नया ज्ञानोदय' अंक में महिला लेखन पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है–'एक समय था, जब स्त्रियाँ घर की चाहरदीवारी भीतर रहकर कढ़ाई-बुनाई वगैरह में अधिक व्यस्त रहती थीं, आज शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद देखा जा रहा है कि उन्होंने क्रोशिए के स्थान पर कलम थाम ली है। कविता, कहानी, यात्रा-वृत्तांत, डायरी, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में महिलाओं ने कलम चलाई है।'[3]

महिलाओं द्वारा लिखे साहित्य की लंबी परंपरा मिलती है लेकिन महिला अपने बारे में बहुत कम लिखती है और आत्मकथा के जरिए अभिव्यक्त होना मतलब उसकी अस्मिता की एक ठोस दस्तक है। भारतीय साहित्य के मंच पर महिला आत्मकथा ने अपनी पहचान बनाई है। अपने जीवन में घटित सभी घटनाओं को ईमानदारी से पाठकों के सामने रखना आसान बात नहीं है। उसमें भी परंपरा से घिरे भारत जैसे देश में जहाँ एक नारी के लिए कुछ नियम, परंपराएँ हैं। आत्मकथा में अपने-आपको खोलना तथा अपनी गलतियों को पाठकों के सामने रखना बड़े साहस का काम है। इसी कारण लेखिकाओं की आत्मकथा न के बराबर थी। लेकिन आज नारी में नई दृष्टि आई है, वह आत्मनिर्भर बन रही है जिसका नतीजा है भय, लज्जा और लोकापवाद से अप्रभावित रह इन लेखिकाओं ने अपने जीवन को पाठकों के सामने रखा है। आज स्त्री विमर्श को बढ़ावा देने में लेखिकाओं का आत्मकथा साहित्य विपुल मात्रा में चर्चित है।

21वीं सदी में अनेक महिला लेखिकाओं ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, जैसे–डॉ॰ सुशीला टाकभौरे (शिकंजे का दर्द), कौशल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप), कृष्णा अग्निहोत्री (लगता नहीं है दिल मेरा), मैत्रेयी पुष्पा (कस्तुरी कुंडल बसे, गुड़िया भीतर गुड़िया), मन्नू भंडारी (एक कहानी यह भी), प्रभा खेतान (अन्या से अनन्या), रमणिका गुप्ता (हादसे) आदि आत्मकथा लेखिकाओं की जीवनगाथा प्रस्तुत करती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' पुरुष निर्मित पितृसत्ता के नैतिक प्रतिमानों की धज्जियाँ उड़ाकर रख देती है। कृष्णा जी ने एक ऐसे समाज में आँखें खोलीं जहाँ पुत्र के सामने पुत्री कुछ भी नहीं है। उस परिवार में लड़की को बोझ समझा था। लेखिका बचपन से ही इस पीड़ा को झेलती हैं। वह लिखती हैं कि 'माँ मुझे प्यार नहीं करती थी, पर मैं अम्मा को हृदय से प्यार करती थी। शायद माँ तो बच्चों की एक है, बच्चे कई होते हैं। मैं लड़की क्यों बनी, यह मुझे नहीं पता। यह लड़की कान्यकुब्ज तिवारी के यहाँ क्यों पैदा हुई? उससे पूछा नहीं गया।'[4]

यह आत्मकथा लिंगभेद की पक्षपातपूर्ण नीति के दुष्परिणामों की ओर संकेत करती है। कृष्णा जी को पिता का स्नेह मिला लेकिन माता की ओर से पितृसत्ता के अनुकूल संस्कार दिए गए। कृष्णा जी शादी के बाद भी पति द्वारा छली जाती हैं। उनका दांपत्य जीवन भी बहुत ही संघर्षमय बीतता है। बाद में लेखिका के मन में स्त्री अस्मिता जाग्रत होती है। वह अपने मन से अपनी जिंदगी जीना चाहती हैं। वह भूमिका में ही अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहती है–'बहुत झेला, बहुत भोगा, बहुत सहा.. नहीं सहन हुआ तो लिख डाला। लिखने का उद्देश्य किसी को दुख पहुँचाना या लांछित करना नहीं है। जो जिसने दिया उतना आज अभिव्यक्त हो ही गया। तब भी यदि किसी को कुछ चोट या दु:ख पहुँचे तो यह सोचकर कि उसने मुझे कितना बड़ा घाव दिया है, मुझे क्षमा दें ... क्योंकि में अपने-आपको विश्लेषित करने के बाद इन गहरे अहसासों को दफन नहीं कर सकी।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि लेखिका अपने ही पति से शोषित है।

'दोहरा अभिशाप' कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा अस्पृश्य समाज में जीनेवाली नारी की करुण गाथा को प्रस्तुत करती है। अपनी आत्मकथा में लेखिका कहती है–दलित स्त्री दूसरी स्त्रियों की तरह केवल स्त्री नहीं होती। स्त्री होने के साथ-साथ वह दलित होने का दोष भी झेलती है। लेखिका स्वयं दलित समाज में पैदा हुई है। 'दोहरा अभिशाप' में एक तो दलित होने का अभिशाप और दूसरी ओर नारी होने का। उसका दर्द दोहरा है यह दलित समाज को अपना मूल्यांकन करने की सीख देनेवाली आत्मकथा है। स्त्री मात्र देह नहीं है, इस सृष्टि की एक मानवीय कृति है यह। उसके साथ मनुष्य की तरह पेश आने की माँग है। इसमें छुआछूत की अनिष्ठ प्रथा का वर्णन किया हुआ है। इसके बारे में वह लिखती हैं–'मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मेरे हाथ लगाने से ऐसा क्या गया। जंगला का घर हमसे अच्छा नहीं था। घर में बकरियाँ बँधी थीं। उनकी मलमूत्र की बहुत बदबू आ रही थी, फिर भी जंगला हमें छुआछूत बरतती थी।'[6]

भारतीय स्वतंत्रता का अमृत महोत्सव हम मना रहे हैं फिर भी जातीयता की दीवारें न टूटी हैं और न समानता की मनोवृत्ति बनी है। लेखिका का कहना ही यही है दलित होना पाप और शाप है लेकिन दोहरा अभिशाप यह कि दलित स्त्री होना। लेखिका ने अपने माता-पिता से लेकर अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रसंग भी यहाँ साझा किए हैं। समाज में व्याप्त रूढ़ि परंपराओं का बड़े साहस के साथ वह विरोध करती है। वह एक ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहती है, जो उच्च शिक्षित हो और दलित समाज सुधार में शामिल हो। उच्च शिक्षा और अंबेडकरवादी विचारधारा के देवेंद्र कुमार से विवाह करती है। देवेंद्रकुमार को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। विवाह के पश्चात 50 वर्षों तक देवेंद्र कुमार के उपेक्षित प्रताड़ित और यातनापूर्ण व्यवहार को सहती है और निश्वय के साथ सम्मानपूर्वक जीवन जीने का निर्णय भी लेती है। प्रस्तुत दलित आत्मकथा दलित स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाली एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्य कृति मानी जाती है। यह कृति स्त्री की साहसपूर्ण भूमिका और संघर्षपूर्ण चुनौतियों को नई दिशा और सम्मानभरी जिंदगी जीने का हौसला भर देती है।

निष्कर्ष–इक्कीसवीं सदी के महिला लेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि है दलित महिला आत्मकथाकारों की आत्मकथा। महिलाओं द्वारा अपनी आपबीती लिखना यह भी एक संतोषप्रद उपलब्धि है। आत्मकथाओं के द्वारा स्त्री जगत की सूक्ष्म परतें खुल सकती हैं। दांपत्य तनाव के कारणों का परिचय मिल सकता है। ये लेखिकाएँ अपने अस्तित्व की तलाश कैसे करती हैं? अब स्त्रियों की चाहतें क्या हैं? असंतुष्टि के कारण क्या हैं? आदि बातों का जिक्र यहाँ हुआ है।

संदर्भ

1. डॉ॰ अर्जुन चव्हाण, विमर्श के विविध आयाम, पृ॰ 30
2. डॉ॰ मंगल ससाणे, दलित उपन्यास एवं आत्मकथा साहित्य, पृ॰ 59
3. डॉ॰ पी॰व्ही॰ कोटमे, प्रो॰ व्ही॰एन॰ भालेराव (संपादक), सृजन संदर्भ और मैं, पृ॰ 19-20
4. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं है दिल मेरा, पृ॰ 22
5. वही, भूमिका, पृ॰ 7
6. इक्कीसवीं सदी का महिला लेखन : स्थिति अति एवं गति आत्मकथा विधा के विशेष संदर्भ में, दोहरा अभिशाप, शिकंजे का दर्द, प्रा॰ पी॰एम॰ अठावले), पृ॰ 61

मो॰ 9370125102
mksasane72@gmail.com

ISSN 0975-735X

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में सामाजिक-पारिवारिक विघटन

नीरज कुमार, सहा॰ प्रोफेसर, हिंदी
कु॰ मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बादलपुर (गौ॰बुद्ध नगर) उ॰प्र॰

व्यक्ति समाज की इकाई है, जिसका जन्म परिवार में होता है। परिवार, व्यक्ति की प्राथमिक पाठशाला है जिसमें व्यक्ति परिवारिक संस्कारों के साथ-साथ समाज को भी ग्रहण करता है। जगदीश शर्मा के अनुसार, 'माता-पिता के रक्त के साथ ही एक समाज भी उसकी शिराओं में जाने-अनजाने प्रवाहित होने लगता है, क्योंकि उसने अपने माँ-बाप से जो कुछ अपने जन्म संयोग से पाया है, उसमें जितना कुछ व्यक्तिगत है उतना ही समाज से निर्धारित अंश भी है।'[1] इसी कारण परिवार को समाज का केंद्र कहा जाता है, क्योंकि मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं का आरंभ एवं विकास परिवार में होता है। मैकाइवर व पेज के अनुसार, 'परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों की उत्पत्ति और पालन-पोषण की व्यवस्था करता है।'[2] बर्गेस एवं लॉक परिवार को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह कहा जा सकता है, जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा संगठित है, एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में परस्पर अंत: क्रियाएँ करते हैं अथवा अपने-अपने सामाजिक कार्यों के रूप में एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, तथा एक सामान्य संस्कृति को बनाते हैं और रक्षा करते हैं।'[3]

भारतीय संस्कृति में संयुक्त परिवार को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके माध्यम से व्यक्ति में बंधुत्व, प्रेम, लगाव, सामंजस्य, त्याग, सेवाभाव और सहजीवन की भावना प्रबल होती है, साथ ही व्यक्ति अकेलेपन और इसकी विसंगतियों से भी बच जाता है। डॉ॰ मालती आदवानी ने ठीक ही कहा है कि 'सहजीवन भारतीय जीवनधारा का मेरुदंड है। व्यक्तिवादी जीवन हमें स्वार्थी बनाता है किंतु संयुक्त परिवार सहजीवन, सामंजस्य की ओर प्रेरित करता है।'[4]

वैज्ञानिक उन्नति से जनित भौतिक सुख-सुविधाओं ने संयुक्त परिवार को गहरी क्षति पहुँचाई है। एकल परिवार इसी की देन है। पश्चिमी समाज का अंधानुकरण भी एकल परिवार के तीव्र विकास का कारण है। एकल परिवार में पति-पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें रहती हैं। विवाह के पश्चात संतानें मूल परिवार से पृथक् होकर एक नए परिवार को जन्म देती हैं।

परिवार, समाज का आधार होता है। परिवारों के आपसी संबंधों से ही समाज का निर्माण होता है। इसी कारण क्षेत्र विशेष के समाज में खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज और प्रथाओं में एकरूपता पाई जाती है। बदलती परिस्थितियों में मनुष्य के परिवारिक और सामाजिक संबंधों में शनै: शनै: शिथिलता आती जा रही है। पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन संबंधों में तनाव का परिणाम है। श्रीकृष्ण भट्ट के अनुसार, पारिवारिक विघटन का अर्थ है–'परिवार का संगठन टूट जाना। परिवार के सदस्यों के बीच जो स्नेह, प्रेम, सहयोग और सद्भाव रहता है, जिन वस्तुओं के सहारे परिवार एक इकाई के रूप में बँधा रहता है, उन तंतुओं का टूट जाना ही पारिवारिक विघटन है।'[5]

पारिवारिक विघटन का वृहद रूप सामाजिक विघटन है, अर्थात् मनुष्यों द्वारा सामाजिक नियमों को तोड़ना व समाज विरोधी कार्य करना सामाजिक विघटन कहलाता है। कई बार यह कार्य समूह, वर्ग और जाति के स्तर पर भी किया जाता है, अनेक विमुक्त अपराधी जनजातियों के क्रिया-कलापों को इसी श्रेणी में गिना जाता है।

उद्योगीकरण और ज्ञान विज्ञान की उन्नति ने 'अर्थ' को मानव जीवन का प्रमुख एवं अनिवार्य कारक बना दिया है। भौतिक सुख-सुविधाएँ मनुष्य के जीवन को प्रभावित कर परंपरागत जीवनशैली एवं विचारों को निरंतर बदल रही हैं। नगरीकरण के विकास ने सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन की गति को अत्यंत तीव्र कर दिया है। हमारे देश की अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है, तथा कृषि पर निर्भर है। उद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरों में उद्योग-धंधों की स्थापना हुई। जिससे ग्रामीण युवक गाँवों को छोड़कर शहरों में आ गए हैं, इससे पारिवारिक संबंध प्रभावित होते हैं। संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार व्यक्ति की मजबूरी एवं तरजीह बनते जा रहे हैं। निरंतर महत्त्वाकांक्षी होता मनुष्य पारिवारिक हितों की अनदेखी कर व्यक्तिगत स्वार्थ एवं भौतिकता में डूबता जा रहा है। 'अर्थ' की महत्ता ने व्यक्तिवाद को बढ़ावा देकर सामाजिक एवं पारिवारिक विघटन में सबसे बड़ी भूमिका अदा की है।

नगरीकरण और भौतिक सुख सुविधाओं ने युवाओं को आकर्षित किया है। फलतः युवा कृषि कार्यों को छोड़कर नगरों में नौकरी करना चाहते हैं। नौकरी एवं भौतिक सुख-संसाधन शानो-शौकत की निशानी माने जाते हैं। इसी झूठी शानो-शौकत के लिए आज के युवा शहरों में नौकरी को प्राथमिकता देते हैं। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में इस स्थिति के अनेक प्रसंग हमारे सामने आते हैं। 'बेतवा बहती रही' का अजीत नौकरी के लिए रिश्वत हेतु अपनी माँ के गहने बेचने से भी परहेज नहीं करता। जाहिर है अजीत की महत्त्वाकांक्षा उसे व्यक्तिवादी और स्वार्थी बना चुकी है। यही व्यक्तिवाद और स्वार्थी मनोवृत्ति सामाजिक व पारिवारिक विघटन का मूल कारण है। जो अपने लाभ के लिए पारिवारिक सम्पत्ति को दाँव पर लगा सकता है उसके लिए प्रेम, स्नेह, अपनापन जैसे नैतिक मानवीय मूल्य बेमानी हो जाते हैं। 'अगन पाखी' उपन्यास में चंदर के पिता अपने पुत्र की नौकरी के लिए अपनी साली (भुवन मोहिनी) का विवाह एक पागल व्यक्ति से करा देता है। 'अल्मा कबूतरी' का धीरज भी सरकारी नौकरी के चक्कर में निराशा में डूबकर अपराधियों का सहायक बन जाता है। जिन युवाओं को नौकरी मिल जाती है वे शहरों में रहना पसंद करते हैं तथा एकल परिवार को प्राथमिकता देते हैं। 'इदन्नमम' में मकरंद के पिता दरोगा हैं। इसी कारण वे शहर में रहते हैं। 'झूला नट' का सुमेर भी दरोगा है वह भी शहर में बस जाता है। परिवार एवं पत्नी से भी धीरे-धीरे उसका मोह-भंग हो जाता है और वह शहर में पढ़ी-लिखी लड़की से दूसरी शादी कर लेता है तथा गँवई शीलो को छोड़ देता है। यह पारिवारिक विघटन का क्रूरतम रूप है।

आर्थिक स्वावलंबन हेतु ग्रामीण कलाकार शहरों में आने को बाध्य हैं। 'कहीं ईसुरी फाग' में मैत्रेयी ने इस स्थिति का चित्रण किया है। यह तो मजबूरी का परिणाम है किंतु उच्च वर्ग तथा प्रतिभाशाली युवक आर्थिक रूप से सुरक्षित होने के पश्चात भी सभी रिश्ते-नातों एवं कर्त्तव्यों को तिलांजलि देकर विदेश चले जाते हैं एवं वहीं बस जाते हैं। मैत्रेयी कहती हैं कि 'वे कलाकार उन इंजीनियरों, डॉक्टरों और वैज्ञानिकों से तो ज्यादा गैरतमंद हैं, जो नौजवान छाती फुलाकर विदेश जाते हैं और धड़ल्ले से अपनी शिक्षा-विद्या को निचले स्तर पर बेचते हैं। इस देश का पैसा अपने ऊपर फूँकने के बाद साल-दर-साल रईसी झाड़ते हुए आते हैं, जैसे माँ-बाप और रिश्तेदार उन्हीं का दिया

खा रहे हो। शिक्षित, सभ्य मगर संबंधहीन लोगों ने ही खरीद-फरोख्त का यह व्यापार चलाया है। क्या करें वे भी, दौलत का ऐसा कठोर कवच पहन लिया है कि कोई भावना कोंचती नहीं।'[6] 'विजन' उपन्यास का विशाल अपने माँ-बाप को छोड़कर अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए पत्नी सहित विदेश चला जाता है। ऐसे में उसकी बहन अपने माँ-बाप की देख-भाल करने का प्रण लेती है। एयरपोर्ट पर वह भाई से कहती है–'जा भइया लड़की की तरह विदा हो जा। मुझे छोड़े जा रहा है न यहाँ लड़के की तरह। डोंट वरी, आइ एम हियर। आइ एम ऑलवेज विद माई पेरेंट्स (चिंता मत करना) मैं यहाँ हूँ। मैं हमेशा अपने माता-पिता के साथ हूँ।'[7]

पैतृक संपत्ति और जमीन जायदाद के कारण भी पारिवारिक संबंधों में विघटन देखने को मिलता है। मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों में ऐसी अनेक स्थितियों के चित्र सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किए हैं। 'झूलानट' का सुमेर नौकरी करता है शहर में दूसरा विवाह भी कर लेता है। पहली पत्नी शीलो देवर की बिछिया (विवाह) पहनने से इंकार कर देती है और समस्त जमीन जायदाद पर अधिकार जमा लेती है, तो सुमेर (पति) और उसकी सास भी उसे दुश्मन मानने लगते हैं। 'इदन्नमम' में बऊ और मंदा को जमीन जायदाद के कारण अपना गाँव त्यागना पड़ता है। जमीन जायदाद के लिए ही सगा भाई अपनी बहन का बेमेल/अनमेल विवाह करा देता है (बेतवा बहती रही)। 'अगन पाखी' में धन संपत्ति के लिए ही अजय सिंह अपने भाई की विधवा भुवन की हत्या की साजिश रचता है। स्पष्ट है कि आज धन-संपत्ति रिश्ते-नातों पर भारी है। भाई-भाई का दुश्मन बन बैठा है। 'बेहवा बहती रही' में जमीन जायदाद की वजह से भाईयों में अलगाव दुश्मनी की हद तक पहुँच जाता है–'बड़ी बखरी वालों से स्नेह के रहे-सहे तंतु कटते चले गए। अंत में बैर का बीज पनपकर बृहत् विष-वृक्ष बन गया, जिससे जहरीली कड़वी पत्तियाँ अनवरत झरती रहतीं। धीरे-धीरे घर में रहने वालों पर पाबंदियाँ लगने लगीं। बोल बरताव बंद हो गई। एक-दूसरे की देहरी चढ़ना भी सपना सा हो गया। ...कका-ताऊ के पुत्र अब भाई नहीं, बैरी हो गए। एक-दूसरे को परास्त करने की होड़ में रात-दिन एक कर रहे थे।'[8] मैत्रेयी ने यहाँ पारिवारिक विघटन के मूल कारण और प्रक्रिया का यथार्थ मार्मिक वर्णन किया है।

स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता भी पारिवारिक कलह एवं विघटन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। नौकरी हेतु घर से निकलने के कारण स्त्री के परिवेश एवं सोच में परिवर्तन आता है। कामकाजी स्त्री के व्यक्तित्व एवं स्वतंत्रता को परंपरागत समाज और पुरुष सत्ता आसानी से स्वीकार नहीं कर पाते। फलस्वरूप पति-पत्नी के संबंधों में तनाव उत्पन्न हो जाता है, जो पारिवारिक विघटन का कारण बनता है। डॉ॰ प्रमिला कपूर लिखती हैं–'पारंपरिक रूप से स्त्री के लिए जब तक मुख्य भूमिका पत्नी और माँ बनना था, तब तक कोई दिक्कत नहीं थी, परंतु आज उसे इसके अलावा घर से बाहर नौकरी करनी पड़ती है। इसकी वजह से उसकी भूमिका को लेकर अनेक उलझने पैदा हो गई हैं।'[9] 'विजन' उपन्यास में डॉ॰ आभा निरंतर पारिवारिक दायित्वों और अपने पेशे के बीच जद्दोजहद करती है। पति मुकुल डॉक्टर होते हुए भी आभा का सहयोग नहीं करता वरन् उस पर अत्याचार करता है। घुटन और तनाव अंततः आभा को तलाक लेने पर विवश कर देता है। दूसरी ओर डॉ॰ नेहा, आभा जैसा साहस नहीं जुटा पाती। परिवार को विघटन से बचाने के लिए वह निरंतर अपनी योग्यता से समझौता करती जाती है किंतु निरंतर तनाव, घुटन, संत्रास और पीड़ा उसे अवसादग्रस्त बना देती है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा लिखती है कि 'जब से स्त्रियाँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हुई हैं, पुराना सामाजिक ढाँचा चरमराने लगा है। तलाक और संबंध विच्छेदों के मामले बहुत बढ़ गए है, उन्मादग्रस्त सहजीवन स्थापित हुआ है। स्त्री आजाद नहीं हुई गैर-जिम्मेदार हो रही है। इसी के चलते सामाजिक अपराधिनी है। अब स्त्री समझाए

कि आपके विधि-विधान वाला विवाह एक संबंध नहीं है, बे-पैसे की नौकरी है, जिसके कारण उसकी स्वतंत्रता दाँव पर लगी है।'[10]

'गुनाह-बेगुनाह' उपन्यास में मैत्रेयी ने अनेक कामकाजी स्त्रियों के संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। इला चौधरी को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर सम्मानपूर्वक जीवन जीने की लालसा में घर से भागना पड़ता है। समीना और प्रिया भी परंपरागत सामाजिक, पारिवारिक, मान्यताओं से विद्रोह करके ही आर्थिक रूप से स्वावलंबी होती हैं। नौकरी पेशा स्त्री जब तक घरवालों को अपनी तनखा देती रहती है, तब तक तो सब ठीक दिखता है, किंतु यदि वह मना कर देती है, तो परिवार में टूटन उत्पन्न हो जाती है। लक्ष्मी मैडम सालों-साल अपनी कमाई घर वालों को सौंपती रहती है। कभी वह अपने मन की इच्छा पूरी नहीं कर पाती। वर्षों नौकरी करने के बाद भी उसके हाथ खाली थे। अंततः वह सारी उपेक्षाओं, यातनाओं का प्रतिकार करती है–'बस हो गया शाबासियों और नेक औरत का अंत। खत्म हो गई सीता और सावित्री। अब उनकी निगाहों में मैं एक नाजायज औरत थी जो तनख्वाह मिलते ही यारों के साथ गुलछर्रे उड़ाने निकल जाती है। जब भी पति मिलते ऐसे सवाल किए बिना न टलते मसलन रात की ड्यूटी किसके साथ... टूर और केस की तफ्तीश ने कौन से आशिकों की जमात...।'[11]

वैवाहिक संबंधों के ऐसे तनावों के संबंध में नासिरा शर्मा का यह कथन सच्चाई उजागर करता है–'आज वही विवाह सफल हो रहे हैं, जो आधुनिक जीवनशैली के साथ अपनी सोच को भी आधुनिक बना सके हैं, वरना तलाक, अलग रहना या फिर संबंधों में उदासीनता का आ जाना नजर आता है, क्योंकि उनके जीवन में कहीं परिवार का हस्तक्षेप है, तो कहीं हालात का, सो वह चौमुखी लड़ाई के बीच कोई एक युद्ध हार बैठते हैं।'[12]

ग्रामीण परिवेश में भी स्त्री की आत्मनिर्भरता पारिवारिक विघटन का कारण बनती है। मैत्रेयी ने अपनी माँ कस्तूरी के माध्यम से यह उद्घाटित किया है। 'कहीं ईसुरी फाग' की मीरा विवाह के पश्चात भी विरोधों को झेलकर अपनी शिक्षा जारी रखती है और अंततः आँगनवाड़ी में चयनित हो जाती है। फलस्वरूप उसका वैवाहिक जीवन प्रभावित होता है–'इसी तरह वह गैरसरकारी संस्था से जुड़ी। जुड़ने के लिए जाहिर है कि घर से, गाँव से और संबंधों से छूटना था। यह सबसे कठिन मौका था, क्योंकि पति प्रताड़ना देने के सारे रास्तों से गुजरकर आत्महत्या तक आ गए थे तब तुम घर में रहने लायक नहीं, पति इससे ज्यादा क्या कुछ कह सकते थे?'[13]

पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन के अनेक कारणों में बेरोजगारी एवं निर्धनता प्रमुख है। क्षेत्रीय एवं ग्रामीण बेरोजगारी के कारण शिक्षित युवा नगरों की ओर नौकरी हेतु पलायन करते हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था खेती आधारित है। 'खेती जुआ का-सा खेल है, कुदरती विपदाओं पर किसका जोर चला है? नौकरी वाला आदमी पेट भर खाता है। टाँगे पसारकर सोता है। पेशाब करने जाता है, उसका भी वेतन मिलता है। बूढ़ा हो जाता है, पेंशन फंड तैयार, मरने तक का सरकारी जिम्मा।'[14] यही सोच युवाओं को शहर लेकर आती है। अशिक्षित व कम-पढ़े लिखे युवा भी रोजगार के लिए शहरों का रुख करते हैं। विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार 1990 ई॰ में 74.5% आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती थी जबकि वर्ष 2021 में 64.61% आबादी ही ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। निर्धनता भी पारिवारिक व सामाजिक विघटन के कारकों में महत्त्वपूर्ण है। मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों में ऐसी अनेक समस्याओं का चित्रण किया है। 'इदन्नमम' उपन्यास में ऐसी अनेक स्थितियाँ हैं–'बिन्नू पेट पापी होता है। हम तो यहाँ तक समझ गए हैं कि पेट की होरी बुझाने को आदमी अपना माँस तक खा जाता है। नहीं तो क्या बन्ने मास्साब की बिटियाँ, चीफ साहब की भतीजी धंधा कर लेतीं?'[15]

जाति आधारित भारतीय समाज में अनेक जातियाँ निर्धनता का जीवन व्यतीत करती हैं। अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ये जातियाँ अपराधों का सहारा लेती हैं। हमारे देश में लगभग 200 जातियाँ है जिन्हें अँग्रेजों ने अपराधी जनजातियाँ घोषित किया था। आज लगभग 7 करोड़ की आबादी वाली ये जातियाँ 1952 ई॰ में विमुक्त होने के पश्चात भी जीवन के मूलभूत अधिकारों से वंचित हैं। फलस्वरूप दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज विरोधी कृत्यों को अंजाम देती हैं। मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में कबूतरा जनजाति को ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। जमीन जायदाद से वंचित कबूतरा जनजाति खानाबदोश जीवन जीती है, ये लोग निरंतर अपना आवास बदलते रहते हैं। अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए कबूतरा पुरुष चोरी और सेंधमारी का कार्य करते हैं। कबूतरा पुरुषों के बारे में कहा जाता है कि कबूतरा या तो जंगल में रहता है या जेल में। जेल में रहने पर पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति हेतु कबूतरा स्त्रियाँ शराब बनाने व वेश्यावृत्ति का कार्य करती हैं। इनकी आर्थिक मजबूरियों का फायदा उठाकर संपन्न प्रभुवर्ग अपने स्वार्थवश इनसे अपराध कराते हैं। जंगालिया मंसाराम से कहता है–'मालिक जो चतुराई हम अपनी जिंदगी बचाने के लिए अमल में लाते हैं, आप लोगों में वे ही चालें अपने सगे-संबंधियों को खत्म करने के लिए इस्तेमाल होती हैं। वे फिर भी जेल नहीं जाते।'[16]

कबूतरा जनजाति की आर्थिक अभावजनित अपराधवृत्ति भी सामाजिक विघटन का महत्त्वपूर्ण कारण है। पारिवारिक विघटन के उपर्युक्त वर्णित सभी कारक जब वृहद पैमाने पर घटित होने लगते हैं, तो परिवार के साथ-साथ सामाजिक विघटन में भी अपना योगदान देते हैं। मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन के कारकों एवं दुष्प्रभावों का बारीक, मार्मिक एवं यथार्थवादी चित्रण किया है।

संदर्भ

1. हंस, जनवरी 1987, पृ॰ 89
2. मेकाइवर एवं पेज, समाज एक प्रारंभिक विश्लेषण, पृ॰ 238
3. बर्गेस एवं लॉक जीम, family from institution to companionship, P. 8
4. डॉ॰ मालती आदवानी, लेखिकाओं के नवें दशक की कहानियों में पारिवारिक संबंध, पृ॰ 24
5. श्री कृष्णदत्त भट्ट, सामाजिक विघटन और भारत, पृ॰ 355
6. मैत्रेयी पुष्पा, कहीं ईसुरी फाग, पृ॰ 58
7. मैत्रेयी पुष्पा, विजन, पृ॰ 116
8. मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ॰ 57
9. डॉ॰ प्रमिला कपूर, कामकाजी भारतीय नारी, पृ॰ 36
10. मैत्रेयी पुष्पा, खुली खिड़कियाँ, पृ॰ 71
11. मैत्रेयी पुष्पा, गुनाह बेगुनाह, पृ॰ 140
12. नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, पृ॰ 163
13. मैत्रेयी पुष्पा, कहीं ईसुरी फाग, पृ॰ 63
14. मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ॰ 271
15. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, पृ॰ 261
16. मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ॰17

Mob. 7860975956
kumarneeraj6760@gmail.com

अवध का किसान आंदोलन : दिशा और परिणाम

ओंकारदत्त चतुर्वेदी
शोधछात्र, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है। यह विडंबना ही है कि कृषि प्रधान देश होने के बावजूद भी यहाँ यदि कोई सबसे उपेक्षित एवं दीनहीन है तो वह किसान ही है। आजादी के पहले की बात हो या आजादी के बाद की, किसानों की स्थिति सदैव दीन-हीन एवं उस वर्ग के रूप में है जो लोगों का पेट तो भरता है लेकिन स्वयं भूखे पेट सोता है। आखिर भारत के किसानों की ऐसी स्थिति क्यों है? क्यों उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं आता है, क्यों किसान आज भी आत्महत्या करने एवं अभाव में जीवन जीने को मजबूर हैं। आजादी के बाद खुशहाली एवं रामराज्य का सपना यदि किसी ने सबसे अधिक देखा था तो वह वर्ग किसान ही था। लेकिन आजादी के बाद उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं आया तथा सपनों पर पानी फिर गया।

आए दिन समाचारपत्रों एवं समाचारों में सुनने को मिलता है कि सरकार किसानों के साथ खड़ी है तथा उनके विकास के लिए प्रयास कर रही है, किसानों के हित में तरह-तरह के कानून ला रही है, योजनाएँ चला रही है। लेकिन समस्या यह है कि इतने प्रयासों के बाद भी किसानों की स्थिति में सुधार क्यों नहीं हो रहा है। यदि पीछे देखा जाए तो पता चलता है कि किसानों की तत्कालीन दयनीय दशा के लिए जमींदार ताल्लुकेदार प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थे, तो क्या आज भी समाज में ताल्लुकेदार एवं जमींदार अपना रूप बदलकर उपस्थित हैं जिससे किसानों का विकास नहीं हो पा रहा है। आखिर क्यों भारत के कर्णधार ये किसान शुरू से लेकर आज तक उपेक्षित हैं? इन पर ध्यान क्यों नहीं दिया गया।

किसानों की स्थिति में सुधार के लिए अनेक आंदोलन भी हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। अभी हाल ही में दिल्ली का किसान आंदोलन इसका ज्वलंत उदाहरण है। किसान आंदोलनों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी 'अवध का किसान आंदोलन' रहा है। अवध के किसान आंदोलन की चर्चा अनेक लेखकों द्वारा की गई है जिनमें एक महत्त्वपूर्ण नाम हैं–कमलाकांत त्रिपाठी। किसानों की समस्या एवं अवध के किसान आंदोलन का वर्णन आपके उपन्यासों का मुख्य बिंदु है। अवध के किसान आंदोलन की दिशा को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम किसान को जानना होगा। किसान कौन हैं? क्या जिनके पास अपना खेत है, या जो खेत में काम करते हैं या जिनके पास अपना खेत नहीं है लेकिन दूसरों के खेत में काम करते हैं। 'किसान' शब्द मूल रूप से प्राकृत भाषा का शब्द है। 'किसान का अर्थ है–कृषि या खेती करने वाला, खेतिहर। गाँव में नाई, बारी आदि जिनके घर कमाते हैं उन्हें किसान कहते हैं।'[1] वामन शिवराम आप्टे कृषक शब्द का अर्थ हलवाहा बताते हैं।[2] इस प्रकार जो भी व्यक्ति कृषि कार्य करके अपना जीवनयापन करता है वह किसान है। चाहे उसके पास अपनी खेती हो या न हो। जिनका कर्म कृषि है वह सभी किसान हैं। किसान शब्द स्पष्ट होने

 ISSN 0975-735X

के बाद हम आते हैं इनके द्वारा किए गए विद्रोहों पर जिनमें सबसे प्रभावी विद्रोह रहा है–अवध का किसान आंदोलन। अवध के किसानों के संघर्ष एवं अपनी मुक्ति के लिए किए गए प्रयासों, प्रतिकारों को विद्रोह कहा जाए या आंदोलन इस पर लेखकों के अपने-अपने विचार हैं लेकिन वीर भारत तलवार का मत हमें सबसे उपयुक्त लगता है। जो यह बताते हैं कि अवध का किसान विद्रोह, किसान विद्रोह नहीं अपितु किसान आंदोलन है। उनके अनुसार–'संघर्ष और आंदोलन एक ही चीज नहीं हैं। संघर्ष रोजमर्रा की जिंदगी का अभिन्न हिस्सा है। वर्गों में बँटे और शोषण पर टिके समाज में व्यक्ति हर रोज अनगिनत रूपों में संघर्ष करते हैं जो उनके वर्ग संघर्ष का हिस्सा है। लेकिन, इन सबको आंदोलन नहीं कहा जा सकता।

आंदोलन में भी संघर्ष होता है, लेकिन हर संघर्ष आंदोलन नहीं होता। आंदोलन चाहे वह संगठित हो या स्वत: स्फूर्त, संघर्ष के विकास की एक अवस्था है जहाँ संघर्ष का स्वरूप आम हो जाता है, संघर्ष व्यक्तिगत नहीं रह जाता सामूहिक हो जाता है।'[3] यह बात अवध के किसान विद्रोह पर पूर्णत: लागू होती है। अवध का किसान विद्रोह व्यक्तिगत न होकर सामाहिक है। जमींदारों ताल्लुकेदारों से सभी किसान परेशान थे, सभी उनसे मुक्ति चाहते थे। अवध के किसानों की दशा बहुत ही दयनीय थी, उन्हें अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे। घोड़ावन, मोटरावन, नजराना इत्यादि अनेक प्रकार के फालतू कर बेगारी इत्यादि से अवध के किसान त्रस्त हो गए थे। लगान से अधिक रकम की वसूली किसानों से की जाती थी ताल्लुकेदारों एवं जमींदारों द्वारा।

कर्ज लेकर अवध के किसान कर चुकाते और फिर पूरे जीवन उस कर्ज को भरते रहते। अवध के किसानों की सबसे बड़ी समस्या थी 'बेदखली' की। किसानों को अपनी जमीन से ही बेदखल कर दिया जाता था जो अवध के किसानों के लिए किसी आत्महत्या से कम न था। प्रतापगढ़ जिले के किसानों की दशा को देखकर आगरा जिले के किसान अपनी बेटी का विवाह प्रतापगढ़ में नहीं करना चाहते थे।[4] ताल्लुकेदारों एवं जमीदारों द्वारा किसानों का इस प्रकार शोषण ही अवध के किसान विद्रोह का मुख्य कारण था जिसमें बेदखली सर्वोपरि थी। इस शोषण के खिलाफ अवध के किसान बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में एक होकर संघर्ष किए जिसका अपना एक लक्ष्य उद्देश्य था, यह संघर्ष व्यक्तिगत न होकर सामूहिक था। जो इस संघर्ष को आंदोलन का रूप देती है। अवध का किसान विद्रोह देश के दूसरे किसान विद्रोह से एकदम अलग था क्योंकि इस किसान विद्रोह का नेतृत्व करने वाली निम्न जातियों के तेवर क्रांतिकारी थे। इनमें पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी शामिल थीं। उनका गुस्सा ब्रिटिश सरकार के प्रति कम लेकिन ताल्लुकेदारों एवं जमींदारों के प्रति ज्यादा था, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष रूप से शोषण जमींदार एवं ताल्लुकेदार करते थे तथा परोक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार।[5] अवध के किसान आंदोलन की विशेषताओं द्वारा इसकी दिशा को हम सही से समझ सकते हैं। तुलसी के 'रामचरितमानस' के दोहे-चौपाइयों के सहारे किसानों में वर्ग चेतना और संघर्ष की भावना जगाना अवध के किसान आंदोलन की पहली विशेषता थी।[6] अवध किसान आंदोलन के प्रणेता बाबा रामचंद्र ने किसानों को एक करने, जागरूक करने, उनके अंदर संघर्ष की भावना को जगाने के लिए रामचरितमानस के दोहे-चौपाइयों का सहारा लिया। वह जहाँ भी जाते किसानों को एकत्रित करके रामचरितमानस की चौपाइयाँ सुनाकर उन्हें संघर्ष के लिए प्रेरित करते, अपने हक के लिए जागरूक करते तथा वह सभी से अभिवादन के तौर पर 'सीताराम' शब्द का प्रयोग करते।[7] सीताराम शब्द अभिवादन के रूप में चलाकर ऊँच-नीच जातियों में बँटे धनी-गरीब किसानों के बीच समानता की भावना पैदा करना और आगे

चलकर इस शब्द को किसान आंदोलन के एक चमत्कार पूर्ण मंत्र और युद्ध-नाद में बदल देना, अवध के किसान आंदोलन की दूसरी विशेषता थी।[8] बाबा रामचंद्र जानते थे इन भोली-भाली अनपढ़ ग्रामीण जनता को धर्म का सहारा लेकर ही एकता के सूत्र में बाँधा जा सकता है तथा इन्हें अपने हक के प्रति जागरूक किया जा सकता है। इसलिए वे रामचरितमानस के दोहों और चौपाइयों का सहारा लेकर किसान आंदोलन की नींव को तैयार करते रहे। धीरे-धीरे झिंगुरी सिंह, सहदेव सिंह, बाबा रामचंद्र के साथ मिलकर किसान सभा करने लगे तथा अनेक किसान सभाओं की स्थापना होने लगी। किसान सभाओं की स्थापना तथा उसकी सदस्यता लेते समय प्रतिज्ञा करना इस आंदोलन की तीसरी विशेषता थी।[9] किसानों की बड़ी-बड़ी सभाओं का होना चौथी विशेषता थी। जब संघर्ष फूट पड़ा तो बाजार में गल्ले और कपड़े के व्यापारियों की दुकानों पर हमला करना जमींदारों और ताल्लुकदारों की हवेलियों को घेर लेना उन्हें सुधरने की चेतावनी देना, उनकी फसलों को बर्बाद कर देना और उनके अनाज के भंडारों को लूट लेना, बेगार बंद कर देना, नाई धोबी बंद कर शोषकों का सामाजिक बहिष्कार करना, अपनी सभाओं में जाने और लौटने के लिए हजारों की संख्या में बिना टिकट रेल में सफर करना, गिरफ्तार नेताओं को छुड़ाने के लिए हजारों की संख्या में पुलिस या जेल को घेर लेना और जहाँ भी मुमकिन हो, ताल्लुकेदारों और ब्रिटिश राज के प्रभुत्व के खात्मे का ऐलान कर समानांतर सरकार खड़ी करना, अवध के विशाल किसान आंदोलन की खास निशानियाँ बन गई थीं।

अवध के किसान आंदोलन के दो सबसे बड़े नेता थे–बाबा रामचंद्र और मदारी पासी। बाबा रामचंद्र महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, फिजी में मजदूरी करके अवध में लौटकर आए थे। उन्होंने रामचरित मानस का इस्तेमाल कर किसानों को संगठित किया और ताल्लुकेदारों के खिलाफ उनके संघर्ष का नेतृत्व किया। उनमें संगठन की विलक्षण शक्ति थी। आंदोलन के बिखर जाने के बाद भी वे किसानों के नेता बने रहे और उनका झुकाव कम्युनिस्टों की ओर गया। मदारी पासी समाज के निचले तबके से उभरकर आए लड़ाकू नेता थे, जिन्होंने फरार रहते हुए आंदोलन का नेतृत्व किया और आंदोलन के खत्म हो जाने के बाद भगत सिंह और आजाद की हिंदुस्तान रिपब्लिकन आर्मी के सदस्य बन गए।

1921 से 1922 में अवध का किसान आंदोलन अपने चरम पर था। अवध के किसान ताल्लुकेदारों तथा जमींदारों के खिलाफ एक हो गए हो गए थे तथा पूरे जी जान से बेदखली का विरोध करने लगे थे। बढ़ते विरोध एवं किसानों की एकता को देखते हुए बेदखली के कानून में थोड़ा संशोधन किया गया। पहले कोई भी कास्तकार सात साल से ज्यादा समय के लिए पट्टा पाने का अधिकारी नहीं था। उस मियाद के बाद उसे अपने जमीन से बेदखल कर दिया जाता था लेकिन जबरदस्त विरोध के बाद कानून संशोधन किया गया तथा अब आजीवन पट्टा का प्रावधान स्वीकृत कर लिया गया। ऐसा नहीं है कि इस संशोधन के बाद किसानों को बेदखली एवं शोषण से मुक्ति मिल गई बल्कि जमींदारों ने शोषण के और नए-नए रास्तों को खोज लिया तथा पहले से भी ज्यादा शोषण करना शुरू कर दिए। आखिर अवध का किसान आंदोलन जो इतने व्यापक स्तर पर था फिर भी अपने लक्ष्य को क्यों नहीं पा सका? क्यों वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहा? यदि इनके कारणों को देखा जाए तो उनमें काँग्रेस की मुख्य भूमिका नजर आएगी, जो मीठे जहर की भाँति इस किसान आंदोलन की धार को कुंद करती रही और अंत में इस पर हावी होकर इसके असफल होने में प्रमुख भूमिका का निर्वहन की। गाँधी तथा काँग्रेस किसान आंदोलन के पक्ष में नहीं थे, वे स्वराज्य के आंदोलन के पक्ष में थे। गाँधी चाहते थे कि किसान जमींदार, ताल्लुकेदार का

विरोध न करें बल्कि उनसे मिलने वाले कष्ट को सहे तथा काँग्रेस के कार्यक्रमों में भाग लें। काँग्रेस कभी भी किसानों के हित की चिंता नहीं करती थी, वह केवल ऊपरी दिखावा करती थी। किसानों के सवाल पर गाँधी जमींदार-ताल्लुकेदार वर्ग को नाराज करना नहीं चाहते थे। गाँधी के नेतृत्व और कार्यक्रम के बाहर अवध में किसानों ने अपने बूते पर ताल्लुकेदारों के विरुद्ध संघर्ष चलाया तो गाँधी ने इसकी भर्त्सना की। गाँधी चाहते थे कि किसान स्वयं कुछ कष्ट सह लें और भारतीय जमींदारों के खिलाफ संघर्ष न करें। किसान-जमींदार संघर्ष होने से, गाँधी के विचार से, स्वराज्य का आंदोलन कमजोर होगा। कैसे कमजोर होगा, यह उन्होंने साफ ढंग से कभी नहीं बतलाया। गाँधी चाहते थे कि किसान सिर्फ काँग्रेस के कार्यक्रमों में हिस्सा लें। इन कार्यक्रमों में किसानों के लिए चर्खा कातने, स्वदेशी पहनने, स्वास्थ्य और सफाई का ध्यान रखने, नशाबंदी करने तथा काँग्रेस की सभाओं में जाने का कार्यक्रम था। जमींदारी प्रथा से किसानों पर होने वाले शोषण के खिलाफ कोई कार्यक्रम न था।

यही हाल काँग्रेस की भी थी, वह कभी भी किसान आंदोलन को स्वतंत्र नहीं देखना चाहती थी। वह चाहती थी कि किसान काँग्रेस से जुड़ जाए तथा स्वराज्य आंदोलन का साथ दें। स्वराज्य मिलते ही किसानों की सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी। किसान आंदोलन के बढ़ते प्रभाव को देखकर काँग्रेस को यह महसूस हो गया कि हमें इस आंदोलन को अपने प्रभाव में करना चाहिए नहीं तो हमारा स्वराज्य आंदोलन कमजोर हो जाएगा। हम अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए काँग्रेस के बड़े-बड़े नेता अवध के किसानों के संपर्क में आने शुरू कर दिए। वे किसान आंदोलन के प्रति झूठी सहानुभूति दिखाकर उसे काँग्रेस के प्रभाव में लाने का प्रयास करने लगे। तमाम शहरी काँग्रेसी नेता किसानों से अपने संबंध मजबूत करने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए संभ्रांत शहरी काँग्रेसियों द्वारा किसान आंदोलन की उपयोगिता समझ में आने लगी थी। पहली बार उन्हें लगा कि अब शहरों से गाँव की ओर रुख करने तथा राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों को दीवार बनाने की जरूरत है।

काँग्रेस किसान आंदोलन की गति को मंद करने के लिए योजनाएँ बनाना शुरू कर दीं। किसान सभा के समानांतर ही संयुक्त प्रांत किसान सभा का गठन किया गया तथा यह भ्रम फैलाया गया कि इस सभा का उद्देश्य केवल किसानों की भालाई के विषय में सोचना एवं उनके हित के लिए योजना बनाना है। जब कि ऐसा कुछ नहीं था यह केवल किसानों को गुमराह करने की चाल थी। काँग्रेस एवं इसके दिग्गज नेताओं को किसान आंदोलन के प्रमुख नेता बाबा रामचंद्र आँखों में गड़ने लगे थे। वे इस बात को जान गए थे कि यदि किसानों के अगुआ बाबा रामचंद्र को प्रभावित किया जाए तो यह किसान आंदोलन भी प्रभावित हो जाएगा। पहले तो बाबा रामचंद्र को लगा कि काँग्रेस के संपर्क में आने से किसान आंदोलन में और तेजी आएगी लेकिन जल्द ही उन्हें यह एहसास हो गया कि काँग्रेस किसान आंदोलन का विकास नहीं अपितु विनाश कर रही है। '1930 में निराश होकर बाबा रामचंद्र ने काँग्रेसियों को धोखेबाज कहा था।[10] बाबा रामचंद्र को गिरफ्तार करवाने में गाँधी एवं काँग्रेसियों का ही हाथ था। 10 फरवरी, मंगलवार को काशी विद्यापीठ का महात्मा गाँधी द्वारा उद्घाटन के बाद बाबा रामचंद्र गिरफ्तार कर लिए गए। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि गांधी की उपस्थिति में बाबा रामचंद्र की गिरफ्तारी हुई थी। बिना गाँधी की रजामंदी के ऐसा संभव न था कि सरकार बाबा के विरुद्ध कार्यवाही करती। बाबा रामचंद्र की गिरफ्तारी के बाद जिन किसानों ने आंदोलन किया, वे सब गिरफ्तार कर लिए गए। उसके बाद

धीरे-धीरे किसान आंदोलन को असहयोग आंदोलन में मिला लिया गया।

रामचंद्र को परिदृश्य से हटाकर और क्षेत्र के किसान नेताओं को गिरफ्तार कर असहयोग आंदोलनकारियों को स्वतंत्र छोड़ दिया गया ताकि वे किसानों के बीच अपना आधार स्थापित कर सकें। विश्वासी किसानों ने विश्वास कर लिया कि काँग्रेस उनकी समस्याओं को हल करने के लिए आगे आएगी लेकिन काँग्रेस के प्लेटफार्म से कहीं से भी किसान हितों की कोई आवाज नहीं सुनाई दी।

इस प्रकार प्रयागराज के शहरी नेताओं, काँग्रेस ने अपने लाभ के लिए भोले-भाले किसानों को गुमराह कर उन्हें स्वराज्य तथा असहयोग आंदोलन में मिलाकर उनके व्यक्तिगत किसान आंदोलन को प्रभावहीन कर दिया। बिना किसी नेता के अभाव में अवध के किसान आंदोलन निर्जीव हो गया। इस विद्रोह ने उन नेताओं की पोल खोल दी जो जुड़े तो किसान आंदोलन के साथ थे लेकिन उनके मन में काँग्रेस के प्रति प्रेम जमींदारों तथा ताल्लुकदारों का हित छिपा हुआ था। यह विद्रोह दिखाता है कि कैसे काँग्रेस के नेताओं ने किसान आंदोलन को अपने हाथ में लेकर कैसे उसे निर्जीव कर दिया। उनका उद्देश्य जमींदारों, ताल्लुकेदारों का हित करना तथा किसान आंदोलन को दबाना था।

संदर्भ

1. हिंदी शब्द सागर, द्वितीय भाग मूल, संपादक श्यामसुंदर दास बी॰ए॰, काशी नागरी प्रचारिणी सभा सं॰ 2023 विक्रम, पृ॰ 656
2. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1966, पृ॰ 299
3. वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आंदोलन प्रेमचंद, नार्दन बुक सेंटर, नई दिल्ली
4. फाइल नं॰ 753/1920, रेवेन्यू डिपार्टमेंट, उ॰प्र॰ शासकीय अभिलेखागार लखनऊ, पृ॰ 02
5. सुभाषचंद्र कुशवाहा, अवध का किसान विद्रोह 1920 से 1922 ई॰, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2018
6. यूजिंग दी रामचरित मानस ऐज एरेडिकल टेक्स्ट : बाबा रामचंद्र इन अवध 1920-50, 7-11 फरवरी 1983 को नेहरू लाइब्रेरी दिल्ली में, आयोजित सेमिनार में पढ़ा गया, कपिल कुमार का अप्रकाशित निबंध
7. किसान विद्रोह, काँग्रेस और अँग्रेजी राज, कपिल कुमार, मनोहर पब्लिकेशन दरियागंज, नई दिल्ली 1991
8. मेरी कहानी, जवाहरलाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1971, पृ॰ 85,
9. किसान विद्रोह, काँग्रेस और अँग्रेजीराज, कपिल कुमार, मनोहर पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली-1991
10. सुमित सरकार, वही, पृ॰ 192

Mr. Onkar Dutta Chaturvedi
Rudrapur Jalkal Road
Teachers colony,
Rudrapur Deoria, 274204 U.P.
Mob. 9454926320
onkarduttachaturvedi@yahoo.in

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों में विभाजन की त्रासदी और मानवीय संवेदना

निर्मला पटेल, शोधार्थी, हिंदी
शासकीय विश्वनाथ यादव तामस्कर स्नातकोत्तर
स्वशासी महाविद्यालय, दुर्ग (छ॰ग॰)
डॉ॰ वर्षा वर्मा, शोध निर्देशक, सहा॰ प्राध्यापक, हिंदी
साईं कॉलेज, सेक्टर-6 भिलाई, दुर्ग (छ॰ग॰)

भारत के इतिहास में विभाजन एक विध्वंसकारी समस्या के रूप में घटित हुआ, जहाँ 15 अगस्त 1947 की प्रात: बेला समस्त राष्ट्रवासियों के लिए स्वाधीनता के स्वर्णिम किरणों के साथ उदित हुआ वहीं हिंदुस्तान का एक अभिन्न अंग उससे विमुक्त हो रहा था। भारत सैकड़ों वर्षों की पराधीनता से मुक्त होकर नए भविष्य के स्वप्न सजाए उससे पूर्व ही विभाजन का दंश उसके लिए असहनीय हो गया था। विभाजन सिर्फ जमीनी स्तर पर खींची गई लकीर न थी वरन हजारों सालों की साझी संस्कृति को अलग करना अत्यंत करुण व्यथा थी। अपने पूर्वजों की धरती से अलग होना, परिजनों को छोड़कर अन्यत्र निवास करने की सोचना भी असंभव था। यह विभाजन राष्ट्रवासियों की वर्तमान के साथ भविष्य को उनकी संस्कृति, संबंधों, मानवीय संवेदना के लिए असहनीय घातक थी। विभाजन का दौर भारतीय इतिहास में त्रासदी और बिखराव का था और इससे जानमाल की हानि के साथ मानवीय संबंधों का कारूणिक अंत हो जाएगा इसका आभास सभी राष्ट्र नेताओं को था इसलिए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस बँटवारा को रोकने के लिए भरसक प्रयास किया और यहाँ तक कहा कि 'यदि पाकिस्तान बनेगा तो मेरी लाश पर बनेगा।'[1] और अंतत: गांधीजी का प्रयास विफल रहा और इस राष्ट्र के विस्तृत भूभाग के साथ लोगों के अंतर्मन का भी विभाजन हो गया। पाकिस्तान निर्माण की माँग सन् 1933 से ही एक चिंगारी का रूप ले चुकी थी और यह चिंगारी आग के रूप में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन 1940 में आई। और यह आग जितनी जल्दी बढ़ी थी उतनी ही अधिक तीव्र गति से लोगों की आत्मा को झुलसाने लगी, जो कभी एक-दूसरे के अत्यंत घनिष्ठ मित्र, संबंधी और पड़ोसी थे उनके विचारों में मतभेद होने लगे, आपसी संबंधों में सांप्रदायिकता हावी होने लगी। इस विभाजन से मानवीय संवेदना लोगों के अंतर्मन से सूखने लगी थी और पूरा देश आग की लपटों में नजर आने लगी, कई परिवार इसमें समाप्त हो गए। माता-पिता से बच्चे बिछड़ गए, लोगों को अपना स्थापित व्यवसाय त्याग अपनी जमीन छोड़नी पड़ी, शरणार्थी के रूप में यहाँ से वहाँ अन्यत्र भटकना पड़ा, स्त्रियों के साथ दुष्कर्म किए गए और भुखमरी की समस्या ने भीषण रूप ले ली। सैकड़ों वर्षों की गुलामी का दर्द और हजारों देशभक्तों के बलिदान स्वरूप पराधीनता से मुक्ति तो मिली लेकिन विभाजन के रूप में भारी मूल्य चुकानी पड़ी। जब जमीन पर सीमा रेखा खींची गई तब सभी लोगों के मन पर भी सीमारेखा खींच गई, जिन लोगों के साथ वह विभाजनपूर्व निवास करता था, अपने सुख-दुख बाँटता था, अन्य धर्म का होने के बावजूद

भाईचारा का संबंध रखता था वो सब खत्म हो गया और भाईचारा के स्थान पर सांप्रदायिकता, धर्मांधता और घृणित मानसिकता ने ले लिया।

विभाजन देश के लिए एक ऐसा जख्म था जिसने पूरे देशवासियों को प्रभावित किया फिर हमारा साहित्य इससे अछूता कैसे रहता। हमारे अनेक साहित्यकारों ने प्रत्यक्ष रूप से विभाजन का दंश झेला था जिसका प्रभाव उनकी लेखनी में देखने को मिलता है जिनमें कृष्णा सोबती प्रमुख हैं। अविभाजित हिंदुस्तान के पंजाब में जन्म लेने वाली कृष्णा सोबती की रचनाओं में पंजाब की स्थानीय लोक संस्कृति की झलक नजर आती है। साथ-ही-साथ स्थानीय परिवेश की समस्याएँ, राष्ट्र विभाजन से संबंधित मुद्दों को सोबती जी ने अपनी रचनाओं में बखूबी दर्शाया है। विभाजन की विभीषिका पर सोबती जी की प्रसिद्ध कहानी 'सिक्का बदल गया' है। इस कहानी में साहनी (वर्तमान पाकिस्तान निवासी) को वृद्धावस्था में एकाकी जीवन और विभाजन के दुखद परिणामस्वरूप अपनी जमीन छोड़कर शरणार्थी शिविर में जाना पड़ता है; वर्षों के संबंध एक क्षण में अस्तित्वहीन हो जाते हैं। विभाजन के परिणामस्वरूप जो लोग वर्तमान में साहनी की हवेली, संपत्ति, सोने-चाँदी को लूटने और उसकी हत्या की योजना बनाते हैं उनको साहनी ने कभी अपनी संतान के रूप में पाला था वे आज तिरस्कृत व्यवहार कर रहे हैं। शेरा बचपन में मातृहीन होने के पश्चात हवेली में ही रहकर साहनी के ममत्व के साथ बड़ा हुआ था और आज वही इंसान साहनी की हत्या की योजना बनाता है।

शेरा का मन विभाजन से पूरी तरह परिवर्तित हो गया। जिस शाहजी और साहनी के प्रति उसके मन में आक्रोश है वह शाहजी के जीवित रहते तक सब ठीक था और आज उसने विभाजन की आड़ में हत्या व लूट का विचार कर लिया। उसके मन में अंतर्द्वंद्व चलता रहता है कि वह साहनी को साजिश के बारे में बता देगा पर बोल नहीं पाता और मन में सोचता है–

'आखिर साहनी ने क्या बिगाड़ा है हमारा? शाहजी की बात शाहजी के साथ गई वह साहनी को जरूर बचाएगा। लेकिन कल रात वाला मशवरा। वह कैसे मान गया था फिरोज की बात सब कुछ ठीक हो जाएगा सामान बाँट लिया जाएगा।'[2]

शेरा के मन में द्वंद्व चलता रहता है कि कैसे शाहजी ने उसके परिजनों और संबंधियों से सूद लेकर यह हवेली के खजाने को सोने-चाँदी में भर लिया है और आज वह साहनी की हत्या कर अपनों की संपत्ति को वापस लेगा। बँटवारे से मानवीय संवेदना लोगों के मन से सूख रही थी पर अभी भी साहनी जैसे लोग संवेदन शून्य नहीं हुए थे उसके मन में किसी के लिए बैर भाव नहीं था उसकी हत्या और लूटपाट की साजिश का आभास साहनी को पहले ही हो चुका था, पर उसका ममत्व शेरा के प्रति खत्म नहीं हुआ था, शरणार्थी शिविर में लेकर जाने के लिए ट्रक में बैठते हुए भी जब गाँव वाले उसे कुछ आशीष देने के लिए कहते हैं तब साहनी कहती है–'रब तुहानू सलामत रक्खे बच्चा खुशियाँ बक्खे।'[3]

विस्थापन का दर्द, अपनी जमीन की पचास सालों की याद, स्वयं का निवास स्थान छूट जाना, मानवीयता की हत्या, कभी न भरने वाले जख्म फिर भी साहनी के मन में किसी के लिए भी रोष की भावना न थी।

देश के बँटवारे में अल्पसंख्यक वर्ग का बहुसंख्यक वर्ग क्षेत्र से विस्थापन बहुत भयानक तौर से हुआ था लोग अपने घर-परिवार और परिजनों को छोड़-छोड़कर विस्थापन करने और शरणार्थी शिविरों में आसरा लेने लगे। सांप्रदायिकता लोगों में इस तरह हावी हो गई थी कि

पड़ोसी-पड़ोसी में द्वेष और घृणा की भावना जोर पकड़ रही थी और लोग मानवता को भूलकर हत्या तक करने लग गए थे। इस समस्या को अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता' में बखूबी चित्रित किया गया है।

देविंदरलाल और रफीकुद्दीन लाहौर में दो भिन्न धर्म के होने के साथ ही साथ पड़ोसी भी थे। दोनों में मित्रता बहुत अच्छी थी। विभाजन के पश्चात लाहौर में हिंदू अल्पसंख्यक समुदाय में आने लगा और पूरे शहर में आगजनी, दंगा फसाद होने लगे खासतौर पर हिंदू समाज मुस्लिम बहुल इलाकों से पलायन करने लगे। देविंदरलाल के पड़ोसी रफीकुद्दीन उदार प्रकृति के मुस्लिम थे उन्होंने देविंदरलाल को शहर छोड़ने नहीं दिया उनका विश्वास था कि वो देविंदरलाल को सुरक्षित रख लेंगे परंतु अन्य मुस्लिम लोग पहले देविंदरलाल के घर को आग के हवाले किए फिर रफीकुद्दीन के ऊपर दवाब बनाने लगे कि एक अल्पसंख्यक समुदाय (हिंदू) को अपने घर में शरण न दे। और अंतत: रफीकुद्दीन को उनकी बात माननी पड़ती है और वह देविंदरलाल को अपनी पहचान के पुलिस विभाग में कार्यरत एक मुस्लिम के यहाँ शरणदाता के रूप में भेज देते हैं। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का विचार भिन्न होता है वैसे ही अताउल्लाह का विचार रफीकुद्दीन से बहुत भिन्न होता है और एक दिन खाने में विष देते हैं पर यहाँ अताउल्लाह की पुत्री जैबुन्निसा में मानवीय संवेदना अभी खत्म नहीं हुई थी वह खाने के साथ एक पुड़िया भेज देती है जिसमें लिखा होता है–'खाना कुत्ते को खिलाकर खाईएगा।'[4]

एक वाक्य जिससे मानवता शर्मसार होते-होते बच गई और एक शरणदाता द्वारा शरणार्थी को विष देने का घृणित कार्य असफल हो जाता है और देविंदरलाल अताउल्लाह के घर को छोड़कर शरणार्थी शिविर में शरण लेते हैं।

विभाजन से लोगों के मन में उत्पन्न सांप्रदायिकता मानवीयता को अंतिम पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है कि वह किसी भी धर्म या संप्रदाय से संबंधित होने से पहले एक मनुष्य है और मानवता उसका प्रथम धर्म है। वह धर्मांधता में इतना अंध हो जाता है कि अपने धर्म के अलावा उसे कुछ नहीं सूझता। प्रेम सौहार्द और सद्भाव का कोई स्थान न रहा। जब शरणदाता ही शरणार्थी के लिए यमराज बन जाए तो अन्य लोगों से क्या उम्मीद की जा सकती है। विश्वासघात, आपसी वैमनस्यता, दुर्भावना ने लोगों के आपसी तालमेल और सद्भावना की नींव ही हिला डाली। इन सब में अताउल्लाह की बेटी जैबुन्निसा ने धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर इंसानियत को शर्मसार होने से बचाया और अपने पिता की साजिश को सफल होने नहीं दिया। देविंदरलाल को डेढ़ महीने बाद दिल्ली के रेडियो स्टेशन में जैबुन्निसा का पत्र मिला उसमें लिखा था।

'आप बचकर चले गए इसके लिए खुदा का लाख लाख शुक्र है। मैं मनाती हूँ कि रेडियो पर जिनके नाम आपने अपील की है, वे सब सलामती से आपके पास पहुँच जाएँ। अब्बा ने जो किया या करना चाहा उसके लिए मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती मेरा कोई अहसान आप पर नहीं है सिर्फ इल्तजा करती हूँ कि आपके मुल्क में अकलियत का कोई मजलूम हो तो याद कर लीजिएगा। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है इसलिए की आप इंसान हैं। खुदा हाफिज।'[5]

जैबुन्निसा अपने पिता के मनसूबे पर पानी फेर देती है और देविंदरलाल की जीवन रक्षा करते हुए मानवता की भी रक्षा करती है।

देश के बँटवारे ने लोगों के मन में एक-दूसरे धर्म के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर दिया था

और इंसान भूल गया कि कभी उन्हीं लोगों के साथ आपसी प्रेम और सहयोग से भाईचारा के साथ एक ही राष्ट्र में वह निवास करता था और विभाजन के फलस्वरूप मनमुटाव, द्वेष भावना ने रिश्तों में खाई का निर्माण कर दिया जो हिंदुस्तान के लिए विध्वंसक साबित हुआ, भीष्म साहनी की 'अमृतसर आ गया' कहानी में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

देश के विभाजन ने सांप्रदायिकता का घिनौना रूप ट्रेन के डिब्बे को भी रिक्त नहीं छोड़ा था। भीष्म साहनी ने 'अमृतसर आ गया' कहानी में इंसानों की मनोभावना का बारीकी से वर्णन किया है, यह कहानी छोटी सी है पर 1947 के स्वतंत्रता दिवस के एक दिन पूर्व की घटना से तत्कालीन देश की परिस्थितियाँ सांप्रदायिकता की आग में झुलस रही मानवता और संवेदनाहीन लोगों की दशा का बहुत ही कारूणिक चित्रांकन किया है। कहानी में साहनी जी ने रेल के एक डिब्बे में बैठे लोगों का स्थान परिवर्तन के साथ बदलती मानसिकता को दिखाया है, जब रेलगाड़ी पाकिस्तान के वजीराबाद से निकलती है तब उस डिब्बे का माहौल शांत और हँसी मजाक वाला होता है। जैसे-जैसे रेल आगे बढ़ती है आसपास के शहरों और गाँवों में दंगे आगजनी लोगों का अपनी जान बचाकर भागना दिखाई देता है। रेल के बाहर की परिस्थितियाँ यात्रियों को भी प्रभावित करती हैं। मुस्लिम बहुल इलाकों से जब रेल गुजरती है तब मुसलमान स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हैं और वहीं जब रेल भारत की सीमा रेखा के अंदर आती है तब हिंदू स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हैं।

देश के विभिन्न शहरों कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों में सांप्रदायिक तनाव भयानक रूप धारण करती है और दंगे होने लगते हैं तब वहाँ के अल्पसंख्यक लोग अपनी जान बचाने के लिए रेलगाड़ी में चढ़ने की कोशिश करते हैं पर रेल में पहले से मौजूद मुसाफिर असुरक्षा की भावना से उनको चढ़ने से मना करते हैं और एक पठान के लात से एक हिंदू महिला के कलेजे को चोट लग जाती है। इस बात से रेल में उपस्थित हिंदू और मुस्लिम यात्रियों के बीच लड़ाई की शुरुआत हो जाती है। जब रेलगाड़ी हिंदू बहुल इलाके में प्रवेश करती है तब एक ऐसा ही वाकया फिर होता है और इस बार एक मुस्लिम अपनी पत्नी के साथ रेल में शरण लेने की कोशिश करता है तब लोग फिर मना करते हैं पर वह चढ़ जाता है पर वहाँ उपस्थित हिंदू इंसान (बाबू) उसके सिर पर छड़ी से वार कर देता है और वह कटे हुए पेड़ की तरह धराशायी हो जाता है। रेलगाड़ी जब भी बहुसंख्यक क्षेत्र से गुजरती है वह वर्ग स्वयं को सुरक्षित और शक्तिशाली मानकर अल्पसंख्यक वर्ग पर दबाव बनाने लगता है वहाँ मानवीय संवेदना इंसानियत के लिए कोई स्थान नहीं रहता और वह भूल जाता है कि एक संप्रदाय के होने से पहले वह एक इंसान है। जब पाकिस्तान वाले क्षेत्र में पति पत्नी अपनी जान बचाने के लिए रेलगाड़ी में चढ़ने की कोशिश करते हैं तब सारे यात्री संवेदनाहीन हो जाते हैं वह कहता है–

'बंद करो जी दरवाजा, बिना पूछे चढ़ आते हैं, अपने बाप का घर समझ रखा है, मत घुसने दो जी, क्या करते हो धकेल दो पीछे... और लोग भी चिल्ला रहे थे।'[6]

ऐसे ही परिस्थियाँ दूसरी बार में भी हुईं जब भारतीय क्षेत्र में एक मुस्लिम ने रेलगाड़ी में चढ़ने की कोशिश की। लोगों ने मना किया तो वह मिन्नतें करने लगा।

वह आदमी हाँफ रहा था–'खुदा के लिए दरवाजा खोलो। मेरे साथ में औरतजात है। गाड़ी निकल जाएगी।'[7]

अंततः बाबू रेलगाड़ी का दरवाजा खोल देता है और उसके ऊपर छड़ी से वार कर देता है।

भीष्म साहनी ने कहानी में किसी समुदाय का पक्ष नहीं लिया वरन् मनुष्यों के परिवर्तित विचारों को व्यक्त किया है कि कैसे विभाजन से उपजी दहशत में सभी धर्मों के लोगों को अपनी चपेट में ले लिया है।

भारत के इतिहास में विभाजन एक अभिशाप के रूप में घटित हुआ। जिसने वर्तमान ही नहीं भविष्य की पीढ़ी को भी प्रभावित किया। विभाजन का परिणाम सिर्फ जमीनी स्तर पर नहीं हुआ वरन् मानसिक स्तर पर भी हुआ लोग संवेदनाहीन हो गए, एक-दूसरे समुदाय को नुकसान पहुँचाने लगे, सांप्रदायिकता की आग ने आपसी संबंधों को जला दिया। लोग दूसरों की सहायता करना तो दूर इंसानियत से भी कोसों दूर आ गए थे। मानवीय संवेदना कुछ लोगों में खत्म हो गई थी और कहीं-कहीं शरणदाता कहानी की जैबुन्निसा जैसे लोगों में विद्यमान थी।

संदर्भ

1. http://dhankedeshme.blogchandrspot.com/2009/09/blog-post_22-html?m=1
2. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
3. वही
4. अज्ञेय, ये तेरे प्रतिरूप, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1961
5. वही, 1961
6. भीष्म साहनी, पहला पाठ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
7. वही
8. विपिनचंद्र और अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, 1990
9. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1997

श्रीराम केशर कुंज

नया दीपक नगर, दुर्ग (छ॰ग॰) 491001

मो॰ 8959194722

समकालीन सामाजिक व्यवस्था : चिंतन एवं चुनौतियाँ

(विशेष संदर्भ : गुरुजी की खेती-बारी)

पूजा शर्मा, पीएचडी शोधार्थी
डॉ॰ वंदना शर्मा, निर्देशक, सहा॰ आचार्य
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, साम्बा, जम्मू व कश्मीर

हिंदी साहित्य की गद्य-विधाओं में संस्मरण साहित्य का भी विशेष स्थान है। संस्मरण हिंदी गद्य की आधुनिकतम विधा है। जीवनीपरक साहित्य का यह अत्यंत ललित एवं लघु कलात्मक अंग है। जीवन अभिव्यक्ति का यह रूप स्मरण पर आधारित है। 'संस्मरण' शब्द की उत्पत्ति सम् +समृ+ल्युट से हुई है। जिसका अर्थ है–सम्यक स्मृति। संस्मरण से हमारा अभिप्राय है–सहज आत्मीयता से किसी व्यक्ति, घटना, स्थान, वस्तु आदि का स्मरण करना। संस्मरण लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ देखता तथा अनुभव करता है, उसे ही अपनी अनुभूतियों से राग रंजित कर प्रस्तुत कर देता है। संस्मरण मुख्यत: अतीत में घटित सच्ची घटनाओं का कलात्मक वर्णन है।

संस्मरण में विषय और विषयी दोनों रूपायित होते हैं। 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों तक साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में संस्मरण साहित्य का अभाव रहा। लेकिन समय के साथ-साथ अन्य विधाओं की तरह संस्मरण साहित्य ने न केवल विकास किया, बल्कि एक समर्थ-सक्षम विधा के रूप में साहित्य में अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाई है। समकालीन संस्मरण लेखक अपने साहित्य में श्रद्धा मूलक लेखन परिपाटी को तोड़, तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों का यथार्थपरक वर्णन प्रस्तुत कर रहा है। अत: हम कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य में हिंदी संस्मरण के योगदान को दरकिनार नहीं किया जा सकता है।

डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक व वरिष्ठ आलोचक के रूप में कीर्तिमान हैं। वे भाषा एवं साहित्य के गंभीर अनुसंधित्सु हैं। आलोचना के क्षेत्र में इन्होंने मध्यकालीन साहित्य से लेकर समकालीन साहित्य के प्रमुख विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। आलोचना के अतिरिक्त लेखक ने कविता, जीवनी, तथा संस्मरण आदि विधाओं में भी लिखा है। इनके प्रमुख संस्मरण संग्रह हैं–नंगातलाई का गाँव, गंगा स्नान करने चलोगे और गुरुजी की खेती बारी। लेखक ने इनमें क्रमश: ग्रामीण समाज, साहित्य के महान दिग्गजों तथा गुरु शिष्य के आपसी संबंधों से हमें परिचित करवाया है।

प्रस्तुत शोध आलेख 'गुरुजी की खेती बारी' (2015) संस्मरण संग्रह पर आधारित है। इस संग्रह में कुल सत्रह संस्मरण हैं जो मुख्यत: लेखक के शिक्षक जीवन से संबंधित हैं। इन संस्मरणों में लेखक ने अपने चालीस वर्षों के अध्यापकीय जीवन से जुड़े अविस्मृत अनुभवों को समेटने का प्रयास किया है। लेखक ने इन संस्मरणों में अपने विद्यार्थियों से जुड़े अनेक प्रसंगों को भी प्रस्तुत किया है तथा उन्हें हमेशा जीवन की दौड़ में संघर्षरत रहने के लिए प्रेरित किया है।

बकौल लेखक, 'मैं नवयुवक छात्र-छात्राओं को पढ़ाने का प्रारंभ मृत्युबोध से नहीं, जीवन संघर्ष के बोध से करना चाहता हूँ।'[1]

लेखक ने सबसे पहले 'शिष्यों से पहले गुरु वंदना' संस्मरण में अपने पहले गुरु रच्छा राम को स्मरण किया है। जो गाँव के एक शिवाला में मास्टर थे। मास्टरी उन्हें केवल और केवल जाति के आधार पर प्राप्त हुई थी। क्योंकि उस समय ग्रामीण समाज में ब्राह्मण को देवता के समान समझा जाता था। तत्पश्चात लेखक ने अपने शिक्षक जीवन से जुड़ी स्मृतियों को साझा किया है। लेखक को अध्यापकीय जीवन का पहला अनुभव घर से ही प्राप्त हो चुका था। उसके बाद तो जैसे सिलसिला ही शुरू हो गया। 1958 में नैनीताल में अस्थाई व्याख्याता के रूप में पहली नियुक्ति और फिर दिल्ली विश्वविद्यालय में बिताए अपने लंबे समय की अनेक घटनाओं को याद करते हुए वहाँ की सामाजिक व्यवस्था को भी चित्रित किया है। उनके जीवन में कई तरह के विद्यार्थी आए, लेकिन उन्होंने केवल उन्हीं छात्रों का वर्णन यहाँ किया है जिनका लेखक के साथ एक आत्मीय संबंध था। हिंदी के लगभग सभी विद्यार्थी प्राय: निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों से आते थे। इसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन समय में अँग्रेजी और संस्कृत पढ़ने का अधिकार केवल उच्चवर्ग के लोगों को था, 'भारतीय समाज में वर्ग, वर्ण और भाषा में बहुत संबंध है। निम्न-मध्यवर्ग की लड़कियाँ ही नहीं, लड़कों को भी हिंदी का विषय अनुकूल पड़ता था–संस्कृत की भी अपेक्षा दिल्ली में बहुत समय तक संस्कृत विषय की माध्यम भाषा अँग्रेजी थी।'[2]

'यह क्या परचंड मचा रखा है', 'अध्यापकों के भी 'गुरु' होते हैं छात्र', 'जब गुरुजी को ताव आया', 'वह छात्र शरारती भी था और शरीफ भी', 'सर आप हमारी चिंता न करें' संस्मरणों में लेखक ने अपने कुछ ऐसे विद्यार्थियों (हरीश खरे, वजीरचंद, सत्यदेव पांडे, कैलाश, चंद्रशेखर चंदोला, धवन आदि) का चित्रण किया है जिनसे लेखक अपने जीवन में कहीं-न-कहीं प्रभावित थे। इसमें से कुछ तो एकदम शरारती स्वभाव के थे और कुछ इतने सरल, सहज, स्वाभिमानी तथा समाजसेवा की भावना से ओत-प्रोत थे। ऐसे शिष्यों से लेखक ने बहुत कुछ ग्रहण किया। अत: यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल अध्यापक ही गुरु नहीं होते, कभी-कभी शिष्य भी जीवन की गहराइयों से हमें परिचित करवा जाते हैं।

'तुम तो प्रियप्रवास पढ़ा रहे हो जी' तथा 'किम ने दो घूँसे लगाए' संस्मरणों में रचनाकार ने अपने बेबाक विद्यार्थियों का वर्णन किया है। जो बिना डरे-सहमे (परिस्थितियाँ चाहे कुछ भी हो) अध्यापक के हाथ से पुस्तक छीननी हो या फिर घूँसे ही क्यों न लगाने हों, का सामर्थ्य रखते थे। और ऐसा तभी संभव है जब अध्यापक और शिष्य का संबंध केवल गुरु-शिष्य तक सीमित न रहकर, दोस्ती में परिणत हो चुका हो।

'उन छात्रों की याद आती है' तथा 'उस दीपक की रोशनी कभी बुझेगी नहीं' संस्मरण में लेखक ने श्रीप्रकाश और दीपक जैसे विद्यार्थियों, जिनकी आकस्मिक मृत्यु से लेखक को गहरा आघात पहुँचा था। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि अध्यापक माँ-बाप तो नहीं होते, लेकिन कुछ गुरु और शिष्यों का बहुत गहरा रिश्ता रहता है, जिन्हें वह कभी अपनी स्मृतियों से विस्मृत नहीं कर पाते।

उपर्युक्त संस्मरणों तथा इस संस्मरण संग्रह में संकलित अन्य संस्मरणों में रचनाकार ने शिक्षा के बढ़ते प्रचार-प्रसार के कारण सामाजिक व्यवस्था में हो रहे बदलावों का विवेचन-विश्लेषण किया है। 'वह छात्र जिसे दलित होने पर गर्व है' संस्मरण में (प्राचीन एवं वर्तमान संदर्भ में दलितों

की स्थिति का चित्रण), 'अपने विद्यार्थियों की दुनिया में' संस्मरण में (रोजगार की समस्या), 'जो जला वह सुगंधि बिखेरेगा' संस्मरण में (स्त्री-शिक्षा), 'दृष्टिहीन छात्रों की अंतर्दृष्टि' संस्मरण में (विकलांगों की स्थिति में सुधार), तथा 'मॉरिस नगर से मॉरिस नगर' संस्मरण में (बदलते नैतिक मूल्यों) का चित्रण किया गया है।

जैसा कि सर्वविदित है कि साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्यकार समाज में जो अनुभव करता है उसी अनुभव को वह साहित्य में वर्णित करता है। विवेच्य संस्मरण 'वह छात्र जिसे अपने दलित होने पर गर्व है' में लेखक ने अपने शिष्यों के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त दलित समस्या का चित्रण किया है। स्वतंत्र भारत में शहरों में पली-बढ़ी पीढ़ी के लिए भारत में दलित होने का अर्थ समझ पाना बहुत मुश्किल है, 'विशेषत: नगरों-महानगरों की पीढ़ी के लिए, यह समझ पाना मुश्किल है कि भारत में दलित होने का मतलब क्या होता था, वह भी शताब्दियों से शायद सहस्राब्दियों से।'[3] वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय बंधनों ने युगों-युगों से दलितों के भीतर हीन भावना को जन्म दिया है।

साहित्य के क्षेत्र में भी पहले दलित समुदाय का प्रवेश वर्जित माना जाता था। जाति-व्यवस्था की इस कट्टरता के चलते हमारे समाज का एक बहुत बड़ा तबका सदियों से अधिकार-विहीन है। वर्ण-व्यवस्था को मानने वाले जाति के आधार पर ही व्यक्ति की पहचान करते हैं। विवेच्य संस्मरण में लेखक अपने बचपन का किस्सा साझा करते हुए कहते हैं कि जब वे बचपन में गाँव से बलरामपुर पढ़ने जाते थे तो रास्ते में लोग उनसे सबसे पहले यही सवाल पूछते कौन सी जाति से हो? उस समय जाति ही मनुष्य की पहचान का सूचक थी। बकौल लेखक 'पूछता, 'कौन जात हो?' 'मैं कहता, 'बामन।' सुनते ही वह बोलता, 'पाय लागी बाबू' या पास आकर पैर छूता। कोई और किसी से कुछ पूछता, 'कौन जात हो?' वह अगर दलित बताता, तो लोग तिरस्कार से कहते, 'अच्छा।' कई जमींदार टाइप के लोग तिरस्कार सूचक वाक्य भी बोलते। गाली देते।'[4] 'दलित शब्द का प्रयोग प्राय: गाली के रूप में किया जाता। उस समय का ब्राह्मण अपने ब्राह्मण होने पर गर्व महसूस करता। आधुनिक समाज में भी ब्राह्मणवादी समाज अपने-आपको उच्च श्रेणी का समझता है लेकिन अब पहले की तुलना में दलित समुदाय के प्रति लोगों के व्यवहार में कुछ सुधार तो अवश्य हुआ है। इसका एक मुख्य कारण है–दलित वर्ग में शिक्षा का प्रचार-प्रसार। जिससे वह उनके साथ हो रही नाइंसाफी को समझ सका और आगे अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्षरत है।

अगर वर्तमान संदर्भ में दलित शोषण की बात की जाए तो स्थितियाँ पहले की तुलना में कुछ बेहतर हुई हैं। स्वतंत्रता पूर्व दलितों के बच्चे स्कूलों में बहुत कम संख्या में दिखलाई पड़ते थे। लेकिन स्वतंत्रता के बाद डॉ॰ भीमराव अंबेडकर के प्रयासों के परिणामस्वरूप हालात काफी बदल गए और दलित वर्ग भी शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने लगा। उनमें भी अपने बच्चों को पढ़ाने, आगे बढ़ाने का जज्बा देखने को मिलने लगा। दिल्ली विश्वविद्यालय में भी यह परिवर्तन 1970 के बाद महसूस हुआ जब सवर्ण छात्रों के साथ दलित छात्र भी विश्वविद्यालय के प्रांगण में दिखाई देने लगे।

इस संदर्भ में लेखक का कथन, 'आठवें दशक से दलित छात्र-छात्राओं की संख्या भी बढ़ने लगी। शुरू-शुरू में वे थोड़ा सहमें रहते। अपनी जाति संकोच से बताते, लेकिन धीरे-धीरे संकोच की जगह एक प्रकार के आत्मविश्वास और कहीं-कहीं तो आक्रामकता ने ले ली।'[5] इस कथन से यहाँ यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक समाज में दलितों की स्थिति पहले के संदर्भ में बेहतर हुई है।

जैसे-जैसे दलित समाज के लिए शिक्षा के पट खुलते गए, वैसे-वैसे वह विकास के पथ की और निरंतर आगे बढ़ते गए। शिक्षा ग्रहण करने से ही वह सदियों से हीन-भावना से ग्रसित मानसिकता से उभरता चला गया। अब वह अपनी जाति बताने में संकोच नहीं करते। लेखक ने अपने कुछ ऐसे विद्यार्थियों का उल्लेख किया है, जिन्हें अपने दलित होने पर गर्व है। 'चंद्रभान के रूप में मैंने पहले व्यक्ति देखा, जिसे दलित होने का स्वाभिमान था।'[6] वर्ण व्यवस्था को लेकर ऐसी सहजता तभी संभव है जब हम इसे मनोविकारों के बजाय ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।

विकास के इस दौर में हम एक ओर तो तकनीक की ऊँचाई पर पहुँच चुके हैं, तो वहीं दूसरी तरफ आज भी समाज के लाखों-करोड़ों लोग भूखे-नंगे बिना छत के रहने को मजबूर हैं। समाज मे बेरोजगारों की भीड़ खड़ी हो गई है। आज बेरोजगारी समाज में सबसे ज्वलंत समस्या बनकर उभर रही है। रोजगार की समस्या केवल विकासशील देशों में ही नहीं, बल्कि विकसित देशों में भी एक गंभीर चिंता का मुद्दा बना हुआ है। शिक्षित और अशिक्षित बेरोजगारी के रूप में। यह समस्या केवल वैयक्तिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करती, बल्कि इससे हमारा पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन भी प्रभावित होता है। इसके साथ ही यह अन्य समस्याओं को भी बढ़ावा देती है—जैसे चोरी-डकैती, आत्महत्या, अपराध, वेश्यावृत्ति आदि। शिक्षित वर्ग में यह समस्या अधिक विचार-विमर्श का विषय बनी हुई है। 'अपने विद्यार्थियों की दुनिया में' संस्मरण में लेखक ने इस वास्तविकता की ओर हमारा धयान दिलाया है। शिक्षा के क्षेत्र में निरंतर बढ़ोतरी के कारण शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में लगातार वृद्धि तो होती जा रही है, लेकिन उन्हें उनकी कार्यक्षमता के अनुसार नौकरी के अवसर उपलब्ध नहीं करवाए जा रहे हैं। इसी कारण उच्च शिक्षा प्राप्त छात्र-छात्राएँ नौकरी पाने की होड़ में उचित-अनुचित, भद्र-अभद्र कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। जैसे चापलूसी करना, अवसरवादिता, निंदा, झूठे-सच्चे आरोप आदि उनके दैनिक व्यवहार का हिस्सा बन जाता है। बकौल लेखक—'छात्र-छात्राएँ आत्महत्याएँ करते हैं क्यों? यत्न से मुक्ति पाने के जब और रास्ते बंद हो जाते हैं तब।'[7] स्पष्ट है कि जब पढ़े-लिखे नौजवानों को अपनी क्षमतानुसार कार्य नहीं मिलेगा तो मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए वह या तो आत्महत्या का रास्ता अपनाएगा या फिर अन्य गलत कार्यों में (चोरी, डकैती, गुंडागर्दी आदि) संलग्न हो जाएगा। अन्य कारण है कि विद्यार्थी कोई छोटा-मोटा काम नहीं करना चाहते उन्हें लगता है कि हम इतना पढ़-लिखकर अगर कोई छोटा काम (अपनी क्षमता से कम) करेंगे तो समाज मे उनकी क्या इज्जत रहेगी। अक्सर हमारे समाज मे ऐसा देखने को मिलता है जनसंख्या में वृद्धि भी बेरोजगारी की समस्या का मुख्य कारण है। रोजगार के अवसरों तथा जनसंख्या में वृद्धि के अनुपात में असंतुलन इस समस्या को और गंभीर बना देता है।

कई बार तो छात्रों को अध्यापकों की गुटबाजी के कारण गंभीर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। विवेच्य संस्मरण में लेखक इस परिप्रेक्ष्य में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं, 'एक वयस्क महिला छात्रा ने रोते हुए मुझे बताया कि जैसे ही मैं इंटरव्यू में जाती हूँ, मुझसे पूछा जाता है, तुम्हारा गाइड कौन है? गाइड सर का नाम लेते ही सर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं क्या करूँ, समझ में नहीं आता।'[8] अध्यापकों की राजनीति भी कभी-कभी इस स्तर तक पहुँच जाती है कि उसका दुष्परिणाम उनके शिष्यों को भुगतना पड़ता है। यह सभी बातें यथार्थ से संबंध रखती हैं और इनमें सुधार की आवश्यकता है। यह सुधार तभी संभव है जब भारत सरकार देश में व्याप्त बेरोजगारी तथा इससे उत्पन्न अन्य सामाजिक समस्याओं को दूर करने हेतु लाभकारी शिक्षा नीति तथा रोजगार के

अवसरों में वृद्धि आदि योजनाओं का कार्यान्वन सही ढंग से करेगी।

अब जब सारा विश्व एक बाजार बन गया है तो वैश्वीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होना स्वाभाविक सी बात है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हमेशा समस्या के रूप में ही सामने नहीं आते, अपितु कई बार यह हमारी सामाजिक व्यवस्था को समृद्ध बनाने का कार्य भी करते हैं। आजादी के बाद दलित, स्त्री, शिक्षा, जनसंचार माध्यमों तथा विकलांगों की स्थिति में बहुत हद तक सुधार हुए हैं। यह परिवर्तन हम अपने आस-पास के क्षेत्रों में अनुभव कर सकते हैं। संस्मरण 'दृष्टिहीन छात्रों की अंतर्दृष्टि' में लेखक ने अपने एक विकलांग शिष्य के माध्यम से उनकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला है–'छात्रावास में जो भी अव्यवस्था हो, गाँव-घर से अच्छा हूँ। यहाँ कम-से-कम रहने की जगह है। खाना मिलता है और पढ़ाई कर रहा हूँ। गाँव-घर में तो घर के लोग, भाई-भतीजे तक दुत्कारते थे, बात-बात में 'अंधरा' कहकर अपमानित करते थे। गाँव के लोग चिढ़ाते और मजाक करते थे। खाना ऐसे मिलता था, मानो भीख मिल रही हो। बाबू जो कुछ कहो, हम लोगों की स्थिति पहले से बहुत अच्छी है।'[9] लेखक और दृष्टिहीन छात्र के संवाद से पता चलता है कि परिवर्तन के इस युग मे इन लोगों की स्थिति में सुधार तो हुआ है। वह शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। कुछ तो बहुत अच्छी नौकरियाँ भी कर रहे हैं, किंतु यह बदलाव केवल नगरों में ही दिखलाई पड़ता है। गाँव में अभी भी पहले जैसा ही माहौल है। उनकी मानसिकता दुर्बल व्यक्ति को चिढ़ाने तथा मजाक उड़ाने तक ही सीमित है क्योंकि वह मन-मस्तिष्क से इतने विकसित नहीं हो पाए हैं कि सामान्य और विकारग्रस्त मनुष्य को समान दृष्टि से देख सके। इसका मुख्य कारण है–अनपढ़ता। अशिक्षित तथा बाहरी दुनिया से मेल-मिलाप न होने की वजह से उनकी जीवन-शैली गाँव तक ही सीमित है। उन्हें सरकार द्वारा बनाई गई योजनाओं की जानकारी भी पूरी तरह से उपलब्ध नहीं होती, उनका लाभ उठा पाना तो बहुत दूर की बात है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जब हम सामाजिक व्यवस्था में बदलाव की बात करते हैं, तो देश के स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में छात्राओं की बढ़ती संख्या इसी सामाजिक परिवर्तन का परिणाम है। शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसने स्त्रियों को घर की चारदीवारी से बाहर निकालने में सहायता प्रदान की। स्वतंत्र भारत मे छात्र-छात्राएँ एक साथ पढ़ने लगे। शुरुआत में लड़कियाँ प्रायः संकुचित और डरी-सहमी रहतीं। क्योंकि उनके लिए यह परिवेश एकदम नया था। लेकिन धीरे-धीरे बदलते समय के साथ उनका यह संकोच आत्मविश्वास में बदल गया है। अब वह पढ़-लिख गई हैं। अच्छी नौकरियाँ कर रही हैं। इसका उल्लेख लेखक ने 'जो जला, वह सुगंधी बिखेरेगा' संस्मरण में हरिशंकर परसाई की पंक्तियों के माध्यम से किया है जो यहाँ एकदम सटीक बैठती हैं, 'नौकरी शुरू करते ही लड़की लड़का हो जाती है।'[10]

लेखक ने बदलते समकालीन परिदृश्य में यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों को भूलता जा रहा है। तकनीकी युग की दौड़ में आपसी सौहार्द को भूल स्वार्थ ही उसके लिए सर्वोपरि हो गया है।

तकनीकी अविष्कार से पहले भारत उतनी तेज गति से उन्नति तो नहीं कर रहा था, जितना कि वह विश्वरूपी बाजार से जुड़ जाने के बाद कर रहा है। लेकिन तब भावनात्मक स्तर पर लोगों का एक-दूसरे के प्रति जुड़ाव था। मनुष्य स्वार्थी तो था, लेकिन केवल स्वार्थी होने के साथ ही आपस में मेल-जोल का भाव भी था। 'मॉरिस नगर से मॉरिस नगर' संस्मरण में लेखक ने इस वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि जब देश में सामाजिक परिवर्तन ने इतना

जोर नहीं पकड़ा था तब भी लोग चालाक थे परंतु मानवता ने तब तक दम नहीं तोड़ा था। वर्तमान संदर्भ में बकौल लेखक–'उर्दू के मशहूर व्यंग्यकार फिक्र तौसबी बैठे बतिया रहे थे। उनके किसी दोस्त ने कहा, 'तौसबी साहब आप बेवकूफ हैं... फिक्र साहब बोले, तब तो मुझे सँभालकर रखो। मैं दुर्लभ वस्तु हूँ। आजकल बेवकूफ मिलते कहाँ हैं। हर आदमी सौ फीसदी चुस्त चालाक हो गया है।'[11] स्पष्ट है कि पूँजीवाद के युग में प्रत्येक व्यक्ति (अपने स्वार्थ हेतु) समझदार हो गया है। पूँजीवाद ने मनुष्य के अंदर इतना लोभ भर दिया है कि वह अपने स्वार्थपूर्ति हेतु खुद को ऊपर उठाने तथा दूसरों को नीचा गिराने में लगा हुआ है। उसके लिए मानव मूल्य शून्य के बराबर हो गए हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विवेच्य संस्मरण संग्रह में विश्वनाथ त्रिपाठी ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में होने वाले बदलावों तथा उनसे उत्पन्न चुनौतियों का समाज पर पड़ने वाले (सकारात्मक तथा नकारात्मक) प्रभावों का यथातथ्य चित्रण किया है। आलोच्य संस्मरण में संस्मरणकार ने जहाँ स्वतंत्रतापूर्व देश में व्यापत अशिक्षा, छुआछूत, वर्ग-संघर्ष, जैसी समस्याओं पर विचार किया है तो वहीं स्वातंत्र्योत्तर भारत में इन परिस्थितियों में हुए सुधार को भी दिखाया है। तथा वर्तमान संदर्भ में लेखक ने तकनीकीकरण तथा आधुनिकीकरण के अच्छे एवं बुरे दोनों पक्षों को चित्रित किया है। लेखक ने तत्कालीन समाज मे व्यापत समस्याओं को रेखांकित करते हुए उनके सुधार पर बल दिया है जिससे संभवतः देश विकास की ओर अग्रसर हो सके।

संदर्भ

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, जब शिष्य से डरकर गुरुजी भागे, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ॰ 72
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, अपने विद्यार्थियों की दुनिया में, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ॰ 39
3. विश्वनाथ त्रिपाठी, वह छात्र जिसे दलित होने पर गर्व है, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ॰ 108
4. वही, पृ॰ 108
5. वही, पृ॰ 108
6. वही, पृ॰ 111
7. विश्वनाथ त्रिपाठी, अपने विद्यार्थियों की दुनिया में, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, 2015, पृ॰ 41
8. वही, पृ॰ 42
9. विश्वनाथ त्रिपाठी, दृष्टिहीन छात्रों की अंतर्दृष्टि, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, पृ॰ 102
10. विश्वनाथ त्रिपाठी, जो जला वह सुगंधी बिखेरेगा, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, पृ॰ 82
11. विश्वनाथ त्रिपाठी, मॉरिसनगर से मॉरिसनगर, गुरुजी की खेती-बारी, राजकमल प्रकाशन, पृ॰ 31

Mob. 6005598964
sadotrapooja146@gmail.com

संस्कृति, मीडिया और लोकप्रिय संस्कृतिः अंतर–संबंधों का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

पूजा सिंह (रिसर्च स्कॉलर/गेस्ट लेक्चरर)
जनसंचार एवं न्यू मीडिया विभाग, सेंट्रल यूनिवर्सिटी, जम्मू

मास मीडिया, जन माध्यमों के विविध स्वरूप हैं जिनका उद्देश्य वृहद जनता तक पहुँचना है। मास मीडिया प्रसार के उन साधनों को संदर्भित करता है जो व्यापक दर्शकों के संपर्क में आने के लिए बनाए गए हैं। मीडिया समाज का वह अधिकार है जो राज्य की सभी तीन अन्य शक्तियों (कार्यकारी, कानून और न्यायपालिका) की जाँच करता है, और इस कारण से इसे चौथी शक्ति माना जाता है, (गोर्मस, 2012)।

मानार्थ और स्वतंत्र मीडिया लोकतंत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं (बजोहर, 2006)। मास मीडिया अपने सबसे शक्तिशाली रूप में तब होता है जब वह प्रेरक परामर्शदाता का कार्य कर अनुमान लगाने या निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायक सिद्ध हो और यदि शत्रुतापूर्ण धारणा का प्रयोग करें तो इस प्रक्रिया में कम प्रभावी होते हैं (गुंथर और क्रिस्टन 2002)। प्रेरक प्रेस परामर्श दर्शाता है कि आम जन अक्सर मीडिया कवरेज की सामग्री को जनता की राय मानते हैं और खासे प्रभावित होते हैं (गुंथर, क्रिस्टन, लिबर्ट, और चिया, 2001)

मीडिया में आम जनता द्वारा देखने के लिए, अधिक वैचारिक और जो पूरी तरह से सही न हों वैसा लेखा बनाने की प्रवृत्ति है (कॉटररेल 1999)। मीडिया विमर्श के साथ, कुछ समूह हैं, जो संभावित रूप से जनता की राय, विचारधाराओं और मॉडलों पर प्रभावशाली रूप से प्रभावी हैं (एल्थिड 1985; ऑल्टचुल 1984; पलेज व् इंतमैन 1981; लिचर, रुथमैन व् लिचर 1990)। मीडिया लोगों के सुसंगत अधिकार क्षेत्र के लिए आवश्यक बुनियादी घटनाओं से संबंधित ज्ञान और समाचार प्रदान करता है। साथ ही, यह विभिन्न श्रेणी की सूचनाओं के प्रवेश को सुरक्षित करने के माध्यम से एक मंच के रूप में भी कार्य करता है, जिसे लोग स्वैप करते हैं (ओशनील, 1998)।

इनोवी (2011) ने स्पष्ट किया कि मीडिया का उपयोग और संतुष्टि का दृष्टिकोण एक सटीक मीडिया चैनल की जाँच करने के बजाए दर्शकों की सुविधा और मौजूदा आदतों पर निर्भर करता है। मीडिया न केवल समाचारों की चारदीवारों तक ही सीमित है, बल्कि यह पीढ़ियों के बीच सांस्कृतिक परिवर्तन का मनोरंजन, शिक्षा, सूचना और सुविधा भी देता है (स्मिथ, 2011)।

संस्कृति सीखी जाती है और पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती है। यह 'एक एकीकृत तंत्र है' (गीट्र्ज, 1973; स्कीन, 1983), सामाजिक या मानक गोंद जो संगठनात्मक सदस्यों के संभावित विविध समूह को एक साथ रखता है। बर्जर और लकमैन (1966) का मत था कि संस्कृति परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति संस्कृति को कैसे देखता है और उसे कैसे लागू करता है। संस्कृति गहराई की विभिन्न परतों में प्रकट होती है और किसी विशेष समूह या संगठन की संस्कृति तीन मूलभूत स्तरों को अलग करने के लिए वांछनीय है, जिस पर संस्कृति स्वयं प्रकट होती

 ISSN 0975-735X

है: (अ) देखने योग्य कलाकृतियाँ, (ब) मूल्य और (स) बुनियादी अंतर्निहित धारणाएँ (शेइन)।

संस्कृति सीखी जाती है, आनुवंशिक नहीं होती। एक समाज में नए सांस्कृतिक तत्त्वों का स्रोत दूसरा समाज भी हो सकता है। एक संस्कृति के सांस्कृतिक तत्त्वों को उधार लिया जाए और प्राप्तकर्ता संस्कृति में शामिल किया जाए तो इसे सांस्कृतिक प्रसार कहा जाता है। प्रसार और संस्कृतिकरण की प्रक्रियाएँ संस्कृति में किसी प्रकार के सांस्कृतिक परिवर्तन ला सकती हैं। कभी-कभी प्रसार तीसरे पक्ष के माध्यम से होने वाले मध्यवर्ती संपर्क के कारण होता है। मीडिया इस विश्वास पर प्रभावशाली साबित हुआ कि अपने व्यापक सांस्कृतिक अर्थों में, मीडिया ने उन मूल्यों और मानदंडों को काफी हद तक मजबूत किया, जो पहले से ही एक व्यापक सहमति की नींव हासिल कर चुके थे। मीडिया, एक शक्तिशाली सामाजिक व्यवस्था के रूप में, एक व्यक्ति की वास्तविकता की भावना पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है (गेर्गन, 1999)।

संस्कृति का ऐतिहासिक अवलोकन

परिभाषित करने के लिए बेहद कठिन शब्द है, संस्कृति को अक्सर उस रूप में परिभाषित किया जाता है जिसे किसी संगठन या समूह द्वारा साझा किया जाता है (क्लार्क, 1970; स्कीन, 1985; स्मिरचिक, 1983) । 1952 में, अमेरिकी मानवविज्ञानी, क्रोएबर और क्लखोन ने संस्कृति की अवधारणाओं और परिभाषाओं की आलोचनात्मक समीक्षा की और 164 विभिन्न परिभाषाओं की एक सूची तैयार की थी।

संस्कृति का व्यापक रूप से तीन प्रकार से प्रयोग किया जाता था। सबसे पहले, जैसा कि मैथ्यू अर्नोल्ड्स की कल्चर एंड अनार्की (1867) में उदाहरण दिया गया है, संस्कृति विशेष बौद्धिक या कलात्मक प्रयासों या उत्पादों को संदर्भित करती है, जिसे आज 'उच्च संस्कृति' कह सकते हैं, जो वास्तव में 'लोकप्रिय संस्कृति' या 'लोकमार्ग' के विपरीत है। इस परिभाषा के अनुसार, किसी भी सामाजिक समूह का केवल एक हिस्सा–(आम तौर पर एक छोटा सा समूह) संस्कृति है (बाकी अराजकता के संभावित स्रोत हैं) संस्कृति की यह भावना सामाजिक विज्ञान की तुलना में सौंदर्यशास्त्र से अधिक निकटता से संबंधित है।

दूसरा, जैसाकि प्रिमिटिव कल्चर (1870) में एडवर्ड टेलर ने उल्लेख किया है, संस्कृति सभी सामाजिक समूहों में सभी लोगों के पास एक खास गुणवत्ता है, जो सतत विकास में परिवर्तित होती जाती है। इस प्रकिया में एक लंबी अवधि के बाद संस्कृति आरंभ से पूर्णत भिन्न होती है। लुईस हेनरी ने मॉर्गन स्कीम में इसे 'फ्रॉम सेवेजरी थ्रू बर्बरिज्म टू सिविलाइजेशन' अर्थात् जंगली से सभ्य तक की यात्रा बताया है।

संस्कृति का तीसरा और अंतिम उपयोग फ्रांज बोस और उनके छात्रों द्वारा बीसवीं शताब्दी में नृविज्ञान के शोध में विकसित हुआ, हालाँकि इसकी जड़ें जोहान वॉन हेडर के अठारहवीं शताब्दी के लेखन में मिलती हैं। जैसाकि टेलर ने अर्नोल्ड को संस्कृति के लिए एक वैज्ञानिक (सौंदर्यशास्त्र के बजाय) आधार स्थापित करने के लिए प्रतिक्रिया व्यक्त की, इसलिए बोस ने टेलर और अन्य सामाजिक विकासवादियों के खिलाफ प्रतिक्रिया व्यक्त की। जहाँ विकासवादियों ने एक ही संस्कृति के सार्वभौमिक चरित्र पर बल दिया।

सांस्कृतिक परिवर्तन : एक सैद्धांतिक विश्लेषण

सांस्कृतिक परिवर्तन अपने-आपमें एक बहुत ही बड़ी प्रक्रिया है। व्यापक धरातल पर

व्यापक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन कहलाते हैं। बाहरी वातावरण में बदलाव को संस्कृति में बदलाव के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। आधुनिक दुनिया में, भौतिक वातावरण की तुलना में सामाजिक वातावरण में परिवर्तन अधिक बार होते हैं। खोज और आविष्कार, जो समाज के अंदर या बाहर उत्पन्न हो सकते हैं, वास्तव में यह सभी सांस्कृतिक परिवर्तन के स्रोत हैं। आविष्कारों और खोजों के उपयोग और उनकी सामाजिक स्वीकृति से प्रचलित संस्कृतियों में परिवर्तन आता है।

समाज में सत्ता को पुनर्गठित करने के लिए संस्कृति के परिवर्तन में समय और साहस लगता है। क्लिफोर्ड (1975) ने संस्कृति को प्रतीकों में सन्निहित अर्थों के ऐतिहासिक रूप से संचरित पैटर्न के रूप में परिभाषित किया, संस्कृति प्रतीकात्मक रूपों में व्यक्त विरासत में मिली धारणाओं की एक प्रणाली है जिसके माध्यम से संवाद कायम रहते हैं, और जीवन के बारे में और उनके दृष्टिकोण के बारे में अपना ज्ञान विकसित करते हैं। हैंडी (1991) की राय थी 'परिवर्तन वह नहीं है जो पहले हुआ करता था।' पहले परिवर्तन निरंतर और सहज था, जब अतीत भविष्य के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता था, लेकिन अब हम एक ऐसे दौर में चले गए हैं जहाँ परिस्थितियाँ, यथास्थिति संकट के साथ जुड़ जाती हैं। वास्तव में, हम जिन परिवर्तनों का अनुभव कर रहे हैं, वे अब पूर्वानुमेय नहीं है, बल्कि असंतुलित, असहज और तनावपूर्ण हैं। निस्संदेह, तर्कसंगत गणना और नियंत्रण से उत्पन्न प्रथा और परंपरा पर आधारित पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था, नौकरशाही संगठनों के विकास से प्रभावित और विकसित लगती है।

हालाँकि, सांस्कृतिक परिवर्तनों का वर्तमान सेट, आर्थिक, तकनीकी और सामाजिक तौर से परस्पर संबंधित और परिलक्षित होता है, और बदले में, हमारे संगठनों में एक अंतर्निहित खंडित गतिशीलता को जन्म देता है जिसने पारंपरिक तर्कसंगत नौकरशाही की पदानुक्रमित संरचनाओं और अनुशासनात्मक प्रथाओं को विकेंद्रीकृत, लचीली व्यवस्था और स्व-विनियमन में बदल दिया है (रीड, 1983)। जिस युग में हम रहते हैं वह संस्कृति को निरंतर परिवर्तन की स्थिति और इसके परिणामस्वरूप अर्थों की एक स्थिर दुनिया की कमी के रूप में दर्शाता है। कार्य प्रेरणा ने संस्कृति में परिवर्तन के दायरे को विस्तृत किया है और इन परिवर्तनों ने नए तरह के 'लोगों को नियंत्रित करने के साधनों' का विकास किया है (रोज, 1989), और संस्कृति की यह अवधारणा विकास के लिए एक अधिक सफल दृष्टिकोण की संभावना की पेशकश करती है।

सामाजिक वैज्ञानिक अभी भी इस बात पर एक मत नहीं हैं कि एक सांस्कृतिक घटना क्या है, इसका क्या अर्थ है, इसकी विशेषताएँ क्या हैं, इसमें क्या शामिल है, यह क्या करता है या इसका अध्ययन कैसे किया जाना चाहिए। संस्कृति की परिभाषाओं में घटक विचार, अवधारणाएँ, मूल्य, विचारधाराएँ, दृष्टिकोण, लक्ष्य, मानदंड, सीखे हुए व्यवहार, प्रतीक, संस्कार, अनुष्ठान, रीति-रिवाज, मिथक, आदतें और कलाकृतियाँ शामिल हैं। इस विविधता के आधार पर, हम विभिन्न धारणाएँ पाते हैं कि संस्कृति क्या है? और इसके मुख्य घटक क्या हैं? सांस्कृतिक और सामाजिक सीमाओं के बीच कोई अंतर नहीं था न ही संस्कृति या सभ्यता में। संस्कृति या सभ्यता को अपने व्यापक नृवंशविज्ञान अर्थ में लिया जाता है, वह जटिल है पर संपूर्ण है। जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा, समाज के सदस्य और उनके द्वारा अर्जित की गई अन्य क्षमताओं और आदतों को शामिल किया जाता है (टेलर, 1958)। इस प्रकार, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्र एक सामंजस्यपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली में एकीकृत दिखाई देते हैं, जहाँ संस्कृति देखने योग्य मानव प्रथाओं और उनके उत्पादों में प्रकट होती है। संस्कृति को पुरापाषाण काल के शिकारियों से

लेकर आधुनिक सभ्यता तक फैली एक प्रकट गाथा की क्रमिक अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि विभिन्न तरीकों, स्थानों और समयों में सामूहिक रूप से 'लोग क्या करते हैं' के रूप में देखा जाने लगा (जेनकिंस, 1993)।

इस प्रकार, विभिन्न सांस्कृतिक घटकों और परिणामी सामाजिक संरचना के अंतर्संबंध को समान या कम से कम निरंतर रूप में देखा जाने लगा (मालिनोव्स्की, 1962)। जब संस्कृति के विभिन्न लेकिन परस्पर संबंधित घटकों और सांस्कृतिक प्रक्रिया में व्यक्ति की भूमिका के विश्लेषण की बात आती है, तो दो अलग-अलग दृष्टिकोण सामने आते हैं: ऐतिहासिक/अनुकूली और सांस्कृतिक आदर्शवाद स्कूल (अल्लायर और फिरसिरोतु 1984)। ऐतिहासिक/अनुकूली स्कूल संस्कृति को विशेष रूप से तकनीकी और पर्यावरणीय कारकों द्वारा निर्धारित माना जाता है (खान, 2012), जबकि व्यक्तियों को केवल संस्कृति के वाहक के रूप में माना जाता है जो इसके विकास में भाग नहीं लेते हैं (क्रोएबर,1963)। संस्कृति मानव जाति का विशेष और अनन्य उत्पाद है, और यही गुण इसे अलग करता है। संस्कृति एक ही समय में सामाजिक मनुष्य के उत्पादों की समग्रता और एक विशाल शक्ति है जो सभी मनुष्यों को सामाजिक और व्यक्तिगत रूप से प्रभावित करती है (क्रोएबर, 1963)।

संस्कृति समावेशी है और विशेष भी, संस्कृति साझा धारणा का एक पैटर्न है जिसे लोगों ने सीखा है और बाहरी अनुकूलन और आंतरिक एकीकरण की समस्याओं को हल किया है, इसलिए नई पीढ़ी को सही के रूप में उन समस्याओं के संबंध में देखने, सोचने और महसूस करने का तरीका सिखाया जा सकता है (शेइन, 1992)। वाटर्स (1995) का दावा है कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान स्थानिक और भौगोलिक संदर्भों से संबंधों को मुक्त करता है, और सांस्कृतिक प्रतीकों (जिन्हें कहीं भी और किसी भी समय उत्पन्न किया जा सकता है) को भौगोलिक और भौतिक सीमाओं के पार आसानी से ले जाया जाता है। हमें व्यापक सांस्कृतिक विचारों द्वारा निर्मित अंतर्निहित समझ के बारे में जागरूक होने की आवश्यकता है, क्योंकि वे उन तरीकों को भी प्रभावित करेंगे जिनसे लोग उन समस्याओं को समझते हैं जिनका वे सामना कर रहे हैं और एक दूसरे को सीधे संपर्क के माध्यम से प्रभावित करते हैं (फेदरस्टोन, 1990)। ऐतिहासिक आयाम को सांस्कृतिक विकास और संस्कृति में एक ऐसी घटना के रूप में संबोधित किया गया जिसे बदलना मुश्किल है (शेइन, 1988; गाग्लियार्डी, 1986)।

सांस्कृतिक परिवर्तन को एक सीखने की प्रक्रिया के रूप में भी वर्णित किया गया है जिसमें सदस्य संज्ञानात्मक योजनाओं के अनुसार कार्य करते हैं (बार्टुनेक, 1988)। जब सांस्कृतिक परिवर्तन होता है, तो इसे नाटकीय और दर्दनाक शब्दों में वर्णित किया जाता है: एक स्थापित सांस्कृतिक एकता को बाहरी कारकों का सामना करना पड़ता है, जो इसे बदलने के लिए बाध्य करते हैं और इसलिए, यह 'ढह जाता है'। इस प्रक्रिया को एक संगठन-व्यापी सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में देखा जाता है, जिससे एक पुरानी सांस्कृतिक एकता को बदल दिया जाता है। अर्थों के ताने-बाने के रूप में संस्कृति, जिसके संदर्भ में हम अपने अनुभवों की व्याख्या करते हैं और अपने कार्यों का मार्गदर्शन करते हैं (गीट्ज़, 1973), तो हमें सांस्कृतिक परिवर्तन को एक अलग तरीके से देखने की आवश्यकता है। यह इस प्रकार है कि कोई भी समुदाय हर पल अपने अतीत का पुनर्निर्माण करने में सक्षम होता है। हालाँकि, वह अतीत आमतौर पर पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में होता है। किसी भी मामले में, इस पुनर्निर्माण का तात्पर्य कुछ हद तक समझौते से है क्योंकि समाज तभी

जीवित रह सकता है जब इसमें शामिल व्यक्तियों और समूहों के बीच दृष्टिकोणों में पर्याप्त एकता हो (कोसर, 1992)। एक सामाजिक समूह, स्मृति से उन सभी परिणामों को हटा सकता है जो समूहों को एक-दूसरे से दूर करते हैं या दर्दनाक यादें लाते हैं, उन्हें बेहतर ढंग से भुला दिया जाता है (पेनबेकर, 1992)।

मीडिया और संस्कृति : प्रभाव और संबंध

'मीडिया और संस्कृति परस्पर जुड़े हुए हैं; विभिन्न संस्कृतियों को समझने के स्तर मीडिया सामग्री को प्रभावित करते हैं, इस बीच मीडिया प्लेटफॉर्म और सामग्री सांस्कृतिक और दिन-प्रतिदिन की प्रथाओं को प्रभावित करते हैं' (डकरौरी, 2014)। सपीर-व्हार्फ परिकल्पना ने सुझाव दिया है, कि प्रत्येक संस्कृति का दुनिया को वर्गीकृत करने का एक अलग तरीका रहा है और यह तरीके विभिन्न समाजों की भाषाई और अर्थपूर्ण संरचनाओं में प्रतिबिंबित होते हैं।

निर्णय लेने की रूपरेखा में मीडिया एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जो एक व्यावहारिक परिवर्तन है। मीडिया की खपत की बारीकी से निगरानी करने वाला व्यक्ति मीडिया के प्रभावों से प्रतिरक्षित नहीं है। विभिन्न मीडिया चैनलों की तुलना करने के बाद, (दानहेर और रॉसिटर, 2011) ने भी यह स्वीकार किया कि लोग विभिन्न मीडिया चैनलों को अलग तरह से देखते हैं। विभिन्न संस्कृतियों के बीच संदेशों का संचार करते समय, मीडिया को भी गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। जेनकिंस (2006) के अनुसार एक निश्चित प्रतिमान विस्थापन तय करता है, मीडिया की सामग्री को कैसे बनाया और प्रसारित किया जा रहा है। सहभागी संस्कृति की वर्तमान प्रवृत्ति को सिद्ध करने वाले विद्वानों ने समुदायों में ज्ञान और संस्कृति को साझा करने के लिए उपयोगकर्ता की मजबूत प्राथमिकता पर जोर दिया। मीडिया ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान और संचार को नया अर्थ दिया है। लुई रिथ और टैल्कॉट पार्सन्स ने 'सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में मास मीडिया के महत्त्व पर बल दिया है।' मीडिया मूल रूप से लोगों के जीवन में एक शक्तिशाली उपस्थिति है।

मीडिया हमारे दैनिक जीवन की सांस्कृतिक प्रथाओं के प्रसार में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। ऐसा कहा जाता है कि यह हमारी संस्कृति के मानदंडों और मूल्यों को दर्शाता है और इसने हमारी पसंद को विस्तृत किया है और ग्रहों के स्तर पर सूचना के प्रवाह के साथ सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में वृद्धि की है। सांस्कृतिक मूल्य भी मास मीडिया संदेशों को आकार देते हैं जब मीडिया सामग्री के उत्पादकों के विशेष सामाजिक लक्ष्यों में निहित स्वार्थ होते हैं।

लोग मीडिया के माध्यम से सांस्कृतिक पहचान का निर्माण और प्रतीकत्व कर सकते हैं। वर्दुगो एंड फिएरो (2014) ने पाया कि 'संचार क्षमता मीडिया सामग्री के अनुकूलन, समझ और स्वीकृति की एक जटिल प्रक्रिया है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए विशिष्ट सांस्कृतिक संदर्भ तंत्र के माध्यम से मीडिया को गंभीर रूप से स्वामित्व करने के लिए विषयों की क्षमता को उजागर करती है। 'लोकप्रिय' संस्कृति मीडिया का उत्पाद और दृष्टिकोण है जिसे किसी दी गई संस्कृति की मुख्यधारा और आम लोगों के दैनिक जीवन का हिस्सा माना जाता है। यह अक्सर संस्कृति की अधिक औपचारिक अवधारणाओं से अलग होता है जो नैतिक, सामाजिक, धार्मिक विश्वासों और मूल्यों को ध्यान में रखते हैं जैसे कि संस्कृति की हमारी पिछली परिभाषा। यह कहा जा सकता है कि जनसंचार माध्यमों और लोगों की संस्कृति के बीच घनिष्ठ संबंध है। विभिन्न मास मीडिया चैनल यहाँ की संस्कृति से जुड़े हुए हैं। साहित्य के आधार पर, यह आगे कहा जा सकता है, जैसा कि (डकरौरी, 2014) कहता है कि 'मीडिया कथाएँ और प्रवचन विभिन्न प्रकार के ग्रंथों और

छवियों के भीतर बनाए जाते हैं जो सांस्कृतिक धारणाओं और प्रथाओं से जटिल रूप से संबंधित हैं साथ ही उनका उत्पादन और उपभोग भी करते हैं।'

संदर्भ

1. अलाइरे वाई, फिरसीरोटू एमई, थेओरिस ऑफ ऑर्गेनाइजेशनल कल्चर, ऑर्गेनाइजेशनल स्टडीज, 1984
2. अल्शुल एचजे, एजेंटस ऑफ पॉवर, द रोल ऑफ द न्यूज मीडिया इन ह्यूमन अफेयर्स, लॉन्गमैन, न्यूयॉर्क, 1984
3. अवरुच के॰, कल्चर एंड कनफ्लिक्ट रेवोलुशन, यूनाइटेड स्टेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ पीस प्रेस, वाशिंगटन डीसी, 1998
4. एल्थाइड डीएल, मीडिया पावर, बेवर्ली हिल्स, सेज प्रकाशन, सीए 1985
5. कास्टल्स एस, मिलर एमजे, द ऐज ऑफ माइग्रेशन, इंटरनेशनल पापुलेशन मूवमेंटस इन द मोर्डेन वर्ल्ड, मैकमिलन, लंदन, 1993
6. क्लार्क बी, द डिस्टिक्टिव कॉलेज: एंटिओक, रीड और स्वर्थमोर, एल्डिन, शिकागो, 1970
7. क्लिफोर्ड जी॰, इंटरप्रीटेशन ऑफ कल्चरस, बेसिक बुक्स पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1975
8. ग्रेबर डीए॰ प्रोसिडिंग न्यूज, लॉन्गमैन, न्यूयॉर्क, 1984
9. गीट्र्ज सी॰, द इंटरप्रिटेशन ऑफ कल्चर, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क, 1973
10. गेर्गन के॰जे॰, एन इनविटेशन टू सोशल कंस्ट्रक्शन, सेज, लंदन, 1999
11. जगदीश्वर चतुर्वेदी, जन्माध्यम और मास कल्चर' सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
12. जैगर एस॰, लिंक जे॰, रस्सिमस एंड डाई मेडियन, डीआईएसएस, ड्यूसबर्ग, 1993
13. जेनकींस एच॰ कल्चर, एच॰ डोनन और टी॰एम॰ विल्सन (एड्स), द एंथ्रोपोलॉजी ऑफ आयरलैंड, 1993
14. जेनकींस एच॰, कन्वर्जेंस कल्चर: व्हेयर ओल्ड एंड न्यू मीडिया कोलाइड, कैंब्रिज, एमआईटी प्रेस, एमए, 2006
15. सुधीश पचौरी, सूचना साम्राज्यवाद, शब्दकार, दिल्ली, 1984
15. फेदरस्टोन एम॰, कंज्यूमर कल्चर, सिंबॉलिक पावर एंड यूनिवर्सलिज्म, इन जी॰ स्टाउथ एंड एस॰ जुबैदा (एड्स), मास कल्चर, पॉपुलर कल्चर एंड सोशल लाइफ इन मिडिल ईस्ट, वेस्टपोर्ट प्रेस, बोल्डर, 1987
16. फेरारो जी॰, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का सांस्कृतिक आयाम, तीसरा संस्करण, प्रेंटिस हॉल, न्यू जर्सी, 1998
17. बर्जर पी॰, लकमैन टी॰, द सोशल कन्स्ट्रक्शन ऑफ रियलिटी, डबलडे, न्यूयॉर्क, 1966
18. प्रदीप माथुर, संचार माध्यम, भारतीय जनसंचार संस्थान, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 1997
19. हार्टमैन पी॰, हसबैंड सी॰, रेसिज्म एंड द मास मीडिया, डेविस-पॉयंटर, लंदन, 1974

Mob. 8604593695
pooja.maulshree@gmail.com

भारतीय संस्कृति, साहित्य और हिंदी

प्रीति सिंह, सहायक प्राध्यापिका (हिंदी)
गोकुलदास हिंदू गर्ल्स कालेज, मुरादाबाद (उ०प्र०)

भारतीय संस्कृति समृद्ध और विविधता से युक्त है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' भारतीय संस्कृति की विशेषता है। आर्थिक रूप से भारत के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण विश्व में इसकी विशिष्ट पहचान बनी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानव जीवन को श्रेष्ठ साधनाओं की संस्कृति कहा है। जिससे मानवता को निखारा जाता है। साहित्य हो या समाज दोनों के केंद्र में मानव ही रहता है। जिसके द्वारा मानव मन को श्रेष्ठ बनाया जाता है। साहित्य मानव-मन की एक विशिष्ट संपत्ति है, जिसमें समाज का प्रतिबिंब उभरता है।

साहित्य संस्कृति का अक्षय कोश है। संस्कृति ही साहित्य में प्राण प्रतिष्ठा करती है। संस्कृति को जानने का भी एक सशक्त माध्यम साहित्य है। साहित्य और संस्कृति का आपस में घनिष्ठ संबंध है। मिल्टन कवि ने कहा था–'मुझे आप किसी की देश की भाषा सिखा दीजिए, उस देश में जाने की जरूरत नहीं है। मैं बता दूँगा कि वहाँ के लोग कैसे हैं? संकीर्ण विचारधारा के लोग हैं या उदार हैं क्योंकि साहित्य और भाषा देश एवं समाज का दर्पण होता है। इस प्रकार संस्कृति, साहित्य और भाषा का आपस में घनिष्ठ संबंध है। साहित्य समाज का दर्पण होता है तथा समाज का उन्नायक होता है।

'भाषा किसी भी देश के सांस्कृतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं मूल्योन्मुखी उपलब्धियों की सबल संवाहिका होती है।' भाषा सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ प्रवाहित होने वाली मंदाकिनी है, जो युग युगांतर की छाप लेकर निरंतर बहती रहती है। हम अपनी सांस्कृतिक विविधता को सँजोए रखने और उसे उत्सवधर्मी बनाने में विश्वास रखते हैं तो इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारी भारतीय संस्कृति का प्रमुख माध्यम हिंदीभाषा है। इसका सीधा-सा कारण है, कि अधिकतर भारतीय हिंदी बोलते हैं और समझते भी हैं। हमारे देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी विभिन्न क्षेत्रों में हिंदीभाषा को समझने और सहज स्वीकृति में वृद्धि करने में योग, बालीवुड और फिल्म जगत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विश्व की सभी भाषाओं में हिंदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वर्तमान समय में दुनिया के अनेक देशों में हिंदीभाषा अपना परचम लहरा रही है। भारतीय गीतों की धुन पर विदेशी कलाकार अपने उत्सवों में कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे हैं। भारत के प्रधानमंत्री जब विदेशों में जाते हैं, तो अपना भाषण हिंदीभाषा में देते हैं, उनके सम्मान में गीत एवं राष्ट्रगान की प्रस्तुति हिंदीभाषा में ही होती है। हजारों की उपस्थिति में भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन हिंदीभाषा में ही किया जाता है। यह भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं भाषा की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। यह हमारे लिए शुभ संकेत है कि हिंदीभाषा अपनी सांस्कृतिक विरासत और धरोहर के कारण सरल सहज रूप से आगे बढ़ रही है।

भारतीय संस्कृति, साहित्य और हिंदी–किसी भी प्राणी अथवा प्राणी के परिष्कार की प्रक्रिया को संस्कार कहते हैं। संस्कार संपन्न जीवनशैली को संस्कृति कहते हैं जिसका निर्माण एक दिन में नहीं होता अपितु धीरे-धीरे शताब्दियों में होता है। 'भारतीय संस्कृति का उद्‌गम वेदों के

 ISSN 0975-735X

अवतरण के साथ हुआ। अनेक ऋषियों ने इसे संस्कारित किया है। भारतीय संस्कृति समृद्धि तथा विविधता लिए हुए हैं। आर्थिक रूप से बढ़ते प्रभाव के कारण इसकी पहचान की है। संस्कृति शब्द का उद्‌गम संस्कार शब्द से माना जाता है। जिसका अर्थ है वह क्रिया, जिसके द्वारा मानव मन को श्रेष्ठ बनाया जाता है। जिससे मानवता को निखारा जाता है।' संस्कृति में सर्वाधिक महत्त्व मन के शुभ संकल्पों व विचारों को दिया गया है। भाव की शुद्धता तथा संकल्पों व विचारों की पवित्रता से ही कर्म को अच्छा या बुरा माना जाएगा। कर्म को किस भाव से किया गया केवल वही महत्त्वपूर्ण कर्म जो प्रेरक है, जो विचारों का जन्मदाता है, जो मन है, यदि उसके संकल्प अशुभ है, अशिव है। अहंकार, मोह व आसक्ति में लिप्त है तो ऐसे कर्म व्यक्ति को संस्कारवान नहीं बनाते।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है। संस्कृति के मुख्य चरण होते हैं–भोजन, भजन, साहित्य, भाषा और वेशभूषा। किसी भी प्राणी के जीवन में आहार का विशेष महत्त्व होता है। भोजन शब्द कहते ही मानसिक पटल पर चावल, दाल, खीर, रोटी, पराठा, पूड़ी, लड्डू, पेड़ा, बरफी अनेक शब्द पंक्तिबद्ध होकर मानसिक पटल पर छा जाते हैं जिस प्रकार भोजन मानव जीवन के लिए आवश्यक है उसी प्रकार भोजन से संबंधित सारे शब्द भारतीय संस्कृति से जुड़े हैं। भजन आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर की स्तुति, स्मरण, पूजन आदि के रूप में संगीतात्मकता से संबंधित है। धार्मिक परंपराओं के संदर्भ में भजन शब्द के आते ही भक्ति मार्ग के सारे साधन, पूजा, पाठ यज्ञ, हवन, बाती, कुश, तुलसी, अक्षत, दूर्वा, विल्वपत्र, पंचपल्लव, आसन वेदी, हवन कुंड हमारी भारतीय संस्कृति की देन है।

इसके अतिरिक्त तानसेन, बैजनाथ, पं॰ विष्णुनारायण आदि की संगीत रचनाएँ। सूरदास, तुलसीदास, संत कबीरदास, मीराबाई विद्यापति के भजनों के अस्तित्व को नहीं भुलाया जा सकता। जिस प्रकार भजन संगीत संस्कृति का अभिन्न अंग है उसी प्रकार उससे संबंधित सैकड़ों शब्द हिंदी भाषा की धरोहर हैं। इनके समानांतर शब्द जुटाना किसी भी अभारतीय भाषा के लिए संभव नहीं। धर्म और संस्कृति का आपस में घनिष्ठ संबंध है। धर्म कहता है। संध्या पूजन करना चाहिए, किंतु संध्या पूजन आदि कैसे करना चाहिए यह संस्कृति का अंग माना जाता है। लोकगीतों की भाषाई ताकत का अनुभव फिल्मों के संगीत से भी किया जा सकता है।

साहित्य मानव मन की अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट संपत्ति होती है। जिसमें समाज का प्रतिबिंब उभरता है। समाज और राष्ट्र नष्ट हो सकते हैं, किंतु साहित्य चिरस्थाई रहता है। साहित्य के उद्यान को अपने हृदय की मधुर भावना से सींचते हैं। उसके आधारभूत शाश्वत मूल्यों की मधुर गंध से मानव का मन सदा प्रफुल्लित रहता है।

प्रत्येक देश तथा काल में साहित्य और संस्कृति का आपस में घनिष्ठ संबंध रहता है। बिना साहित्य के संस्कृति का सही परिज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण साहित्य संस्कृति का अक्षय कोश है। साहित्य और संस्कृति के संबंध को मनीषियों ने पुण्य और गंध से स्पष्ट किया है। पुष्प से गंध को अलग करना असंभव है क्योंकि उसका जन्म पुष्प के साथ ही हुआ है। पुष्प से गंध अलग करने का प्रयास पुष्प का अस्तित्व ही नष्ट करना है क्योंकि गंध पुष्प के अणु-अणु में विद्यमान है। उसी प्रकार साहित्य में से संस्कृति को निकाल देने पर साहित्य निष्प्राण हो जाएगा। संस्कृति ही साहित्य में प्राण प्रतिष्ठा करती है। संस्कृति को बनाने का एक सशक्त माध्यम साहित्य है।

भाषा किसी भी देश की सांस्कृतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं मूल्योन्मुखी उपलब्धि की

सबल संवाहिका है। वस्तुत: भाषा सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ प्रवाहित होने वाली मंदाकिनी है जो युग युगांतर की छाप लेकर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। हम अपनी सांस्कृतिक विविधता को संजोये रखने और उसे उत्सव धर्मी बनाये रखने में विश्वास रखते हैं। भारत उत्सव प्रधान देश है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कार उत्सव के रूप में मनाये जाते हैं। हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम हिंदी भाषा है। इसका सीधा कारण अधिकतर भारतीय हिंदी बोलते और समझते है। हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में समझने और सहज स्वीकृति में वृद्धि करने के लिए, आध्यात्मिकता, योग एवं बालीवुड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक तरह से देखा जाय तो हिंदी भाषा भारतीय संस्कृति का दर्पण है।

भारतीय संस्कृति में रहन-सहन, वेश-भूषा का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि भारतीय वेशभूषाओं तथा उनके नामों का विकल्प विदेशी भाषा में खोजना उपयुक्त नहीं है, भारतीय वेश- भूषा विश्व के सभी देशों में लोकप्रिय और प्रशंसनीय है। वस्त्रों के नाम कुर्ता-धोती, अंगरखॉ, पगड़ी, दामन, लंहगा, साड़ी आदि विशेषार्थक शब्द है। इसी प्रकार सौन्दर्य प्रसाधन-रोली, सिन्दूर, महावर, बिंदी, टीका, झूमर, शीशफूल, मंगलसूत्र आदि शब्दों का अँग्रेजीकरण होना संभव नहीं। भारतीय समाज में पारिभाषिक एवं सामाजिक संबंधों को व्यक्त करने वाले शब्द अत्यंत सार्थक और संवेदनशील होते हैं - सगी बहन, चचेरी बहन, ममेरी बहन, फुफेरी बहन कहने से संबंधों में स्पष्टता झलकती है। केवल कजिन सिस्टर कहने से संबंधों में मधुरता नहीं झलकती। हम किसी भी परायी भाषा में अपने सपनों को साकार नहीं कर सकते अर्थात् किसी भी जिम्मेदारी का दूसरी भाषा में निर्वाह ठीक से नहीं कर पायेंगे।

भाषा हमें अपने आप से हमारी पहचान कराती है। भारत में अँग्रेजी के सामने सबसे बड़ी चुनौती हिंदी ही है। इसलिए हिंदी को कमजोर करके भारत की सांस्कृतिक अस्मिता एवं देश की रीढ़ को आसानी से तोड़ा जा सकता है। हिंदी और उसके साहित्य को बचाने की चिंता है तो हिंदी की वर्तनी का पुन: मानकीकरण आवश्यक है। भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम होती है। भाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। किसी भी भाषा का साहित्य उस देश व समाज का प्रतिबिंब होता है, उसमें उसकी संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, धर्म, इतिहास, रहन-सहन, वेशभूषा के साथ ही उसकी प्रगति का सही दर्शन होता है, उसकी भाषा ही अपने साहित्य के माध्यम से विश्व के सामने अपनी सही अभिव्यक्ति करती है। रवींद्रनाथ टैगोर ने भारतवर्ष को 'महामानव' समुद्र कहा है, विचित्र देश है, यहाँ न जाने कितनी जातियाँ आईं और भारतवर्ष को बनाने में अपना हाथ लगा गईं।

हिंदी काव्यभाषा, गद्यभाषा के रूप में समृद्ध रही है, स्वतंत्रता आंदोलन की भी सशक्त भाषा बनी। दयानंद सरस्वती ने लिखा है–हिंदी में सारे भारतवर्ष को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है मेरी आँखें उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं।...भारतीय साहित्य का फलक इतना विस्तृत है कि उसका संपूर्ण विश्लेषण हो ही नहीं सकता। संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु, एकनाथ, नानक, कबीर, सूर, तुलसीदास, नरसी मेहता आदि भारतीय संस्कृति की अनुपम मणियाँ है। रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र, महात्मा गांधी का साहित्य भारतीय संस्कृति का संदेश प्रसारित करता है। 'वैष्णव जन को तैने कहिए जो पीर पराई जानै रै' एकला चलो का संदेश भारतीय संस्कृति के रूप में जनमानस में गूँजता रहता है।

प्रखर चिंतक व विचारक तुलसीदास का भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रति विशेष अनुराग रहा, इसी अनुराग ने विश्व की श्रेष्ठतम कृति रामचरितमानस, लिखने की उन्हें प्रेरणा दी। भारतीय जनजीवन की सुरक्षा अकेले रामचरितमानस के बल पर हो सकती है। रामचरितमानस में समता के आदर्श की केवल कथनी ही नहीं वरन् करनी भी है। राम ने शबरी के जूठे बेर खाए, निषाद को गले

लगाया, जटायु का संस्कार किया। पक्षियों में नीच समझे जाने वाले काकभुसुंडि अपने कर्म से महान बने। भारतीय संस्कृति के सभी पक्षों की सार्थक चर्चा की गई है।

निबंध, काव्य ग्रंथों आदि में वर्णित संकेतों से इस बात का निश्चित प्रमाण मिल जाता है कि भारतीय संस्कृति को जानने के लिए साहित्य की परंपरा को जानने से बढ़कर कोई दूसरा उपयुक्त उपाय नहीं है। भारत की गौरवशाली संस्कृति, वैभवपूर्ण सभ्यता परंपराएँ हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्या निवास मिश्र, शिव पूजन सहाय, कुबेरनाथ राय, विवेकराय, डॉ॰ रामअवध शास्त्री के ललित निबंध उदात्त आदर्श के रूप में प्रेरित करते हैं।

मैकाले शिक्षा पद्धति ने भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का काम किया। वैश्विक प्रभाव में आकर अँग्रेजी को अर्थकारी बना लिया किंतु हिंदी समाप्त नहीं हुई वरन् बढ़ती गई। अपने माध्यम से अधिक-से-अधिक लोगों को जोड़ती गई। लेकिन यह पेट की नहीं हृदय की भाषा है। भारत उत्सव प्रधान देश है। हमारा उत्सवीय आचार व्यवहार होता है। यहाँ तो मृत्यु का भी उत्सव मनाया जाता है। उत्सवीय मन का भाव अँग्रेजी भाषा में नहीं प्रकट किया जा सकता। विदेशों में अँग्रेजी में बात करते-करते एक भी भारतीय मिल जाए तो मराठी, गुजराती, बांग्ला, भोजपुरी के साथ हिंदी बोलते ही आत्मीयता मिल जाती है। हिंदी भारतीय लोकजीवन की जीवंत भाषा है। लोग ज्ञान-विज्ञान की भाषा अँग्रेजी मानते हैं। जबकि रूस, जर्मनी, चीन, जापान आदि ने अपनी मातृभाषा को अपनाकर यह सिद्ध कर दिया कि अपनी मातृभाषा को अपनाकर ही विद्यार्थी अधिक सफल हो सकता है। हिंदी विश्व सचिवालय विदेशों में हिंदी का प्रचार-प्रसार करने और संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को शीघ्र संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाने के लिए कार्यरत है? शीघ्र ही हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकारिक भाषा बनने का दर्जा प्राप्त होगा। यूनेस्को की सात भाषाओं में हिंदी को भी मान्यता मिली है। विदेशों में रह रहे प्रवासी, 'प्रवासी दिवस' मनाते हैं जिसमें वहाँ के रहने वाले प्रवासी भारतीय भाग लेते हैं। भारतीयों की उपलब्धि के सम्मान में आयोजित कार्यक्रम में भारतीय गीत-संगीत हिंदीभाषा के साथ भारतीय मूल्यों का और अधिक विस्तार हो रहा है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी की अनुगूँज सुनाई पड़ रही है। हमारे देश के प्रधानमंत्री संयुक्त राष्ट्र महासभा में हिंदी में ही भाषण दिए। वर्तमान समय में विश्व स्तर पर हिंदी प्रभावशाली भाषा बनकर उभर रही है।

भारतीय गीतों की धुन पर अँग्रेजी कलाकार भी अपने उत्सवों में कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं हिंदीभाषा की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। हिंदीभाषा की शक्ति और क्षमता से हम सब भली-भाँति परिचित हैं। महात्मा गांधी ने कहा था–'राष्ट्रीय व्यवहार में हिंदी में काम करना देश की उन्नति में सहायक है।' हिंदी के लिए यह शुभ संकेत है कि वह अपनी सांस्कृतिक विरासत एवं धरोहर के कारण सरल सहज रूप से आगे बढ़ रही है।

संदर्भ

1. पंडित जवाहरलाल नेहरू, द डिस्कवरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण
2. एन॰के॰ बोस, कल्चर एंड सोसायटी इन इंडिया, 1955
3. मैक्स वेवर रिलीजन ऑफ इंडिया, 1910
4. रामस्वरूप द्विवेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
5. रामविलास शर्मा, साहित्य और समाज
6. समकालीन भारतीय साहित्य : विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009
7. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय

आधुनिकता का स्वर : मनु शर्मा के उपन्यास

कु॰ प्रियंका, शोध छात्रा
हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध कथाकार पद्मश्री मनु शर्मा जी की साहित्य-साधना और साहित्य-सर्जना से सम्पूर्ण हिंदी जगत सुपरिचित है। इन्होंने हिंदी कथासाहित्य की समृद्धि में एक नए अध्याय का सृजन किया है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो बरसों बाद मैं डायनासोर के जीवाश्म की तरह पढ़ा जाऊँगा। यह है 'मनुशर्मा की जबानी मनु शर्मा की कहानी।' यह आत्मविश्वास से सराबोर वाक्य लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचायक है। हिंदी के खेमेबंदी से दूर मनु शर्मा ने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है। साथ ही पौराणिक व ऐतिहासिक विषयवस्तु पर लेखन-कार्य में अपनी विशिष्ट व अप्रतिम शैली विकसित किया है। कृष्ण की आत्मकथा, द्रौपदी की आत्मकथा, द्रोण की आत्मकथा, कर्ण की आत्मकथा, गांधारी की आत्मकथा और अभिशप्त कथा आदि जैसी औपन्यासिक कृतियों में उन्होंने महाभारत तथा पुराणों का आधार अवश्य लिए हैं, लेकिन यहाँ पुराणों की कथा दोहराना उनका मकसद नहीं था बल्कि वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित कर समाज को सजग करना था। ये उपन्यास जहाँ एक ओर तत्कालीन देश-दशा के दर्पण हैं, वहीं दूसरी तरफ उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं देशप्रेम की संवाहक छवियाँ उभरती हैं।

यह निरूपण मनु शर्मा के सजग चिंतक एवं इतिहासबोध का परिचायक है। 'इन आत्मकथात्मक रचनाओं में रचनात्मक स्तर पर कुछ खास विशिष्टताओं की तरफ मैं संकेत करना चाहता हूँ। सबसे पहले हमारा ध्यान जिस बात की तरफ जाता है, वह यह है कि इन रचनाओं में पात्र उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना परिवेश है। पात्रों पर आधारित होने के बावजूद ये उपन्यास परिवेश के जीवंत चित्रण के माध्यम से समूचे युग की विडंबना और वेदना को विश्वसनीय स्वर देने में सफल हुए हैं। यह उनकी पक्षधरता है। यह अपने-आपमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान बात है।'[1]

मनु शर्मा ने महाभारत के प्रमुख पात्रों के चरित्रों का आधुनिक परिवेश में रेखांकित करने का प्रयास किया है। 'द्रौपदी की आत्मकथा', द्रोण की आत्मकथा, 'कर्ण की आत्मकथा', 'कृष्ण की आत्मकथा' (आठ खंडों में) और 'अभिशप्त कथा' लिखकर भारतीय सांस्कृतिक चेतना को नई पहचान दी है। पौराणिक पात्रों को मानवीय मर्यादाओं, सामाजिक मूल्यों से परिपूर्ण कर विश्वसनीय बनाया है। महाभारत के मानव मूल्यों के पतन की स्थिति वर्तमान युग के समान ही था। महाभारत काल में शासक एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए और जनता पर अपना प्रभाव जमाने के लिए हर प्रकार के नीति, कूटनीति तथा छलप्रपंच का प्रयोग कर श्रेष्ठता हासिल करने का प्रयास करते थे। महाभारत युग कई दृष्टियों से पतन की पराकाष्ठा का युग था।

शिक्षा के क्षेत्र में देखा जाए तो वही पुरानी स्थिति आज भी यथावत है। उस समय भी जाति और वर्ग भेद को प्रश्रय दिया जाता था। पक्षपात और जाति श्रेष्ठता के कारण आचार्य द्रोण ने अर्जुन

 ISSN 0975-735X

को ऊँचा उठाने के लिए निम्नवर्ग के एक शिष्य एकलव्य से गुरुदक्षिणा में उसका अँगूठा ही कटवा लिया। उन्होंने ऐसा करके गुरुदक्षिणा के आदर्श को सिर्फ कलंकित ही नहीं किया, बल्कि उसके आदर्श के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया।

'वाह रे गुरु और वाह रे तुम्हारी दक्षिणाएँ'। एक गुरु दक्षिणा में एक निष्ठावान शिष्य का अँगूठा और दूसरे में बंदी द्रुपद! तुम्हारी इन आकांक्षाओं के भीतर से तुम्हारे मन का कलुष झाँकता है द्रोण।'[2]

शिक्षा केवल पात्रता देखती है पात्र की जाति या वर्ग नहीं। कर्ण बहुत वीर था, किंतु अपनी जाति और गोत्र के कारण वह सदैव समाज में तिरस्कृत रहा। वह क्रुद्ध होकर अपनी जन्मात्री को कोसता है, जिसको सुनकर कुंती कर्ण से पूछती है कि तुम्हें विश्वास है कि वह अभी जीवित होगी। तब कर्ण कहता है–'अवश्य जीवित होगी। यदि उसे जीवन की लालसा न होती, तो मुझे न त्यागती। यदि कहीं वह मिलती तो पूछता–नीच, दुष्टा, पिशाचिनी, डाकिनी, मैंने क्या अपराध किया था जिसका इतना बड़ा दंड मुझे भोगना पड़ा।'[3] यदि देखा जाए तो वर्तमान में भी ऐसी घटनाएँ हमारे समक्ष घटित होती रहती हैं, यह समस्या आज भी बनी हुई हैं, जिसको मनु शर्मा ने इस उपन्यास में दिखाया है।

कथाकार ने आधुनिक नारी की मुक्ति और उनके अधिकारों के प्रति सचेत करने का प्रयास अपने विभिन्न नारी पात्रों यथा–द्रौपदी, गांधारी, सुशीला आदि के द्वारा दर्शाया है। कथाकार ने वर्तमान संदर्भ में नारी द्वारा घर की परिधि से निकलकर कोई काम धंधा या नौकरी पेशा करना, नारी मुक्ति और उनके अधिकारों के लिए चलाए जा रहे आंदोलन के पक्ष में अपने स्त्री पात्रों को दिखाया है। नारी की हठवादिता, द्वेष और क्रोध को देखा जाए तो पहले के ही समान आज भी वही स्थिति है। नारी जिस वस्तु या कार्य के लिए हठ कर बैठती हैं, तो उन्हें मनाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने पर जब अश्वत्थामा, द्रौपदी के पाँचों पुत्र और उसके भाई को निंद्रा में रात को वध कर देता है, तो द्रौपदी आग उगलने लगती है और अश्वत्थामा को मारने के लिए पांडवों से कहती है जिसका कृष्ण विरोध करते हैं। तब द्रौपदी क्रोध में कहती है–'बड़ा बना है ब्राह्मण। ...जिसने सोते हुए कवचहीन शूरवीरों का वध कर डाला, वह ब्राह्मण नहीं, देवता है। मैं कुछ नहीं जानती। उसे मारकर उसका सिर काटकर मेरे पास ले आओ, नहीं मैं अन्न–जल त्यागकर इसी युद्धस्थल पर अपना प्राण दे दूँगी।'[4]

राज्यलिप्सा में मनुष्य अपने कुल की मर्यादाओं को भंग होते देख सकता है, लेकिन सत्ता की लोलुपता को भंग होते नहीं देख सकता। जो प्राचीनकाल से लेकर आज भी समाज में विद्यमान है। कच इन्द्र के राज्य को वृषपर्वा से बचाने के लिए संजीवनी विद्या सीखने शुक्राचार्य के यहाँ जाता है। तो वह इंद्र से उनकी बेटी जयंती को भी अपने साथ ले जाने के लिए कहता है, जिसे इंद्र सहर्ष स्वीकार करते हुए जयंती को कच के साथ लगा देते हैं। उपन्यासकार ने इसे बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया–'हाय री राजलिप्सा!...इंद्र पुत्र छोड़ सकता है, पुत्री छोड़ सकता है, पर सिंहासन नहीं छोड़ सकता।'[5]

मनुष्य जब किसी काम में सफल हो जाता है तो उसका अहंकार बढ़ने लगता है और उसकी दूसरी मनोकामना को पूरी करने के लिए अग्रसर होने लगता है। जब यह मनोकामना अधिक बढ़ जाती है तो विनाश की ओर भी खींच ले जाती है। महाभारत युद्ध समाप्त होने के बाद पांडवों का अहंकार उन्हें राजसूय यज्ञ की ओर प्रेरित करता है, जिसे सुनकर कृष्ण विदुर से कहते हैं–'अब मैं सोचने लगा कि इच्छाओं का कोई अंत नहीं। एक इच्छा पूरी हुई नहीं कि तुरंत दूसरी ने जन्म लिया। अब हस्तिनापुर का सिंहासन मिला तो अश्वमेध दिखाई पड़ने लगा। मानवलिप्सा का यह अंतहीन सिलसिला है, जो इस मरीचिका के पीछे दौड़ा, अंत में मरीचिका ही उसे निगल गई।'[6]

विवाह की परंपरा भी वर्तमान समय में अपने पूर्व मान्यताओं के अनुसार बनी हुई है। आज

भी मनपसंद वर चुनने की पौराणिक परंपरा के अनुरूप ही चल रही है। कृष्ण को स्वयं अपनी बहन सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से रोकने के लिए अर्जुन द्वारा अपहरण करना पड़ता है। कृष्ण को भी रूक्मिणी और सत्यभामा से विवाह करने के लिए संघर्ष करना पड़ा था। पौराणिक उपन्यासों के माध्यम से कथाकार ने वर्तमान समाज के जनजीवन के स्तर की ओर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास किए हैं। आज भी विभिन्न टीवी शो पर, न्यूज पेपर में, सोशल साइट्स पर भी अपने वर-वधु चुनने की स्वतंत्रता है। इन्हीं सबका वर्णन मनु शर्मा ने अपने उपन्यासों में किया है।

भारतीय संस्कृति में धर्म का अत्यधिक महत्त्व है। हमारे समाज में प्रातःकाल उठकर माता-पिता, बड़ों का अभिवादन करने का चलन है। मनु शर्मा जी के उपन्यासों में धर्म का महत्त्व प्रेरणादायक रहा है, जैसे व्यक्तिगत धर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, विश्वधर्म, मानव धर्म, अलौकिक धर्म, शिष्य धर्म का ज्ञान दैनिक जीवन में अति आवश्यक है। मनु शर्मा ने 'कृष्ण की आत्मकथा', 'द्रोण की आत्मकथा', 'गांधारी की आत्मकथा', 'कर्ण की आत्मकथा' में माता-पिता के प्रति श्रद्धा तथा गुरुजनों के प्रति विनम्रतायुक्त श्रद्धा अभिवादन तथा सेवाभाव को दिखाया है। इनके उपन्यासों के अधिकांश पात्र अपने माता-पिता एवं गुरुजनों का सम्मान करते हैं। कृष्ण तो नंदबाबा, मामा कंस, गुरुजनों सभी के चरणस्पर्श करते हैं। यहाँ तक कि जब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आए सभी अतिथियों के पाँव धोने का काम भी स्वयं करने लगे। इस प्रकार यह देखा जाता है कि मनु शर्मा ने पौराणिक उपन्यासों में अनेक स्थलों पर मित्र, अतिथि और राजपूतों के आगमन पर होने वाली स्वागत की औपचारिकताओं का विस्तृत वर्णन किया है।

मनु शर्मा की रचना-प्रक्रिया का सर्वश्रेष्ठ उल्लेखनीय पक्ष यह है कि ये अतीत के संदर्भों की व्याख्या वर्तमान के प्रश्नों से जोड़कर करते हैं। द्रोण की आत्मकथा हो या द्रौपदी की आत्मकथा या कर्ण की आत्मकथा हो या कृष्ण की आत्मकथा या अभिशप्त कथा आदि उपन्यासों में शर्मा जी ने सभी को वर्तमान की यथार्थपरक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयत्न किया है। इनके पौराणिक उपन्यासों में वर्तमान जीवन के जटिल प्रश्नों के उत्तर तत्कालीन पात्रों, घटनाओं और कथानकों में खोजने की एक कारगर चेष्टा की गई है। इन्होंने महाभारतकालीन आंतरिक कलह से जर्जर और मोह से ग्रस्त तत्कालीन जीवन में वर्तमान को खोजने की जबरदस्त कोशिश की है जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। जाति वर्ग आदि से जुड़ी संकीर्ण मानसिकता न केवल इस काल में थी, बल्कि आज भी वह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। आचार्य द्रोण, धृतराष्ट्र, शकुनि, कर्ण, दुर्योधन, अर्जुन, द्रौपदी, भीम आदि पात्र आज के समाज में भी देखने को मिलते हैं।

संदर्भ

1. सोच-विचार पत्रिका, मनु शर्मा विशेषांक, मार्च 2015, पृ॰ 84
2. द्रोण की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 105
3. कर्ण की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 195
4. द्रौपदी की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 180
5. अभिशप्त कथा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 86
6. कृष्ण की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, भाग आठ, पृ॰ 258

सुपुत्री विनय कुमार
ग्राम व पोस्ट घोरेडीह करछना, प्रयागराज 212307 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ 9935793279

हरिशंकर परसाई कृत 'रानी नागफनी की कहानी' में व्यंग्य के विविध आयाम

डॉ॰ राजकुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी
वल्लभ राजकीय महाविद्यालय, मंडी (हि॰प्र॰)

आजादी के बाद के व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई का स्थान अग्रणी है। उनका समग्र साहित्य सामाज के प्रत्येक क्षेत्र की विसंगतियों के तिलिस्म का रहस्योद्घाटन है। आज हमारा समाज जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है, उसकी सटीक पड़ताल और उस पर सार्थक टिप्पणी व्यंग्य द्वारा ही संभव है। 'रानी नागफनी की कहानी' परसाई जी का एक लघु व्यंग्य उपन्यास है जिसे 'फंतासी' के माध्यम से कहा गया है। परसाई जी ने इस उपन्यास की भूमिका में लिखा है–'फंतासी' के माध्यम से मैंने आज की वास्तविकता के कुछ पहलुओं की आलोचना की है। 'फंतासी' का माध्यम कुछ सुविधाओं के कारण चुना है। लोक-कल्पना से दीर्घकालीन संपर्क और लोकमानस से परंपरागत संगति के कारण 'फंतासी' की व्यंजना प्रभावकारी होती है। यह व्यंग्य कथा एक ऐसी व्यवस्था का प्रतीक है जो पूर्णत: भ्रष्ट व दोगली है तथा उसके पात्र उस व्यवस्था के ही अलग-अलग चेहरे हैं। इस उपन्यास के माध्यम से व्यंग्यकार ने समाज के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ-साथ उसके वास्तविक चेहरे को उजागर कर पाठकों के घावों को कुरेदने की कोशिश है।

हरिशंकर परसाई की यह कथा ऐसी परिस्थितियों पर एक व्यंग्य है जो युवाओं को आत्महत्या के लिए मजबूर करती है जिसके परिणामस्वरूप वे दूसरी ही समस्याओं के जाल में फँस जाते हैं। जबलपुर में नर्मदा नदी पर स्थित 400 फुट ऊँचा एक जलप्रपात है जिसे 'भेड़ाघाट' के नाम से जाना जाता है। लेखक के अनुसार उस जमाने में परीक्षा में फेल होने वाले, असफल प्रेमी, बेरोजगार युवा, बिन-ब्याही माँ बनने वाली, मुकदमा हारने वाले, पति या पत्नी की बेवफाई आदि कारणों से लोग भेड़ाघाट जाकर आत्महत्या किया करते थे। ऐसे लोगों के सहायतार्थ तत्कालीन सरकार ने वहाँ 'आत्महत्या विभाग' भी स्थापित किया था। व्यंग्यकार ने व्यवस्था पर करारी चोट की है कि सरकार आत्महत्याएँ रोकने के स्थान पर इच्छुक लोगों के लिए आत्महत्या विभाग स्थापित कर सुविधाएँ प्रदान कर रही है।

उपन्यास का नायक अस्तभान 'राजा भयभीत सिंह' का पुत्र है। वह उन युवकों का प्रतिनिधित्व करता है जो पढ़ाई में रुचि नहीं रखते। लड़कियों से छेड़खानी करना, किताबें बेचकर सिनेमा देखना, प्राध्यापकों को परीक्षा में नंबर बढ़ाने के लिए रिश्वत देना, विश्वविद्यालय से कोरी कापियाँ व प्रश्न-पत्र चुराना आदि वह अपनी शान समझता है। परीक्षा में फेल होने को वह शिक्षण-व्यवस्था का दोष मानता है। वह बी॰ए॰ में लगातार चार बार असफल होने के कारण आत्महत्या के लिए भेड़ाघाट का चुनाव करता है। उधर दूसरी ओर उपन्यास की नायिका नागफनी 'राजा राखड़ सिंह' की बेटी है जो एक से अधिक युवकों से बिना सोचे-विचारे प्रेम-संबंध रखती है। प्रेम में निरंतर पाँच बार असफल रहने पर राजकुमारी नागफनी भी उसी स्थान पर आत्महत्या के

लिए पहुँचती है। यहीं उसकी मुलाकात अस्तभान से होती है। एक-दूसरे से निगाहें लड़ते ही वे आत्महत्या का विचार त्यागकर प्रेम में पड़ जाते हैं और शादी करने का फैसला करते हैं। उनके इस निर्णय के पश्चात् हास्यपूर्ण स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जो कथा में अन्य घटनाओं का निर्माण करती हैं। व्यंग्यकार ने सिचुएशनल कॉमेडी के माध्यम से आज के समाज के कटु यथार्थ को हल्के-फुल्के अंदाज में उजागर किया है। इस व्यंग्य कथा में प्रेम-कहानी के समांतर ही समाज और सरकार में फैले भ्रष्टाचार, महात्मा के वेश में समाज को छलने वाले डाकू, शिक्षा व्यवस्था में भ्रष्टाचार, सरकारी नौकरियों में सिफारिश व भाई-भतीजावाद, प्रेम और विवाह-संबंधी रूढ़िवादी मान्यताएँ, दहेज की सौदेबाजी, विलासिता व सत्तालोलुपता आदि विसंगतियों पर भी परसाई जी ने व्यंग्य-बाण चलाए हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास में पात्रों के नामकरण उनके कार्य-व्यवहार व चारित्रिक विशेषताओं को ध्यान में रखकर किए गए हैं जो अपने-आप में व्यंग्य का सृजन करने में सक्षम हैं।

'रानी नागफनी की कहानी' की हर घटना समाज के ऐसे पहलुओं को हमारे सामने लाती है जिसमें किसी-न-किसी रूप में बेईमानी, मक्कारी और दोगलापन भरा हुआ है। शिक्षण संस्थानों में होने वाले भेदभाव व शैक्षिक वातावरण को यथार्थतः प्रकट करता एक उद्धरण प्रस्तुत है—'दोनों कक्षा में बैठे-बैठे साथ मूँगफली खाते, पर पिटता मुफतलाल था। अस्तभान बच जाता, क्योंकि वह राजा का लड़का था। दोनों पुस्तकें बेचकर मेटिनी शो सिनेमा देखते। परीक्षा में दोनों एक-दूसरे की नकल करते...। बकरे की बोली बोलना दोनों ने एक-साथ सीखा था और दोनों लड़कियों के कालेज के चौराहे पर साथ-साथ बकरे की बोली बोलते थे।'[1] आज भी सरकारी शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों व शैक्षिक वातावरण की दशा इससे भिन्न नहीं है। छात्रों की शिक्षा-दीक्षा की अपेक्षा शिक्षक कहीं अन्य सरकारी कार्य व डाक बनाने में व्यस्त हैं, तो कहीं मिड-डे-मील का प्रबंध करने में। शहरी उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्यापक हैं तो विद्यार्थियों की संख्या उनके अनुपात से अधिक है। वर्तमान समय में भी सरकार के द्वारा शिक्षा के बुनियादी ढाँचे को सुदृढ़ करने के अधिकतर प्रयास विफल प्रतीत होते हैं।

आम आदमी शिक्षा प्राप्त कर अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है किंतु बड़े लोग अपनी पुश्तैनी जायदाद का बिना मेहनत उपभोग करते हैं। राजकुमार अस्तभान जब आत्महत्या करने का विचार अपने मित्र मुफतलाल के सामने प्रकट करता है तो वह उसे ढाँढस बँधाते हुए कहता है, 'आप ऊँचे खानदान के आदमी हैं। आपके कुल में विद्या की परंपरा नहीं है। आपके पूज्य पिता जी बारहखड़ी से मुश्किल से आगे बढ़े और आपके प्रातः स्मरणीय पितामह तो अँगूठा लगाते थे।... कुमार पढ़ना-लिखना हम छोटे आदमियों का काम है हमें नौकरी करके पेट जो भरना है। पर आपकी तो पुश्तैनी जायदाद है।'[2] भारत में आज भी ऐसे कितने ही तथाकथित राजा-महाराजा, उद्योगपति, ठेकेदार व नेता हैं जो कम पढ़े-लिखे या अनपढ़ होकर भी देश चला रहे हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त लोग उनके अधीन कार्य करने को मजबूर हैं तथा उनके दिशा-निर्देशों की अनुपालना करने में लगे हैं। यही भारतीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विडंबना है।

समसामयिक युग में जैसे-जैसे प्रैस का वर्चस्व बढ़ने लगा, वैसे-वैसे इस क्षेत्र में अनेक प्रकार की विसंगतियों व छल-छद्मों ने डेरा जमाना शुरू कर दिया। वर्तमान समय में राजनीति इस क्षेत्र को सर्वाधिक प्रभावित कर रही है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि पत्रकारिता के माध्यम से राजनीति का खेल बड़ी कुशलता से खेला जा रहा है। जहाँ कुछ पत्रकार ईमानदारी व सत्यनिष्ठा से पत्रकारिता कर रहे हैं, वहीं उन्हें नेताओं व असामाजिक तत्त्वों के विक्षोभ का शिकार

होना पड़ता है। 'पत्रकार परेशान नजर आ रहा था। उसने कहा, 'लेकिन आप जरा सोचिए तो। भैया सा'ब को सबेरे दो छींकें आईं, यह समाचार कैसे छपेगा? आखिर समाचार में कुछ महत्त्व तो...।'

सचिव ने उसे वहीं काटा, क्या कहते हो? महत्त्व नहीं है? बड़े आदमी की छींक का कोई महत्त्व नहीं?...इस बात को मत भूला करो कि तुम्हारे अखबार के आधे विज्ञापन भैया सा'ब के दिलाए हुए हैं और यह भी याद रखना तुम्हारे लिए फायदेमंद है कि मैनेजर से कह देने पर तुम्हारी नौकरी इसी क्षण जा सकतीहै।'[3] हरिशंकर परसाई ने पत्रकारिता के क्षेत्र में व्याप्त दुष्वृत्तियों, छद्ममानसिकता व उथलेपन को अपने मारक व्यंग्य प्रहारों द्वारा नग्न करते हुए लक्ष्य की धज्जियाँ बिखेरी हैं।

समाचार-पत्रों में छपनेवाले समाचारों एवं चित्रों को लक्ष्य कर परसाई जी ने उन पत्रकारों को अपने व्यंग्य का शिकार बनाया हैं जो केवल सनसनी पैदा करने वाली घटनाओं की तलाश में रहते हैं। इसे वे सफल पत्रकारिता का चिह्न मानते हैं। जब अस्तभान और नागफनी भेड़ाघाट में प्रेम के वशीभूत हो आत्महत्या का विचार त्याग देते हैं तब वहाँ उपस्थित पत्रकारों के समूह में खलबली मच जाती है। अस्तभान उनके पास जाकर इसका कारण पूछता है। तो 'वे बोले, 'हमें एक अच्छी स्टोरी मिल रही थी, पर वह बरबाद हो गई।'...

दूसरा कहने लगा, 'कुमार... आपने एकदम हमारी आशाओं पर पानी फेर दिया।'

एक पत्रकार माथा ठोककर कहने लगा, 'दो महत्त्वपूर्ण आत्महत्याएँ हो रही थीं। ऐसा अच्छा डी॰सी॰ (डबल कॉलम) समाचार जाता! हाय! अब क्या होगा?'[4] स्पष्ट है कि पत्रकार के लिए आत्महत्या जैसी संवेदनशील घटना भी एक खबर से अधिक कुछ नहीं है। वह केवल समाचार प्राप्त करने के लिए उतावला है।

साहित्य सृजन धरती पर गंगा अवतरण जैसा भगीरथ कार्य है जिसके लिए साधना की आवश्यकता है। अत: साहित्यकार का अध्ययनशील, संवेदनशील व संयमपूर्ण होना अनिवार्य शर्त है। साहित्य सृजन की उत्कंठा पाल लेने मात्र से समाजोपयोगी साहित्य का सृजन संभव नहीं है। उसके लिए सामाजिक बोध, रचनाधर्मिता, सार्थक प्रयोजन व साहित्यिक साधना के संकल्प की आवश्यकता होती है। अस्तभान नागफनी के विरह में जल रहा है। इसलिए उसका मन बहलाने के लिए एक कवि उसके पास भेजा गया। 'उसका रूप बड़ा विचित्र था। उसके बाल बड़े और रूखे थे, दाढ़ी बढ़ी हुई थी। ...उसके सिर से कफन बँधा था और पीछे दो आदमी सलीब लेकर चले थे।

अस्तभान...बोला, 'क्या आप कवि हैं?'

उत्तर मिला, 'हाँ, क्या आपको दिखता नहीं हूँ? मेरी वेश-भूषा से, मेरी मुखाकृति से, क्या मेरी काव्य-प्रतिभा प्रकट नहीं होती?'[5] भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो साहित्यकार होने के भ्रम में जीते हैं। इसके लिए वे अपनी वेश-भूषा, आदतें व दिनचर्या भी महान् साहित्यकारों की भाँति बना लेते हैं। ऐसे तथाकथित लेखकों के योगदान से किसी भाषा का साहित्य समृद्ध नहीं बनता। परसाई जी ने प्राचीन कवियों द्वारा गढ़ी गई उन काल्पनिक उपमाओं का उपहास उड़ाया है जिनका वास्तविक जगत से कोई संबंध नहीं है। राजकुमारी नागफनी अपने प्रेमी अस्तभान से बिछुड़ने के कारण विरह में जल रही है। उसकी सखि करेलामुखी उसका विरह बढ़ता देख कमरे में 'कूलर' लगा देती है। इससे उसे शांति प्राप्त होती है। 'उसने कहा, 'सखि, प्राचीन काल में कूलर नहीं थे तो विरहणियों को बड़ी तकलीफ होती होगी।'

करेलामुखी ने कहा, 'राजकुमारी उन बेचारियों का हाल मत पूछो। अब तो विरह में वैसी

हालत नहीं होती है। कवियों ने उनके बारे में जो लिखा है, उससे उनकी हालत का अनुमान होता है। विरहणी का शरीर तवे-सा तप जाता था और उसकी सखि गुलाब-जल छिड़कती थी, तो 'छन्न' की आवाज होती थी। ...जिस मुहल्ले में एक विरहणी होती, उसमें बारहों महीने ग्रीष्म ऋतु रहती थी।'[6]

परसाई जी ने चिकित्सा के क्षेत्र में व्याप्त छलनाओं, कमीशनखोरी व डॉक्टरों की मनमानी फीस पर भी व्यंग्य की चुटकी ली है। आज डॉक्टर इतने लालची हो गए हैं कि रोग के अनुसार इलाज नहीं बल्कि दवाओं के अनुसार रोगी को ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। अस्तभान जब नागफनी के प्रेम में पड़कर अस्वस्थ होता है तो एक डॉक्टर उसे अकारण ही 'पेनसिलिन' के इंजेक्शन लगा देता है और दूसरा उसकी पर्ची पर 'क्लोरोमाइसिन' लिख देता है। जब उससे इस दवाई को लिखने का कारण पूछा जाता है तो वह कहता है, 'बाजार में 'क्लोरोमाइसिन' का जो भारी स्टॉक पड़ा है, उसका क्या होगा? सालभर से टाइफाइड के केस लगभग नहीं हुए। दवाइयों का स्टॉक पड़ा सड़ रहा है।...हमारे पास दवा बनाने वाले एजेंट आते रहते हैं। ...हमें वे कमीशन देते हैं। हम भी यही प्रयत्न करते हैं कि एक बार मरीज हमारे पास आ जाए, तो जिंदगी भर न छूटे। इलाज जितना लंबा चलेगा उतनी ही फीस हमें मिलेगी और उतनी ही दवा बिकेगी।'[7]

भारत जैसे कुर्सी प्रधान देश की राजनीति में स्वार्थ, ढोंग, दोगलापन, झूठी बयानबाजी, करनी-कथनी के अंतर आदि को परसाई जी ने बड़ी कुशलता से उजागर किया है। 'इन राजनीतिक पुरुषों की शारीरिक बनावट ही अलग होती है। इन लोगों में कुछ तो अपनी आत्मा को शरीर में या शरीर के बाहर कहीं भी रख सकते हैं। ...एक नेता को मैं जानता हूँ जो अपना हृदय नाबदान में रखता है। एक और नेता हैं, जिनकी आत्मा तलुए में रहती है। जब चलता है, आत्मा को कुचलता जाता है।'[8] अत: स्पष्ट है कि राजनीति में बुद्धिजीवी, चरित्रवान और शुद्ध अंत:करण वाले लोगों का स्थान भ्रष्ट, चालाक, चापलूस व स्वार्थी लोगों ने ले लिया है जिससे भ्रष्टाचार, अन्याय व अनाचार आदि समसामयिक राजनीति का मूल बन गए हैं।

सरकारी नौकरियों में होने वाली सिफारिश और भाई-भतीजावाद को भी व्यंग्यकार ने बड़ी सटीकता से उजागर किया है। इनके आगे उम्मीदवार की मैरिट किसी काम की नहीं है। 'उम्मीदवारों के इंटरव्यू और चुनाव के लिए ...आयोग के सदस्यों के पास फार्म 'ख' पहले ही भेज दिया जाता था और वे दो प्रकार के प्रश्न बना लेते थे–जिसे लेना है, उसके लिए एक प्रकार के प्रश्न और जिसे नहीं लेना, उसके लिए दूसरे प्रकार के।'[9] मुफतलाल का चुनाव डिप्टी कलेक्टरी में इसलिए हुआ कि वह कुँवर अस्तभान का आदमी है। वर्तमान में भी इस सिफारिश और भाई-भतीजावाद रूपी दानव ने विकराल रूप धारण कर अपने दुष्प्रभाव से देश के लगभग प्रत्येक विभाग को ग्रसित कर लिया है।

राजा-महाराजाओं की विलासी प्रवृत्ति पर व्यंग्य का कुठाराघात करते हुए परसाई जी लिखते हैं कि पड़ोसी राज्य का अधिपति राजा निर्बल सिंह की अवस्था सौ वर्ष से ऊपर थी। उनकी पच्चीस रानियाँ थीं तथा 51 जीवित पुत्र थे। रोग के कारण प्रतिदिन उनकी मृत्यु की आशा की जाती थी किंतु एक दिन 'मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े राजा निर्बल सिंह ने नागफनी के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी। कराहकर उन्होंने करवट बदली और विलासमंत्री को पास बुलाया।...राजा ने लड़खड़ाती जबान में उसके कान में कहा, 'नागफनी से विवाह करूँगा।'[10] परसाई जी ने राजा निर्बल सिंह के माध्यम से वर्तमान भारतीय राजनेताओं पर कटाक्ष किया है। भारत में एक बार जो नेता बन जाता

है वह कभी सेवानिवृत्त नहीं होता। सत्ता में रहते हुए ये राजाओं जैसे ठाट-बाट प्राप्त कर लेते हैं और भोग-विलास में डूबे रहते हैं।

धर्मगुरुओं की पोल खोलने में भी परासाई जी ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। जेल से भागा हुआ डाकू जालिम सिंह संत का रूप धारण कर अपना नाम जोगी प्रपंचगिरि रख लेता है और नाम के अनुरूप ही कार्य करता है। 'मानव सेवा के लिए जोगी प्रपंचगिरि ने एक आश्रम खोला, जिसमें भगाकर लाई गई लड़कियाँ रखी जातीं और उनका व्यापार होता।...जोगी प्रपंचगिरि कहते थे– 'समाज में कितनी ही स्त्रियाँ बिन-ब्याही रह जाती हैं। उनमें साहस नहीं होता कि घर त्यागकर अपने लिए पति खोज सकें। मैं उन अभागिनों को अपने आश्रम में ले आता हूँ और योग्य पुरुषों से उनका विवाह कर देता हूँ। वे मेरी धर्म पुत्रियाँ हैं। मैं विधिपूर्वक उनका कन्यादान करता हूँ। जो थोड़ा-सा पैसा लेता हूँ, वह तो आश्रम के खर्चे के लिए जरूरी है।'[11] वर्तमान में भी ऐसे ढोंगी महात्मा अपने कपटी आचरण को छिपाकर धर्म भीरू भोले-भाले लोगों को मूर्ख बनाने का कार्य बड़ी कुशलता के साथ कर रहे हैं।

विकसित पूँजीवादी राष्ट्र शस्त्र निर्माण में अग्रणी हैं। वे अपने देश में निर्मित अस्त्र-शस्त्रों की माँग को विश्व के अन्य देशों में पैदा करने के लिए नई-नई चालें चलते हैं। इसी को शस्त्र व्यापार नीति कहा जाता है। व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने इस व्यंग्य कथा के माध्यम से इन चालों का कटु यथार्थ उजागर किया है। 'मैं तुम्हें बताता हूँ दो राज्यों में युद्ध कैसे कराया जाता है और उससे कैसे फायदा उठाया जाता है। ...हमने राजा राखड़ सिंह को 10 हजार तलवारें दे दीं। ज्यों ही निर्बल सिंह को मालूम हुआ, वह चिंता में पड़ गया। उसने कहा कि हमारे पड़ोसी राज्य के पास अधिक अस्त्र हो गए हैं, जिससे शक्ति संतुलन बिगड़ गया है। हमें राखड़ सिंह के राज्य से खतरा पैदा हो गया है। हमने 10 हजार तलवारें उसे भी दे दीं।...दोनों ओर से युद्ध की धमकी दी जाने लगी। हम मनमानी कीमत पर दोनों को हथियार बेचने लगे।'[12] शस्त्र व्यापार के लिए यही नीति अमेरिका द्वारा अपनाई जाती रही है। वह अपने देश में निर्मित अस्त्र-शस्त्रों की माँग को विश्व के अन्य देशों में पैदा करने के लिए नई-नई चालें चलता है। वह पहले दो देशों के बीच मतभेद पैदा कर उन्हें आपस में लड़ता है। तत्पश्चात् उन्हें एक-दूसरे से खतरा दिखाकर अपने यहाँ निर्मित हथियारों की मारक क्षमता की प्रशंसा कर उनका व्यापार करता है।

भारत देश में बेरोजगारी, महँगाई व भ्रष्टाचार मानो स्थाई समस्याएँ हैं। सरकारें केवल जनता का ध्यान एक समस्या से दूसरी की ओर भटकाने का कार्य करती हैं। अस्तभान अपने मित्र मुफतलाल को बताता है कि एक बार हमारे राज्य में भयंकर गरीबी फैली। लाखों भूखे और नंगे आदमी राजमहल के सामने इकट्ठे होकर अपने राजा से रोटी और कपड़ा माँगते। इस समस्या से निपटने के लिए पिता जी ने एक तरकीब निकाली। उन्होंने 'एक दिन बड़ी जोशीली अपील जारी की जिसमें कहा कि 'राजा निर्बल सिंह ने हमारी तीन वर्ग फीट जमीन अपने राज्य में मिला ली है। इस भूमि के निवासी, जो हमारे भाई हैं और हमारा धर्म मानते हैं, हमसे अलग हो गए हैं। हम यह बरदाश्त नहीं कर सकते। ...वीरो उठो, मातृभूमि के सम्मान के लिए खून बहा दो...।' बस लोग भूख-प्यास भूलकर लड़ने चल दिए। अन्न और कपड़े की समस्या अपने-आप हल हो गई।'[13] वर्तमान समय भी इसका अपवाद नहीं है। नेताओं के द्वारा जनता का ध्यान इन समस्याओं से हटाकर राजनीतिक बयानबाजी की ओर लगा दिया जाता है।

भारत में दहेज प्रथा की कुरीति प्राचीन समय से अब तक निर्बाध चली आ रही है जिसका

निराकरण आज तक नहीं हो पाया। समय के साथ-साथ उसके स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है। परसाई जी व्यंग्य कसते हैं कि जैसे ही अस्तभान की शादी की बात आती है तो राजा भयभीत सिंह अपने निजी सचिव को बुलाकर उसके जन्म से लेकर अब तक का खर्च पूछते हैं। उस राशि को वे वधु पक्ष से दहेज के रूप में वसूलना चाहते हैं। 'लड़के पैदा करना एक व्यवसाय है, यह गृह उद्योग है। अभी तक मैंने इस पर पूँजी लगाई है। अब माल बाजार में आ गया है, तब क्या मैं उसकी अच्छी कीमत नहीं लूँगा।'[14]

हरिशंकर परसाई जी ने इस व्यंग्य कथा के माध्यम से प्रेम व प्रेममार्ग की बाधाओं का निरूपण करते हुए समाज के विविध क्षेत्रों की विसंगतियों को उघाड़ा है। इस लघु उपन्यास की हर घटना समाज के ऐसे पहलुओं को विस्तृत रूप में हमारे सामने लाती है जिसमें किसी-न-किसी रूप में असंगति, बेईमानी और मक्कारी भरी हुई है। उन्होंने 'नागफनी' के प्रतीक से समकालीन भारतीय समाज के यथार्थ रूप को प्रकट किया है अर्थात् समकालीन समाज नागफनी का जंगल हो गया है और वातावरण दूषित, जहरीला व सड़ांधयुक्त। परसाई जी ने अपने व्यंग्य-बाणों की वर्षा से इन असंगतियों से समाज को स्वच्छ करने का प्रयास किया है।

संदर्भ

1. हरिशंकर परसाई, परसाई रचनावली-2, (संपादक मंडल), कमलाप्रसाद, धनंजय वर्मा, श्याम सुंदर मिश्र, मलय एवं श्याम कश्यप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवीं आवृत्ति : 2012, पृ॰ 13
2. वही, पृ॰ 14-15
3. वही, पृ॰ 71
4. वही, पृ॰ 30
5. वही, पृ॰ 34
6. वही, पृ॰ 32
7. वही, पृ॰ 41
8. वही, पृ॰ 70
9. वही, पृ॰ 49
10. वही, पृ॰ 52
11. वही, पृ॰ 59
12. वही, पृ॰ 57-58
13. वही, पृ॰ 57
14. वही, पृ॰ 66

 ISSN 0975-735X

देश विभाजन की त्रासदी और आजादी का अमृत महोत्सव

(डॉ॰ राजेंद्र मोहन भटनागर जी का साक्षात्कार)

संगीता रामनाथ देशमुख, पीएच॰डी॰ शोधछात्रा,
हिंदी अनुसंधान केंद्र, के॰टी॰एच॰एम॰कॉलेज
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे
डॉ॰ विजयप्रसाद अवस्थी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
गोखेले एज्युकेशन सोसायटी, संचालित-एच॰पी॰टी॰ आर्ट्स
एंड आर॰वाय॰के॰ साइंस कालेज, नासिक

मैं शोध छात्रा संगीता देशमुख, आजादी के अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य में हिंदी के प्रसिद्ध रचनाकार डॉ॰ राजेंद्र मोहन भटनागर जी से साक्षात्कार ले रही हूँ, क्योंकि मेरे मन में भी असंख्य प्रश्न हैं। प्रसंग और घटनाएँ हैं। उसका समाधान तथा अर्थ जानने के लिए मैं विवश हूँ। डॉ॰ भटनागर जी ने भारत की आजादी से संबंधित कई पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने इतिहास को समझाने के लिए नाटक एवं उपन्यासों पर भी काम किया है।

डॉ॰ राजेंद्र मोहन भटनागर जी का जीवन परिचय

भटनागर जी का जन्म अंबाला रोहतक हरियाणा में 2 मई 1938 संपन्न जमींदार परिवार में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा में संपन्न हुई। उनके पिता अँग्रेजी फारसी तथा उर्दू के विद्वान थे, परंतु उन्हें हिंदी से बिल्कुल लगाव नहीं था। भटनागर जी को हिंदी से अगाध प्रेम था। वे किसी भी स्थिति में हिंदी को जोड़ने के पक्षधर थे उन्होंने विद्रोह ऊर्जा का उपयोग सृजनात्मक कार्य में लगा दिया। उन्होंने विविध विधाओं में करते हुए मौलिक लेखन किया है। ऐतिहासिक नाटक एवं उपन्यास से यह सिद्ध हुआ है कि भटनागर जी ने हिंदी साहित्य के विविध साहित्यकारों से प्रेरणा ली है। जयशंकर प्रसाद, सेठ गोविंददास, वृंदावनलाल वर्मा, जगदीशचंद्र माथुर आदि की परंपराओं को आगे बढ़ाया है। उनका साहित्य फ्रेंच, कन्नड़, मराठी, अँग्रेजी, गुजराती, मलयालम आदि अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ है। उन्हें राजस्थान साहित्य अकादमी का 'विशिष्ठ साहित्यकार सम्मान' से पुरस्कृत किया गया है।

डॉ॰ भटनागर जी का साहित्यिक परिचय

उपन्यास : दिल्ली चलो, गौरांग, दंश, नीले घोड़े का सवार, न गोपी : न राधा, स्वराज्य, कुली बैरिस्टर, राज राजेश्वर, सरदार, अंतिम सत्याग्रही, रास्ता यह भी है, एक अंतहीन युद्ध, रिवोल्ट, मोनालिसा, प्रेमदीवानी, युगपुरुष अंबेडकर, महाबानो, जिंदगी का एहसास, माटी की गंध, परिधि, माटी की पुकार, वैलेंटाइन डे, टूटे आकार, नया मसीहा, कायदे आजम, विवेकानंद, तमसो मा ज्योतिर्गमय, सत्यमेव जयते, सर्वोदय, मंचनायक, अंदर की आग, मन्ना बेगम, वसुधा, शुभप्रभात, वाग्देवी, जोगिन, अनंत आकाश, खुदा गवाह है, श्याम प्रिया, अमृत घट 2000, रूठी जिन्ना (मोहब्बत की एक ऐतिहासिक दास्तान 2016, तमसो मा ज्योतिर्गमय, सर्वोदय, सत्यमेव जयते, नील

घोड़े का सवार, दंश, दिल्ली चलो, प्रेम दीवानी, न गोपी : न राधा, अंतिम सत्याग्रही, वसुधा, शुभ प्रभात, विकल्प, महाबानो, सूरश्याम, महात्मा आदि।

कहानी : बस्ती दर्द, मोम की उँगलियाँ, चाणक्य की हार, एक टुकड़ा धूप, माँग का सिंदूर, थामली, गौरैया, अंजाम, सप्त किरण आदि 11 कहानी-संग्रहों की रचना की है।

नाटक : दुरभिसंधि (1997), सुर्यानी (1997, कुंती के जीवन पर आधारित), मीरा (1988, मीरा के जीवन पर आधारित), शताब्दी पुरुष (1999), अगस्त्य क्रांति (2002), भोरम देव (2013), महाप्रयाण (1989), माटी कहे कुमार से (1993), ताम्रपत्र (1992), सेनानी, रक्तध्वज (1992, आदिवासियों के आस्था केंद्र गोविंद गुरु के अल्पसंख्यत जीवन प्रसंगों पर आधारित), संध्या का भोर (1997) मछली प्यासी है, मारो तो गिरिधर गोपाल, वक्त की आवाज, जननायक, आधी आजादी आधी गुलामी (1972), उनकी साहित्य लेखन में ज्यो रुचि है। वह वर्तमान में भी निरंतर जारी है। उनके साथ बातचीत के दौरान हमें जानकारी प्राप्त हुई कि उनका छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन पर उपन्यास का लेखन जारी है। साहित्य लेखन में उनका व्यक्तित्व बहुआयामी है। समाज केंद्रित विषयों पर गहरी पकड़ दिखाई देती है। देश को आजाद होकर पचहत्तर वर्ष पूरे हो रहे हैं इसी संदर्भ में उनके मन की उधेड़बुन इसी साक्षात्कार के माध्यम से हमें दृष्टिगोचर होती है। हमने उनकी प्रतिभा और विचारों की गहराई को जानते हुए उनके आत्मचिंतन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है–

प्रश्न : मैं डॉ॰ भटनागर जी से जिज्ञासावश जानना चाहती हूँ कि 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र हुआ और विभाजित भी। आप विभाजन की त्रासदी और अमृत महोत्सव के बारे में क्या सोच रहे हैं?

उत्तर : (भटनागर जी)–बिल्कुल ठीक कहा है संगीता जी, वास्तव में 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र हुआ था। लेकिन स्वतंत्रता का मूल्य जिस रूप में उसे चुकाना पड़ा था वह दर्दनाक प्रलय का दृश्य उपस्थित हुआ था। कभी किसी ने यह नहीं सोचा था कि ऐसा भयंकर अमानवीय संहार इस धरती पर संभव होगा। यह अमृत महोत्सव किसके लिए है? यह प्रश्न मन में उठता है। हम इस दुर्घटना से क्यों नहीं बचे? अथवा निर्दोष जनता को क्यों मरवा दिया? आजादी के साथ ऐसी कोशिश क्यों नहीं की गई कि देश का विभाजन तो हो, लेकिन दोनों देश में रहेनेवाले हिंदू मुस्लिम जो वहीं रहें जहाँ रह रहे थे। राष्ट्र मजहब का नहीं होता इंसानों का होता हैं और इंसानों का धर्म कौन-सा भी हो सकता हैं। यह मारकाट केवल इसलिए मची कि मुसलामानों ने मान लिया कि पाकिस्तान मुस्लिमों का राष्ट्र है। मुस्लिम राष्ट्र में हिंदुओं को रहने की इजाजत नहीं दी जाएगी। यह उनका वहम था। विभाजन के समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि धर्म के आधार पर दोनों देशों में कोई भी इधर-से-उधर तब तक नहीं होगा जब तक कि जहाँ वो जाना चाहता है वहाँ का देश स्वीकार नहीं करता। यदि यह हुआ होता तो दोनों देशों के आने-जाने वाले निवासियों की हर प्रकार से सुरक्षा की जाँच कर लेते। कौन कहाँ जा रहा है? वहाँ उनको बसाने के लिए वह देश क्या करेगा? तब यह भगदड़ नहीं होती और जो जहाँ रह रहा है वहीं रहता, तो यह प्रलयंकारी दृश्य भी सामने नहीं आता।

प्रश्न: माना कि यह घटना किसी रक्त क्रांति से कम नहीं थी, फिर भी मैं जानना चाहूँगी कि यह आप किस आधार पर कह रहे हैं?

उत्तर : (भटनागर जी)–आपका प्रश्न जायज है। उस समय हिंदुस्तान का नहीं जमीन का बँटवारा हुआ था और उस बँटवारे में जो जहाँ चाहे रह सकता था। यह धर्म का बँटवारा नहीं था।

हिंदू-मुस्लिम का बँटवारा नहीं था। यह तो एक नया देश जो भारत में बन रहा था। उसका नाम पाकिस्तान रखा गया। अब पाकिस्तान में जो भी रह रहा है वो रह सकता है। हिंदुस्तान में रहना चाहता है, रह सकता है। फिर भी मन में छिपी एक देश से दूसरे देश में जाने की इच्छा होती तो यह जिस देश में रह रहे हैं वह प्रार्थना पत्र देते कि हम अमुक देश में जाना चहते हैं; वो प्रार्थना पत्र इकट्ठे करके उस देश को भेज दिए जाते और वह देश उनको आने की इजाजत दे देता। तब वो वहाँ सही-सलामत पहुँच जाते, उनकी रहने की व्यवस्था भी हो जाती। लड़ाई दंगा भी नहीं होता। अभी बरमा से जो लोग निकाले गए वो भारत में आए, वो रहने के लिए अन्य देशों में गए थे। तो वो गलत हुआ है, किसी देश से किसी व्यक्ति को खदेड़ा नहीं जा सकता। अगर खदेड़ना जरूरी हो तो नियम-कायदे से कानूनी ढंग से एक जगह से दूसरी जगह भेजा जाए। इसके लिए दोनों की रजामंदी होनी चाहिए। यदि किसी देश में दूसरे देश के लोग आ जाते तो उनको उस देश में वापस भेज देना चाहिए। यह बंदोबस्त उस देश को करना चाहिए। जिस देश में दूसरे देश के लोग आ रहे हैं और उसमें उनकी इच्छा प्रधान होनी चाहिए। क्यों आए हो? क्या आपको तंग किया जा रहा है? देश में तंग किया जा रहा है तो संघर्ष करना चाहिए। हमारे यहाँ कोई मुसाफिरखाना नहीं खोला हुआ है। जो यहाँ आकर ठहर जाए। आप हमारे देश के नागरिक नहीं हो इसलिए जहाँ की नागरिकता आपको मिली हुई है वही आपका देश है। वहीं रहिए, संघर्ष करना है तो वहीं कीजिए। यदि ऐसा होता, तो यह विभाजन शांति से हो जाता। परंतु यह विभाजन सोच-विचार से नहीं हुआ बल्कि जल्दबाजी से हुआ। इस जल्दबाजी के कारण भयंकर प्रलयकारी दृश्य प्रस्तुत हुआ जिससे आदमी काँप उठा है।

प्रश्न : विभाजन के समय देश का माहौल कैसा रहा था?

उत्तर : (भटनागर जी)–वास्तव में भारत को आजादी 1948 को मिलने वाली थी। आजादी से पूर्व ही देश में दंगे खड़े हुए। उन दंगों ने देश विभाजन की मानसिकता को जन्म दिया था। कोलकाता इत्यादि जगहों पर खून-खराबा प्रारंभ हो गया था। वह सब देखते हुए जैसे अंबेडकर द्वारा अपने अनुसूचित और उपेक्षित जाति के लिए स्थान की माँग तथा उपेक्षित और अनुसूचित जातियों के लिए जगह का निर्धारण किया। इस दौरान राजाओं को दी गई स्वतंत्रता ने उस समय के माहौल को आतंकित कर दिया था। एकता संकट में पड़ती प्रतीत होने लगी थी। फिर भी यह प्रयास किया गया कि किसी तरह से भारत और पाकिस्तान अपना अस्तित्व पुनर्स्थापित कर सकें। काँग्रेस नहीं चाहती थी कि उपेक्षित जातियों के आधार पर इस देश का विभाजन किया जाए। पाकिस्तान मुसलमानों के लिए बना है। इस बात को ध्यान में रखते हुए विभाजन की रूपरेखा स्वीकार की जा सकती है। ध्यान रखने वाली बात यह है कि उस समय भारत को वर्ष 1948 में स्वतंत्रता मिलने की चर्चिल द्वारा घोषणा हो चुकी थी। उस समय यह निर्धारित नहीं था की पाकिस्तान और हिंदुस्तान का बँटवारा कैसे होगा। 1942 की क्रांति का बिगुल ज्यो महात्मा गांधी ने बजाया था वह अहिंसा छोड़कर हिंसा में बदलता चला गया ।1942 की क्रांति को अहिंसात्मक क्रांति के रूप में नहीं देखा जा सकता तब भी काफी लोग मरे थे। घायल हुए थे। बर्बाद हुए थे।1948 तक विभाजन रोका जा सकता था यदि उस समय मोहम्मद अली जिन्ना नहीं होते। यह वही जिन्ना है जिन्होंने पाकिस्तान के अस्तित्व को कभी स्वीकार नहीं किया था। वह मानते थे देश धर्म जाति का नहीं होता मानव से बनता है और मानव धर्म की संकल्पना किसी देश हित के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। लोकतंत्र का यही अर्थ है परंतु थकी हुई काँग्रेस तथा देश के बिगड़ते माहौल आशा अपेक्षाओं में चलती उधेड़बुन इत्यादि ने ऐसे हालात पैदा किए कि कांग्रेस अपने धैर्य की परीक्षा देने में सफल नहीं हो पाई।

प्रश्नः आजादी शब्द से आपका क्या आशय है?

उत्तर : (भटनागर जी)–जब भारत के गवर्नर जनरल माउंट बेंटन थे। 1947 की बात है जब राजाओं को आजादी मिल रही थी। मुसलमानों को आजादी मिल रही थी। उसके पीछे सिक्खों और उपेक्षित और शोषित जातियों की आजादी की बात चल रही थी तो हो सकता है कि यह सोचा गया हो कि यदि अभी आजादी प्राप्त नहीं की... तो आगे आने वाले समय में आजादी प्राप्ति का मार्ग कठिन हो सकता है वह अनेक वर्गों में विभाजित हो सकता हैं। जवाहरलाल नेहरू और पटेल को बँटवारे के ड्राफ्ट पर अपने हस्ताक्षर तब तक नहीं करने चाहिए थे जब तक काँग्रेस समिति के सामने उसे प्रस्तुत नहीं कर दिया जाता। डॉ॰ राममनोहर लोहिया ने यह सवाल गांधी के सामने उठाया था क्योंकि आजादी की लड़ाई जनता ने लड़ी थी और जनता को मालूम नहीं था कि देश की आजादी किस प्रकार से बँट रही हैं और कौन बाँट रहा है? कुछ पता ही नहीं था। न हिंदू जानता था, न मुसलमान, वो कहाँ जाएगा? कैसे जाएगा? कैसे रहेगा? क्या इतनी बड़ी जनसंख्या का प्रबंध यह देश कर पाएगा? इसका कुछ प्रबंध होता तो यह भगदड़ नहीं मचती। यह भगदड़ का समय नहीं था। यह बहुत शांति का समय था। यहाँ अहिंसा की जरूरत थी। यहाँ उत्तेजना की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इन लोगों ने यह बात दूर तक नहीं सोची कि उसके दूरगामी परिणाम ऐसे भयंकर हो सकते हैं। विभाजन की त्रासदी के परिणामतः अबला स्त्रियों का हरण हुआ। नाजायज छोटी उम्र की बच्चियों के साथ दर्दनाक और अमानवीय दुर्घटनाएँ हुईं। उस रोकथाम के लिए नहीं लगता है कि सरकार कुछ ऐसा कर पा रही थी जिससे कि इस भयानक स्थिति से, अमान्यता से स्त्रियों को मुक्ति मिल सके। आज भी स्त्री स्वतंत्र रूप से रात में यहाँ वहाँ जाने में कतराती है, डरती है, कुछ भी हो सकता है। आज का यह स्वरूप भयानक मानव हत्या के संतप्त चेतना हमको यह याद दिलाना चाहती है कि उस समय सोच-विचार कर निर्णय लिया जाता तो हो सकता था कि आज के रूप में पुनरावृत्ति नहीं होती। चारों तरफ भ्रष्टाचार फैल रहा है। मूल्य का आधार नहीं रहा है। भौतिक रूप से संकल्पना अलग चीज है। मानवीय रूप से मनुष्य के विकास की चेतना उसका आगे बढ़ना परस्पर मैत्री भाव का जन्म लेना यह सब कहाँ चला गया? और क्यों चला गया? क्या हमने आजादी के बाद उन मूल्यों को संस्कार प्रदान किए जिन मूल्यों से देश का सपना साकार हो सकता था। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो निश्चित रूप से वैभवशाली परंपरा को क्षति पहुँची है। इसमें वेद मंत्र और विश्व ही हमारा कुटुंब है यह भाव जिसमें सन्निहित है वह कहीं दिखाई नहीं देता। यह संपूर्ण विकास उस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकता जो मानवीय चेतना के आधार पर परस्पर मैत्री भाव विकसित कर आत्मीयता के परिवेश को जन्म दे सके और हम सब एक उदाहरण बन सके। स्वतंत्रता का अर्थ अराजकता नहीं है। अराजकता का प्रचार हो रहा है। समझ में नहीं आ रहा है कि किस प्रकार से जिन लोगों के लिए आजादी का सपना हमने देखा था उन्हीं लोगों को परेशान क्यों होना पड़ रहा है? गरीब और गरीब होता जा रहा है तथा अमीर लोगों को सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं इसलिए अमीर अधिक अमीर होता जा रहा है। आर्थिक और मानवीय स्तर पर जिन लोगों के लिए आजादी हमने चाही थी सदियों तक इस बात को लेकर चिंता ही करती रह जाए, कुछ हो नहीं पाए, कहीं तो देश को दिशा एवं दृष्टि तो दिखती नहीं की जिससे यह देश मजबूत हो सके। लोकतंत्र में ईमानदारी हिस्सा बन सकती है लेकिन जातिवाद आधार बना हुआ है और जाति के खिलाफ लोकतंत्र की बात आगे बढ़ाने वाले नेताओं की कमी नहीं है। इसलिए आज आवश्यकता है ऐसे समाज की संकल्पना को साकार करने के लिए वे लोग सामने आए जो लोकतांत्रिक व्यवस्था को

 ISSN 0975-735X

सामने लाकर बढ़-चढ़कर कुछ करने की दिशा प्राप्त कर मानव जाति के सामने ऐसा उदाहरण पेश कर सके जिससे कि लोकतंत्र जो निरंतर अराजक तानाशाही में बदलता जा रहा है। चीन जैसे देशों ने बदल भी दिया है उससे बचा जा सके। आज युवा पीढ़ी संकट में है क्योंकि वह भी अपने-आपको ही हिस्सों में पा रही है। विनाशक शक्तियों का आविष्कार मानव को मारने के लिए मानव से प्राप्त सुविधाओं का दुरुपयोग करने के लिए, मानवीय संवेदनाओं का दुरुपयोग करने के लिए क्या जरूरी था? इसलिए मैं सोचता हूँ कि यह अमृत उत्सव उन सभी बातों पर पुनर्विचार करने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

जिनके कारण हमने आजादी के रक्तरंजित विशेषताओं को भोगा था तभी भी भोगा था। आज भी भोग रहे हैं। उससे बचने के उपाय तलाश किए जा रहे हैं। सत्य तो यह है कि हमने जो अमृत महोत्सव मनाने का ईमानदारी से प्रयास किया है तो संभव है कि हम अपने आसपास देखेंगे, जो लोग सत्ता में बैठे हुए हैं वह मनुष्य को मनुष्य नहीं समझते। वर्तमान समय में कोरोना की मार चल रही है कोरोना हमारे दुष्कर्मों का ही परिणाम है जो चेतावनी देने के लिए आया है। मनुष्य अपने काले कारनामों से अपने को मुक्त करें। इंसानियत के साथ एक-दूसरे को स्वीकार करें। यदि नहीं करेंगे तो यही प्रलय में बदल जाएगा और यह उसका संकेत है। अभी समझ जाओ। हथियार बनाना बंद करो, हथियारों की मंत्रणा बंद करो। विनाशक हथियार बनाने की एक-दूसरे की 'कंपटीशन' तो हमारे जीवन को समाप्त करेगी।

इस प्रकार कभी भी चिंतन नहीं किया गया और थोड़ा-बहुत चिंतन कभी हुआ तो उसे कार्यरूप में प्रतिफलित नहीं किया। परिणामस्वरूप आज भी पाकिस्तान और हिंदुस्तान एक-दूसरे पर इल्जाम लगाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हम जो कर रहे हैं या किया है वही सही रास्ता है। हिंदुस्तान में इस प्रकार गहन चिंतन किया गया। अपनी जनता को मजहब के आधार पर नहीं देखें। लेकिन उसमें ऐसा नहीं किया उसी का फल है। आज जब कश्मीर के निवासियों को संरक्षण नहीं मिल रहा है। जिनको लाचार विवश होकर कश्मीर छोड़ना पड़ा था। लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले को चाहिए कि इंसानियत को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाए और आतंकवाद को खत्म किया जाए।

संगीता : सादर प्रणाम तथा हृदय से धन्यवाद।

संदर्भ

1. डॉ॰ प्रतिमा श्रीवास्तव, हिंदी नाट्य साहित्य में डॉ॰ भटनागर के नाटकों का मूल्यांकन, सरिता प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2018
2. डॉ॰ राजेंद्रमोहन भटनागर, शताब्दी पुरुष, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 1999
3. दुरभिक्ष संधि, पुनीत प्रकाशन, जयपुर प्रथम संस्करण, 1997
4. सुर्याणी, प्रकाशक किशनलाल गाडोदिया, बीकानेर, प्रथम संस्करण 1987
5. भोरम देव, सुनीता प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 2013
6 मेरे साक्षात्कार, मोहन राकेश, संस्करण 2011

5, Rampurwala Row house
Godebaba Nager , kathe lane Dwarka,
Nasik 422011 M.H.
Mob. 7588539387
sangeetabalbhim@gmail.com

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नारी चेतना

प्रा॰ कमलाकर नवघरे, हिंदी विभाग
रा॰सुं॰ बिडकर कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, हिंगनघाट
डॉ॰ संतोष गिरहे, हिंदी विभाग
राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

भारतीय समाज की विभिन्न चेतनाओं, मूल्यों को समझने का सर्वाधिक उपयुक्त, सशक्त माध्यम साहित्य ही है। साहित्य की विभिन्न विधाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि काव्य, नाटक, कहानी या अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में उपन्यास जीवन का अधिक व्यवस्थित और सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। हिंदी कथासाहित्य में उपन्यास मानव जीवन के यथार्थ अभिव्यक्ति है। नारी चेतना पर लिखने वाले उपन्यासकारों में प्रभा खेतान का नाम अग्रणी है। इनका 'छिन्नमस्ता' उपन्यास नारी चेतना पर लिखा गया प्रसिद्ध उपन्यास है। पुरुषप्रधान समाज में नारी जीवन में कई सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। लिंग भेदभाव की समस्या, यौन शोषण तथा यौन उत्पीड़न की समस्या, आर्थिक समस्या, स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधित समस्या, नारी के प्रति हिंसा की समस्या, दहेज की समस्या, शिक्षा की समस्या, अपने अस्तित्व को बचाए रखने की समस्या आदि समस्याओं से घिरी आधुनिक नारी का चित्रण प्रभा खेतान ने अपने 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में किया है।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यास साहित्य में नारी चेतना पर कई उपन्यासकारों ने अपनी कलम चलाकर नारी शोषण तथा नारी के जीवन संघर्ष की व्यथा को उजागर करने का प्रयास किया है। नारी के हक, अधिकार, कर्त्तव्य, महिमा की बात केवल ग्रंथों तक सीमित है, प्रत्यक्ष जीवन में नारी आज भी अपने हक तथा अधिकार प्राप्ति हेतु समाज में लड़ रही है। नारी को देवी मानने वाले लोग प्रत्यक्ष जीवन में नारी का शोषण कर रहे हैं, नारी को उसके अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है। मंदिर में नारी की देवी मानकर पूजा और प्रत्यक्ष समाज में उस पर अत्याचार ऐसी दोयम भूमिका समाज में दिखाई देती है। पुरुषप्रधान समाज के इस ढोंग या दिखावे को आईना दिखाने और नारी को उसके अधिकार दिलाने के लिए इक्कीसवीं सदी में कई उपन्यास लिखे गए हैं।

इक्कीसवीं सदी की नारी अबला नारी नहीं तो, एक संघर्षशील नारी है। सदियों से चारदीवारी के भीतर दबी नारी आज बाहर निकलकर अपने हक के लिए संघर्ष कर रही है। ऐसे संघर्षशील नारी को केंद्र में रखकर इक्कीसवीं सदी में कई उपन्यास लिखे गए हैं। उषा प्रियंवदा का 'अंतर्वशी', अनामिका का 'दस द्वारे का पिंजरा, मैत्रेई पुष्पा का 'चाक', अलका सरावगी का 'शेष कादंबरी, 'एक ब्रेक के बाद', जयंती का 'खानाबदोश', 'ख्वाहिशें', अनामिका का 'तिनका तिनके पास' आदि ऐसे कई उपन्यास हैं जिनमें नारी अपने सशक्त रूप को पहचानकर, परंपरागत लीक से हटकर कार्य कर रही है। वर्तमान नारी अपने पंखों को मजबूत कर, परंपरागत रूढ़ियों को त्याग कर उड़ान भरने के लिए तत्पर है। जिस पुरुष प्रधान समाज की चिंता करते हुए आज तक वह दबी हुई थी, आज उसी समाज को ठोकर मारकर वह अपनी मर्जी से जीना चाहती है, जी रही है। छिन्नमस्ता

 ISSN 0975-735X

की प्रिया इसका सशक्त उदाहरण है।

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नारी चेतनाः

नारी चेतना पर लिखने वाले उपन्यासकारों में प्रभा खेतान का नाम अग्रणी रूप में उभरकर आता है। इनका छिन्नमस्ता उपन्यास नारी चेतना पर लिखा गया प्रसिद्ध उपन्यास है। पुरुषप्रधान समाज में नारी जीवन में कई सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। लिंग भेदभाव की समस्या, यौन शोषण तथा यौन उत्पीड़न की समस्या, आर्थिक समस्या, स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधित समस्या, नारी के प्रति हिंसा की समस्या, दहेज की समस्या, शिक्षा की समस्या, अपने अस्तित्व को बचाए रखने की समस्या आदि समस्याओं से घिरी आधुनिक नारी का चित्रण प्रभा खेतान ने अपने छिन्नमस्ता उपन्यास में किया है। इस उपन्यास की प्रिया उपर्युक्त सभी समस्याओं से ग्रस्त है। विवाह से पहले पिता पर और विवाह के बाद पति पर निर्भर बनकर रहने वाली प्रिया अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करती है। संघर्षरत प्रिया कभी-कभी अपने-आपको बेसहारा मानकर टूट जाती है, हार जाती है, आँसू बहाती है, फिर भी वह लड़ती है। खुद के लिए, छोटी माँ के लिए, अपनी भाभी के लिए, दाई माँ के लिए और कभी नाजायज कही जाने वाली नीना के लिए।

प्रभा खेतान ने अपने इस उपन्यास में लिंग भेदभाव की समस्या को मुखर किया है। पुरुषप्रधान समाज में सदियों से नारी को दोयम स्थान दिया गया है। नारी की तुलना पशु, गँवार आदि से की गई है। स्त्री को उसके अधिकारों से वंचित रखकर केवल पति की सेवा करने का धर्म ही सिखाया गया है। पति को परमेश्वर मानकर मात्र उसकी सेवा करना यही उसके जीवन का लक्ष्य बताया गया है। इस संदर्भ में डॉ॰ रमा नवले कहती हैं–नारी पुरुष को आह्लादित करने के कारण प्रमदा है, सौंदर्य को बुनने के कारण वयति सौंदर्यम है, रम्या होने के कारण रमणी है, पति द्वारा भरण-पोषण होने के कारण भार्या है, बलरहित होने के कारण अबला है, आँगन एवं महल से संबंधित होने के कारण अँगना एवं महिला है, अगर नहीं है तो 'स्त्री' या केवल 'मनुष्य'।'[1] जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री से भेदभाव किया जाता है। यह भेदभाव केवल निर्धन या अपढ़ समाज में ही नहीं तो, संपन्न और शिक्षित समाज में भी देखा गया है। लड़की के जन्म लेते ही परिवार द्वारा उस पर निर्बंध लादे जाते हैं, लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है। परिवार में लड़के के जन्म लेने पर गाजे-बाजे के साथ मिठाई बाँटकर जन्म का हर्षोल्लास प्रकट किया जाता है। लड़के के जन्म से ही उसके स्वास्थ्य, शिक्षा, नौकरी की चिंता परिवार करने लगता है। ठीक इसके विपरीत लड़की का जन्म अभिशाप माना गया है। लड़की के जन्म लेते ही, परिवारिक वातावरण ऐसा बन जाता है जैसे परिवार में मातम छाया हुआ हो। स्त्री की इस परिस्थिति पर आमीर खुसरो कहते हैं कि 'मैं चाहता था कि तुम्हारा जन्म ही नहीं होता और यदि होता भी तो पुत्र रूप में। कोई भाग्य का विधान नहीं बदल सकता, परंतु मेरे पिता ने एक स्त्री से जन्म लिया और मुझे भी तो एक स्त्री ने ही पैदा किया था।'[2] लड़की की माँ को सास द्वारा कोसा जाता है। लड़की के जन्म की खुशियाँ मनाना तो दूर उसको देखने तक के लिए परिवार वाले तैयार नहीं रहते हैं। बचपन से ही वह भेदभाव एवं उपेक्षा का शिकार बनती जाती है।

संपन्न मारवाड़ी परिवार में प्रिया का जन्म होता है। परंतु परिवार में बेटी होना तो अपराध है और उस पर भी चौथे नंबर की बेटी होना तो महान अपराध है। बचपन से ही प्रिया के साथ भेदभाव किया जाता है। प्रिया की माँ प्रिया को दूध पिलाना तो दूर सीधे मुँह बात करने के लिए भी तैयार नहीं रहती है। चौथी बेटी होने के बाद वह हमेशा खाट पर पड़ी रहती है उसे लगता है कि प्रिया के होने के कारण

ही उसकी तबीयत खराब हुई है इसलिए वह हमेशा उसे कोसती रहती है। 'तुम भी विजय की माँ इस लड़की (प्रिया) से इतनी क्यों चिढ़ती हो?' बाबूजी की आहत आवाज थी। क्या करूँ मुझे नहीं सुहाती वह। जब से जन्मी है, मेरा तो शरीर ही टूट गया। खाट पकड़ ली मैंने।'[3] प्रिया की माँ की इच्छा थी कि उसे बेटा हो जाए परंतु बेटे की आस में एक के बाद एक चार लड़कियाँ हो जाती है। लड़कियों के जन्म के साथ ही उनके मन में दबी लड़के की इच्छा रह जाती है।

भारतीय समाज में प्राचीन समय से ही पुत्री की तुलना में पुत्र को अधिक सम्मान दिया जाता है। वर्तमान युग में समाज के इस विचारधारा में थोड़ी कमी जरूर हुई है परंतु पूर्णत: नष्ट नहीं हुई है। आज भी पुत्रों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। परिवार का वारिस, बुढ़ापे की लाठी कहते हुए उस पर अधिक खर्च किया जाता है। उसे अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य, दिया जाता है। लड़की के साथ दूजाभाव भरा व्यवहार करते हुए शिक्षा, स्वास्थ्य तथा उसकी जरूरतों पर पुत्र की तुलना में कम खर्च किया जाता है या उसकी जरूरतों को अनदेखा भी किया जाता है। प्रिया को माँ बात-बात पर टोकती थी। उसका खाँसना, चलना, बात करना, सोना, उठना, बैठना, कपड़े पहनना हर बात पर माँ को आपत्ति थी। 'ठीक से चलो, क्या पैरों की धम-धम आवाज करती चलती हो... शरूर से बैठ ...कूबड़ क्यों निकाल लेती हो? क्या खो-खो लगा रखी है? खाँस रही हो तो खाँसे जा रही हो।'[4] बेटी के रूप में जन्म क्या लिया प्रिया के जीवन की हर एक बात रसहीन हो गई थी। बेटे का हर अपराध माफ कर दिया जाता था परंतु बेटी की कदमों की आहट या हल्की-सी खाँसी भी माँ के लिए परेशानी बन जाती थी। खाने-पीने की चीजों तक में प्रिया के साथ भेदभाव किया जाता था। संपन्न मारवाड़ी परिवार था, पैसों की कोई कमी नहीं थी, परंतु प्रिया और उसके भाई के खाने-पीने की चीजें अलग थी। मौसमी फलों के रस, अंगूर, अल्फांसो आम, छैने का संदेश आदि चीजें घर में बनती जरूर पर वह केवल बेटे के लिए, प्रिया को उन चीजों को देखना तक नसीब नहीं होता था, खाना तो बहुत दूर की बात है।

एक ही परिवार में, एक ही माँ की पेट से जन्मे दो बच्चे परंतु एक लड़की और एक लड़का महज इस भेद के कारण मनचाहा खाना भी प्रिया को नसीब नहीं होता था। एक को माँ गोद में बिठाकर खिलाती थी, तो दूसरे को आँख उठाकर देखती तक नहीं, गोद में बिठाकर खिलाना तो दूर की बात है। कारण मात्र इतना कि वह लड़की है। प्रिया को कभी-कभी लगता है कि क्या सचमुच लड़की होना पाप है। परिवार में जन्म लेना यदि उसके हाथ में होता तो वह इस परिवार में कभी जन्म नहीं लेती। माता-पिता, भाई-बहन चुनना उसके हाथ में नहीं था। भेदभाव भरे व्यवहार के कारण प्रिया दाई माँ की गोद में घंटों बैठकर रोती थी, उसे अपनी भावनाएँ बताती थी। वह दाई माँ से पूछती थी कि क्यों उसे मनचाहा कपड़ा, खाना नहीं मिलता है? कुछ खास लोगों के लिए ही खास व्यंजन क्यों बनाए जाते हैं?

प्रिया की व्यापार करने की इच्छा है परंतु पुरुषप्रधान समाज में व्यापार तो मात्र पुरुषों का कार्य है। यदि स्त्री व्यापार करेगी तो परिवार पर उसका बुरा असर पड़ेगा, इस तर्क को प्रस्तुत करते हुए प्रिया को उसका पति व्यापार करने से रोकता है। नरेंद्र का मानना है कि स्त्रियों ने शाम से पहले घर आ जाना चाहिए। यदि वह अधिक देर बाहर रहती है, किसी से बात करती है, तो उसके चरित्र पर लांछन लगा दिया जाता है। ठीक इसके विपरीत पुरुषों का देर रात तक बाहर घूमना, पार्टियों में जाना, बाहरी संबंध बनाना पौरुषता की निशानी माना जाता है। प्रिया व्यापार के संबंध में विदेशों में जाती है तब उस पर चारित्रिक संदेह किया जाता है। परिवार की इज्जत को कलंकित करने का आरोप लगाया जाता है। नरेंद्र

प्रिया से कहता है, 'तुम यह क्यों नहीं कहती कि तुम्हें अकेले मौज करने की आदत पड़ गई है। हाँ, हाँ, मैं कह रहा हूँ और ठीक कह रहा हूँ। तुम वहाँ क्या करती हो, क्या मैं कोई देखने जाता हूँ? और देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था–काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।'[5] परिवार की इज्जत का ध्यान मात्र नारी को रखना चाहिए, पुरुष के नंगा नाच करने से भी परिवार की इज्जत नहीं जाती। इस दकियानूसी मानसिकता को बदलने की आवश्यकता है।

प्रभा खेतान ने 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में यौन शोषण तथा यौन उत्पीड़न की समस्या पर प्रकाश डाला है। प्राचीन समय से नारी को उपभोग की वस्तु समझा गया है। नारी का भोग करना पौरुष माना गया है। राजा-महाराजाओं के हरम, जनानखाने में नारी की संख्या को उसके वीरता से जोड़ा गया है। बराबरी का स्थान या सम्मान देना तो दूर उसे कमजोर समझकर उस पर अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास पुरुष वर्ग हमेशा से करता आ रहा है। नारी के जन्म लेने से उसकी मृत्यु तक उसे चुप रहना सिखाया जाता है। उसे अपनी इज्जत का धौंस दिखाया जाता है, उसे गुमराह किया जाता है, उसकी आवाज को दबाया जाता है, समय आने पर उसका गला भी घोंट दिया जाता है।

परिवार में करीबी रिश्तेदार, ऑफिस में बॉस या सहकर्मी, विवाह पश्चात पति द्वारा नारी का शोषण किया जाता है। बड़े-बड़े शहरों में बलात्कार की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। महिलाओं के लिए सड़कें अब सुरक्षित नहीं हैं। वासनारूपी गिद्ध हमेशा उनके इर्द-गिर्द मँडराते रहते हैं, अवसर पाकर वह उन पर झपटते हैं, उनको नोचते हैं। कभी दहेज के लिए, तो कभी बॉस को खुश करने के लिए उन्हें भेंट के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परिवार या समाज में नारी का शोषण होने पर भी वह किसी से कह नहीं सकती। बदनामी, इज्जत आदि शब्दों का महत्त्व बतलाकर उसे चुप किया जाता है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की नायिका प्रिया बचपन में ही यौन उत्पीड़न की शिकार बन जाती है। उसका अपना बड़ा भाई यौन-संबंध बनाकर उसका शोषण करता है। एक बार, दो बार... अनगिनत बार। पिता की मृत्यु के बाद परिवार की जिम्मेदारी विजय पर आ जाती है। अब उसे रोकने-टोकने वाला कोई न था। वह जबरदस्ती प्रिया को बाथरूम में ले जाकर उसका शोषण करता है। उस समय प्रिया की उम्र महज दस साल रहती है। दस साल की छोटी बच्ची का उसके सगे भाई द्वारा शोषण यह बात सुनने के लिए भी कितनी शर्मनाक लगती है। पहली बार जब उसके पैंटी पर खून के धब्बे दाई माँ को दिखाई देते हैं तब उसे इसके बारे में पता चलता है। 'अरी दइया री, ई का भइल? इ खून कहाँ से? अभई तो दसवाँ बरस लगा है। ...अरे भगवान! हमार बिटिया का ई का किए? अरे जालिम, अरे कसाई, अपन सगी बहन को भी नहीं छोड़ा। हम तो ओकर हाल सब जानत हई। बहूजी का डर से कुछ बोला नहीं जाता।'[6] प्रिया के साथ यह जब पहली बार होता है तब वह अपनी माँ को बताना चाहती है परंतु भाई के डर से और दाई माँ के मना करने के कारण वह नहीं बताती है। परंतु इसके बाद उसका कई बार शोषण किया जाता है।

पुरुषों ने नारी को हमेशा अपने पैरों की धूल या जूती समझा है। नारी के जीवन, भावनाओं से खेलने में पुरुषों को आनंद आता है। भँवरे की तरह अलग-अलग फूलों पर मँडराने की आदत उसे रहती है। फिर भी पुरुष प्रधान समाज में उसका सम्मान कायम है। ठीक इसके विपरीत नारी को कुलटा, कलंकिनी कहकर अपमानित किया जाता है। नारी की छोटी-सी गलती भी इस समाज में स्वीकार्य नहीं है। पुरुष कई नारियों से संबंध रख सकता है किंतु नारी अपनी मर्जी से किसी से बात भी नहीं कर सकती, अपनी भावनाओं को किसी के सामने प्रकट भी नहीं कर सकती। उसके

ऐसा करने पर वह चरित्रहीन कहलाई जाती है। प्रिया का पति नरेंद्र हर छह महीने में अपनी सेक्रेटरी बदलता है। प्रिया के बाहर रहने पर उसे घर बुलाता है, उसका शोषण करता है और छह महीनों के बाद उसे छोड़कर दूसरी रख लेता है। 'वह हर छह महीनों में एक से एक हसीन सेक्रेटरी बदलता है और उसकी भूख मिट जाती है।'[7]

समाज में पुरुषों के लिए 'गर्भपात कर दो' कहना कितना आसान है, कितनी सहजता से वह यह कह देते हैं। कभी जान से मारने की धमकी देकर, तो कभी रुपए देकर। एक स्त्री समर्पण भाव से अपना सब-कुछ अपने प्रिय पर न्यौछावर कर देती है। प्रेम की खातिर वह अपने माता-पिता, घर-बार सब कुछ छोड़कर उसके पास आ जाती है, परंतु उसे तिरस्कार के सिवा कुछ नहीं प्राप्त होता है। नरेंद्र की एक सेक्रेटरी नरेंद्र के प्रेम में इतनी डूब जाती है कि उसके पेट में नरेंद्र का गर्भ ठहर जाता है परंतु नरेंद्र उसका गर्भ गिरा देता है। उसे भूल जाने के लिए कहता है। पैसों के दम पर वह उसे चुप कराता है। अपनी जिंदगी से निकाल फेंकता है। 'अरे भूल जाओ इन कसमों वादों को! बोलो कितना रुपया लेकर जान छोड़ोगी।'[8] आज पैसों के जोर पर सब-कुछ खरीदा जा सकता है। पैसा स्त्री की इज्जत से बढ़कर हो गया है। पैसों से नारी की खरीद-फरोख्त होती है। पैसों के दम पर नारी को रखैल बनाकर रखा जाता है। पैसों के बल पर जब चाहे तब उसे ठुकरा दिया जाता है।

उपन्यासकार ने विवाह बाह्य-संबंधों द्वारा नारी शोषण पर भी प्रकाश डाला है। हमारे समाज में 'रखैल' शब्द काफी प्रचलित है। पुरातनकाल से यह शब्द समाज में प्रचलित होता आ रहा है। शादीशुदा पुरुष उसका अपना परिवार होने पर भी वह बाहर मुँह मारता फिरता है। पैसों के बल पर वह किसी स्त्री से अपने संबंध बनाता है। समाज में अपनी झूठी प्रतिष्ठा को कायम रखने हेतु वह उसे घर लाने की बजाय वही उसके घर जाकर उसके साथ संबंध बनाता है। पत्नी की तरह ही उस पर एकाधिकार रखता है। वह नारी उस पुरुष के बच्चों को जन्म भी देती है परंतु फिर भी समाज में उस नारी को रखैल ही कहा जाता है। नारी उसके नाम का सिंदूर लगाती है, फिर भी उसे रखैल और उसके बच्चों को नाजायज कहा जाता है। एक पत्नी का स्थान उसे नहीं मिलता है। समाज में ऐसी असंख्य स्त्रियाँ हैं जो इस तरह के संबंध बनाकर उपपत्नी, रक्षिता, रखैल नाम से जानी जाती हैं।

तिलोत्तमा (जिसे प्रिया छोटी माँ कहती है) समाज की नजर में एक रखैल ही है। उसे न तो अग्रवाल हाउस में कभी प्रवेश मिलता है, न हीं वह अग्रवाल खानदान की बहू कहलाती है। वह पति के नाम का मंगलसूत्र गले में पहनती है माथे पर सिंदूर लगाती है फिर भी वह रखैल ही कहलाती है। प्रिया के ससुर और तिलोत्तमा (छोटी माँ) में प्रेम प्रसंग इतना बढ़ जाता है कि दोनों कालीघाट पर शादी कर लेते हैं। चालीस साल के अग्रवाल पहले से ही शादीशुदा होने के कारण तिलोत्तमा के पिता इक्कीस वर्षीय अपनी बेटी से रिश्ता ही तोड़ देते हैं। 'बाबा मुझे कभी माफ नहीं कर सके, मैं तो उनके लिए कलंक थी। बैरिस्टर समाज में बाबा सर उठाकर कभी चल ही नहीं पाए...। छोटी माँ अपनी कहानी सुनाती जा रही थी। औरत के जीवन में जरा-सा खुरेचों दर्द, पीड़ा और त्रासदी के बहते हुए दरिया मिलेंगे।'[9] अग्रवाल शादीशुदा होने की वजह से तिलोत्तमा को अपने घर पर नहीं रख सकते हैं इसलिए वह उसे किराए का घर लेकर उसमें रखते हैं। उन दोनों को एक लड़की भी हो जाती है, जिसका नाम नीना रखते हैं। पुरुष तो अपने जीवन में दो शादियाँ कर लेता है परंतु क्या समाज में उसकी दूसरी पत्नी, उसके द्वारा जन्मे गए संतान को सम्मानजनक स्थान मिलता है? दूसरी पत्नी को समाज रखैल कहकर पुकारता है। उसकी संतान को नाजायज नाम दिया जाता है।

जीवन रथ के दोपहियों में से एक है नारी। रथ का एक पहिया बेकार होने पर या टूट जाने

पर रथ आगे नहीं बढ़ सकता, उसी भाँति जीवन रथ में यदि नारी की स्थिति मजबूत उत्तम नहीं रही तो पारिवारिक जीवन भी आगे नहीं बढ़ पाएगा। नारी पर लगे रूढ़ी-परंपरागत अनिष्ट निर्बंध हटाकर उसे सफल बनाना आज की जरूरत है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो पारिवारिक संतुलन बिगड़कर समाज, राष्ट्र अंधकार की खाई में धँसता जाएगा।

निष्कर्ष–प्रभा खेतान ने अपने चर्चित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को चित्रित किया है। यह समस्या केवल निर्धन और अपढ़ समाज में ही नहीं तो संपन्न और शिक्षित परिवार में भी विद्यमान है। पुरुषप्रधान समाज की दकियानूसी सोच, परंपरागत प्रथाएँ इन समस्याओं के कारण है। नारी में चेतना जगाकर ऐसी सोच, प्रथाओं को जड़ से उखाड़ फेंकने से ही नारी जीवन में प्रगति संभव हो पाएगी। प्रिया लिंगभेद और यौन उत्पीड़न की शिकार होने के बावजूद दुर्दम्य इच्छाशक्ति और विश्वास के बल पर वह अपने जीवन को सँवारती है। आधुनिक नारी ने एकजुट होकर पूरे बल के साथ इस व्यवस्था पर प्रहार करने से ही सदियों से फैला अंधकार दूर होगा।

संदर्भ

1. डॉ॰ रमा नवले, मृदुला गर्ग के कथासाहित्य में नारी, पृ॰ 16
2. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, पृ॰ 64
3. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ॰ 24-25
4. वही, पृ॰ 39
5. वही, पृ॰ 10
6. वही, पृ॰ 16
7. वही, पृ॰ 143
8. वही, पृ॰ 144
9. वही, पृ॰ 124

Mob. 7387912344
kamlakarnavghare@gmail.com
Mob. 9421971832
santoshmgirhe@gmail.com

भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता : एक शोधपरक अध्ययन

सरिता कुमारी, सहायक शिक्षिका
परियोजना बालिका उच्च विद्यालय, इचाक, हजारीबाग (झारखंड)

भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता की गाथा संपूर्ण भारतीय राष्ट्रीयता की गाथा है। यह नवीनता तथा प्राचीनता जैसी सामाजिक साहित्यिक परंपराओं की गाथा है। भारतेंदुयुग का प्रयोजन प्राचीनता को बचाते हुए सतत गतिशील रहना है। यह सर्वमान्य है कि तत्कालीन पत्रकार जहाँ एक ओर प्राचीनता का स्नेही रहा है तो दूसरी तरफ नवीनता का सूत्रधार भी रहा है। भारतीय राष्ट्रीय जागरण के समय भारत विदेशी विचारधारा के प्रभाव में आने लगा था। इसके कारण हमारी परंपरावादी विचारधारा पर नकारात्मक प्रभाव पड़ने लगा था। समाजवादी, सुधारवादी संगठन, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी, देवबंद, अलीगढ़ आंदोलन जैसे कई जातीय और सुधारवादी आंदोलन एवं संस्थाएँ जन्म ले चुकी थीं। ऐसे सभी आंदोलनों का सूत्रपात या बीजारोपण समाज के शिक्षित वर्ग के द्वारा किया जा रहा था। इससे पत्रकारिता को एक नई दिशा मिली। भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता को पल्लवित और पुष्पित होने का अवसर प्राप्त होने लगा। तत्कालीन पत्रकारों से राष्ट्रीयता का हुंकार भरने के कारण ही आज भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता प्रासंगिक है।

पत्रकारिता जनतंत्र की आवाज है। जनमत की अभिव्यक्ति का कुशल माध्यम है। विचार से लेकर समाचार तक की प्रस्तुति का एक उपयुक्त स्रोत है। कहा जाए तो गाँव से लेकर समाज तक, गाँव से लेकर पूरी दुनिया तक, सामान्य जन या अन्य जीव कीर्ति, प्रकृति तक के सभी दुखों-सुखों से संबंध रखने के लिए पत्रकारिता सार्वजनिक दायित्वों से परिपूर्ण एक कला है। इसका उद्देश्य साहित्यिक, कलात्मक रुझान को बढ़ाना, नैतिक मूल्यों की स्थापना करके, चकाचौंध की दुनिया को सही राह दिखाना, संकीर्णता, अंधेरपन, कुप्रथा, जड़ता आदि से मुक्ति दिलाना है। यही कारण है कि आज पत्रकारिता जनसेवा की सशक्त माध्यम बन गई है। इन्हीं कसौटियों पर पूरी तरह खरा उतरकर पत्रकारिता की मिशाल पेश करके नवजागरण का सूत्रधार भारतेंदुयुगीन पत्रकारों का धर्म था। चाहे साहित्य की बात हो, चाहे पत्रकारिता की, पत्रकारों ने समाज को इतना दिया जिसका कोई मोल नहीं है। साहित्य को पद्य के साथ-साथ गद्य के रूप में विकसित करना, पत्रकारिता को राष्ट्रहित के साथ-साथ वसुधैव कुटुंबकम् या विश्वबंधुत्व का साधन बनाना कर्त्तव्य था। तत्कालीन पत्रकारिता विशाल मानव परिवार की एकता और विश्वबंधुत्व की स्थापना करने में सक्षम है। 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'बालाबोधिनी', 'आनंदकांदबिनी', 'हिंदी प्रदीप', 'ब्राह्मण' आदि पत्रिकाएँ भारतीय संस्कृति राष्ट्रीयता की हुंकार को जहाँ ऊँचाई देती थीं वहीं बाह्याडंबर, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, जड़ता जैसी कुप्रथाओं को जड़ से मिटाने की आवाज बुलंद करती थीं।

आए दिन पत्रकारिता के विरुद्ध अँग्रेज सरकार की कई नीतियाँ लागू होती रहीं। अँग्रेज सरकार अपनी कठोर नीति के अनुसार '14 मार्च 1878 को गवर्नर जनरल की कॉन्सिल में

 ISSN 0975-735X

'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' को एक ही मीटिंग में पास कर दिया।'[1] इसके अनुसार सरकार को अधिकार प्राप्त हुआ कि वह भारतीय भाषा में प्रकाशित किसी भी पत्र के संपादक, प्रकाशक या मुद्रक को यह आदेश दे सकता है कि वह सरकार से एकरारनामा के द्वारा अपनी पत्रिका में कभी भी कोई ऐसी बात प्रकाशित न करे जिससे जनता सरकार के प्रति विद्रोह करने लगे। जिला मजिस्ट्रेट या पुलिस कमिश्नर को ऐसी शक्ति दे दी गई थी कि वे किसी भी समाचारपत्र से जमानत ले सकते हैं या किसी प्रकाशित सामग्री को जब्त कर सकते हैं। इस गलाघोंट कानून से भारतीय शिक्षित वर्ग को आंदोलन में बल मिला। इस कानून का समस्त भारत में विरोध के कारण लार्ड रिपन ने इस कानून को समाप्त करने की इच्छा दिखलाई। 'विलोप बिल बिना किसी विचार-विमर्श को 07 दिसंबर 1881 ई को पास हो गया।'[2] भारतीय प्रेस को इससे राहत मिला। अपने ही घर में भारतीय पत्रकारिता कभी राहत की साँस ले रही थी तो कभी-कभी उग्र होकर अँग्रेजों के काले-कारनामें की कटु आलोचना कर रही थी। चारों तरफ से अँग्रेजों पर दबाव बनता जा रहा था। इसका खामियाजा पत्रकारों को भी भुगतना पड़ता था। एक बार पुनः लाचार होकर 'सरकार ने 09 अक्टूबर 1887 को कार्यालय गोपनीय प्रकटीकरण प्रलेख और सूचना कानून नं॰ 15 पास किया और 17 अक्टूबर को इसे स्वीकृति प्रदान कर दी।'[3] इस कानून को देखकर वर्नाक्यूलर पत्रों को पुनः विरोध प्रारंभ होने लगा। विरोध में कहा जाने लगा कि ऐसा कठोर कदम जनता के दिमाग में संदेह उत्पन्न करेगा। इससे सरकार को जनता की वास्तविक भावनाओं और इच्छाओं का पता नहीं चल पाएगा। अपने आपको ताकतवर बनाने के लिए सरकार ने राजद्रोह का कानून पास करके प्रेस की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया है। सरकार के द्वारा यहाँ एक दूसरा कदम उठाया जाने लगा कि कुछ पत्र-पत्रिकाओं को संरक्षण प्रदान किया जाय ताकि हमारी नीतियों का प्रचार और समर्थन किया जा सके। इन पत्रों को सही समय पर सही सूचना मिलने लगी, आर्थिक सहायता मिलने लगी। उनके प्रतियाँ स्वयं सरकार खरीदकर स्कूल और कॉलेजों में भिजवाने लगे। जबकि अन्य कई पत्रों को इन अधिकारों से वंचित रखा जाता था। स्थिति यह हुई कि सरकारी सूचना हिंदी पत्रों को नहीं मिलने लगी। यदि कभी भी हिंदी पत्रों को सरकारी गजट सूचनार्थ मिल भी जाता हो उसे भेंट स्वरूप समझा जाने लगा। इस प्रकार हिंदी पत्रों की आर्थिक-दशा खराब होने लगी। यदि भारतीय पत्रकार अँग्रेजी सरकारों के समर्थन में लिखते तो उनकी दशा ऐसी नहीं होती। 'हिंदी प्रदीप' के अनुसार 'संपादक को पत्र प्रकाशन से विशेष आय नहीं होती है। उसकी सब मिलाकर 250 रुपए की आय होती है और सरकार 10 रुपए का कर लगा देती है। कर वसूली का यह तरीका बहुत ही आपत्तिजनक है।'[4] कभी-कभी तो इनकी आर्थिक सहायता यह कर बंद कर दी जाती थी कि इनकी पत्रिका अशिक्षित जनता में सरकार के विरुद्ध विष फैलाने का काम कर रही है। सरकार ने जितना पत्रों पर अंकुश लगाना चाहा, उतना ही स्वाधीनता आंदोलन गतिशील हुआ। यह कहना भी सही होगा कि स्वदेशी आंदोलन आर्थिक शोषण का ही परिणाम है।

इस तरह आर्थिक शोषण ने स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया। प्रत्येक नागरिक को यह समझाया जाने लगा कि जब तक प्रत्येक भारतीय, भारतीय सामानों अर्थात् भारत में बनी वस्तुओं का उपयोग करना नहीं सीखेंगे तब तक भारत का उद्धार संभव नहीं है। भारतेंदुयुगीन पत्रकारों ने इस आंदोलन के प्रचार के लिए कई उल्लेखनीय कार्य किया। प्रतापनारायण ने 'ब्राह्मण' पत्रिका के माध्यम से शोषण के प्रति लोगों में जगाया। स्वदेशी आंदोलन हेतु जगह-जगह समितियों का गठन किया गया। लोग समितियों में भाग लेकर शपथ लेने लगे कि स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग करेंगे।

'भारत जीवन' पत्रिका के संपादक ने कहा कि यदि शिक्षित वर्ग वास्तव में उन्नति चाहते हैं तो उसे स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक बल देना चाहिए और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना चाहिए। इस प्रकार बंबई हो या दिल्ली, मद्रास हो या कलकता या छोटे-छोटे प्रांत हो, भारतेंदुयुगीन पत्रकारों ने प्रत्येक जगह की जनता को राष्ट्रीयता का संदेश देकर राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराया। भारतेंदुयुगीन पत्रकारों ने अपने समय में जो राष्ट्रीयता का बीज बोया था वह धीरे-धीरे पल्लवित और पुष्पित होकर आगे बढ़ा। इस तरह देखा जा सकता है कि भारतेंदुयुगीन पत्रकारों के समक्ष एक महान आदर्श था। नई सभ्यता के संपर्क में आ चुके थे। इससे प्रभावित होकर देश में नवीनता का संचार करना चाहते थे। लेकिन परिस्थितियाँ विपरीत थीं। सरकार से न तो कोई प्रोत्साहन मिलता था और न तो हिंदी समाज का सक्रिय सहयोग मिलता था। प्रचार-प्रसार भी सीमित थे फिर भी भारतेंदुयुगीन पत्रकारों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-चेतना को गति दी।

भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता का जब आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय और विदेशी सभ्यता के संक्रमण का काल था। विदेशी शासकों के दौर में तत्कालीन पत्रकारों ने राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को जगाया। पत्रकार राजनीतिक परिस्थितियों से पूरी तरह अवगत थे। मध्यमार्ग को अपनाते हुए सामाजिक विवेक का परिचय देते हुए पत्रकारिता का धर्म निभाया गया। समाज, क्लब, रंगमंच, व्याख्यान आदि के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं को माध्यम बनाया गया। प्रारंभ में ही प्रतिज्ञा ली गई कि 'इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा।'[5] यह विदित है कि भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता का जब जन्म हुआ था, वह काल पूर्वी तथा पश्चिमी संस्कृति के बीच संघर्ष से उत्पन्न एक नया दौर था। इस समय विदेशी शासकों के अधीन रहने के बावजूद राष्ट्रीय-प्रवृत्तियों को जगाने का उपक्रम किया गया। तत्कालीन पत्रकार राजनीतिक परिस्थितियों से पूर्णतः अवगत थे। इसी कारण बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप', राधाचरण गोस्वामी 'भारतेंदु', प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण', लाला श्रीनिवास दास 'सदादर्श', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', आनंदकादंबिनी तथा 'नागरी नीरद' जैसी पत्रिका प्रकाशित की। भारतेंदु हरिश्चंद्र की पत्रकारिता के संबंध में डॉ॰ रामविलास शर्मा कहते हैं-'कविवचन सुधा' ने 1868 ई॰ में जन्म लिया था, पाक्षिक से साप्ताहिक होकर 1895 ई॰ में उसका अंत हुआ। सन् 1873 में काशी से 'हरिश्चंद्र मैगजीन' निकली। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' का नाम बदलकर 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' रख दिया गया। 1880 ई॰ में उदयपुर के मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने इसे ले लिया और 'मोहन चंद्रिका' नाम से फिर निकाला।'[6] इस पत्रिका ने कई नए पत्रकारों, लेखकों को जन्म दिया। तत्कालीन पत्रकारों, साहित्यकारों को पत्रिका में स्थान मिला। इसमें रूढ़िवादियों का प्रतिकार हुआ। पाठकों को यूरोप से लेकर अन्य कई देशों के नए-नए ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराया जाने लगा। हिंदी के महत्त्व और उसकी उपयोगिता पर ध्यान दिया जाने लगा। आज हिंदी जिस स्थान तक पहुँची है और जिस तरह का भविष्य दिख रहा है उसका बहुत बड़ा श्रेय 'हरिश्चंद्र मैगजीन' का है। रामचंद्र शुक्ल कहते हैं-'जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इस पत्रिका (हरिश्चंद्र चंद्रिका) में हुआ।'[7] यही कारण था कि अँग्रेजी सत्ता के आगे हाथ जोड़कर खड़े रहने के दौर में जन्मी यह पत्रकारिता विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के स्वीकार पर बल दिया जाने लगा। अँग्रेजी शिक्षा, अँग्रेजी नीति की वास्तविकता से अवगत कराया गया। 'कविवचन सुधा' पत्रकारिता जगत में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। यही कारण है कि इसका हर एक पृष्ठ पवित्र, प्रासंगिक एवं पत्रकारों साहित्यकारों के लिए अनुकरणीय लगता है। प्रतापनारायण

मिश्र की पत्रिका 'ब्राह्मण' में विषय का उद्देश्य काफी व्यापक रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं–'अपना ब्राह्मण पत्र विविध विषयों पर गद्य-प्रबंध लिखने के लिए ही निकाला गया था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज सुधार, नागरी हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्र जी की लेखनी चलती थी।'[8] इस प्रकार 'ब्राह्मण' पत्रिका के वर्ण्य-विषय में कई विविधता दिख पड़ती है। सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि सभी विषयों के लेखों का प्रकाशन होता था। संपादक के अनुसार संपूर्ण भारतीयों का अंत:करण से वास्तविक भलाई हो और ग्राहकों का कल्याण हो यही पत्रिका का दायित्व है। यह देश हितैषी पत्र था जिसके कारण देश और समाज के चित्र काफी उत्कृष्टता से खींचे गए थे। अँग्रेजों के अत्याचार, अफसरों की चापलूसी, स्वार्थपरता एवं जनता की निरक्षरता पर भी करारा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि 'हम और हमारे सहयोगीगण लिखते-लिखते हार गए कि देशोन्नति करें, पर यहाँ वालों का सिद्धांत है कि अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाय, यद्यपि जब देश चूल्हे में जाएगा तो हम बचे न रहेंगे।'[9] इस तरह उदारवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया जाने लगा। सामाजिक समस्याओं को रोचकता के साथ लिखने के लिए हास्य सत्य कथन, साहस तथा देश-प्रेम का भाव भरा गया। काव्यात्मक लेखन में अलंकृत शैली का जन्म हुआ। अलंकरण विधान में वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उदाहरण, उत्प्रेक्षा, श्लेष अलंकारों का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार 'यथा नाम तथा युग'[10] का उद्धहरण पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र की पत्रिका 'उचित वक्ता' में देखने को मिलता है। धार्मिक, राजनीति के साथ-साथ साहित्यिक आदोलनों में भाग लेने के लिए प्रेरित करते थे। पत्रिका का जैसा नाम था वैसा ही इसमें गुण भी था। इसकी संपादकीय टिप्पणी काफी निर्भीक होते थे। विदेशी शोषण के कारण दुर्बल होती जा रही देश-दुर्दशा का जिक्र किया जाता था। अधिकतर लेख पाठकों को प्रभावित करते थे। सामाजिक विषमता का भी पुरजोर विरोध किया जाता था। पत्रकारिता का जो संकल्प था, पत्रकारिता का जो औचित्य था उसका पूर्णता पालन किया जाता था। 'बनारस अखबार', 'बिहार बंधु', 'सदादर्श', 'भारत मित्र', 'हिंदी प्रदीप', 'काशी पत्रिका', 'सारसुधानिधि', 'उचित वक्ता', 'हिंदुस्तान' जैसी कई पत्रिकाओं में पुरातत्त्व साहित्यिक विधाएँ ऐतिहासिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा दार्शनिक लेख, व्यंग्य आदि को स्थान मिला। भारतेंदु की नई चाल में ढलने वाली हिंदी का उदय 'हरिश्चंद्र मैगजीन' से हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं–'उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से एकीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गंध के प्रवर्तक माने गए।'[11] यदि वास्तविक रूप में देखा जाए तो हिंदीभाषा का परिष्कार भारतेंदु की पत्रकारिता से ही मानी जाती है। इसके बाद भारतेंदुयुगीन समकालीन लेखकों के द्वारा हिंदीभाषा पर ध्यान दिया जाने लगा। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल, बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल।'[12] हिंदीभाषा भारत के लिए सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में कैसे महत्त्व पाए इसके लिए प्रयास किया जाने लगा। भाषा ही आत्मसम्मान जगाने का मार्ग है। भारतीय एकता और सांस्कृतिक एकता के लिए भाषा को बढ़ावा दिया जाने लगा इसी तरह अँग्रेजी सत्ता के संबंध में कहा जाता है– 'अंगरेज राज सुख साज सजै सब भारी। पैधन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारि।'[13] अँग्रेजी शासन से कौन परिचित नहीं है? भारतीय प्रजा के लिए सुख क्या है? भारत की विपन्नता और अँग्रेजों की संपन्नता से सभी भारतीय अवगत थे। स्वदेशी आंदोलन या स्वदेशी जागरण भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता की ही देन है। इस काल के पत्रकार अपनी पत्रकारिता में डटे रहे जिसने नाटक, निबंध, काव्य आदि में उल्लेखनीय कार्य किया। राष्ट्र-भक्ति का भाव आम जनता में भरकर उत्साह पैदा करना इन

पत्रकारों का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है।

तत्कालीन शासन व्यवस्था से भारतीय जनता परेशान तो अवश्य थी लेकिन उनकी अपनी भी बहुत बड़ी कमजोरी रही। जो लोग सरकार की चाटुकारिता में संलिप्त थे, वे राष्ट्र के लिए अधिक घातक हो रहे थे। परिणामस्वरूप अंधविश्वास और दरबारी संस्कृति से मोर्चा लेने में कठिनाई हो रही थी। भारतेंदुयुगीन पत्रकार ऐसे संस्कारों से बँधे नहीं थे बल्कि अपने विचारों से स्वाधीन थे। यही कारण रहा है कि समाज विरोधी विचारधारा की निंदा करने में ये हिचकते नहीं थे। यह युग अधिकारों से जुड़ी पत्रकारिता का युग था। राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक विषयों पर पत्रकारिता प्रासंगिक बनकर नैतिकता की शिक्षा देने को तत्पर रही। इस आहुति को अग्नि की तरह प्रज्वलित करने की आवश्यकता है और उनसे प्रकाश पाकर गतिशील होने की आवश्यकता है।

भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता के पास एक महान आदर्श था–देश में नवीनता का संचार करना। तत्कालीन समय में इन पत्रकारों को सरकार के द्वारा कोई सहायता नहीं मिलती थी और न ही समाज का कोई सक्रिय सहयोग मिलता था। संसाधन भी सीमित थे। बुद्धिजीवी वर्ग अँग्रेजी पत्रों को अधिक महत्त्व दिया करता था। संपादक पत्रिका का सर्वेसर्वा होता था। संपादक अधिक समय अपने पत्रों को सँवारने और उसमें प्राण फूँकने में व्यतीत किया करते थे। अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करने के बाद भी पत्रकार अपने कर्त्तव्य में सन्निहित रहते थे। इसी का परिणाम है कि उन्नीसवीं शताब्दी की हर चेतना पत्र-पत्रिकाओं में दिखती है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण देखने को मिलता है। इन पत्रकारों की इच्छाशक्ति, प्रबलता, संकल्प-दृढ़ता और आदर्श प्रत्येक युग के लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं।

निष्कर्ष–वर्तमान समय में पत्रकारिता का प्रयोजन क्या है? इसमें काफी बदलाव देखने को मिल रहे हैं। स्वामित्व में भी काफी परिवर्तन मिल रहे हैं। एक समय जो पत्र का स्वामी होता था वह अब वेतन भोगी होकर व्यावहारिक दृष्टि से पराधीन हो गया है। छोटे-छोटे पत्र जो थे वह व्यावसायिक लाभ, निजी प्रचार या राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के लिए प्रकाशित होने लगे हैं। बाबूराव विष्णु पराड़कर का कहना था–पत्रकारिता जगत में एक ऐसा समय आएगा जब हिंदी पत्र रोटरी पर चलने लगेंगे, संपादकों को ऊँची तनख्वाहें मिलने लगेंगी, पत्रकारिता की आत्मा मर जाएगी, संपादक, संपादक न होकर मालिक का नौकर बन जाएगा। भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता को आज फिर से लौटाने की जरूरत है। इतना ही नहीं उससे आगे निकलने, उसकी प्रगति के लिए काम करने की जरूरत है। लेकिन किसी भी प्रगति के लिए अतीत और अनागत का क्रम बँधा होना चाहिए। यदि कोई भी पत्रकार भारतेंदुयुगीन पत्रकारिता, साम्राज्य विरोधी परंपरा से अनभिज्ञ है तो जनवादी साहित्य या पत्रकारिता का निर्माण हवा में नहीं कर सकते और न ही ऐसे किसी देश में इस तरह पत्रकारिता का निर्माण हुआ है। इसके लिए पत्रकारिता के गुणों को आत्मसात करना होगा। भारत की सामाजिक परिस्थितियों की माँग है कि भारतेंदुयुगीन साम्राज्य विरोधी परंपरा को एक और ऊँचे स्तर पर ले जाया जाए। राष्ट्र की एकता, अखंडता, असीमता और स्वतंत्रता की रक्षा पत्रकारिता का मर्म होता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए नि:संदेह भारतेंदुयुगीन परंपरा को आगे बढ़ाया जाए और जनता की असहनीय-अवस्था, उसकी आशाओं संघर्षों का चित्रण किया जाए। तब ही पत्रकारिता को स्थाई शांति, वास्तविक स्वाधीनता, जनता का राज प्राप्त करने के लिए एक जबर्दस्त प्रेरणा का अमोघ अस्त्र माना जा सकता है। साथ ही यह भी ध्यान रखा जाए कि पत्रकारिता का

स्वरूप पक्षकारिता न हो जाए। ।

संदर्भ

1. डॉ॰ श्रीपाल शर्मा, हिंदी पत्रकारिता राष्ट्रीय नवउद्‌बोधन, दिल्ली : राज पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1878, पृ॰ 46
2. वही, पृ॰ 48
3. वही, पृ॰ 49
4. वही, पृ॰ 54
5. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1953, पृ॰ 02
6. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ॰ 02
7. डॉ॰ श्रीपाल शर्मा, हिंदी पत्रकारिता राष्ट्रीय नवउद्‌बोधन, राज पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1878, पृ॰ 87
8. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ॰ 250
9. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ॰ 84
10. हिमांशु शेखर सिंह, हिंदी पत्रकारिता और काशी, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, गोलबंद, प्रथम संस्करण-1999, पृ॰ 33
11. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ॰ 246
12. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 13वाँ संस्करण, पृ॰ 212
13. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, बारहवाँ संस्करण, 2014, पृ॰ 86

पत्नी श्री ज्योतिन प्रकाश कुशवाहा
राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय,
झील रोड, हजारीबाग-825301 **(झारखंड)**
मो॰ 6200763170
anantpd.649@gmail.com

भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर: जनजातीय चित्रकला

सबिता पॉल, शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
कोल्हान विश्वविद्यालय, चाईबासा (झारखंड)

कला जीवन के सर्वाधिक प्रसन्नतापूर्ण क्षणों तथा अंत:करण से नि:सृत प्रगाढ़ भावों की सौंदर्यमय अभिव्यक्ति है। सामाजिक संस्कृति का संवाहक होती है–कला। भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं के मूर्त रूप का नाम है–कला। कला अपने स्वरूपानुसार तथ्यों को साकार रूप प्रदान कर हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। कई प्रसिद्ध भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कला को परिभाषित करने का प्रयास किया है। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कला को सत्य की अनुकृति की अनुकृति बताया है तो शेली ने कहा कला कल्पना की अभिव्यक्ति है। टैगोर के अनुसार कला में मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता है। टालस्टाय ने कला को परिभाषित करते हुए कहा कि कला भावों का संप्रेषण है। विद्वानों की परिभाषाओं के अनुसार कला अपने किसी भी रूप में भावों को अभिव्यक्त करती है। कला के समस्त रूपों में चित्रकला सूक्ष्म रूप से रेखाओं तथा मोहक रंगों के मिश्रण से मानव मन की अनुभूतियों को व्यक्त करती है।

मनुष्य अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न माध्यमों का आश्रय लेता है। आत्मानुभूतियों का प्रकटीकरण ही उसके सामाजिक सरोकारों के लिए अति आवश्यक है। लिखित माध्यमों को अपनाने से बहुत पहले ही उसने विभिन्न चित्रों तथा रेखाओं का आश्रय ग्रहण कर लिया था। उन्हीं रेखाचित्रों के द्वारा अपने विचारों का आदान-प्रदान करता आया है। किसी भी देश की संस्कृति वहाँ के निवासियों के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला तथा सामाजिक विचारों से सुसज्जित होती है। भारतीय संस्कृति भी विभिन्न धर्म तथा संस्कारों से सौंदर्य ग्रहण कर इंद्रधनुष छटा लिए है। यहाँ बसने वाली विभिन्न जातियों-जनजातियों की सांस्कृतिक विशेषताएँ इसकी गरिमा के प्रस्तोता हैं। सभ्यता के चरम पर पहुँचे इस युग में भारत अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं से ही पहचाना जाता है। इस भारत भूमि में कला की परंपरा अत्यंत पुरानी है। प्रतीक चिह्नों को अलंकारिकता से सुसज्जित कर आदर्श रूप में उकेरना भारतीय कला की विशिष्टता है। कला गतिशील भावनाओं और सूक्ष्म सौंदर्य की विशेषताओं को प्रकट करने में पूर्णत: सक्षम होती है। कला का उपयोग वास्तव में हर्षोल्लास के क्षण तथा गूढ़ तथ्यों के उद्घाटन के लिए किया जाता है। प्रागैतिहासिक काल में ही मानव ने शिलाओं पर विभिन्न पशु-पक्षियों का रेखांकन कर चित्रकला की शुरुआत की थी। मध्य प्रदेश की भीमबेटका गुफाओं की चित्रकला भारतीय कला की प्राचीनता का द्योतक है। अजंता और एलोरा की गुफाओं की चित्रकारी विश्वप्रसिद्ध है। महाराष्ट्र के नर सिंहगढ़ की गुफाओं में अंकित हरिणों के चित्र प्राचीन चित्रकला के सुंदर उदाहरण हैं। कालांतर में हड़प्पा सभ्यता में भी उत्कृष्ट चित्रकला के दर्शन होते हैं। मेरा यह शोध आलेख जनजातीय चित्रकला की प्राचीनता एवं उसके महत्त्व को रेखांकित करते हुए उसके संरक्षण की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित करने की दिशा में एक लघु प्रयास है।

प्रस्तावना–भारत भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं का देश है। अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों का प्रभाव यहाँ की कलाओं में देखा जाता है। भिन्न भाषा-भाषी, रहन-सहन में पर्याप्त भिन्नता होने के बावजूद संपूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा को एकनिष्ठता से प्रदर्शित करती है–भारतीय कला। भारतीय कला अपनी संस्कृति और परंपरा की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। भारत के विभिन्न राज्यों में प्रचलित कला अपनी विशेषताओं के कारण जानी जाती है। भारतीय कला धर्म, अध्यात्म और संस्कृति का उत्कृष्ट संगम है। सदियाँ बीती, शासक बदले लेकिन भारतीय कला अपनी मजबूत जड़ों पर टिकी रही। भारतीय स्त्रियाँ पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, पर्व -त्योहार, धार्मिक अनुष्ठानों में बच्चों के लिए मंगल विधान करती हैं तो अनेक कामनाएँ करती हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न लोककलाएँ विकसित होती जाती हैं।

विभिन्न धर्मावलंबी की भारतभूमि में जनजातियों की बहुलता है। जनजाति मूलत: अपने प्राकृतिक परिवेश में रचे-बसे होने के कारण जाने जाते हैं। अपनी मूल सांस्कृतिक विशेषताओं को लेकर चलने वाली जनजातियों में कला के विभिन्न रूप प्रचलित एवं प्रसिद्ध हैं। जनजातियों की चित्रकला उनके जीवन का अभिन्न अंग है। चूँकि कला का प्रस्तुतिकरण उत्पादन वस्तुओं अर्थात् शिल्प के रूप में भी होता है इसलिए जनजातियों में कई ऐसी चीजें हैं जिन्हें कलात्मकता से परोसकर वे अपनी आजीविका भी चलाते हैं। जनजातीय चित्रकला भारतीय कलाओं में अन्यतम स्थान रखती है। ये चित्रकारियाँ परंपरागत रूप से चली आ रही हैं अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने वंशज को हस्तांतरित की जाती हैं।

विषय विश्लेषण–भारत अपनी सांस्कृतिक प्राचीनता एवं विविधता के लिए विश्वप्रसिद्ध है। इन सांस्कृतिक विविधताओं में आदिवासी संस्कृति एवं चित्रकला का विशेष महत्त्व एवं स्थान है। किसी भी जनजातीय गाँव में जाकर देखा जाए तो उनका और चित्रकला का संबंध स्वत: सिद्ध हो जाएगा। हर घर की दीवार विभिन्न सुंदर आकृतियों से सजी हुई मिलेगी। अपने परंपरागत स्वरूप में जनजातीय चित्रकला का संबंध उनकी धार्मिक मान्यताओं से है। इन चित्रकलाओं का अंकन अवसर विशेष से जुड़े विभिन्न अनुष्ठानों एवं समारोहों में किया जाता है। मांगलिक अवसरों पर भित्ति चित्रांकन द्वारा अपने मनोभावों को दर्शाते हुए उन चित्रों में अंकित पशु-पक्षियों, देवी-देवताओं के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हैं।

जनजातीय चित्रकला के कुछ प्रमुख प्रकार हैं–

जादोपटिया–झारखंड एक आदिवासी बहुल प्रदेश है। प्रत्येक क्षेत्र में दूरदराज गाँव में जनजातियों का बसेरा है। अलग-अलग जनजातियों की अपनी विशेषताएँ, अपनी पहचान, अपनी संस्कृति एवं कलाएँ हैं। संपूर्ण भारत की लोक संस्कृति तथा लोक कलाओं में जनजातियों के पारंपरिक चित्र कलाओं का भी महत्त्व है। इन जनजातियों में नृत्य-गायन तथा चित्रकलाओं के प्रति विशेष रुझान देखने को मिलती है। संथाल जनजाति में प्रचलित जादोपटिया तथा कोहबर चित्रकला की अपनी विशेषता एवं महत्त्व है। जादोपटिया चित्रकला का संबंध संथालों के परंपरा एवं जीवन दर्शन से है। संथाल समाज के उद्‌भव एवं विकास, रहन-सहन, धार्मिक मान्यताओं को दर्शाती है यह लोक चित्रकला। संथाली चित्रकारों को जादो कहा जाता है और उनके द्वारा की गई कलाकारी को जादोपटिया। यह एक परंपरागत चित्रकला है अर्थात् संथाल जनजाति के लोग वंश-परंपरा के अनुसार इस चित्रकला को अपनाते हुए चलते हैं। जादोपटिया चित्रकला में 'जादो द्वारा कपड़े या कागज के छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर तैयार पट्टों को जोड़ने के लिए बेल की गोंद का प्रयोग

किया जाता है जबकि प्राकृतिक रंगों की चमक बनाए रखने के लिए बबूल के गोंद मिलाए जाते हैं। चित्रकारी के लिए बनाया जाने वाला यह पट्ट पाँच से बीस फीट तक लंबा और डेढ़-दो फीट तक चौड़ा होता है। इस पट्ट पर सुंदर चित्र उकेरकर लोगों के बीच प्रदर्शित किया जाता है। इसमें कई चित्रों का संयोजन होता है। चित्रों में बॉर्डर का भी प्रयोग होता है। चित्रकला का विषय सिद्धू-कान्हू, तिलकामांझी, बिरसा मुंडा जैसे शहीदों की शौर्यगाथा के अलावा रामायण, महाभारत, कृष्णलीला आदि से लिया जाता है। इस चित्र को उकेरने के लिए लाल, पीला, हरा, काला, नीला आदि रंगों का प्रयोग किया जाता है। खास बात यह है कि यह रंग प्राकृतिक होते हैं।'[1]

जादोपटिया चित्रकला संथालों के आजीविका का साधन भी थी। इस चित्रकला को गाँव-गाँव ले जाकर इसमें अंकित चित्रों से संबंधित लोककथाओं का गायन शैली में वर्णन करते थे और आजीविका के लिए अर्थोपार्जन करते थे।

कोहबर चित्रकला–कोहबर चित्रकला झारखंड के संथालो के अतिरिक्त मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में निवास करने वाली बिरहोर जनजाति में प्रचलित चित्रकला है। कोहबर चित्रकला को ज्योग्राफिकल इंडिकेशंस टैग प्राप्त है। कोहबर चित्रकारी विवाह अनुष्ठानों में की जाती है जो इनकी धार्मिक देवी सिकी को अर्पित होती है। आज यह चित्रकारी केवल जनजातियों तक सीमित नहीं है। सामान्य वर्गों में भी वैवाहिक अनुष्ठानों का अनिवार्य हिस्सा बन चुकी है। यह चित्रकारी वर तथा वधू दोनों ही पक्षों के घरों में पूर्व दिशा के कमरे की दीवार पर की जाती है। कोहबर चित्रकारी में प्राकृतिक रंगों का प्रयोग किया जाता है। चित्र उकरने के लिए उँगलियों तथा लकड़ी की कंघी का इस्तेमाल होता है। इन चित्रों में तरह-तरह के फूल-पत्ती, दूल्हा-दुल्हन तथा अन्य आकृतियाँ जैसे शेर, तोता, साँप, गर्भवती मछलियाँ, मोर, शिव-पार्वती आदि बनाई जाती हैं। कोहबर चित्रकारी में वर तथा वधु के सुखी एवं सफल जीवन के लिए इस चित्रकारी से संबंधित मंगलगान गाए जाते हैं जिन्हें कोहबर गीत कहा जाता है। यह चित्रकला भारतीय चित्रकला का परंपरागत रूप है। 'लड़की और लड़के दोनों के घर कोहबर (कौतुकगृह) में भीत पर कोहबर रचने की प्रक्रिया सज-धज से शुरू होती है। यह कोहबर दो तरह से रचा जाता है। एक तो गोबर भीत पर लीपकर, सुखाकर उस पर हल्दी (ऐपन) मिले चौरठ (चावल का आटा) से रचाई जिसे ऐपन का कोहबर कहते हैं। दूसरा गोबर के लेप के ऊपर चौरठ छुहियाया (हल्के हाथ से फैलाया) जाता है और इस जमीन पर उड़द बुनकर बनाए गए आटा (पिसान, पिष्ट) से रेखाएँ खींची जाती हैं और उनमें यथोचित रंग भरे जाते हैं। इसे मसी या कोहबर कहते हैं। कोहबर लोक भित्ति चित्रांकन की बहुत बड़ी सिद्धि है।'[2] कोहबर चित्रकला का की यह परंपरा बहुत प्राचीन है। इस चित्रकला का उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस में भी प्राप्त होता है–

तब सखी मंगल गान करत मुनीस आयसु पाईके।
दुलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चली कोहबर ल्याईके।[3]

गोंड चित्रकला–गोंड जनजाति झारखंड, मध्य प्रदेश, तेलंगाना, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा आदि राज्यों में निवास करती है। चित्रकारी करना गोंड जनजातियों के दैनिक जीवन का हिस्सा है। आसानी से उपलब्ध होने वाले प्राकृतिक वस्तुओं चूना पत्थर, पत्तियों के रस, चारकोल, रंग-बिरंगी मिट्टी आदि का उपयोग करके गोंड महिलाएँ दीवारों पर आकृतियाँ उकेरकर चित्रकारी करती हैं तथा उन्हें प्राकृतिक रंगों एवं रंगीन मिट्टी के घोल से रंगती हैं। 'चित्रकारी की कला में गोंड जनजाति के लोग काफी निपुण हैं। चित्रों के फीकेपन में रंग भरना और साधारण वस्तुओं को भी अपनी

कलात्मकता से रंगीन कर देना इस जनजाति के चित्रकारों की चित्रकारी का सबसे नायाब कौशल है। दैनिक जीवन से जुड़े विषयों ऋतुओं, विवाह संस्कारों आदि विषयों को अपने चित्रों के माध्यम से बखूबी प्रस्तुत करने एवं रंग-बिरंगी आकृतियों से घटनाओं का अंकन करने की कला में यह समुदाय शुरू से ही पारंगत रहा है।'[4]

वारली चित्रकला–महाराष्ट्र के ठाणे जिले में निवास करने वाली वारली जनजाति में वारली चित्रकला प्रचलित है। वारली चित्रकला की प्राचीनता का कोई सूचक उपलब्ध नहीं है। यह चित्रकला गोबर मिट्टी से लीपी हुई सतह पर तथा पर्व त्योहारों के अवसरों पर घर की दीवारों पर बनाई जाती है। यह चित्रकारी वैवाहिक समारोहों में अत्यंत शुभ मानी जाती है। इसमें कथा-कहानियों को प्रतीक संकेतों के माध्यम से चित्रित किया जाता है। वारली चित्रकला में गोलाकार खड़े हुए लोग और उन सभी लोगों के मध्य वाद्ययंत्र बजाने वाला पुरुष का सबसे प्रसिद्ध आकार है। इस चित्रकला की अन्य विशेषता यह है कि इसमें सीधी रेखा नहीं खींची जाती है। एक बिंदु से अन्य बिंदु का मिलान करते हुए पेड़-पौधे, मनुष्य, पशु-पक्षी, खेत, वर-वधू आदि आकृतियाँ निर्मित की जाती हैं। वारली चित्रकला की प्रसिद्धि का श्रेय माश नामक व्यक्ति को है, जिसने इसमें लोक कथाओं, पौराणिक कथाओं के साथ-साथ पांडु राजा के जीवन का भी वर्णन किया।

पिथोरा चित्रकला–गुजरात के तेजगढ़ ग्राम में रहने वाली भील तथा नायक जनजातियों द्वारा उनके महत्त्वपूर्ण त्यौहार पिठौरा (पंद्रह-बीस वर्षों के अंतराल में मनाया जाता है) में घरों की साफ-सफाई कर दीवारों को पिथोरा चित्रकला द्वारा सजाया जाता है। इस चित्रकला से संबंधित उनकी मान्यता है कि घरों की दीवारों को सुंदर चित्रकारी से सुसज्जित करने घर में सुख-शांति का आगमन होता है। आपसी सौहार्द की स्थापना होती है। खुशहाली का वातावरण उत्पन्न होता है। पिथौरा चित्रकला का आधार धार्मिक मान्यताएँ हैं। दीवार पर की जानेवाली पिथोरा चित्रकारी में देवी-देवताओं तथा अन्य चित्र अंकित होते हैं। यह चित्रकला घर के प्रवेश द्वार के दीवारों पर बनाई जाती है। पिठौरा त्यौहार के दिन पुजारी द्वारा धार्मिक अनुष्ठान करवाया जाता है जो ईश्वर को धन्यवाद अर्पण होता है। पिथोरा चित्रकला पिठौरा त्योहार का अनिवार्य अंग है।

सोहराय चित्रकला–सोहराई चित्रकला झारखंड के जनजातीय समुदाय की प्रसिद्ध चित्रकला है जो पशुओं को समर्पित है। सोहराय दीपावली के एक दिन उपरांत मनाया जाने वाला प्रमुख त्यौहार है जिसमें पशुओं के प्रति श्रद्धा दर्शाया जाता है। इस कला का प्रचलन हजारीबाग के बादम क्षेत्र में हुआ। गुफाओं की दीवारों पर अंकन के शुरुआती दौर से गुजर कर आज यह चित्रकला घरों की दीवारों पर अपना स्थान बना चुकी है। शैली की दृष्टि से सोहराय चित्रकला की दो शैलियाँ–मंझू सोहराय तथा कुर्मी सोहराय प्रचलित हैं। घरों की दीवारों की दूधी माटी से पुताई की जाती है तथा कला के देवता पशुपति शिव या प्रजापति का चित्रांकन किया जाता। अनिवार्यत: लाल रंग (गेरू माटी) से गतिशील रेखाएँ निर्मित की जाती हैं जो इनके पूर्वजों के रक्त, प्रजनन और उर्वरता तथा उनकी कृपा को दर्शाता है। फिर इस चित्रकला में फूल-पत्तियाँ, पशु-पक्षी तथा अन्य कई आकृतियों का भी अंकन होता है। हाथी का चित्रण करना सोहराय चित्रकला में शुभ माना जाता है क्योंकि उनकी मान्यतानुसार हाथी धान्य समृद्धि का प्रतीक है। चित्रों में रंग भरने के लिए सखुआ के पेड़ की टहनी की कूची बनाकर उपयोग में लाई जाती है।

जनजातीय चित्रकला का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि भारतीय समाज में सभ्यता का विकास। संसार में जीवन के साथ ही कला का जन्म हुआ और समय परिवर्तन के साथ-साथ

इसकी रूपरेखा में भी परिवर्तन आया और फिर मानव ने इसे एक सुव्यवस्थित संस्कार देते हुए इसे अपनी पीढ़ी को हस्तांतरित किया। चित्रकला की प्राचीनता के साक्ष्य प्रागैतिहासिक गुफा चित्र अथवा भित्तिचित्र है। संपूर्ण भारत के जनजातीय समुदाय में चित्रकला अपने स्वरूपांतर को लिए प्रचलित है। चित्रकारी के इन स्वरूपों से जनजातीय समुदाय न केवल अपने घरों को सजाते सँवारते हैं, बल्कि जीविकोपार्जन के लिए वैकल्पिक साधन के रूप में भी इनका उपयोग करते हैं। इन चित्रकलाओं के कारण ही आज हमें अतीत में झाँककर इतिहास के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। चित्रकला में विशेष रुचि रखने वाली डॉ॰ मंजूप्रसाद के शब्दों में–'आदिवासी चित्रकला (भित्ति पर ही प्रमुखतया) शैली भी वही है जो प्रागैतिहासिक काल से ही गुफा चित्रों में चली आ रही है। इसके मोटिफ (डिजाइन) लगभग 10,000-4000 ईसा पूर्व से चले आ रहे हैं। हजारीबाग के गुफा चित्रों में इस तरह के ही मिलते-जुलते अभिकल्प (मोटिफ) पाए गए हैं। इन चित्रों की शैली मुक्त हस्त संचालित (फ्री हैंड) गतिशील रैखिक या रेखा प्रधान होते हैं।' जनजातीय चित्रकलाओं में मोहक आकृतियों के दर्शन होते हैं। ये कलाएँ पूर्णत: मौलिक हैं और इनके आधार पर ही अनगिनत सृजनशीलता साँसें ले रही हैं। आज बाजारवाद की बढ़ती महँगाई के इस दौर में इन कलाओं से जीविका उपार्जित करने में अक्षम जनजाति इन कलाओं का आश्रय छोड़कर रोजगार के अन्य मौके तलाश रहे हैं जिसकी चोट इन चित्रकलाओं पर पड़ रही है। ऐसे में ये चित्रकलाएँ विलुप्त होने के कगार पर है। इन कलाओं में लिप्त सांस्कृतिक धरोहरों को जीवित रखने के लिए आवश्यकता है इन्हें संरक्षण प्रदान कर इन चित्रकलाओं तथा इनके सृजनकर्ताओं को प्रोत्साहन और प्रश्रय देने की।

संदर्भ

1. प्रभात खबर, 27 अप्रैल 2018
2. हिंदी शब्द संपदा, विद्यानिवास मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, ISBN 978-81-267-1593-0, पृ॰ 124
3. रामचरित मानस, बालकांड, सर्ग-326
4. भारतीय संस्कृति में लोककला एवं जनजातीय कला का स्वरूप, गौतम, पृ॰ 115

C/308, B Block,
Pardesi Pada, Sonari,
JAMSHEDPUR 831011 (JHARKHAND)
Mob. 8271713070

विनोद कुमार शुक्ल के काव्य में प्रकृति और पर्यावरण

सौरभ, शोधार्थी
गुरु जंभेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

भौतिक जगत को ही व्यापक अर्थों में प्रकृति के साथ जोड़कर देखा जाता है। मनुष्य का आदिमयुग से ही प्रकृति से गहरा सबंध रहा है; प्रकृति के अनेक रूप जैसे–पहाड़, नदी, नाले, तालाब के प्रति गहरा आकर्षण रहा है। डॉ॰ हरदेव बाहरी के संक्षिप्त हिंदी शब्दकोश के अनुसार प्रकृति के अनेक अर्थ हैं–'स्वभाव, मिजाज, वह मूलतत्त्व जिसका परिणाम जगत है, माया, परमात्मा, सदा बना रहने वाला, मूल गुण, धर्म, स्त्री, चराचर संसार।'[1] आदि अर्थों में लिया जाता है।

पर्यावरण शब्द दो शब्दों के संयोग बना है। परि+आवरण अर्थात् पर्यावरण का अर्थ है– हमारे चारों ओर का आवरण जो हमें घेरे हुए है। अँग्रेजी में पर्यावरण के लिए environment शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर्यावरण और प्रकृति का गहरा नाता है। हम अपने वातावरण में सजीव व निर्जीव वस्तुएँ देखते हैं जिसमें भौतिक व जौविक दोनों तरह की वस्तुएँ शामिल हैं। इन्हीं सबसे पर्यावरण का निर्माण होता है। डॉ॰ आशा तिवारी ने शुक्ल जी के बारे लिखा है–'लोकजीवन से आकर्षण, प्रकृति तथा पर्यावरण से विशेष लगाव, शोषितों के प्रति संवेदना विनोद कुमार शुक्ल की रचना में बाखुद मिल जाते हैं।'[2] 'मानुष में मैं हूँ' में कवि स्वयं उस आदिम युग की प्रकृति को अनुभूति कर पा रहा है और पास बहती हुई नदी को पानी पीकर इतिहास को याद करता और कवि को चारों तरफ एक ही ध्वनि सुनाई देती है–

चारों तरफ प्रकृति और प्रकृति की ध्वनियाँ हैं
यदि मैंने कुछ कहा तो/ अपनी भाषा नहीं कहूँगा
मनुष्य ध्वनि कहूँगा।[3]

विनोदकुमार शुक्ल पर्यावरण तथा प्रकृति के प्रति बड़े ही सजग कवि हैं। इसी सजगता और प्रेम से वशीभूत होकर वे अपनी कविता 'वृक्ष की सुखी' में खुद को वृक्ष के समक्ष पाते हैं और वृक्ष के समान बाहें फैला खुद को वृक्ष कर देना चाहते हैं। जिस प्रकार कवि और उनकी जीवनसंगिनी एक–दूसरे के पूरक हैं उसी प्रकार वृक्ष पक्षियों के बिना अधूरे हैं। इस प्रकार वृक्ष व मनुष्य की समानता दिखाने का प्रयास विनोदकुमार शुक्ल जी ने इस कविता में किया है–

फिर कोई चिड़ियाँ/ मेरी बाँहों की हरियाली में
घोंसला बनाए/ अंडे दे।[4]

कविता 'पेड़ की फटी खाकी वर्दी पहिनकर' में विनोदकुमार शुक्ल कहते हैं कि पेड़ की छाल किसी फौजी की फटी वर्दी के सदृश्य प्रतीत हो रही है और पेड़ों को देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई फौजी टुकड़ी थककर खड़ी हो और उसके चारों कटीलें तार लगे हैं। जिससे कवि अनुमान कर रहा है कि शायद इन फौजियों को किसी ने कैद कर लिया हो या इस बगीचे को कोई उजाड़ न दे इसलिए उसकी सुरक्षा में उन्हें रखा गया हो। कवि भी जीवन की आपाधापी से इतना आहत है कि इस पूरे बगीचे के नीचे ही उसे सुकून मिल सकता है, और ऐसे प्राकृतिक वातावरण में

क्षणभर सुस्ता लेना चाहता है–

मैं इतना थका हूँ/ कि एक पेड़ से नहीं
एक बगीचे से पीठ टेककर/ सुस्ता रहा हूँ।[5]

विनोदकुमार शुक्ल जी बड़े ही संवेदनशील कवि हैं। वे मनुष्य को भी प्रकृति में ही सम्मिलित कर देखते हैं जैसे कि उनकी कविता 'जो मेरे घर कभी नहीं आएँगे' में व्यक्त हुआ है। कवि प्रकृति के प्रति संजीदा है, इसलिए चाहे-अनचाहे प्रकृति उनके कविताओं का विषय बन ही जाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने कागज पर नदियाँ, नाले, पहाड़, समुद्र सब उकेर दिया हो; जो पाठक के मन में दृश्य बनकर उभर आता है। कवि कहना चाहता है कि अच्छे मनुष्य और प्रकृति दोनों को ही घर बैठकर नहीं जाना जा सकता है इसके लिए उनके पास जाना होगा। इस कविता में प्रकृति के उपमान का बड़ा सुंदर वर्णन किया है–

पहाड़, टीले, चट्टानें, तालाब/ असंख्य पेड़ खेत
कभी नहीं आएँगे मेरे घर/ खेत खलिहानों जैसे लोगों से मिलने
गाँव-गाँव, जंगल-गलियाँ जाऊँगा।[6]

आज के मानव को न पर्यावरण की कोई चिंता है, न ही प्रकृति का कोई खयाल है। इस यांत्रिक दुनिया में मनुष्य प्रकृति के प्रति अपनी नैतिकता को विस्मृत करता जा रहा है। बिडंबना यह है कि उसकी प्रकृति के प्रति कोई संवेदना शेष नहीं रह गई है। कविता 'एक-एक सूखा पत्ता' में कवि पेड़ से गिर रहे पत्तों को लेकर चिंतित है। अगर ऐसा ही होता रहा तो एक दिन समस्त हरियाली सूखे में परिवर्तित हो जाएगी। शुक्ल जी ने एक इंटरव्यू में कहा था–'जीवन को ईमानदार और कामकाजी होना चाहिए। अपनी जरूरत को इस तरह कम करें कि वातावरण से बाजार को कम किया जा सके, साथ-ही-साथ बाजार की सोच को भी प्रकृति को जस-का-तस छोड़ देना चाहिए प्रकृति को नष्ट करने का समय तत्काल समाप्त होना चाहिए और जितना प्राकृतिक बनाया जा सके बनाना चाहिए। विकास की जो अवधारणा है उसमें मनुष्य की प्रजाति का नष्ट होना अंतिम परिणाम है। एक पत्थर का टुकड़ा भी नष्ट न हो, घास का तिनका भी, हरी घास की पत्ती भी, इसी से मनुष्य का जीवन और समाज बेहतर होगा।'[7] शुक्ल जी का प्रकृति के प्रति बड़ा ही मोह रहा है। कविता 'मुझे बचाना है' में कवि नष्ट होती दुनिया के प्रति चिंतित दिखाई देते हैं। उन्हें चिंता अपने घर की है तथा घर के सामने खड़े नीम के वृक्ष की जिसे आधुनिक सभ्यता बेदखल कर देना चाहती है–

मुझे बचाना है/ एक एक कर
अपनी प्यारी दुनिया को/ बुरे लोगों की नजरों है/ इसे खत्म कर देने की।[8]

'यह चेतावनी है' कविता में कवि प्रकृति के संरक्षण के प्रति संदेश देते हुए दिखाई देते हैं। कवि चेतावनी देते हैं कि जब तक फूल खिले हुए हैं, घड़े में पानी पीने योग्य है तथा पर्यावरण में शुद्ध वायु है तब तक दुनिया चलती रहेगी। इसलिए कवि इनके अनंतकाल तक जीने की कामना करते हैं व्यक्ति अपनी निजता व स्वार्थ के चलते प्रकृति व पर्यावरण के प्रति अपने कर्त्तव्य भूल गया है। कविता 'मंगल ग्रह इस समय पृथ्वी बहुत पास आ गया है' में बताते हैं अगर हमने पृथ्वी की रक्षा नहीं की तो वह दिन दूर नहीं जब पृथ्वी पर भी मंगल ग्रह की तरह जीवन नहीं रहेगा। यही चिंता उनकी कविता 'दूर से अपना घर देखना चाहिए' में दिखती है। जब कोई दूर गया व्यक्ति अपने घर की चिंता करता है, उसी प्रकार उन्हें पृथ्वी की चिंता है। उनकी कविता 'बचाकर रख लेनी चाहिए हवा' पर्यावरण के प्रति सचेत करती नजर आती है–

बचाकर रख लेनी चाहिए हवा/ साँस लेने के लिए
दूर नल के लिए/ दूर नल से पानी लाते हैं
वैसे ही नालियों दुर्गंध से दूर
जाकर ही एक साबुत घड़ी में शुद्ध/ हवा लानी चाहिए।[9]

'जंगल के दिन-भर के सन्नाटे में' कविता में कवि ने कहा है कि आदिवासियों को जंगल में महुआ बीनते बाघ से डर नहीं लगता है; मगर वे इस बात से भयभीत हैं कि कहीं आधुनिकीकरण जंगल तक पहुँच गया तो उनका प्राकृतिक वातावरण छिन जाएगा।

छत्तीसगढ़ प्राकृतिक रूप से अत्यंत समृद्ध है और शुक्ल जी का छत्तीसगढ़ के प्रति बहुत लगाव है–'छत्तीसगढ़ की रचनाशीलता में छत्तीसगढ़ नहीं धड़कता होगा ऐसा मुझे नहीं लगता। इस धड़कन को सुनने के लिए छत्तीसगढ़ के रचनाओं के हृदय के समीप होना मुझे जरूरी लगता।[10] इनका ीसगढ़ के प्रति प्रेम ही इनका प्राकृतिक प्रेम है। कविता 'पेड़ के नीचे बैठना में' कवि प्रकृति से उनके प्रेम को दर्शाते हैं तथा उन्हें पेड़ के नीचे बैठना अच्छा लगता है वे खुद को प्रकृति के बिलकुल करीब से महसूस करते हैं। जो आँखे प्रकृति के सौंदर्य को नहीं देख सकतीं उनका कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे व्यक्ति के लिए कवि अपनी 'आँख बंद कर लेने से' में कहते हैं। आँखों वाले मनुष्य से अंधा हो जाना अच्छा है। इससे अच्छा तो वह अंधा व्यक्ति है; जो प्रकृति से सबसे अधिक प्रेम करता है–

टटोलकर ही जाना जा/ सकता है क्षितिज को
दृष्टि के भ्रम को/ कि वह किसी आले में रखा है
यदि वह रखा हुआ है/ कौन से अँधेरे सीके में
टँगा हुआ रखा है/ कौन से नक्षत्र का अँधेरा।[11]

अपनी कविता 'प्रकृति में' कवि खुद को शहरी व्यक्ति बताते हुए कहते हैं। सड़क के किनारे खड़े पेड़ जोकि एक कतार में हैं; उन्हीं के बीच कवि खड़ा है, जो उसे किसी मनुष्य की भाँति नजर आते हैं। पेड़ बस में नहीं चढ़ सकते, इसलिए कवि पेड़ों के आसपास रहना चाहता है–

मैंने अपने कमरे में
पूरे जंगल की तस्वीर लगा रखी है।[12]

विनोदकुमार शुक्ल जी स्वयं लिखते हैं–'सीधे-सीधे भाषा में मैं सोच नहीं पाता हूँ। जैसे कि हरा पेड़ यह मैं दृश्य में सोचता हूँ, इसे मैं शब्द में नहीं सोच पाता और अगर कहीं शब्द आते हैं तो दरवाजा दृश्य के बाद दरवाजा शब्द आता है और इसी तरह दृश्य का एक सिलसिला चलता है और इसी सिलसिले के साथ-साथ मेरा ख्याल है कुछ समांतर होता होगा।...एक दृश्य बनता है उस दृश्य का भाषा में कोई वाक्य बनता है तो भाषा भी उसके साथ दृश्य में गुँथी हुई आती है।'[13] शुक्ल जी का काव्य ऐसे ही दृश्यों से समृद्ध है बरसात का दृश्य बड़ा ही मनोरम होता है। विनोद कुमार शुक्ल ने 'इस छुआ-छुआइल के खेल में' कविता में इसी दृश्य को दिखाया है। धान के आखिरी खेतों के पार पेड़ हिलते दिखाई दे रहे हैं और ठंडी हवाएँ चल रही हैं, उसी तरह के दृश्य दूर टीले पर दिखाई दे रहे हैं। वहीं बरसात के बाद जब इंद्रधनुष बन जाता है उसका दृश्य कविता 'कुछ काला बैंगनी' में है–

इंद्रधनुष के एक छोटे टुकड़े पर पंख थे
ऐसा एक पक्षी उड़ते हुए आकर बैठ गया था
धीरे-धीरे बरसात हो रही थी/ और डूबता हुआ सूरज था
एक दृश्य के चिड़िया इतने टुकड़े में/ एक चोंच थी

ऐसा एक पक्षी बैठ रहा था।[14]

विनोदकुमार शुक्ल की कविता 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' दरअसल उनके इसी नाम के उपन्यास का ही संक्षिप्त रूप दर्शाती है। कवि के अपने घर की खिड़की के पार एक पूरा प्राकृतिक वातावरण बसता है; जिसमें एक झोपड़ी, एक पगडंडी, एक नदी तथा तालाब का, पूरा संसार जिसमें पशु पक्षी रहते हैं। खिड़की से सारा प्राकृतिक परिवेश दिखाई देता है। उसी प्रकार धौलागिरी पर्वत को देखकर उसकी तस्वीर को याद करते हैं कविता 'पानी गिर रहा है' में बरसात के मौसम चिड़िया के पंख फड़फड़ाने का दृश्य पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। शुक्ल जी की भाषा व उनकी कविताएँ किसी नियम में नहीं बँधती। वे स्वयं अपना काव्यशास्त्र रचती हैं। इसी कारण परमानंद श्रीवास्तव जी लिखते हैं–लातिनी कथाकार मार्कवेज और विनोद कुमार शुक्ल में कई दूर तक की सी समानताएँ हो सकती हैं। प्रकृति और जीवन में जो बहुत नया घटित होता है, वह दोनों के यहाँ है। एक नया काव्यशास्त्र दोनों लेखकों की पहचान बना सकता है।'[15] इसी तरह विनोदकुमार की कविताओं का प्राकृतिक संसार मार्कवेज की कविताओं के संसार के बिलकुल निकट जा बैठता है।

निष्कर्षत: विनोदकुमार शुक्ल की कविताएँ प्राकृतिक तथा पर्यावरणीय परिवेश के सभी रहस्यों को उद्घाटित करती हैं। प्रकृति के प्रति उनकी गहरी आत्मीयता है; जिसमें प्रकृति व पर्यावरण के सभी रंग सम्मिलित हैं। शुक्ल जी की कविताएँ व्यक्ति को प्रकृति के प्रति कर्त्तव्यों का स्मरण कराती नजर आती हैं बड़े ही सहज व्यक्तित्व वाले विनोद कुमार शुक्ल का संपूर्ण व्यक्तित्व उनके काव्य में परिलक्षित होता है। उनके पहले काव्य से लेकर वर्तमान लेखन तक प्रकृति व पर्यावरण के प्रति बड़ा ही प्रेम रहा है जोकि पाठक को प्रकृति से जोड़े रखता है और शुक्ल जी प्रकृति की गोद में बैठकर थोड़ी देर सुस्ता लेते हैं।

संदर्भ

1. आस्था तिवारी, कवि कथाकार विनोद कुमार शुक्ल साहित्य, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, 2008 पृ॰ 8
2. डॉ॰ हरदेव बाहरी, संक्षिप्त हिंदी शब्दकोश, राजपाल एंड संस, प्रकाशन 2016
3. विनोदकुमार शुक्ल, सब-कुछ होना बचा रहेगा, राजकमल प्रकाशन 2021, पृ॰ 14
4. विनोदकुमार शुक्ल, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ॰ 30
5. विनोदकुमार शुक्ल, वह आदमी नया गरम कोट पहनकर चला गया विचार की तरह, पृ॰ 15
6. विनोदकुमार शुक्ल, सब-कुछ होना बचा रहेगा, राजकमल प्रकाशन 2021, पृ॰ 13
7. https://www.google.com/amp/s/hindi.theprint.in/culture/vinod-kumar-shukla-birth-day-hindi-poet-literature/39441/%3famp
8. विनोदकुमार शुक्ल, सब-कुछ होना बचा रहेगा, राजकमल प्रकाशन 2021, पृ॰ 48
9. विनोदकुमार शुक्ल, प्रतिनिधि कविताएँ, विनोद कुमार शुक्ल,
10. सापेक्ष 51, पृ॰ 262
11. विनोदकुमार शुक्ल, सब-कुछ होना बचा रहेगा, राजकमल प्रकाशन, 2021, पृ॰ 26
12. विनोदकुमार शुक्ल, वह आदमी नया गरम कोट पहनकर चला गया विचार की तरह, पृ॰ 35
13. सापेक्ष 51, पृ॰ 273
14. विनोदकुमार शुक्ल, अतिरिक्त नहीं, वाणी प्रकाशन 2000, पृ॰ 51
15. सापेक्ष 51, पृ॰ 836

V/P. Dhansu (Hisar) 125005 Haryana
saurabhdhansu@gmail.com
Mob. 9518024276

डिजिटल क्रांति और बाल मन

डॉ॰ शीतल प्रसाद महेंद्रा, सहआचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, बांदरसिंदरी, (किशनगढ़) अजमेर
डॉ॰ सुरेश सिंह राठौड़, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, बांदरसिंदरी, (किशनगढ़) अजमेर

हाल के शोध बताते हैं कि कोरोना ने बच्चों का दिमाग बूढ़ा कर दिया सिर्फ 10 महीने में टीनएजर्स के मस्तिष्क की उम्र 3 साल बढ़ गई जिससे उनका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ गया है। इसमें कोरोना बीमारी के साथ-साथ डिजिटल गेजेट्स का भी पूरा योगदान रहा है। दैनिक भास्कर में 1 दिसंबर 2022 को प्रकाशित समाचार के अनुसार 9 से 17 साल के बच्चे इंटरनेट की कैद में हैं, सोशल मीडिया और ऑनलाइन गेमिंग की लत लगी है। बच्चों में लगातार इंटरनेट के इस्तेमाल का क्रेज बढ़ता जा रहा है। हाल ही में हुए एक सर्वे में देश के 40% से ज्यादा पेरेंट्स ने माना कि उनके बच्चों को सोशल मीडिया चलाने, वीडियोज देखने और ऑनलाइन गेम खेलने की लत लगी है। इन बच्चों की उम्र 9 से 17 साल के बीच है। यह सर्वे कम्युनिटी सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म लोकल सर्कल्स ने किया है। सर्वे में शामिल 49% माता-पिता मानते हैं कि उनके 9 से 13 साल के बच्चे रोजाना 3 घंटे से ज्यादा इंटरनेट पर बिताते हैं। वहीं, 47% पेरेंट्स ने बताया कि उनके बच्चों को सोशल मीडिया, वीडियो और ऑनलाइन गेमिंग की बुरी तरह लत लगी है। उधर, 62% पेरेंट्स ने माना कि 13 से 17 साल के बच्चे हर दिन 3 घंटे से ज्यादा स्मार्टफोन चलाते हैं। 44% का कहना है कि उनके बच्चे इंटरनेट पर मनोरंजन के आदी हो चुके हैं। सर्वे में लगभग 55% पेरेंट्स ने बताया कि उनके 9 से 13 साल के बच्चों के पास सारा दिन स्मार्टफोन का एक्सेस होता है। यानी उन पर कोई रोक-टोक नहीं है और वे कभी भी उसका इस्तेमाल कर सकते हैं। वहीं, 71% लोगों का कहना था कि उनके 13 से 17 साल के बच्चे पूरा दिन फोन चलाते रहते हैं। सभी पेरेंट्स ने माना कि कोरोना काल में ऑनलाइन क्लास ने बच्चों में स्मार्ट गैजेट्स की लत को बढ़ाया है।

सोशल मीडिया के ज्यादा इस्तेमाल से आजकल बच्चे मेंटल हेल्थ डिसऑर्डर्स के शिकार हो रहे हैं। उनमें स्ट्रेस, एंग्जाइटी और डिप्रेशन बढ़ रहा है। साथ ही आत्मविश्वास, फोकस और अच्छी नींद की कमी होती जा रही है। टीनएजर्स के व्यवहार में भी तेजी से बदलाव हो रहे हैं। वे ज्यादा चिड़चिड़े और गुस्सैल होते जा रहे हैं। अमेरिकन एकेडमी ऑफ पीडियाट्रिक्स की मानें तो बेहतर नींद के लिए इलेक्ट्रॉनिक डिवाइस का यूज रोजाना 2 घंटे से कम करना चाहिए।

सर्वे में 68% माँ-बाप ने माना कि सोशल मीडिया अकाउंट बनाने की न्यूनतम उम्र 13 साल से बढ़ाकर 15 साल करनी चाहिए। साथ ही सरकार ये सुनिश्चित करे कि सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स की गाइडलाइंस का सख्ती से पालन हो। बच्चे 15 साल से कम होने पर अपना अकाउंट न बना सकें। यह सर्वे भारत के 287 जिलों के 65 हजार पेरेंट्स पर किया गया। इसमें 67% पुरुष और 33% महिलाएँ थीं। 51% लोग मेट्रो सिटी या टियर-1 शहर से थे। वहीं 37% टियर-2 और 12% टियर-3 और टियर-4 जिलों से थे। स्टडी को 9 से 13 साल के बच्चों और 13 से 17 साल

के बच्चों में बाँटा गया था।

वहीं दैनिक भास्कर में 20 नवंबर 2022 प्रकाशित समाचार के अनुसार यूनिवर्सिटी ऑफ मॉन्ट्रियल का एक महत्त्वपूर्ण शोध बताता है कि मारधाड़ वाली फिल्में और अपराध की दुनिया से जुड़े हिंसक टीवी शो से बच्चों का बचपन ही नहीं, किशोरावस्था भी बिगड़ने का खतरा होता है। बचपन में देखे हिंसक कार्यक्रमों का असर उन पर 10 साल तक रहता है। उनकी सीखने की क्षमता घट जाती है। इससे किशोरावस्था में उदासी और एंग्जाइटी बढ़ती है। टीवी पर अपराध की दुनिया से जुड़े प्रोग्राम, हिंसा के दृश्य वाले शो और खून-खराबे वाली एक्शन फिल्मों को पसंद करने वालों की संख्या काफी बढ़ी है। कई बार माता-पिता खुद बच्चों के साथ ऐसे शो और फिल्मों का आनंद लेते हैं। ऐसे लोगों के लिए एक अलर्ट कॉल है।

जर्नल ऑफ डेवलपमेंटल एंड बिहेवियरल पीडियाट्रिक्स में छपे शोध में बताया गया कि ऐसे बच्चे, जिन्होंने साढ़े तीन साल की छोटी उम्र में हिंसक चीजें देखी हैं, वे किशोरावस्था में भावनात्मक तौर पर भी परेशान रहते हैं। शोध की प्रमुख लिंडा पगानी कहती हैं, 'बच्चे छोटी उम्र खासकर स्कूल जाने से पहले टीवी पर जिन चरित्रों को देखते हैं, उन्हें सच मानने लगते हैं।

वे उन चरित्रों के प्रति ज्यादा संवेदनशील होते हैं, जो फिल्मों या शो में किसी समस्या का समाधान हिंसा से करते हैं। फिर चाहे वह हीरो हो या विलेन। बच्चा हिंसा को सामान्य समझने लगता है। वह बड़ा होकर भी स्कूलों में फिट नहीं होता। मिडिल स्कूलिंग में वह किशोर होता है। लेकिन ऐसे किशोर जो बचपन में हिंसा को सहज मानते रहे हैं, उन पर उदासी और एंग्जाइटी हावी रहती है।'

अच्छे जीवन-मूल्यों के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों के साथ संचार की प्रक्रिया बड़े ही वैज्ञानिक तरीके से की जाए क्योंकि आज के बच्चे ही कल का भविष्य निर्धारित करते हैं। कहा भी जाता है कि बच्चे ही राष्ट्र का भविष्य हैं और बचपन में जो चीज सीख और समझ ली जाती है, उसे सारी उम्र लगाकर भी भुलाना मुश्किल ही होता है। आज जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत एक वैश्विक शक्ति के रूप में तेजी से उभर रहा है तब यह सवाल अति महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक हो जाता है कि समस्त संचार-माध्यम हमारे बच्चों के लिए कैसा मनोरंजन प्रस्तुत कर रहे हैं। जो पत्रिकाएँ समाज में साहित्यिक मूल्यों की शक्तिशाली वाहक कही जाती हैं, क्या उन्होंने बालकों के मनोविज्ञान पर ईमानदारी से कभी ध्यान केंद्रित किया है? यह ठीक है कभी-कभी 'चंपक' और 'नंदन' जैसी पत्रिकाएँ बाजार में दिख जाती हैं परंतु यह बालकों के सुरुचिपूर्ण मनोरंजन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मुख्यधारा के मीडिया ने बाल मनोविज्ञान पर ईमानदारी से कभी ध्यान केंद्रित नहीं किया है। भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में अनेक टेलीविजन चैनल काम कर रहे हैं लेकिन ऐसे कार्यक्रमों की संख्या बहुत कम है जो मुख्यत: बच्चों को लक्षित करके बनाए जाते हैं। हालाँकि 'बाल गणेश', 'जंगल बुक' और 'पोटली बाबा की' जैसे कुछ कार्यक्रमों ने बाल मन को गहराई तक प्रभावित करने में सफलता पाई थी, लेकिन जिस अनुपात में टेलीविजन चैनलों की भरमार हो गई है, उस अनुपात में बच्चों पर कम ही ध्यान दिया गया है। पिछले एक दशक में आई तकनीकी क्रांति की वजह से फिल्म-निर्माताओं ने बाल-मनोरंजन के लिए निर्मित किए जाने वाले कार्यक्रमों में एनीमेशन और कार्टूनों का जबरदस्त प्रयोग किया है। 'माई फ्रेंड गणेशा', 'हनुमान', 'हनुमान रिटर्नस' और 'छोटा भीम' जैसे कार्यक्रम इस बात के प्रमाण हैं कि आज मीडिया ने बाल-मनोरंजन के नए आयामों को खोलने की कोशिश की है। इसके अतिरिक्त 'तारे जमीन पर' और 'स्टैनली का डब्बा' जैसी मुद्दों पर आधारित, फिल्मों ने भी बच्चों से जुड़ी

संवेदनशील समस्याओं को गंभीरता से उठाया। विशाल भारद्वाज की 'द ब्लू अंब्रेला' (2007) को सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था, यह फिल्म प्रख्यात लेखक रस्किन बांड की एक कहानी पर आधारित है। इसमें एक साधारण-सी छोटी लड़की का मर्मस्पर्शी चित्रण है, जो नीले रंग का एक जापानी छाता खरीदकर लाती है और अपने गाँव में आकर्षण का केंद्र बनती है। इसी तरह अमोल गुप्ते की 'स्टैनली का डब्बा' (2011) स्कूलों में अध्यापकों और विद्यार्थियों के आपसी संबंधों की तहों को खोलती है। बच्चों को यह फिल्म बहुत पसंद आई क्योंकि हर बच्चे को लगा कि यह तो खुद उसके अपने ही स्कूल की कहानी है। इसी सिलसिले में 'चिल्लर पार्टी' (2011) का नाम भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें गली के एक कुत्ते को बचाने के लिए बच्चों का एक झुंड एक नेता के खिलाफ उठ खड़ा होता है। इस फिल्म ने जहाँ एक तरफ बच्चों का सुरुचिपूर्ण मनोरंजन किया, वहीं दूसरी तरफ वयस्कों को यह इसलिए पसंद आई क्योंकि इसमें एक विशिष्ट संदेश निहित था। बच्चों के लिए बनाई जाने वाली अँग्रेजी फिल्मों में हैरी पॉटर शृंखला भले ही सर्वाधिक चर्चित हुई हो, लेकिन पोकेमॉन की शृंखला एक ऐसी अनोखी शृंखला रही है जिसने सन् 2000 से लेकर आज तक हर वर्ष लगातार बेहतरीन बाल फिल्में प्रदर्शित की हैं। विज्ञान गल्पों पर आधारित फिल्मों के अलावा 'आइस सीरीज' और 'कुंग फू पांडा' आदि फिल्में भी खूब चर्चित हुईं। 3-डी बाल फिल्मों की बात करें तो 'द एडवेंचर्स ऑव शार्क ब्वॉय एंड लावा गर्ल्स' और 'जोनास ब्रदर्स' जैसी फिल्मों ने अगर पश्चिमी दुनिया में धमाल मचाया तो भारत में भी 'छोटा चेतन' जैसी त्रिविमीय (3-डी) फिल्म खूब चली थी।

आज फेसबुक जैसी सोशल नेटवर्किंग साइट्स और यू-ट्यूब पर बच्चों के मनोरंजन के लिए अपलोड किए जाने वाले 'अलीबाबा और चालीस चोर' जैसे सभी वीडियोज बाल-मनोरंजन के नए आयामों को ही व्यक्त करते हैं। यह कोई मामूली बात नहीं है कि आज की आपा-धापी भरी तेज रफ्तार जिंदगी में बहुत अधिक व्यस्त रहने वाले माता-पिता जब अपने नन्हें-मुन्नों को समय नहीं दे पाते, तो बाल-मनोरंजन के ये नए आयाम बच्चों के लिए बहुत बड़ा सहारा साबित होते हैं। इतना जरूर है कि ऐसे मनोरंजन की अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि यह प्राकृतिक नहीं है। उदाहरण के लिए बच्चों के मानसिक विकास पर कई बार कुछ नकारात्मक असर भी पड़ जाते हैं या उनकी आँखों में भी दिक्कत आ सकती है। इसके अलावा इंटरनेट पर ऐसी ढेर-सारी सामग्री मौजूद है जो बच्चों के लिए उपयुक्त नहीं है।

मीडिया में बाल-मनोरंजन का एक अन्य माध्यम कार्टून हैं। बच्चों को कार्टून बेहद प्रिय होते हैं क्योंकि बच्चे भाषा की बजाय चित्रों से कहीं ज्यादा सीखते हैं। फिलिस्तीन के राष्ट्रपति रह चुके यासिर अराफात के बारे में यह रोचक तथ्य है कि बच्चों के कार्टून चैनलों से उन्हें बहुत प्यार था। शांति के लिए नोबेल पुरस्कार पाने वाले अराफात किसी फिल्म की बजाय कार्टूनों में शांति खोजा करते थे। भारत में सबसे अधिक लोकप्रिय कार्टून-चैनल 'पोगो' है। यह बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ भारतीय विरासत का भी पूरा ख्याल रखता है। इस चैनल के अपने कार्यक्रमों ने बालमन पर अपनी सकारात्मक छाप छोड़ी है। जहाँ पर 'छोटा भीम' जैसे कार्यक्रम में एक छोटा और साहसी बच्चा ढोलकपुर नामक अपने पूरे गाँव को समस्याओं से बचाता है, 'मिस्टर बीन' जैसे कार्यक्रम जबरदस्त कॉमेडी का नमूना पेश करते हैं। वहीं डोरेमॉन का नोबिता और सिनचैन कैरेक्टर्स की वजह से बच्चों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है और अब इन्हें बंद करने की माँग हो रही है। इस संबंध में ग्वालियर के आरटीआई एक्टिविस्ट आशीष चतुर्वेदी ने ब्रॉडकॉस्टिंग कंटेंट कंप्लेन

काउंसिल को कानूनी नोटिस भेजकर इन कार्यक्रमों को बंद करने की माँग की है। इससे पहले पाकिस्तान में भी इस पर पाबंदी लगाने की माँग उठ चुकी है। बांग्लादेश में तो इस पर बाकायदा बैन लगाया जा चुका है। तीनों ही जगह एक ही बात कही गई कि इनसे बच्चों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। इनके अलावा चीन, अमरीका, मैक्सिको, रूस, स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, ब्राजील, अर्जेंटीना, इजरायल जैसे तकरीबन 50 देशों में इस पर पाबंदी लग चुकी है। इन कार्यक्रमों को देखने के कारण बच्चे हिंसक, आक्रामक, विरोधी, अशिष्ट और जिद्दी हो गए हैं और अभद्र व्यवहार कर रहे हैं। डोरेमॉन का नोबिता हर काम के लिए गैजेट की मदद लेता है। होमवर्क करने के लिए पेरेंट्स को ब्लैकमेल करता है। कार्टून का दूसरा कैरेक्टर सिनचैन अश्लील बातें करता है। देश के बच्चे इन कार्टून सीरियल्स के दीवाने हैं। यह दीवानगी इस हद तक हो गई है कि नोबिता और सिनचैन का कैरेक्टर उनके अंदर ही समा गया है। नोटिस में कहा गया है कि डोरेमोन कार्यक्रम का पात्र नोबिता माता-पिता की बात नहीं मानता है। इससे बच्चों का ध्यान पढ़ाई से दूर हट रहा है। एक एपीसोड में नोबिता के पिता से बच्चे सिगरेट या सिगार पीकर धुएँ का छल्ला बनाने की बात करता है। इसी तरह शिनचैन कार्टून का मुख्य पात्र भी अपनी माँ के लिए परेशानी खड़ी करता रहता है। अक्सर वह अपनी माँ का मजाक उड़ाता है। मौजूदा समय में करीब डेढ़ दर्जन से ज्यादा कार्टून चैनल्स बच्चों को चौबीसों घंटे इस तरह की सामग्री परोस रहे हैं।

आज के बच्चों को शिनचैन और डोरेमोन इतना पसंद है कि वह उन कैरेक्टर्स के बोलने, चलने और काम करने के तरीके को फॉलो करते हैं। कॉपी, ज्योमेट्री बॉक्स के अलावा कपड़े भी वह किसी-न-किसी कार्टून कैरेक्टर वाले ही पहनते हैं। कार्टून की तरह तेज-तेज चलना, नोबिता की तरह बात-बात पर रोना, छोटे भीम की तरह लड्डू और खाने की चीजों को उछालकर खाना उनकी आदत बन चुकी है। ज्यादा टीवी देखना बच्चों में मोटापा बढ़ने का बेहद अहम कारण बन गया है। इसके अलावा ज्यादा टीवी देखने से बच्चों की आँखें कमजोर हो रही हैं और कम उम्र में ही उन्हें चश्मा लग जाता है। साइकॉलोजिकल प्रॉब्लम्स होना, असामाजिक होना, चिड़चिड़ापन ऐसी बातें हैं जो ज्यादा कार्टून देखने वाले बच्चों में देखने को मिल रही हैं।

मनोविज्ञानिकों का कहना है कि ऐसे बच्चों का पढ़ाई में मन लगना बंद हो जाता है और उनकी लर्निंग पावर में कमी आने लगती है। रॉकलेंड हॉस्पिटल के सीनियर चाइल्ड स्पेशलिस्ट डॉ॰ आशीष गुप्ता के अनुसार वे रोजाना ऐसे पैरेंट्स से डील करते हैं जिनके बच्चे कार्टून देखने के आदी हो गए हैं। रोजाना दो और महीने में 30 से 50 पैरेंट्स उनके पास ऐसी समस्या लेकर आते हैं। गुप्ता कहते हैं, 'जिस तरह की प्रॉब्लम लेकर पैरेंट्स आते हैं, उन्हें हम तीन कैटेगरी में रखते हैं पहली– टीवी का एडिक्शन, दूसरी–व्यवहार संबंधी, जैसे–पढ़ने में मन न लगना और तीसरी कैटेगरी है उग्रता, जैसे छोटे भीम की तरह लड़ाई करना। वर्किंग और होममेकर दोनों ग्रुप के पैरेंट्स इस तरह की परेशानी लेकर हमारे पास आते हैं। वर्किंग पैरेंट्स की संख्या थोड़ी ज्यादा होती है क्योंकि ऐसे घरों में बच्चों के लिए टीवी देखना ज्यादा आसान होता है। 2 से 7 साल के बच्चों में कार्टून का सीधा असर देखने को मिलता है जैसे चिड़चिड़ापन और पढ़ाई में मन न लगना, जबकि 7 से 12 साल तक के बच्चे उग्र हो रहे हैं। हमारे पास कई ऐसे पैरेंट्स आते हैं जिनके बच्चों के स्कूल से शिकायत आती है कि वे क्लास में बाकी स्टूडेंट्स से मारपीट करते हैं। सीनियर साइकायट्रिक डॉ॰ ओमप्रकाश के अनुसार कार्टून देखने के प्रति बच्चों की दीवानगी से उन पर शारीरिक और मानसिक रूप से असर पड़ता है। बच्चे ज्यादा हिंसक और चिड़चिड़े हो जाते हैं। इसके अलावा उनकी भाषा

भी खराब हो जाती है। ज्यादातर कार्टून जापानी लेंग्वेज में बनते हैं और बाद में उनका इंग्लिश और हिंदी में अनुवाद किया जाता है जिसमें ट्रांसलेशन को नैचुरल बनाने के लिए अनाप-शनाप चीजें जोड़ी जाती हैं।

न्यूजीलैंड स्थित यूनिवर्सिटी ऑफ ओटागो के शोधकर्ताओं ने कहा कि जो बच्चे अधिक समय तक टीवी देखते हैं, उनमें वयस्क होने पर आपराधिक भावनाएँ विकसित होने की आशंका अधिक रहती है। लिंडसे रॉबर्टसन की अगुवाई में यह शोध 5 से 15 साल की आयु वर्ग के एक हजार बच्चों पर किया गया है। वैसे अमेरिकन एकेडमी ऑफ पीडियाट्रिक्स के मुताबिक, बच्चों को एक दिन में एक से दो घंटे तक ही गुणवत्तापरक टीवी कार्यक्रम देखना चाहिए। कई विशेषज्ञों का मानना है कि आजकल बच्चे 4 माह की उम्र से ही टीवी की तरफ आकर्षित होते हैं, जिन्हें रोकना बेहद जरूरी है।

बाल मनोरंजन की बात करते समय ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी मीडिया बिना उद्देश्य काम नहीं करता। उसका अपना एक एजेंडा होता है। आज ज्यादातर मीडिया घराने निजी कंपनियों के हाथों में हैं, मीडिया में स्वामित्व का संकेंद्रण बढ़ गया है और इसी वजह से विचारों की विविधता पर संकटों का सवाल भी उठ खड़ा हुआ है। अगर बचपन में ही कोई व्यक्ति दूसरे के विचारों का आदर करने की या सहिष्णुता की सीख को ग्रहण न कर पाए, तो आगे चलकर इसे सीखना बेहद दुष्कर हो जाता है। कोई भी निजी मीडिया अंतिम रूप से मुनाफे के लिए ही काम करता है, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मामले में तो यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। इसीलिए ये कंपनियाँ कभी यह नहीं बतातीं कि भारत में बच्चों का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो चाय की दुकानों पर गिलास धोते हुए या बालश्रम के कुचक्र में संघर्ष करते हुए कब बड़ा हो जाता है, उसे पता ही नहीं चलता। ऐसे बच्चों के लिए दो वक्त की रोटी मिल जाना ही सबसे बड़ा मनोरंजन है। बच्चों के लिए किए जाने वाले अधिकतर प्रकाशन और प्रसारण इस नजरिए से किए जाते हैं कि जब वे बड़े हों तो कॉस्मेटिक्स जैसे उत्पादों के लिए खरीददार उपभोक्ता बन सकें। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया कितना गहरा प्रभाव छोड़ता है, इसे अरसा पहले आई हिंदी फिल्म 'ट्रैफिक सिग्नल' की एक घटना से समझा जा सकता है। उसमें गोरापन लाने वाली एक फेयरनेस क्रीम का विज्ञापन देख चुका एक छोटा बच्चा उस विज्ञापन की होर्डिंग पर लगातार पत्थर मारता है और कहता है कि मैंने तो कई हफ्ते इस क्रीम का इस्तेमाल किया लेकिन मेरा रंग गोरा क्यों नहीं हुआ! बच्चे को लगता है कि उसे विज्ञापन ने ठगा और छला है। ये कुछ ऐसी चीजें हैं जिनसे बच्चे बचपन से ही अविश्वास करना सीख जाते हैं। हमें ऐसे शंकालु बच्चों के बारे में गंभीरता से सोचना ही नहीं चाहिए, बल्कि इस दिशा में, छोटे-छोटे ही सही, सक्रिय प्रयास भी अवश्य करना चाहिए।

आज का मीडिया ज्ञानपरक अधिक और मूल्यपरक कम हो रहा है या कुछ हद तक इसे भ्रमपरक भी कहा जा सकता है। सुबह के सभी चैनल कर्म की प्रधानता की बजाय धनवर्षा यंत्र को स्थापित करने में लगे हैं। शोध बताते हैं कि बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए आई-क्यू एवं ई-क्यू का संतुलन आवशयक है। साइबर या हाई प्रोफाइल क्रिमिनल अधिक आई-क्यू व कम ई-क्यू का परिणाम है। आज का मीडिया मीडिया-ऐथिक्स को भूल रहा है। गूगल ज्ञान का भंडार होने के कारण आई-क्यू बड़ा रहा है पर ई-क्यू को कम कर रहा है। सारा सोशल मीडिया वर्चुअल सोसायटी बना रहा है पर रियल सोसायटी को खत्म कर रहा है ऐसे में ई-क्यू कैसे बड़ सकता है? मीडिया के अधिक प्रभाव से बालक ज्ञानयुक्त एवं मूल्य-हीन बनता जा रहा है।

टीवी सीरियल से लेकर रियलिटी शो तक बड़े पर्दे की फिल्मों से लेकर कार्टून और एनिमेशन फिल्मों तक हिंसक दृश्यों का इस्तेमाल मसाले के तौर पर किया जाता है। लेकिन इसका बच्चों के मन पर बुरा असर पड़ता है। सिडनी के मैक्वेरी यूनिवर्सिटी के मनोवैज्ञानिक वायेन वारबर्टन का कहना है कि हिंसा का बच्चों के दिमाग में पड़ने वाले असर साफ तौर पर देखे जा सकते हैं। वारबर्टन का कहना है, 'ऐसे दृश्यों के बाद बच्चों के व्यवहार में आक्रामकता आ जाती है और वो हिंसा के प्रति असंवेदनशील हो जाते हैं। उन्हें दुनिया जरूरत से ज्यादा खराब लगने लगती है। जिन बच्चों ने टीवी पर हिंसा देखी है उनके दिमाग का चुंबकीय अनुनाद उन्हीं बच्चों की तरह होता है जिन्होंने हिंसा के असली दृश्य देखे हैं।'

वारबर्टन के मुताबिक 'जिन बच्चों ने हिंसा से भरे वीडियो गेम ज्यादा देखे हैं उनमें आक्रामकता की संभावना ज्यादा पाई जाती है। अगर ये लंबे समय के लिए जारी रहता है तो नुकसानदेह है। ये बर्गर खाने की तरह है। एक बर्गर खाना नुकसानदायक नहीं होता लेकिन लगातार खाने से प्रतिकूल असर हो सकता है।' ये निष्कर्ष उस समय सामने आया है जब सरकार ने नाबालिग को हिंसा वाले या सेक्स वीडियो गेम बेचने पर रोक लगाने का ऐलान किया है।

न्यूयॉर्क में इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा हुई। 'बेबी ब्रेंस एंड वीडियो गेम्स' नाम से हुई इस चर्चा में अभिभावकों से अनुरोध किया गया कि बच्चों के सामने इस तरह के उपकरणों का इस्तेमाल सीमित कर दें। चर्चा में शामिल वारेन बकलाइटनर ने कहा, आप बच्चों के हाथ से यह चीजें नहीं छीन सकते। बकलाइटनर चिल्ड्रेंस टेक्नोलॉजी रीव्यू पत्रिका के संपादक हैं। न्यूयॉर्क में सीएनएन की तकनीकी जानकार केटी लिनेंडॉल तो एप्लिकेशन को बच्चों की सबसे बढ़िया आया मानती हैं। वह अपनी भांजी को क्रेजी पियानो या फिर क्रायोला कलर स्टूडियो एचडी के साथ बड़ी खुशी से वक्त बिताते देखती हैं। लिंडॉल कहती हैं, अगर आपके पास सरल और ऐसा एप्लिकेशन है जिसे आसानी से समझा जा सके तो बच्चे उसके साथ खेलते हैं। हालाँकि कुछ माँ बाप की राय है कि कंप्यूटर की दुनिया बच्चों को पारंपरिक तरीके से पलने-बढ़ने के रास्ते में बाधा के रूप में आ रही है। बोस्टन में रहने वाली सारा रॉमैन एप्स ने बताया कि उनका दो साल का बेटा, कागज पर क्रेयॉन्स के साथ तस्वीर बनाना पसंद करता है लेकिन जब तस्वीरें चलती नहीं तो वह परेशान हो जाता है। मुझे लगता है कि वीडियो और एनिमेशन की लगातार फैल रही संस्कृति की वजह से ऐसा हो रहा है। पैरिस में रहने वाले बच्चों के मनोवैज्ञानिक सेर्गे टिसरॉन यह सब देखकर परेशान हो जाते हैं। उनका मानना है कि एप्लिकेशन बच्चों को थ्री-डी स्पेस ठीक से समझने की राह में बाधा बन रहे हैं जो उनके विकास के लिए जरूरी है। टिसरॉन ने कहा, हम जानते हैं कि बच्चों के लिए सारी इंद्रियों का इस्तेमाल करना जरूरी है। हालाँकि वे तकनीक के खिलाफ नहीं हैं। 64 साल के टिसरॉन खुद वीडियो गेम के बड़े शौकीनों में हैं। पर उनका मानना है कि जब तक और रिसर्च नहीं हो जाते मासूम उँगलियों को स्क्रीन से दूर रखना ही अच्छा है।

बच्चों के विकास में पहले दो सालों में दिमाग का आकार तीन गुना बढ़ जाता है और यह संभव होता है बच्चों के चीजों को छूने, फेंकने, पकड़ने, काटने, सूँघने, देखने और सुनने जैसी गतिविधियों से। टिसरॉन का कहना है कि हालाँकि आईपैड और आईफोन बहुत सारी गतिविधियों को अपने में समेटे हैं लेकिन इनके साथ बच्चों की सारी इंद्रियों का इस्तेमाल नहीं हो सकता। वे यहाँ कुछ हद तक देख और सुन सकते हैं लेकिन स्वाद, गंध और प्राकृतिक चीजों को महसूस नहीं कर सकते। टिसरॉन तो यहाँ तक कहते हैं, एप्लिकेशन के दो ब्लॉक्स जोड़कर या एक के ऊपर

दूसरे को रखकर आकृति बनाने में हुए अनुभव वास्तविक दुनिया की जगह नहीं ले सकते। इस उम्र के बच्चों को टीवी देखने से होने वाले नुकसानों पर तो पहले ही बात हो चुकी है और उसे बुरा भी बताया जा चुका है लेकिन स्मार्टफोन पर अभी बात नहीं हुई पर बात शुरू जरूर हो गई है।

बाल-मनोरंजन के लिए शोध केंद्रों की भी पूरक भूमिका होती है। बच्चों के लिए जो अच्छा साहित्य लिखा जा रहा है, उसके लिए उत्साही प्रकाशकों की आवश्यकता है। अगर गाँवों और नगरों में हर जगह बाल-पुस्तकालय मौजूद हों, जहाँ बाल-साहित्य बच्चों को सहजता से सुलभ हों। पुस्तकालयों के लिए बाल-साहित्यकारों की पुस्तकों और पत्रिकाओं के नियमित क्रय का समुचित प्रावधान होना चाहिए जिससे अद्यतन बालसाहित्य इन पुस्तकालयों में उपलब्ध होता रहे। इन बिंदुओं पर ध्यान देकर ही मीडिया बाल-मनोरंजन के नए आयामों का विस्तार कर सकता है। गौरतलब है कि प्रिंट मीडिया की वर्तमान होड़ में भी आज 'मदारी' और 'तितली' जैसी कोई बाल-पत्रिका नहीं है जो शिशुगीतों से बच्चों का भरपूर मनोरंजन करे। आज भले ही बड़े साहित्यकार बच्चों के लिए किसी पत्रिका में कुछ लिखते हुए नाक-भौं सिकोड़ते हों लेकिन एक दौर में कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी कुछ बाल कविताएँ लिखी थीं जो कुँवर सुरेश सिंह के संपादन में प्रकाशित 'कुमार' में समय-समय पर छपती रहती थीं।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार—बच्चों के टीवी देखने का समय निर्धारित करें। रोजाना सिर्फ 1 घंटे के लिए टीवी देखने दें, इसमें से आधा घंटा कार्टून और बाकी आधा घंटा बच्चे अपनी पसंद का कोई और कार्यक्रम देख सकते हैं। अचानक उनका टीवी देखने का समय कम न करें। टीवी का समय धीरे-धीरे ही कम करें। बच्चों के साथ ज्यादा से ज्यादा समय बिताएँ। उन्हें अकेला न रहने दें। इससे टीवी की ओर उनका रूझान कम होगा। बच्चों के साथ गेम्स खेलें, उन्हें म्यूजियम आदि दिखाने लेकर जाएँ, उनके साथ गप्प मारें। बच्चों के भीतर कोई एक ऐसी हॉबी विकसित करें जो उनका पैशन बन जाए यानी उसके सामने बच्चा सब-कुछ भूल जाए। मसलन बच्चा कोई इंस्ट्रूमेंट बजाना सीख सकता है, म्यूजिक सीख सकता है, ड्रॉइंग सीख सकता है। कोशिश करें बच्चे का खेल के मैदान के साथ रिश्ता कायम रहे। वह दौड़े, भागे, शारीरिक मेहनत करे। ऐसा करने से बच्चे के अंदर हॉर्मोनल बैलेंस बना रहता है और उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता में बढ़ोतरी होती है। अगर बच्चे जिद करें तो उनके सामने हमेशा हथियार न डालें, नहीं तो वे वह हर बार जिद करके अपनी बात मनवाने लगेंगे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मीडिया में बाल मनोरंजन से जुड़ी अनेक समस्याओं से निजात पाने के लिए सभी दिशाओं से प्रयास करने की जरूरत है। खुद की पसंद पर लगाम लगाएँ, आप जो देखेंगे बच्चे वही देखेंगे, 12 साल से कम उम्र के बच्चों को पर्सनल मोबाइल देने से बचें।

Mob. 9887011119
spmahendra@curaj.ac.in
Mob. 99283445666
srathore@curaj.ac.in

विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियों में नारी

डॉ॰ सिंधु टी आई, एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग
सेंट पीटर्स महाविद्यालय, कोलेंचेरी (केरल)

काशी की विख्यात हिंदीसेवी संस्था 'नागरी प्रचारिणी सभा' के संस्थापकों की पीढ़ी में जन्मे विष्णुचंद्र शर्मा ने अपना पूरा जीवन साहित्य के लिए समर्पित किया। चाहते तो वे बड़े ख्यातिप्राप्त साहित्यकार भी बन पाते थे, लेकिन उन सबसे वे दूर रहे और पूरा समय साहित्य के लिए व्यतीत किया। उन्होंने खूब यात्राएँ कीं और लेखकों को समझने की कोशिश की। उन्होंने 'कबीर की डायरी' लिखी, 'मुक्तिबोध की आत्मकथा' लिखी, यहाँ तक कि विद्रोही कवि माने जाने वाले बांग्लादेश के कवि और संगीतज्ञ नजरूल इस्लाम की जीवनी 'अग्निसेतु' लिखी। वे नागार्जुन, शमशेर व त्रिलोचन की परंपरा के कवि माने जाते हैं। विष्णुचंद्र शर्मा ने करीब तीस कहानियाँ लिखीं। उनके तीन कहानी-संग्रह हैं–'दोगले सपने', 'बौड़म' और 'अपना पोस्टर'। 'दोगले अपने' कहानी-संग्रह में बारह कहानियाँ संग्रहीत हैं–'दोगले सपने', 'पलाश', 'सयानी बहनें', 'अरुण! यह मधुमय देश हमारा', 'दंद-फंद', 'डायरी का एकांत', 'कला के प्रयोग', 'टुकड़ों में बँटे नाते', 'पड़ोस का रोमांस', 'उनसे हमारा क्या नाता', 'पुराना हॉकर', 'जो मेरी अँखियन रसना होती' आदि। 'बौड़म' कहानी-संग्रह में चौदह कहानियाँ संग्रहीत हैं–'एक नीरस कहानी', 'अपना पोस्टर', 'बेतरतीब', 'बिना छत का कमरा', 'मिट्टी के बबुए', 'बौड़म', 'चाँद', 'डायरी का एकांत', 'खाका सुख का', 'प्रेम करि काहू सुख न लहयो', 'राखी', 'रायता इफ्लैंड', 'रिविका', 'टुकड़ों में बँटे नाते' आदि। 'अपना पोस्टर' कहानी-संग्रह में नौ कहानियाँ संकलित हैं–'कहानीकार की पूरी यात्रा', 'मिट्टी के बबुए', 'एक और आदमी', 'कॉलेज का एक दिन', 'बंद धुआँ', 'आखर बाबू का निर्वासन', 'एक नीरस कहानी', 'नाम' तथा 'अपना पोस्टर'।

विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियाँ विस्तृत फलक की कहानियाँ हैं। वे उच्च मानसिक स्तर की संस्कृति वाली भारत देश का सपना देखा करते थे। चाहे स्त्री हो या पुरुष, मनुष्य को बराबरी में देखना वे पसंद करते थे। समाज के हर तबके के स्त्री जीवन का चित्रण उनकी कहानियों में मिलता है। उनकी कहानियों में पति-पत्नी के संबंधों को दृढ़ होने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। कहीं भी उन्होंने औरत को उच्च या निम्न स्तर की दृष्टि से नहीं देखा। विवाह के बाद पति-पत्नी का संबंध दृढ़ होना जरूरी होने पर भी संभव नहीं। कभी-कभी ढीला या तलाक होकर भी सामने आता है। विष्णुचंद्र शर्मा अपनी कहानियों में पति के मर जाने पर या तलाक की स्थिति में वे औरतों के स्वाभिमान से जीने के पक्ष में दिखाई देते हैं। वे अपनी कहानियों के माध्यम से जिंदगी और परिवार को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। 'बेतरतीब' कहानी में कहानीकार घर की परिभाषा तलाशते हैं और वे याद दिलाते हैं कि घर सिर्फ पति-पत्नी का नहीं है, बच्चों से बना होता है घर। लड़कियों का निर्मल व्यक्तित्व उनको हठात आकर्षित करता है। घर में काम करने वाली नौकरानी से लेकर घर की प्यारी लड़की और आदिवासी इलाके की लड़की के निर्मल व्यक्तित्व का चित्रण उनकी कहानियों में मिलता है। 'रिविका' कहानी अपने एक बंगाली मित्र की बेटी ऋचा के परिवार

 ISSN 0975-735X

के साथ बीते दिनों की याद है। ऋचा जब छोटी थी, तब उस बंगाली परिवार के घर में रुके थे। अब ऋचा बड़ी हो गई है, विकास उसका पति है, रिविका उनकी छोटी बेटी। पुरानी और नई यादों के साथ कहानी बुन गई है। कहानी में दूसरे कई पात्र हैं, विष्णुचंद्र शर्मा की यादों के केंद्र में परिवार की बेटी रिविका है। 'राखी' एक नौकरानी की कहानी है, जिसका नाम है–राखी। वह कोलकत्ते की एक लड़की है। बचपन में ही उसकी माँ मर गई थी। उसके पिता ने दूसरी शादी की। राखी कड़ी मेहनत करती थी। लेकिन कोई उसकी परवाह नहीं करता था। राखी बड़ी हो गई। वह अपने पति के साथ बैंगलोर में है। उसे एक घर में बच्चे की देखरेख करने के लिए रखा गया है। घर का सारा काम वह बिना कोई शिकायत से करती थी। एक आदर्श नारी के रूप में राखी पाठकों के सामने आती है। 'पलाश' कहानी में झारखंड की आदिवासी संस्कृति का चित्रण मिलता है। कहानी में पलाश वहाँ की एक लड़की का नाम है। झारखंड में गरीबी के बीच बढ़े, अनुभव से भरे-पूरे लड़के-लड़कियाँ हैं। कथा-प्रवक्ता अपनी प्रेमिका को लिखते हैं–'अखबारों में तुमने पढ़ा जरूर होगा कि यह तुम्हारा जंगल नक्सलवादियों का खतरनाक इलाका है। पर मुझे तो अपना एक भी विद्यार्थी या शिष्या कहीं खतरनाक नहीं लगती। ...वे अपने जमीन के लिए लड़ते हैं। उनके अंग-अंग में हिंदुस्तान का सपना नजर आता है। गरीबी के भीतर यह खतरा उठाकर वह सपने कैसे बचाए हुए हैं।'[1]

लड़कियों के बदलती दृष्टिकोण को विष्णुचंद्र शर्मा जी ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। पहले अपने माता-पिता या गुरुजनों को मानने वाली लड़कियों की मनोदृष्टि अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करने वाली लड़कियों में बदल गई। इस बदले हुए परिवर्तन को कहानियों में चित्रित किया गया है। 'कॉलेज का एक दिन' कहानी में 'ऑवर डाटेर्स कॉलेज' नामक एक कॉलेज के अध्यापक और छात्रा की दयनीय स्थिति का चित्रण है। अध्यापक की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि वह उस छात्रा को मनोविज्ञान के सहारे सिखाने लगा। आखिर उस छात्रा की मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है। सारी छात्राएँ ऐसी नहीं हैं। काशी में भी बदलाव की सूचना 'आखर बाबू का निर्वासन' कहानी में मिलती है। विश्वविद्यालय से निकाली गई एक छात्रा अपनी नियति पर अनशन लेने की तैयारी में है। यह वह जमाना था, जहाँ लड़कियों को आदर्श नारी के रूप में होने का अभ्यास व शिक्षा दी जाती थी। 'खाका सुख का' कहानी में रंभा घरवालों की इच्छा के अनुसार शादी तक तय करने वाली प्रथा को तोड़ने की कोशिश करती है। अधेड़ अनवरत और रंभा का प्रेम-विवाह होता है। पिता विरोध करते हैं, अनवरत को खतरनाक मानते हैं, जबकि माँ सावित्री अनवरत पर भरोसा करती है।

औरत के लिए पति के बिना ससुराल में जीना कठिन है। ऐसी स्थिति में वापस मायके जाने पर भी उनको वहाँ से भी बेदखल किया जाता है। भविष्य में उनका सहारा बच्चे ही हैं। 'बिना छत का कमरा' कहानी पति की मृत्यु के बाद विधवा होने वाली पत्नी का उनका अपना कोई बच्चा नहीं था। पति के रहते उन्होंने एक बच्चे को गोद लिया था। वह बताती हैं–'मैं तो उनके बाद बिना छत का कमरा हूँ। न धूप में चैन, न बारिश में सुकून।' ससुराल में पति का छोटा भाई अपनी पत्नी और बेटी के साथ घर में रहता था। छोटे भाई की पत्नी को ट्यूमर हो गया। छोटे भाई को पत्नी के ट्यूमर की चिंता नहीं थी, सिर्फ अपने घर की वारिस की चिंता थी। सभी के सामने बिना छत का कमरा, यानी बड़े भाई की विधवा एक गवाह है। विधवा भाभी की और सधवा बीमार पत्नी की एक ही हालत है। 'कहानीकार की पूरी यात्रा' प्रथा और स॰ के बीच के असफल प्रेम की कहानी

कहानीकार ने सपने के माध्यम से की है। 'बौड़म' राजनीति की चर्चाओं के घेरे में रहने वाली सतघरा की मौसी कहानी है। 'चाँद' कहानी में बैंक के घोटाला होने के कारण चाँद उदास है, लेकिन भविष्य के लिए आशा की किरणें बिखेर देती हैं उसकी दो बेटियाँ जो मिरांडा में पढ़ती हैं। जिंदगी में मुसीबतों का सामना करना पड़े तो बच्चे ही आशा देने वाले हैं। 'पड़ोस का रोमांस' एक छोटी कहानी है। पारिवारिक जीवन की भी व्यवस्था होती है। कहानीकार की राय में–'अव्यवस्था जंगल जैसी है।'[2] कथा-प्रवक्ता से पत्नी अपने पति पुराण सुनाने पर वे पूछते हैं–'अक्सर औरतें पति से मार तो खाती है; पर वे पति के स्वभाव, उनकी अभिरुचि, उनके दबदबे...।'[3] 'पूरी कोलोनी में आप घूम आइए। यह तो हर घर में जंगली पति या आदिम पति की कहानी मिल जाएगी।'[4] पत्नी की इच्छाएँ रोज मर जाती हैं। 'पति पुराण का एक पहलू तलाक है, दूसरा आत्महत्या।'[5] 'जो मेरी अँखियन रसना होती' लंबी कहानी हैं। कई परिवारों की जिंदगी को कहानी में लाया गया है। शादी करते हैं, तलाक लेते हैं; या पत्नी के देह को ही सर्वोपरि मानने वाले पति कहानीकार लिखते हैं– 'प्रेम-व्रेम करना चाहो तो राँची के नदी, पहाड़, झरने के बीच अपना जादू देख आओ और इसे थोड़ा जान लेना।'[6] कहानीकार के कुछ सवाल और उत्तर पाठकों को चिंतित करते हैं; जैसे–क्या शादी जरूरी है नारी-पुरुष के बीच।'; 'जरूरी नहीं है।'; 'एक अंतरंगता मिलती है मुझे अपनी पत्नी से।'; 'तलाक' के होरमोंस होते हैं। और वह होरमोंस औरतों या युवतियों में अधिक होते हैं। क्या नारी की गुलामी या विवाह के नाते पुरुष की गुलामी का दूसरा वैज्ञानिक अनुभव नहीं है?'[7]

औरतों के नैतिक ह्रास की ओर इशारा करने वाली कहानियाँ हैं–'बंद धुआँ', 'मिट्टी के बबुए', एक नीरस कहानी आदि। संपूर्ण कहानी नैतिक ह्रास से परिपूर्ण नहीं है, इस ओर एक संकेत मात्र ही किया है। 'बंद धुआँ' कहानी में काशी के कुंजीटोला की एक दलाल औरत का, कोठेवाली का, चित्रण मिलता है, जिसे अंजन मौसी पुकारता है। आज वह मकान मालकिन बन गई है। अंजन कुमार और उस औरत के बीच के रिश्ते का वर्णन इस प्रकार मिलता है–'मैं उस घर को उस समय से जानता हूँ, जब 'मौसी', हाँ मैं उसे 'मौसी' ही कहा करता हूँ, इसी केदारघाट पर मुझसे दो आना लेती थी, भीख। कोई सेठ दो आना नहीं देता भिखमंगों। मैं दो आना देता था। उपकार के लिए नहीं, और दया तो मैं जानता ही नहीं। मात्र व्यापार था। मुझे वह पतली गलियों से एक चोर दरवाजे का पता दे देती थी।'[8] यह किसी गुप्त व्यापार की सूचना मिलती है। 'मिट्टी के बबुए' कहानी में शकुन के बारे में वह तरह-तरह की बातें सुनता है। उनको शकुन के साथ की मित्रता को लेकर कई लोग चेतावनी भी देती है। शकुन को बचपन से ही कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। उसकी जिंदगी में गग्गुल शास्त्री ने पढ़ाई से लेकर नौकरी तक की मदद की थी। लेकिन उनको रिश्ते को लेकर लोग शंकित हैं। शकुन गग्गुल शास्त्री के चंगुल से बचने की कोशिश करती है। मानव को शकुन मिट्टी के बबुए लगता है। कहानी के अंत में मानव शकुन से दूर चला जाता है–'सबसे अलग, सबसे दूर।'[9] 'एक नीरस कहानी' का एक पात्र है विकलांग तलवार सिंह उर्फ खल्क साहब जो महिला साहित्य निकेतन, राजा गार्डन के संचालक हैं और हिंदी साहित्य केंद्र, चाँदनी चौक के डायरेक्टर हैं। उनको वशीभूत करने के लिए एक लड़की आती है, लेकिन वे उनके वश में नहीं पड़ते हैं। वे बोलते हैं–'यार, जिंदगी तो तुम्हारी तरफ ताज बुलंदियों से नहीं जीता जा सकता।...हम किले फतह करने के लिए नहीं, जिंदगी में बुलंदी खड़े रहने के आदी रहे हैं।'[10]

पुरानी पीढ़ी के अधिकारों से दबे हुए जीवन से बाहर आने की कोशिश में सफल हुई लड़कियों का चित्रण विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियों में मिलता है। 'दंद फंद' कहानी में चंदना एक

ऐसी लड़की थी, जो अकेली रहती थी, वह शॉपिंग के लिए जाया करती थी, उसे फोटो खिंचवाने का शौक था, वह साइकिल से जाया करती थी। उस समय लंका की दुकानें बन ही रही थी। चंदना की वजह से टूटे हुए पुल का निर्माण करने का आदेश दिया गया। वह विश्वविद्यालय की नायिका बन गई थी। उस समय के अखबारों पर भी चंदना का अधिकार था। 'कला के प्रयोग' कहानी में बनारस की प्रेमी-प्रेमिका अलग-अलग धर्म के हो जाने के कारण या कहें तो विभिन्न संस्कृतियों के होने के कारण शादी नहीं कर पाते थे, उसमें किस प्रकार का बदलाव आया था और वे कचहरी में जाकर शादी करके बनारस की संस्कृति में भी परिवर्तन कर डालते हैं, इसका विस्तुत विवरण प्रस्तुत करती है। कला इस कहानी का मुख्य पात्र है, जिसे 'बलगाम घोड़ी' समझी जाती थी। हर विषय पर कला की अपनी राय थी। वह स्कूटर चलाती थी। वह अपनी माँ के बारे में सोचती है– 'माँ ने अपना जीवन चौपट कर लिया है। फिर है क्या माँ। पढ़ी-लिखी मूर्ख।'[11] बनारस की मिली-जुली हिंदू-मुसलमान संस्कृति का चित्रण मिलता है। अलग-अलग संस्कृति में पले-बढ़े लोगों को अपना धर्म प्रेम करके शादी करने में बाधा पैदा कर रहा था। लेकिन कहानी के अंत में भिन्न-भिन्न संस्कृति के दंपतियों की शादी होती है। नरेंद्र-रीता, घोशाल-उदिता, कला-अजीज अहमद की शादी वहाँ जो जाती है। उमा उससे ही पहले नरेंद्र के साथ अपनी जिंदगी शुरू कर ली थी। आखरि वे भी कचहरी पहुँच जाते हैं। उमा से शादी करने के कारण नरेंद्र के पिता ने जायदाद से उसे बेदखल कर दिया था। बनारस में भी एक बड़ा परिवर्तन आ गया है। या कहें तो एक बड़े परिवर्तन की शुरुआत इनकी शादी की वजह से हुई थी। बनारस की संस्कृति में हुए परिवर्तनों से कहानीकार खुश हैं। वे लिखते हैं–बिना चले न हम दो कदम आगे बढ़ सकते हैं, न एक कदम पीछे चल सकते हैं।'[12] 'हर शहर इसी तरह रूपांतरित होता है।'[13] 'सिर्फ हम शुरुआत कर सकते हैं। एक शहर को बदल नहीं सकते।'[14] 'रायता इफलैंड' कहानी में जर्मनी में पली रायता के परिवार की कहानी है। परिवार कुछ साल जर्मनी में था। रायता की माँ जर्मनी में थी, दादी भी जर्मनी में थी। दूसरे विश्वयुद्ध की कठिनाइयों को झेलना पड़ा था। रायता की माँ जर्मनी में महिला संगठन में सक्रिय थी। बेटी रायता को संगीत में रुचि थी। सेलो गायिका के रूप में उसे ख्याति मिली थी। औरतों के स्वतंत्र जीवन और उनकी कलात्मक अभिरुचि को बड़े गर्व के साथ विष्णुचंद्र शर्मा ने प्रस्तुत किया है।

'अपना पोस्टर' कहानी में देश में व्याप्त अँधेरे से पीड़ित एक लेखक व पत्रकार का चित्रण है। पति से तलाक लेने वाली एक युवती को समझाते हैं–'औरत का धर्म पति है।' पति पुरुष होने के नाते अधर्म कर सकता है। 'एक नीरस कहानी' में राजदेव पाठक की पत्नी आदर्श भारतीय नारी है। पति के तुनक मिजाज पर 'मुस्कुराती हुई पत्नी' है वह। एक कमरे वाले घर की रसोई को विष्णुचंद्र शर्मा जी ने 'पत्नी का गृह' बताया है, जो भारतीय नारी के लिए सार्थक है। 'अरुण! यह मधुमय देश तुम्हारा' लंबी कहानी में अरुण नामक एक अनाथ युवक को अपनी माँ का चेहरा तक याद नहीं है। वह रूस पहुँच जाता है तो एक औरत उससे उसकी माँ के बारे में पूछती है तो वह फफक-फफककर रो पड़ा। उसी औरत ने उसे अपने पास बिठाकर अनुभव कराया कि माँ ममतमयी है। 'डायरी का एकांत' पत्नी की मृत्यु के बाद अकेले हो गए पति और दो बेटियाँ अपने सारे घावों को भूलकर खुश रहने की कोशिश करते हैं। 'सयानी बहनें' कहानी में माँ की मृत्यु के बाद मायके लौट आई शादीशुदा बहनों की कहानी है। शादी के बाद औरतों की जिंदगी किस तरह बदल जाती है, उसी की ओर कहानीकार ने इशारा किया है। लगता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की परिस्थिति आ जाने पर वे स्त्रियों के स्वतंत्र जीवन बिताने के पक्षधर हैं। शादी के

बाद ज़्यादातर औरतों की कोई इच्छा नहीं होती, लड़ने की, बहस करने की, चीखने की भी इच्छा नहीं होती है। शादी के बाद औरतों का खयाल करने के लिए, उनकी बात सुनने के लिए कोई नहीं है। दु:ख को झेलकर तीनों बहनें सयानी हो गई हैं।

विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियों में कहीं भी औरत के प्रति एक हीन मनोदृष्टि का चित्रण नहीं हुआ है। बचपन में वह सब के दिल को छूने वाली होती है, युवावस्था में उनके द्वारा परिवार निर्माण की कामना करते हैं। समाज में ऐसी एक प्रथा होती है कि हमेशा पुरुषों के अधीन रहे। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में स्त्री के रूप का चित्रण करके उसके स्तर को ऊँचा उठाने की कोशिश विष्णुचंद्र शर्मा की कहानियों में की गई है। लड़की को पीढ़ी के नेतत्व में लाने तथा उसकी कलात्मक वासनाओं को संपुष्ट करने का प्रयास कहानियों में मिलता है।

संदर्भ

1. विष्णुचंद्र शर्मा, दोगले सपने, पृ॰ 19
2. वही, पृ॰ 91
3. वही, पृ॰ 92
4. वही, पृ॰ 93
5. वही, पृ॰ 94
6. वही, पृ॰ 111
7. वही, पृ॰ 144
8. विष्णुचंद्र शर्मा, अपना पोस्टर, पृ॰ 52
9. वही, पृ॰ 28
10. वही, पृ॰ 92
11. विष्णुचंद्र शर्मा, दोगले सपने, पृ॰ 62
12. वही, पृ॰ 81
13. वही, पृ॰ 82
14. वही, पृ॰ 82

Dr. Sindhu T. I .
Associate Professor, Dept. of Hindi
St- PetersCollege, Kolenchery (Kerala) 682311
Mob. 9446611338
drsindhuti@gmail.com

भारतीय काव्यशास्त्र का रससिद्धांत : एक विवेचन

डॉ॰ सीताराम दोतोलिया, प्राचार्य
श्रीमती गोविंदी देवी सहरिया राजकीय शास्त्री संस्कृत महाविद्यालय,
कालाडेरा, जयपुर (राज॰)

रस सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सिद्धांत है लेकिन इसे काव्य में व्यापक प्रतिष्ठा काफी बाद में प्राप्त हुई। रस का विशद् एवं प्रामाणिक विवेचन काव्यशास्त्र के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध होता है। लेकिन वह विवेचन दृष्य काव्य के संदर्भ में ही हुआ है। श्रव्य-काव्य में प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास आनंदवर्धन तथा अभिनव गुप्त को मिलता है। परिवर्ती आचार्य मम्मट ने रस का विशद विवेचन किया है लेकिन ध्वनि के अंतर्गत ही। ध्वनि के शिकंजे से मुक्ति दिलाने का कार्य कविराज विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ तथा रीतिकालीन आचार्यों द्वारा संपन्न हुआ। आज रस एक स्वतंत्र सिद्धांत है और उसकी सत्ता दृश्य एवं श्रव्य सभी में मान्य है।

1. रस : अर्थ, निष्पित्त एवं स्वरूप

'रस आस्वादे' अर्थात् रस का अर्थ स्वाद् लेना है। वाद का अर्थ है रस का ग्रहण करना–'स्वादो रस ग्रहणे'। लौकिक रसों-मधुराम्ल आदि का ग्रहण जिह्वा द्वारा किया जाता है और काव्य-विषयक, श्रृंगारादि रसों का आस्वाद 'रति' आदि स्थायी भावों के रस रूप में अभिव्यक्त होने पर मन से किया जाता है।

'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र द्वारा भरत मुनि ने सर्वप्रथम रस निष्पत्ति-विषयक स्व मत का प्रतिपादन किया। परवर्ती आचार्यों द्वारा इस सूत्र की ही व्याख्या की गई। इनमें चार विद्वानों का रस-विषयक सिद्धांत सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनमें भट्टलोल्लट का 'रसोत्पत्तिवाद' काल क्रम से प्रथम सिद्धांत माना गया है। भट्टलोल्लट ने भरत सूत्र में प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है कि आलंबन एवं उद्दीपन विभाव के साथ रति आदि स्थायी भाव के संयोग से रस की निष्पति (उत्पत्ति) होती है। अनुभावों के साथ स्थाई भावों के संयोग से रस की प्रतीति होती है तथा व्यभिचारी भावों के साथ संयोग से रस की पुष्टि (निष्पत्ति) होती है यह रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि के हृदय में तथा 'अनुकर्ता नट में गौण रूप से प्रतीत होता है। किंतु भट्टलोल्लट के रसोत्पत्तिवाद में सहृदय सामाजिक का कोई स्थान न रहने के कारण यह सिद्धांत विद्वानों में स्वीकृत नहीं हो पाया।

भरत रस सूत्र के द्वितीय प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य शंकुक हैं। इनका 'रसानुमितिवाद' रस संप्रदाय में प्रसिद्ध है। शंकुक के अनुसार भरत के रस सूत्र में 'प्रयुक्त' संयोगाद्' शब्द का अर्थ 'अनुमाप्य अनुमापक संबंध' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है। इसके अनुसार लोक में चार प्रकार के ज्ञान हैं–सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य ज्ञान। सहृदय सामाजिक नट में उक्त चारों ज्ञानों से विलक्षण अनुकृतिजन्य ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् नट को ही राम मानकर कृत्रिम

विभावानुभाव व्यभिचारि भावों द्वारा अनुमाप्य अनुमापक संबंध (साध्य साधक) द्वारा नट में रस का अनुमान कर लेता है। यद्यपि अनुमीयमान रस न तो नट में और न ही सहृदय में रहता है, किंतु सहृदय सामाजिक अपनी वासना (इच्छा) से उस अनुमीयमान रस का ही आस्वादन करता है। किंतु इस रस सिद्धांत में मुख्य दोष यह है कि शंकुक ने नट तथा सहृदय में विभावादि को कृत्रिम माना है तथा नट में स्थायी भाव की संभावना मात्र मानी है जबकि कृत्रिम विभावादि द्वारा रसानुभूति कदापि नहीं हो सकती है। इसी कारण यह सिद्धांत भी काव्यमर्मज्ञों में समादृत नहीं हो सका। हाँ शंकुक की महत्त्वपूर्ण देन यह मानी गई है कि रति इत्यादि स्थायी भावों को अलौकिक सौंदर्य से युक्त मानकर रसानंद में अलौकिकता का समावेश कर दिया है।

भरत रससूत्र के तृतीय प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक माने गए हैं। इनका रस सिद्धांत 'रस भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। भट्टनायक के अनुसार रस का भोग (भुक्ति) या आस्वादन किया जाता है। काव्य नाट्य में अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना से पृथक् एक भोजकत्व व्यापार होता है। यह काव्य की एक विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा लौकिक कार्य कारण तथा सहकारी कारण का साधारणीकरण होने से वे विभाव अनुभाव तथा संचारी भावों के रूप में किसी व्यक्ति विषेष से संबद्ध न होकर सामाजिक से संबद्ध हो जाते हैं तथा सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हं। अत: भट्टनायक के अनुसार भोजकत्व व्यापार सामाजिक को रस का भोग कराने वाला व्यापार है। जबकि मनोवैज्ञानिकों एवं काव्य शास्त्रियों के अनुसार संवेग या रत्यादि स्थायी भाव प्राणिमात्र में वासना रूप में सुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल वातावरण (विभावादि) को प्राप्त कर वे जाग्रत या प्रतीति के योग्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सभी काव्यशास्त्रियों के अनुसार रसानुभूति व्यंजना व्यापार द्वारा होती है न कि भोजकत्व व्यापार द्वारा। भरतमुनि के रस सूत्र के सर्वाधिक चर्चित एवं सर्वमान्य आचार्य अभिनव गुप्त है।

अभिनव गुप्त का रसनिष्पति विषयक मत ही सर्वस्वीकार्य है। रस विवेचन में अलौकिकता का समावेश करने का श्रेय भी अभिनव गुप्त को ही है। उनका मत है कि सहृदयों के हृदय में रति आदि भाव संस्कार रूप से विद्यमान होते हैं। वे सहृदयजन लोक में ललनादि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य नाट्य में कारणत्वादि को त्यागकर वे ललनादि अलौकिक विभावादि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य शक्ति के सामान्य विभावादि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रत्यादि भाव इन्हीं के द्वारा व्यंजना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किए जाते हैं। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी भाव से विलक्षण है। अर्थात् स्थायी भाव का विभावादि के साथ व्यंजक भाव रूप संयोग होने से रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी हेतु उनका मत रसव्यक्तिवाद नाम से विश्रुत है। अभिनव का मत ही काव्यशास्त्र का मान्य रस सिद्धांत है। यही मत परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकार्य है।

2. **रसभेद**

'अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ' भरत मुनि ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत इन आठ रसों को मान्यता दी है किंतु वे शांत रस को भी स्वीकारते हैं। किन्हीं आचार्यों ने शांत को स्वीकारा है व किन्हीं ने नहीं। किंतु मम्मट के शांत रस पर विस्तारपूर्वक विवेचन करने से परवर्ती सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने शांत रस को नहीं माने वाले आचार्यों की आलोचना की है। हिंदी आलोचकों ने वात्सल्य को भी रसत्व प्रदान किया है। इस प्रकार

आज दस रस माने जाते हैं।

इनमें शृंगार के दो भेद हैं–संयोग शृंगार, वियोग शृंगार। शृंगार का स्थायी भाव रति है। हास्य के भी स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित ये भेद होते हैं। हास्य का स्थायी भाव हास है। करुण का स्थायीभाव शोक है। रौद्र का स्थायीभाव क्रोध है। वीर रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर भेद होते हैं तथा स्थायी भाव उत्साह है। भयानक का स्थायी भाव भय है। वीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा तथा अद्‌भुत का विस्मय है। शांत रस को स्वीकार करते हुए मम्मट ने निर्वेद को स्थायी भाव माना है। वात्सल्य भी संयोग वियोग भेद से दो प्रकार का है तथा इसका स्थायी भाव वत्सल है तथा इन रसों के निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मारादि व्यभिचारी भाव होते हैं।

3. रस सिद्धांत की समीक्षा

तैतिरीय उपनिषद् की मान्यता है कि 'रसोवै सः' रस आनंदस्वरूप ब्रह्म है। रस की महिमा बड़ी व्यापक है। जीवन की गति यह प्रकट करती है कि रस जीवन का सार है और जीवन रस के लिए। रस को हम छोड़ नहीं सकते और यदि रस को छोड़ देंगे तो जीवन, जीवन नहीं रह जाएगा। जिस प्रकार लोक में अनेक प्रेकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोजन करते हुए स्वस्थ पुरुष आनंद की प्राप्ति करते हैं उसी प्रकार काव्य में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से संपन्न स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए सहृदयजन रस का आनंद लेते हैं। काव्य में रस के महत्त्व के संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। आलंकारिकों ने भी रस के महत्त्व को समझते हुए रसवदादि अलंकारों के रूप में रस को स्वीकृत किया, परंतु काव्य में रस की वह प्रथम धारणा थी। आगे चलकर रस के महत्त्व को अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया। ध्वनि, जो सर्वव्यापक सिद्धांत के रूप में गृहीत हुआ, रस को प्रधान स्थान देने वाला है। रसध्वनि के रूप में तो रस को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि काव्य माना गया है तथा काव्य की आत्मा भी रस को किसी-न-किसी रूप में कहा गया है। अभिधावादी, भट्टनायकादि भी रस को महत्त्व देते हैं और व्यंजनावादी आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त आदि भी। हिंदी के आचार्यों ने भी रस को प्रधान महत्त्व दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तो रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में मानते हैं और काव्य उसी के लिए किया हुआ शब्द विधान है ऐसा प्रतिपादित करते हैं। रस की इसी महत्ता को देखते हुए आचार्यों ने उसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा है। निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि रस की स्थिति काव्य में अनिवार्य है। जिस प्रकार रसहीन जीवन नीरस है उसी प्रकार रसहीन काव्य भी नीरस है और नीरस काव्य को काव्य की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती।

Vill. Bilonchi Via.Morija
Disst. Jaipur 303805 (Raj.)
Mob. 9982277300

सुरेश शुक्ल 'चंद्र' के एकांकी : एक विश्लेषण

डॉ॰ सुपर्णा श्रीवास्तव, सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर (छ॰ग॰)

चिरगतिशील और विकासशील मानव-जीवन में मानव के दृष्टिकोण और जीवनमूल्यों में परिवेश तथा परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन आना अनिवार्य है। प्रत्येक साहित्यकार समयानुसार व्यक्ति और युग द्वारा उपलब्ध अनुभूतियों में अपनी स्वयं की अनुभूति सम्मिलित करता है। साहित्य का उद्देश्य व उपादेयता बहुआयामी रहे हैं, वह मनोरंजन के साथ समाज को जीने की स्वस्थ दृष्टि देता है। नाटक व एकांकियों का साहित्य की विधाओं में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इन्हें अन्य सृजनात्मक विधाओं से अधिक जटिल और सूक्ष्म माना जाता है। एकांकी कला का विकास नाटकों के समानांतर ही हुआ है। आधुनिक हिंदी एकांकी ने पश्चिमी एकांकी से व्यापक प्रभाव ग्रहण किया है। एकांकी में जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना, परिस्थिति या समस्या को एक ही अंक में प्रस्तुत किया जाता है। सुरेश शुक्ल 'चंद्र' के एकांकियाँ समकालीन परिवेश की भयावहता, राजनीतिक छल-छद्म परिवर्तित स्त्री-पुरुष संबंध, व्यवस्था के शोषण और आम आदमी की पीड़ा के साथ परंपरा और प्रयोगधर्मिता के अंत:संघर्ष से बहुरूपी, बहुरंगी और बहुआयामी हो उठी है। व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र जैसे परस्पर अनुस्यूत हैं, वैसे ही वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आदि मूल्य भी परस्पर संश्लिष्ट और एक-दूसरे से अंतर्ग्रथित हैं। स्वातंत्र्योत्तर विकास शृंखला में प्रयोगशील नाटककार एवं रंगान्वेषक सुरेश शुक्ल 'चंद्र' ने अपने सर्वतोन्मुखी रचनाकार व्यक्तित्व में एक उल्लेखनीय हस्ताक्षर प्रस्तुत किया है।

किसी रचनाकार की रचना का सृजन, उसके परिवेश से अछूता नहीं रहता बल्कि वही उसका प्रेरणास्रोत होता है। वस्तुत: वह प्रक्रिया में ही उसके प्रस्तुतीकरण के पूरे ढाँचे की भी कल्पना करता है और इस प्रकार रंगधर्मिता में भी वह रंगकर्मियों का पूरी तरह से सहभागी होता है। आधुनिक हिंदी एकांकी को सुगठित एवं कलात्मक रूप देने में डॉ॰ सुरेश शुक्ल 'चंद्र' का अन्यतम स्थान है। 'चंद्र' के एकांकियों में प्रयोगशीलता हमेशा नई धारणाओं से प्रस्फुटित होकर प्राचीन परंपराओं के सूत्रों में समाहित होती है।

एकांकी नाट्यसाहित्य का ही एक भेद है। संस्कृत के भाण, व्यायोग, प्रहसन, वीथी और अंक नामक नाट्यभेद एकांकी से बहुत समानता रखते हैं। आधुनिक एकांकी के कुछ बीज तत्त्व होने के कारण भाण, प्रहसन, वीथी, अंक आदि को हम आज के एकांकी का पूर्वज मान सकते हैं। नाट्य एवं एकांकी के क्षेत्र में अपने नाम को चरितार्थ करते हुए 'चंद्र' ने अपना पथ सृजित किया है। मन:स्थल पर छाई हुई अनुभूतियाँ उसकी सृजनात्मकता का अंश होती है। 'चंद्र' के अनुसार 'जो लेखक अपने परिवेश के प्रति जागरूक होता है, वह उतना ही श्रेष्ठ साहित्य समाज को दे पाता है।'[1]

'चंद्र' ने अपना लेखन कविता से आरंभ किया। 1955 के प्रारंभिक दौर में 'चंद्र' ने अपना पहला एकांकी 'अंतर्द्वंद्व' लिखा, जो बेकारी से क्षुब्ध एक युवक की मन:स्थिति को बखूबी चित्रित करता है। सामाजिक परिस्थितियाँ कैसे एक सभ्य, पढ़े-लिखे इंसान को कमतर जीवन जीने को

 ISSN 0975-735X

मजबूर करती हैं, इस एकांकी के माध्यम से दर्शाया गया है। प्रारंभकाल का उनका पहला एकांकी संग्रह 'प्रत्यावर्तन' 1960 ई॰ में प्रकाशित हुआ। उसमें संकलित एकांकी गृहकलह, विधाता को चिंता, आनंद की खोज, नेत्रदान, तात्या टोपे, पद्मिनी, प्रायश्चित प्रकाशित हुए हैं। 'प्रत्यावर्तन, में उस मनुष्य की मानसिक दशाओं का सजीव चित्रण है, जो सांसारिक यातनाओं से ग्रस्त विडंबनामय स्थिति के साथ अपना जीवन जी रहा है।'[2] इसका कथानक इस समाज में जीने वाले मनुष्य की कुप्रवृत्तियों से संबद्ध है, जो मृत्यु शैय्या पर लेटा हुआ अपने जीवन के अमिट क्षणों में यमदूत के भयानक रूप को देखकर अपने कुकृत्यों पर पछताता है, यह एकांकी मृत्यु के संत्रास को लेकर लिखी गई है।

'गृहकलह' शुक्ल द्वारा रचित वह सामयिक एकांकी है, जिसका कथानक नारी-मनोविज्ञान पर आधारित है। 'गृहकलह' एकांकी में सास-बहु के झगड़े की उस शाश्वत समस्या को उठाया गया है, जिसका सामना लगभग हर घर को करना पड़ता है। हर एक मनुष्य अपने जीवन में उन बंधनों में बँधता है, जिसका उसे निर्वाह करना होता है। इस एकांकी का कथानक रुचिपूर्ण है। 'विधाता को चिंता' एकांकी का कथानक लेखक ने पौराणिक कथा को आधार मानकर सृष्टि विषयक मनोवैज्ञानिक विषय पर लिखा है।

'आनंद की खोज' एकांकी में मनु श्रद्धा एवं इड़ा के पुराणप्रसिद्ध आख्यान को रूपायित किया गया है। 'समर्पण' एकांकी महाराणा प्रताप के ऐतिहासिक कथ्य पर आधारित है। 'तात्या टोपे' एकांकी स्वतंत्रता के लिए भारत माता की बलिवेदी पर बलिदान होने वाले तात्या टोपे की कहानी को लेकर लिखा गया है। 'नाट्य श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब वह अन्य कलात्मक, सृजनात्मक अभिव्यक्तियों की भाँति किसी-न-किसी तीव्र और गहरी महत्त्वपूर्ण अनुभूति, भाव-विचार, जीवन-दृष्टि परिस्थिति को प्रस्तुत करता है।'[3] 'पद्मिनी' एकांकी में भारतीय नारी के सतीत्व एवं पतिव्रत्य के गरिमामय रूप का चित्रण है। इसका कथानक इतिहास प्रसिद्ध मेवाड़ के महाराणा रत्न सिंह की रानी पद्मिनी से संबंधित है। 'चंद्र' की प्रारंभिक कृतियों में आदर्श तथा संवेदना का स्वर अधिक गहरा रहा है।

'शादी का चक्कर', 'रंगीन चश्मा' एकांकी का परिवर्तित रूप है, यह उस पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिसमें गैंग में शामिल लड़कियाँ वैवाहिक विज्ञापन द्वारा जिस परिवार में शादी होकर जाती थीं, वहाँ से जेवर, रुपया लेकर गायब हो जाती हैं। अपराधिक प्रवृत्ति की स्त्रियों का बुना हुआ जाल किसी परिवार के लिए कितना घातक हो सकता है। 'युद्ध-विराम' राष्ट्रीय एकांकी है, जबकि 'कायाकल्प' एक व्यंग्य एकांकी है। 'चंद्र' का 'प्रत्यावर्तन' एकांकी ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक वीथिका में उपयोगिता के विक्रय सुमन हैं, तो 'स्वप्न का सत्य' के एकांकी सामाजिक, राष्ट्रीय भावना की मनोभूमि के अनुफलन है। यह एकांकी परिवेश की उहापोह के द्वारा होनेवाले पात्रों के चित्त के आंदोलन और आलोड़न-विलोड़न को प्रस्तुत करता है। 'गिरने का योग' चंद्र के सबसे अभिनेय एकांकियों में से एक है, जो कि राशिफल प्रसंग पर आधारित है। गणेश खरे लिखते हैं कि 'युगतत्त्वों की पहचान और उन्हें समायोजित करने वाले रचनात्मक प्रयास, ये दोनों कार्य नि:संदेह सराहनीय है।'[4] 'बढ़ते चरण' स्ट्रीट प्ले एकांकी है। 'हम का जनाजा' प्रतीकात्मक एकांकी है। भुवनेश्वर महतो ने इस एकांकी के सदंर्भ में लिखा है कि 'इसे देखकर सामाजिक दर्शक समस्याओं की अग्नि में जल उठता है और समाधान खोजने के लिए तिलमिलाता हुआ प्रेक्षागृह छोड़कर चला जाता है। यह समाज के समक्ष एक प्रश्न-चिह्न छोड़ता है। 'मैं' पर 'हम' की विजय

कब होगी?'[5] 'प्रतीकों' के प्रति निष्ठा को उदरस्त करना उनका एकांकी संग्रह 'अंतर्द्वंद्व' प्रतीकात्मक है, लेकिन प्रतीकों को उन्होंने वहीं तक स्वीकार किया, जहाँ तक वे अपनी अभिव्यक्ति की व्यापकता में सहायक हुए।

'दृष्टिकोण' एकांकी साहित्य-सृष्टि करने वाले लेखक के जीवन पर आधारित है कि कैसे उसे प्रकाशक अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। 'बहुरूपिए' एकांकी प्रधान के रूप में है। 'तीन पत्ते' एकांकी स्ट्रीट प्ले एकांकी है, इसमें सड़कों पर किए जाने वाले अपराधों जैसे–जुआ, पाकेटमारी, छेड़खानी जैसी समास्याओं को चित्रित किया गया है।

'चंद्र' के एकांकियों में चरित्रों की विशिष्टता, वातावरण की सजीवता, भाषा की सरलता, भावों की कोमलता, चित्त की एकाग्रता, परिवेश की जीवंतता, सृजनात्मक प्रगति के अनुरूप यथार्थवादी, शैली-शिल्प का गठन और सजीव क्षणों को मूर्तता प्रदान कर एक नई साहित्यिक संरचना करने की प्रवृत्ति ने उन्हें समकालीन साहित्यकारों की सामान्य प्रवृत्तियों से अलग किया है। 'चंद्र' की कृतियों में आदर्श तथा संवेदना का स्वर अधिक गहरा है। 'चंद्र' की आदर्शवादिता का आधार उनका पारिवारिक तथा निजी वातावरण माना जा सकता है। इनके एकांकियों के संबंध में श्यामसुंदर त्रिपाठी लिखते हैं–'अभियेता की दृष्टि से इनके एकांकियों का सबसे बड़ा गुण इनकी संक्षिप्तता और इनके संवादों की लघुता तथा रोचकता है।'[6]

'चंद्र' के एकांकियों में यथार्थ के चित्रण की परिणति आदर्श में ही हुई, फिर शनैः शनैः भावुकता का स्थान अनुरंजकता और बौद्धिकता लेने लगी। 'स्वप्न का सत्य' एकांकी इस प्रवृत्ति का परिचायक है। उनका अनुरंजन भी जीवन की सार्थकता से जुड़ा है। शांति मलिक के अनुसार 'चंद्र के एकांकियों में संवादों की लघुता गत्यात्मकता एवं स्वाभाविकता के गुण विद्यमान है। अधिकांश पात्रों की बातचीत, वाक्वैचित्र्य, संकेतात्मकता एवं गहरी चुभन के गुण सँजोए हैं।'[7]

वर्तमान परिवेश की परिवर्तनशीलता को 'चंद्र' ने अंतस की गहराइयों से स्वीकारा है। यह तथ्य है कि युगीन साहित्य को समझने के लिए उचित अन्विति न होने पर युगीन यथार्थ व रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के संबंध का अन्वेषण नहीं हो पाता है। 'नींद का चक्कर' एकांकी-संग्रह में चार एकांकी, 'विधाता की चिंता', 'नई पौध', 'गृहकलह' संगृहीत हैं। 'विधाता की चिंता' और 'गृहकलह' प्रत्यावर्तन संग्रह में संग्रहीत है। इन सभी संग्रहों में प्रेरणास्पद तथ्य समावेशित एकांकी हैं, जिन्हें हर वर्ग द्वारा स्वीकार किया गया है। यथार्थवादी प्रतीक नाटक 'आकाश झुक गया' पहले 'हम का जनाजा' नाम से लिखा गया था। 1973 में इसे 'आकाश झुक गया' पूर्णाकार नाटक के रूप में परिवर्तित किया गया। चंद्र के एकांकियों में संवाद रंगकौशल की प्रौढ़ता का परिचय देते हैं। भाषा में शब्द-ध्वनियाँ और संवादों के लक्ष्य वस्तु-सत्य से गति धारण करते हैं और प्रभावशील होते हैं। इन्हीं के प्रयोग से 'चंद्र' ने अन्य भाषाओं के जनप्रचलित शब्दों को स्वीकृति देकर हिंदीभाषा को व्यापक और समृद्ध बनाने का प्रयास किया है।

'चंद्र' ने अपने लेखन में कहीं उपदेश देने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि आज का बौद्धिक समाज उपदेश नहीं सुनना चाहता। उनका यह प्रयास रहा है कि वे आम आदमी के दुख-दर्द एवं संत्रास को रूपायित कर सकें। 'आम दर्शकों का वर्ग उनके द्वारा रचित एकांकी का प्रशंसक था, यद्यपि उसमें प्रयोगशीलता नहीं थी, किंतु उसकी सार्थकता असंदिग्ध रही।'[8] 'चंद्र' का लिखा साहित्य आदर्शवादिता से प्रभावित रहा है, उनकी आदर्शोन्मुख यथार्थता, यथार्थता की ओर उन्मुख रही है।

संदर्भ

1. के॰एन॰ सिंह, नाटककार चंद्र, पृ॰ 13
2. सुरेशचंद्र शुक्ल, मेरे श्रेष्ठ रंग एकांकी, पृ॰ 8
3. नेमीचंद जैन, रंगदर्शन, पृ॰ 180
4. के॰एन॰ सिंह, नाटककार चंद्र, पृ॰ 70
5. वही, पृ॰ 95
6. सुरेशचंद्र शुक्ल, मेरे श्रेष्ठ रंग एकांकी, पृ॰ 13
7. शांति मल्लिक, हिंदी नाटकों का शिल्प विधान, पृ॰ 450
8. कृपाशंकर, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, पृ॰ 30

D2/24,Officers Colony,
Devendra Nagar, Raipur 492001 (C.G.)
Mob. 9340348481
suparnashrivastava1771@gmail.com

उषा प्रियवंदा के उपन्यास पचपन खंभे लाल दीवारें में पारिवारिकता

डॉ॰ सुनीता, सहआचार्य (हिंदी)
राजकीय कन्या महाविद्यालय, रेवाड़ी (हरि॰)

डॉ॰ नामवर सिंह के शब्दों में 1984 के आसपास उपन्यास लेखन में सहसा विस्फोट हुआ। उपन्यास रचना को ऐसी गति, शक्ति तथा दिशा प्राप्त हुई कि सभी देखते रह गए। उपन्यास संख्या में भी अधिक रहे और उत्कृष्टता में भी। ऐसा लगा कि उपन्यास-लेखन अपनी संपूर्णता पर पहुँच गया है। उपन्यास लेखन की इस प्रगति को चार वर्गों में रखा जा सकता है–(1) महिला उपन्यास-लेखन, (2) पुरुष उपन्यास-लेखन, (3) अल्पसंख्यक उपन्यास-लेखन, (4) दलित उपन्यास-लेखन।

वास्तव में सदियों का पुरुष-चिंतन नारी के साथ, उसकी समस्याओं के साथ, उसके दुख-दर्द के साथ न्याय नहीं कर पाया। कारण सदियों पहले नारी के प्रति जो दृष्टिकोण बना वह आज भी उसी रूप में समाज में प्रचलित है। उस प्रचलन को तोड़ने की इच्छा कभी पुरुष समाज की रही ही नहीं है। समयानुसार आवरण जरूर बदल दिए गए। पहले नारी को परवश बनाया गया। उसमें दुर्बलताओं का समावेश किया गया। दुर्बलताओं को ग्राह्य बनाने के लिए उन्हें भाँति-भाँति से गौरवान्वित किया गया। कभी मातृत्व के नाम पर, कभी पत्नीत्व के नाम पर। नारी को अपने स्वतंत्र अस्तित्व को, अपनी अस्मिता को, अपने सामान्य इंसान होने को, भूलने को बाध्य किया गया कितना सुनियोजित, सुनिर्दिष्ट षड्यंत्र रहा होगा–'पुरुष ने रकाब का आविष्कार करके घोड़े को दास बनाया वैसे ही नारी को मातृत्व की महता से अलंकृत करके सदा के लिए अपनी दासी बना लिया।'[1]

पुरुष नारी की इन यंत्रणाओं को कैसे पहचना पाता। समय की माँग के साथ-साथ कभी-कभार उसने इन यंत्रणाओं को समझने का प्रयत्न भी किया लेकिन वह प्रयत्न निहायत ऊपरी था। नारी को दिखाने का एक प्रयास था कि वह (पुरुष) उसकी कितनी चिंता करता है। वास्तव में वह कभी महिलाओं की इन यंत्रणाओं को स्पर्श तक नहीं कर पाया। नारी जीवन की कुछ पीड़ाएँ तो ऐसी थीं जिनको चाहकर भी पुरुष न तो जान सकता है और न अनुभव कर सकता है। नारी अपनी इन जातिगत व सामाजिक या यों कहें कि आंतरिक व बाह्य यंत्रणाओं से निरंतर जूझती रही। छटपटाती रही कि कभी तो उसे भी समझने का प्रयास हो, कभी तो उसे भी सांत्वना मिले, कभी तो उसे भी प्यार व आदर मिले। जब ऐसा नहीं हो पाया तो उसने अपने व अपने समाज (नारी समाज) की भावनओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने का जिम्मा उठा लिया। उसे लगा कि ये भावनाएँ, ये वर्जनाएँ ये पीड़ाएँ अभिव्यक्त जरूर होनी चाहिए। समाज तक पहुँचनी जरूरी चाहिए। पुरुष नहीं तो कम-से-कम महिला वर्ग को तो ये पीड़ा समझ आनी चाहिए ताकि एक समर्थ महिला दूसरी कमजोर महिला की सहायता के लिए हाथ बढ़ा सके। उसे ऐसा न लगे की दुनिया उसे समझने वाली कोई नहीं है। किसके सामने वह अपने-आपको अभिव्यक्त करे। इसी आवश्यकता के कारण ही महिला लेखन की आवश्यकता महसूस हुई और जल्द ही इस लेखन ने अपनी पहचना बनाई। इसी कड़ी में उषा प्रियवंदा भी महिला लेखन के एक आधारस्तंभ के रूप में उभरीं। समाज का

 ISSN 0975-735X

प्रभाव किसी भी साहित्य पर होना स्वाभाविक है। क्योंकि मानव समाज का एक अभिन्न अंग है। आरंभ में साहित्य में मानव जीवन के बाह्य पहलुओं पर चर्चा अधिक हुई। आधुनिक युग तक आते-आते यह चर्चा आंतरिक व बाह्य दोनों ही रूपों में होने लगी। धीरे-धीरे यह प्रभाव बाह्य वातारण की बजाय आंतरिक ज्यादा होने लगा जिससे पारिवारिक वातावरण भी अप्रभावित नहीं रहा।

मनोवैज्ञानिकता ने व्यक्तिगत तौर पर ही नहीं पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर भी मनुष्य को प्रभावित किया। सन् 1960 के बाद के हिंदी उपन्यासों में वह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। वैसे परिवर्तन तथा विकास के ये सूत्र प्रेमचंदकाल से ही मिलने शुरू हो गए थे। मालती का गोदान में कथन–'मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।'[2] यह परिवर्तन इससे पूर्व भी सामने आने लगे थे 'श्रद्धाराम फिल्लोदी' के उपन्यास 'भाग्यवती' की भाग्यवती उस काल में स्त्री-शिक्षा के पक्ष में एक वक्तव्य बन जाती है।'[3] सन् 1961 में तो जैसे ही दो उपन्यास सामने आए तो पता चल गया कि स्त्रियों में अपने हक को पहचानने और उसकी प्रगति के लिए अपेक्षित संघर्ष करने की क्षमता जागने लगी। उषा प्रियवदा के 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1961) तथा कृष्णा सोबती की मित्रों ने तो तहलका मचा दिया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हस्मत चुगताई की कहानी लिहाफ ने उर्दू में मचा दिया था। मित्रों से अधिक दबंग नायिका शायद ही हिंदी में मिले।

आज के समय में व्यक्ति स्वतंत्रता की माँग बराबर बढ़ रही है। डर तो यह है कि ये पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह कैसे होने देगी? मात्र व्यक्ति स्वातंत्र्य अकेलापन है। वह जीवन के संपूर्ण रूप को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। किंतु दूसरी और मात्रा सामाजिक सांस्कृतिक दायित्वों का निर्वाह व्यक्ति स्वतंत्रता को बाधित करता है। व्यक्ति उसे कहाँ तक बरदाश्त कर पाएगा? सांस्कृतिक दायित्वों को ही मानव जीवन के सार्थकता कहा जाता है। सांस्कृतिक दायित्व के कारण जीवन सार्थक लग पाता है। यह भी एक वास्तविकता है और उसे झुठलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार समस्या अनोखा रूप धारण कर लेती है। एक ओर है स्वातंत्र्य अर्थात् स्वाधीनता की ललक और दूसरी ओर है–सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्वों अर्थात् जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाले संबंधों के निर्वाह की माँग। दोनों ही बलवान दोनों ही प्रकृत। उन्हीं के बीच आज की नारी झूलती हुई मिलती है, किंतु केवल मध्यम वर्ग की, निम्नवर्ग की महिलाएँ। इस प्रकार के दबाव से मुक्त मिलेगी पर्याप्त अंशों में उनका श्रमिक होना उन्हें व्यक्ति स्वतंत्रता की ओर बढ़ने का अवसर ही नहीं देता। मध्यम वर्ग की नायिका का एक कथन देखिए–'यौन संबंध की सुविधा के लिए मैं विवाह नहीं कर सकती। मैं इन बंधनों को आवश्यक नहीं मानती। बँधा हुआ आदमी सड़ जाता है। उसमें आत्मविश्वास तक नहीं रह पाता।'

'हिंदी में महिला उपन्यास-लेखन का सूत्रपात यद्यपि चंद्रकिरण सौनरिक्सा से हो चुका था, किंतु उसे विशेष गति तथा दिशा इस शती के सातवें दशक से ही प्राप्त हुई। सातवें दशक तथा उसके बाद के उपन्यासों में महिलाओं ने अपने जीवनानुभवों को, अपने दुख-दर्द को सीधे-सीधे अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। कह सकते हैं कि अपने हक की लड़ाई की बागडोर उन्होंने स्वयं थाम ली। इस प्रक्रिया में जो सबसे पहला उन्यास सामने आया, वह था 'पचखंभे लाल दीवारें'[4] इसका प्रकाशनकाल सन् 1961 है। इसे लघु उपन्यास भी कह सकते हैं किंतु केवल विस्तार की दृष्टि से, गंभीरता तथा गहनता की दृष्टि से यह 'लघु' नहीं कहा जा सकता। अपने में पूर्णत: 'महान' है।

आधुनिककाल में मध्य वर्ग की नारी को एक विचित्र मन:स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। वर्तमान में तो वह संघर्ष अधिक तीखा रूप धारण कर चुका है। आज की नारी में एक ओर है स्वाधीनता की ललक, आर्थिक स्वतंत्र चेता होने की ललक और दूसरी ओर हैं–सदियों से चली आ

रही मन-मस्तिष्क का अंतरंग अंश बनी पारिवारिक-सांस्कृतिक परंपराएँ।

प्राय: दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध आ खड़ी होती हैं। यदि तनिक गहरे उतरा जाए तो पूर्ण स्वातंत्र्य या स्वाधीनता का परिणाम है एकाकीपन और पूर्ण सार्थकता अर्थात् परंपराओं-मर्यादाओं में गुम हो जाने का अर्थ है अपने वजूद का ही नकार। स्वाधीनता तथा सार्थकता (सामाजिक संबंधों के निर्वाह के दायित्व) के बीच आज की अधिकांश नारियाँ झूलती मिलेंगी–'विचित्र विडंबना है। संबंधों में स्वाधीनता का अहसास बाधित होता है तो एकांत में सार्थकता का अहसास नष्ट हो जाता है।'[5]

गोस्वामी तुलसीदास ने 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाही' ठीक ही कहा है। पर यह धरणा अधिक दूरी तक साथ नहीं देती। प्रमाण है–आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गई महिलाओं को भोगने वाले कष्टों की संख्या में निरंतर वृद्धि। कार्यरत महिला के दुख-दर्द असीम और असंख्य होते हैं–कार्यालय और घर दोनों मोर्चे सँभालने पड़ते हैं। घर में मौजूद पुरानी पीढ़ी के बुड्ढे-बुढ़ियों को प्रसन्न तथा संतुष्ट रखना सरल नहीं। पतियों की अनगिनत माँगें–उनकी पूर्ति करना सरल नहीं। एक ओर चाहिए एकदम प्रगतिशील और दूसरी ओर चाहिए परंपरागत संस्कारों का पालन करने वाली नारी। अनगढ़-अनपढ़ मिले तो दुखी: चुस्त-दुरूस्त मिल जाए तो घबराहट–'जब औरतें अनपढ़, अनगढ़ मिलती हैं, तो पुरुष उनसे कुढ़े-ऊबे बाहर की तरफ भागते हैं और जब शिक्षित, चुस्त औरतें पत्नी के रूप में मिल जाती हैं, तो उन्हें उनसे घबराहट का अहसास होता है और भयभीत होकर तीसरी किस्म की औरतों की तरफ भागते हैं।'[6] पारिवारिक दायित्वों के कारण कार्यरत महिलाओं को कई बार पदोन्नति छोड़नी पड़ती है, अध्यापक या क्लर्क बने रहने में ही संतोष करना पड़ता है। यदि पत्नी की उन्नति हो जाए तो उसे पति को हीनता से ग्रसित होने से बचाए रखने के लिए प्रतिपल सजग रहना पड़ता है। 'आपका बंटी' इसका जीता-जागता उदाहरण है। कार्यालय आते-जाते बसों इत्यादि में नारियों को भाँति-भाँति के यौन-मूलक दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता है। इस संबंध में अदालतों ने, निश्चय ही, स्पष्ट आदेश घोषित किए हैं, पर उनका पालन कितने स्थानों पर किया जाता है?

'पचपन खंभे लाल दीवारें' की नायिका इसी दुनिया की मारी है। उसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ललक तो जोर मारती है, पर उसका गला दबा लेता है पारिवारिक दायित्व, उस दायित्व के निर्वाह की आवश्यकता। 'समाज के प्रति विद्रोह कर अपने व्यक्तिगत जीवन को सँवारने का सामर्थ्य उसमें नहीं है।'[7] 'उषा प्रियंवदा के पात्र परिस्थितियों के दायरे में हाथ-पैर तो हिलाते हैं, पर विद्रोह नहीं करते, नहीं कर सकते।'[8] 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की नायिका सुषमा की नियति अपने कालेज के पचपन खंभों और लाल दीवारों के बीच घुट-घुटकर मरना ही है।'[9] 'स्वतंत्रता की चाह और सामाजिक-पारिवारिक दायित्वों की टकराहट के कारण किसी स्त्री को जिस मानसिक यंत्रणा से गुजरना पड़ता है, वह सब सुषमा भोगती है।'[10]

उपन्यास की नायिका सुषमा दिल्ली के किसी महिला कालेज में इतिहास की प्राध्यापिका है। वह कानपुर की रहने वाली है। घर में रोगी पिता है, सौतेली माँ है, छोटे-छोटे भाई-बहिन है। वह कालिज के गर्ल्स हास्टल की वार्डन भी है। उसे अपनी इस उपलब्धि पर नाज है। वह समझती है कि उसका आदर-सम्मान बढ़ा है। आंरभिककाल में वह पड़ोसी नारायण के संपर्क में आती है। पर संबंध आगे नहीं बढ़ पाते। सुषमा को ठेस लगती है।

नौकरी उसके लिए आवश्यकता बन चुकी थी। घर की मुख्य आय उसका वेतन था। किंतु सौतेली माँ उसे उचित आदर-सम्मान नहीं देती। उनका ध्यान छोटे भाई-बहिनों पर अधिक केंद्रित था। ऐसी स्थिति में सुषमा का अपने को उपेक्षित समझना स्वाभाविक था। माँ को सर्वाधिक चिंता

थी छोटी बहन नीरू की शादी की। मौका मिलते ही तुरंत कहने लगती–'जरा हाथ दबाकर खर्च किया करो। नीरू की शादी भी तो करनी है।'[11] 'सुषमा की बढ़ती हुई आयु की कोई चिंता नहीं। सुषमा सत्ताईस वर्ष की हो चुकी थी।

कौशल्या के लड़के नील के हाथ मौसी ने कुछ साड़ियाँ सुषमा के पास भेजीं। सुषमा नील को देखकर बहुत प्रभावित हुई। नील भी प्रभावित लगा। अगले दिन कौशल्या जी से खुद बोला–'बुआ, उनसे (सुषमा से) मिलने नहीं चलोगी?'[12] लेकिन जब कौशल्या जी के साथ सुषमा के यहाँ पहुँचा तो सुषमा बातचीत के समय मौन ही रही, बहुत कम बोली। नील चल पड़ा। तब सुषमा को उसे रोकने की सूझी। किंतु नील नहीं रुका। वह जानती थी कि न जाने कितनी अदृश्य मर्यादाएँ उसे चारों ओर से बाँधे हुए हैं। वह स्वतंत्र व्यवहार की कल्पना कर ही नहीं सकती थी।

सुषमा की एक मित्र है मीनाक्षी। उससे कोई मिलने आ रहा था। मीनाक्षी गद्‌गद। पर सुषमा ऐसे अवसरों पर खिन्न हो उठती। उसे अपने माता-पिता ही दोषी प्रतीत होते। यदि कुछ परिस्थितियों के कारण उनका विवाह न टल गया होता तो उसके भी सब-कुछ होता–'एकांत शाम का साथी, घर मोटर, बच्चे...।'[13] 'पर अब तो उसके चारों ओर दीवारें खिंच गईं–दायित्व की, कुंठाओं की, अपने पद की गरिमा की, परिवार की।'[14]

दशहरे की छुट्टियाँ हुईं। नील उससे मिलने आया। सुषमा के ब्लाउज पर कोई कीड़ा था। उससे मुड़कर कीड़ा झाड़ा। सहसा उसकी पीठ नील से छू गई। 'वह उसी तरह बिना हिले बैठी रही। उसे पता था कि छुट्टी के कारण कहीं कोई नहीं है: अगर सारी रात भी वे दोनों ऐसे ही बैठे रहें तो किसी को पता नहीं लगेगा।'[15] बातचीत में नील कह उठता है–'आप मुझे बहुत अच्छी लगती हैं।' पर आयु बताते समय सुषमा की आँखों में आँसू भर गए।

घर जाती तो परिवार के सभी सदस्य अपनी-अपनी जरूरतें तलाश करते। भाई संजय जैकेट चाहता है। वह उसे जैकेट और विनय को कमीज देती। नीरू को ऊन, प्रतिमा को सलवार-कमीज का कपड़ा, पिता को कंबल तथा माँ को साड़ी। परिवार के लिए उसकी यही उपयोगिता थी। इसी के कारण उसे याद किया जाता। किसी ममत्व आदि के कारण नहीं।

नील उसके यहाँ आने-जाने लगा। एक दिन कार में ले गया। सड़क सुनसान दिखी तो सुषमा के पास सरक आया। सुषमा बोली–'इसीलिए आने की जिद कर रहे थे?' नील भी चुप नहीं रह सका–'आप क्यों अपने को भुलावे में डालती हैं। मैं जानता हूँ कि आप मुझे चाहती हैं। अगर नहीं चाहतीं, तो क्यों मेरी ज्यादतियाँ बरदाश्त करती जातीं?[16] 'वैसे, मुझे अक्सर लगता है कि तुम्हारे जीवन को मैं पूरी तरह नहीं ढक पाया हूँ। मैं तुम्हारे अस्तित्व की परिधि ही छू सका हूँ।'[17] कुछ देर बाद, एकदम, बोला–'तुम्हारा परिवार तुम्हारा अनड्यू एडवांटेज लेता है। तुम्हारे भाई-बहिन तुम्हारे माता-पिता की जिम्मेदारी हैं, तुम्हारी नहीं।'[18] निश्चय ही यह सुषमा के अब तक के जीवन का कटु सत्य था।

सुषमा की छात्राएँ और कुछ सहयोगी अकारण ताक-झाँक करने लगीं। सुषमा का व्यक्ति-स्वातंत्र्य चुप नहीं रह सका–'मेरे व्यक्तिगत जीवन में दिशा को दखल देने का क्या हक है?' नील का साथ उसमें परिवर्तन ला रहा था। वह पहले से कहीं अधिक सजग तथा संवेदनशील हो गई थी। यह परिवर्तन सभी ने लक्ष्य किया। छात्राओं ने कक्षा में सराहा भी, किंतु वह एक दिन सहसा नील से बोली–'अब तुम मुझसे न मिला करो।' नील हैरान। फिर सुषमा ने उसे अपने विगत जीवन की कुछ घटनाएँ सुनाई। एम०ए० करते ही उसे किसी प्राइवेट कालेज में काम मिला, किंतु सेक्रेटरी उससे कुछ और भी चाहता था। सुषमा ने नौकरी छोड़ दी। माँ एकदम बोल पड़ी–'इन बच्चों का क्या होगा?'

उन्हीं दिनों सुषमा का विवाह एक धनी वकील से करना चाहा। सुषमा नहीं मानी। सुषमा प्रायः सोचती रहती–'मेरी जिंदगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूँ। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ना मेरे लिए संभव नहीं। मैंने अपने को इसी जिंदगी में ढाल लिया है। तुम चले जाओगे तो फिर अपने को उन्हीं प्राचीरों में बंदी कर लूँगी।'[19]

सुषमा बँट गई। अकेले में सोचती–'वह (नील) बंबई चला गया है तो मेरा एक-एक पल कटना दूभर हो गया है। वह मेरी जिंदगी में फूट पड़ी प्रकाश की किरण हैं।'[20] जैसे ही एक दिन नील के आने की सूचना मिली तो वह गद्‌गद। भेंट की पूरी तैयारी। सेंट लगाया। आभूषण पहने। कई बार दर्पण में मुँह देखा। बाल गूँथे। नील और सुषमा बाजार में खरीदारी करने भी गए। किंतु वहाँ भी उसने सुषमा को कुछ सोचते-विचारते ही अधिक पाया–'तुम हर वक्त उन्हीं लोगों (परिवार के सदस्यों) में डूबी रहती हो।'[21]

छोटी बहन का संबंध स्थिर करने माँ आई। फिक्र उन्हें शादी के खर्चे की ही थी–कुछ रुपयों का इंतजाम कर लेना, सुषमा से कहा। माँ ने नील की लाई हुई साड़ी बिना सुषमा की अनुमति के दे दी। सुषमा को बुरा लगा। वह नील की दी हुई चीज का इस प्रकार दिया जाना नहीं सह सकी। माँ का ध्यान एक अन्य दिशा पर भी लगा था। एक दिन बोलीं–'उस दिन तुम्हारे पास वह जो लड़का (नील) आया था, उससे क्या नीरू की शादी नहीं हो सकती?'[22] सुषमा हतप्रभ। एकदम मौन। सुषमा के मन के किसी दूरवर्ती कोने में एक अन्य भय भी पल रहा था। एक दिन वह उसके मुँह पर आ ही जाती है–'कहीं कोई अठारह बीस बरस की लड़की तुम्हें छीन न ले?'[23] अब, धीरे-धीरे, सुषमा 33 वर्ष की होने लगी थी। उसे कई चिंताओं ने घेर लिया–पारिवारिक दायित्व, लोकापवाद, अपनी बढ़ती आयु। आवश्यकता थी सुनिश्चित निर्णय की, पर उसके लिए साहस कहाँ से लाएँ? उस युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य इतना सुविकसित नहीं था। एक दिन तो वह अपने आपसे कह उठी–'मैं नील से शादी नहीं कर सकती। मैं पाँच साल बड़ी जो हूँ।'[24] अंदर से कोई उससे बार-बार कहता–'मुट्ठियाँ खोलकर अपनी निधि लुटाते मैंने किसी को नहीं देखा। तुम्हें इस आत्म-पीड़न से क्या सुख मिलता है?'[25] कभी, उसका मन एकदम अलग ही बात कहने लगता–'मैं यहाँ से चली जाऊँगी। कहीं और नौकरी कर लूँगी, पर नील को अपने जीवन से दूर करना मेरे वश का नहीं।'[26] इसी को स्वातंत्र्य की ललक तथा पारस्परिकता का, स्वाधीनता तथा सार्थकता (सामाजिक संबंधों के निर्वाह के आग्रह) का संघर्ष कहते हैं।

किंतु सुषमा एक दिन कह उठती है–'तुम जाओ नील। ये कालेज, ये रुचि, मेरी डेस्टिनी है, मुझे यहीं छोड़ दो।'[27] सुषमा दुखी रहने लगी। सुषमा की घनिष्ठ मित्र उससे एक दिन कहती है–'तुमने नील को मना कर दिया, उन्हें फोन करूँ?' किंतु सुषमा मना कर देती है। कक्षा में भी पढ़ाने में उसका मन उतना नहीं रमता। प्रायः कह उठती–'हाँ...तो मैं क्या कह रही थी?' नील एक बार फिर से प्रयत्न करता है, पर सुषमा नहीं मानती–'नहीं नील। अब तुम जाओ।' सुषमा को सूचना मिलती है कि कुछ अर्से के लिए नील हालैंड जा रहा है। उसका साहस, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की उसकी ललक, फिर से जोर मारती है-

मीनाक्षी से हवाई अड्डे के लिए टैक्सी मंगाने क लिए कहती है। नील को रोक लेने की बात मन में जागती है, किंतु कुछ ही क्षण बाद पारिवारिक दायित्म तथा उम्र का दबाव उसे दबोच लेते हैं- 'मीनाक्षी, टैक्सी वापस कर दो। मैं कहीं नहीं जाऊँगी।'

कई ऐसे दायित्व हैं जो देखने में बेहद सहज-सरल लगते हैं, किंतु उनका निर्वाह आसानी से

नहीं किया जा सकता। उसके लिए व्यक्ति को अपनी स्वाधीनता का गला घोंटना पड़ता है जानबूझकर। पारिवारिकता का दायित्व भी इसी कोटि का है। भारतीय संस्कृति में पारिवारिकता की अत्यधिक महत्ता है। उसका निर्वाह आदर-सम्मान का कारण बनता है और उसी अनुपात में उसकी अनुपस्थिति अवमानना का। 'पचपन खंभे लाल दीवारें' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। परिवार के लिए नायिका को नील के प्रति अपने आकर्षण को भुला देना पड़ता है, छोड़ना पड़ता है उसका गला घोंटना पड़ता है। माँ-बाप तथा बहिन-भाइयों के हित साधन के लिए अपने व्यक्तिगत की, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की, स्वाधीनता की बलि देनी पड़ती है। सही में उषा प्रियंवदा ने इस उपन्यास में नारी के अंतर्मन में जाग रहे व्यक्ति स्वातंत्र्य को, उसके कुंठित रह जाने के कारण को उजागर कर दिया है।

नारी मन को कम-से-कम वह साहस दिया है कि वह अपने इस संघर्ष को समझ सके, इसका परिणाम देख सके, अपने लिए न सही दूसरों के लिए तो एक माध्यम बन सके।

संदर्भ

1. विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृ॰ 376
2. गोदान, हिंदी पाकेट बुक्स सं॰ 1, पृ॰ 332
3. अर्चना वर्मा, हंस, जनवरी-फरवरी 2000, पृ॰ 4
4. राष्ट्रीय सहारा, 04.07.1999
5. अर्चना वर्मा, हंस, जनवरी-फरवरी, पृ॰ 7
6. नसिरा शर्मा, शाल्मली पृ॰ 154
7. प्रतिभा पाठक, समकालीन हिंदी उपन्यास की आधुनिका, पृ॰ 108
8. घनश्याम मधुप, हिंदी के लघु उपन्यासकार और उनके उपन्यास, पृ॰ 179
9. खेलचंद आनंद, हिंदी के श्रेज़्ठ उपन्यासकार, पृ॰ 237
10. प्रतिभा पाठक, समकालीन हिंदी उपन्यास की आधुनिका, पृ॰ 110
11. उषा प्रियंवदा, पचपन खंभे लाल दीवारें, पृ॰ 14
12. वही, पृ॰ 11
13. वही, पृ॰ 28
14. वही, पृ॰ 29
15. वही, पृ॰ 33
16. वही, पृ॰ 46
17. वही, पृ॰ 52
18. वही, पृ॰ 54
19. वही, पृ॰ 64
20. वही, पृ॰ 70
21. वही, पृ॰ 78
22. वही, पृ॰ 91
23. वही, पृ॰ 110
24. वही, पृ॰ 113
25. वही, पृ॰ 114
26. वही, पृ॰ 116
27. वही, पृ॰ 119

Flat No. H-2, Govt. Employes Society,
Near Shantilok, REWARI 123401 H.R.
M0b. 9416454531
sunitayadavrewari97@gmail.com

घनानंद का काव्य : प्रेम का स्वच्छंद स्वरूप

डॉ॰ स्वीटी रानी

रीतिमुक्त धारा को हम 'स्वच्छंद काव्यधारा' भी कह सकते हैं। परंपरा से हटकर चलने वाला काव्य ही स्वच्छंद काव्य होता है। जो कवि यशोगान और अर्थ-प्राप्ति हेतु काव्य रचना न करके अपने हृदय की अनुभूतियों को स्वच्छंद रूप में अभिव्यक्त करता है, वह स्वच्छंद कवि कहलाता है। घनानंद, बोधा, आलम ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवियों ने परंपरागत मान्यताओं को त्यागकर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण किया इसलिए ये रीतिमुक्त या स्वच्छंद कवि कहलाए।

रीतिकाल में प्रेम के दो रूप रहे–एक तो वह जो शास्त्रीय बंधनों से जकड़ा हुआ था और दूसरा वह जो स्वतंत्र था। बंधनों से जकड़े हुए प्रेम में हृदय का सच्चा स्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो पाता जबकि स्वतंत्र प्रेम में हृदय की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होती हैं।

रीतियुगीन कविता में कल्पना और कृत्रिमता का प्राचुर्य है, जबकि रीतिमुक्त कविता में स्वानुभूति का प्राचुर्य। रीतिमुक्त कवियों की दृष्टि व्यक्तिगत जीवन में सच्चे प्रेम की खोज करती रही। सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति में इनका स्वभाव स्वच्छंद ही रहा। इसलिए कुल, मर्यादा और बंधनों के बीच होने वाला प्रेम न तो इनको अभीष्ट था और न ही इन्होंने उसे अपनाया। इनको सामाजिक बंधनों और लोक-परलोक की परवाह न थी। जो व्यक्ति बंधनों से मुक्त होकर प्रेम पथ पर अग्रसर होता है, वही स्वच्छंद प्रेम मार्ग का सच्चा पथिक होता है। सच्चा प्रेम नियमों और बंधनों तोड़ता आया है। बोधा हो अथवा घनानंद इनके प्रेम में लोकलाज के नियमों और बंधनों को तोड़ने की प्रवृत्ति देखी गई है। बंधनों में न बँधने के कारण प्रेमी अत्यंत निडर हो जाता है, प्रेम पथ का सामना करने की हिम्मत पैदा हो जाती है। गाँव, घर और देह के बने बनाए रिश्ते का उसे ध्यान नहीं रहता। प्रीति की रीति को वही निभा सकता है, जिसमें धैर्य व साहस हो। जिन मित्रों को लोक का भय सताता है, उन्हें प्रीति के रास्ते में पाँव रखने की आवश्यकता ही नहीं होती–

लोक की लाज औ सोच अलोक को वारियै प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हातो करै पुनि सोऊ।
बोधा सु नीतिनिबाह करै धर ऊपर जाके नहिं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जौ मीत तौ प्रीति के पैंडे परै जनि कोऊ।[1]

घनानंद के प्रेम निरूपण में वही स्वच्छंदता है, जो राधा, कृष्ण और गोपियों के मध्य थी। बिना किसी लोक-लज्जा के भय से ये प्रेम करते थे, इसलिए इन्होंने स्वच्छंद होकर प्रेम का निर्वाह किया और काव्य-सृजन किया। भाव के ऐसे आवेग में ही आकर सभी सामाजिक बंधन टूट जाया करते हैं–'इन कवियों का प्रेम निर्बंध है–वह लोक-लाज नहीं मानता, लोकरीति का अनुसरण नहीं करता, मान-अपमान की परवाह नहीं करता, कुल धर्म की अवहेलना करता है और स्वच्छंद वायुमंडल में जीता है।'[2] घनानंद अपने भावोद्‌गारों का स्वयं उदघाटन करते थे, अपने समकालीन कवियों की भाँति दूसरे के भावों की अभिव्यक्ति करना इनका उद्देश्य नहीं था। स्वयं की प्रेम

 ISSN 0975-735X

अभिव्यक्ति में जो भाव आते हैं, वह अन्य के द्वारा की गई अभिव्यक्ति में नहीं। घनानंद ने अंत: करण की आवाज को और भावोद्‌गारों को वाणी प्रदान की। शशि सहगल का कहना है–'रीतिकालीन रीतिबद्ध कवियों ने प्रेमकाव्य तो खूब लिखा, परंतु इनका प्रेम उधार का था, उनके अश्रु अपने नहीं थे, जबरदस्ती बहाए गए थे, इसी कारण रीतिमुक्त कवि घनानंद के समक्ष इनका प्रेमकाव्य फीका और कृत्रिम हुआ।'[3]

यह सत्य है कि प्रेम में स्वच्छंदता और उदात्तता से इनका शुद्ध प्रेम वासनात्मक स्तर से ऊपर उठ गया है। इनका दृष्टिकोण मांसल अथवा शरीरी न होकर सूक्ष्म और भावनात्मक हो गया है। 'घनानंद का प्रेम न तो रीतिबद्ध कवियों की भाँति शरीरी है और न प्लेटोनिक प्रेम की तरह अशरीरी। इनकी स्थिति बहुत कुछ दोनों की मध्यवर्तिनी है।'[4] इनका प्रेम शुद्ध अंत:करण से फूटा हुआ आवेग है, जिसमें सच्चाई है, निष्ठता है, समर्पण है तथा त्याग की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है। यद्यपि इनके प्रेम का प्रारंभ रूप और गुण से जरूर हुआ है परंतु उसकी परिणति सूक्ष्म हो गई है अंतत: वह राधा-कृष्ण का रूप ले लेता है।

घनानंद ने रूढ़ि प्राप्त बंधनों को त्यागकर अपने जीवन की अनुभूतियों को काव्यबद्ध करके काव्यक्षेत्र में नवीन मार्ग का निर्माण किया है। अनुभूति का स्पर्श इनके काव्य को मर्मांतक बना देता है। प्रेम इनके जीवन में छनकर आया है, जिसमें ताजगी है, तीव्रता है, आत्मगत अनुभति की सच्चाई है, प्रेम का यथार्थ रूप है तथा कल्पना का अभाव दिखाई देता है। 'रीतिमुक्त कवि प्रकृत्या प्रेमी हैं, किसी का किसी वेश्या से प्रेम हो गया था, तो किसी का विजातीय स्त्री से। सामाजिक तथा अन्य प्रकार की बाधाओं के कारण इन लोगों को अपने प्रेमपात्रों से वियुक्त होना पड़ा। प्रेम का माधुर्य, विरह की ठेस खाकर वाणी में मुखरित हो उठा। काव्य रचना ये लोग पहले से ही करते थे, पर पहले वह कल्पना की क्रीड़ा थी, अब जीवन का करुण संगीत बन गई।'[5] आलम और शेख का, ठाकुर और सुनारिन का (सुजान) घनानंद और सुजान का, बोधा और सुभान का प्रेम अपने व्यक्तिगत और स्वच्छंद रूप में काव्य का आधार बना। स्वच्छंद प्रवृत्ति होने के कारण घनानंद के मन में जो आया, उसे कह दिया। उच्छश्रृंखलता उनके काव्य का स्पर्श भी नहीं कर पाई। उन्हें अपनी प्रेम अभिव्यक्ति में सुखद अनुभूति हुई है।

घनानंद का प्रेम आडंबर रहित है, उसमें बनावटीपन अथवा कृत्रिमता नहीं है, वह दिखावे से दूर है। वह सभी रूढ़ियों, परंपराओं और जाति-पाँति के बंधन से ऊपर उठ गया है। सुजान जो अन्य धर्म की थी, उसके लिए सारे बंधनों को ठुकराकर एकनिष्ठ होकर प्रेम करना इसका उदाहरण है, 'प्रेम जिस पथ पर इन्हें दौड़ाता वही इनका निर्दिष्ट मार्ग होता था। वह मार्ग लोक और शास्त्र की मर्यादाओं का मानकर नहीं उनका तिरस्कार कर आगे बढ़ता था। उस मार्ग में प्रेम ही रास्ता था प्रेम ही मंजिल थी, इसलिए ये स्वाभाविक प्रेम के पुजारी थे।'[6]

कविता को बँधी-बँधाई लीक में प्रस्तुत करना और यश प्राप्त करना घनानंद का कार्य नहीं था, बल्कि इनके काव्य सृजन का उद्देश्य प्रेम भावना का स्वच्छंद रूप में अभिव्यक्तिकरण करना था। 'लोग है लागि कबित्त बनावत' मोहि तो मेरे कबित्त बनावत से घनानंद का काव्य-वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है। घनांनद और ठाकुर दोनों ही रीतिमुक्त कवियों का अनुकरण करने वाले और रीति सीखने वाले कवियों को समझाते हुए कहते हैं कि कविता करना कोई खेल नहीं है–

डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित्त कीबो खेल कर जानो है।[7]

घनानंद के प्रशंसक ब्रजनाथ का मानना है कि जो व्यक्ति स्वभाव से स्वच्छंद होता है, वही घनानंद की कविता को समझ सकता है–

भाषा प्रबीन, सुछंद सदा रहै जो घन जी के कबित्त बखानै।[8]

घनानंद का प्रेम हृदय की उपज है, इसीलिए वह हृदय से उत्पन्न एक स्वच्छंद भावधारा के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इनके प्रेम में मस्तिष्क की नहीं हृदय की प्रधानता है और विचारों के स्थान पर भावों का चित्रण है। स्वच्छंद प्रेम और आत्मगत अभिव्यक्ति इनके काव्य का उत्स है। यही कारण है कि 'रीतिबद्ध कवि काव्य के बहिरंग में ही लिपटे रह गए, उसके अंतरंग में प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से 'स्वच्छंद कवि' हृदय की दौड़ के लिए राजमार्ग चाहते थे, रीति की संकरी गलियों में धक्का करना नहीं। इन कवियों का काव्य स्रोत स्वत: उद्भावित होता था। जहाँ रीतिबद्ध कवियों की काव्य-प्रणाली टेढ़े-सीधे मार्ग पर बहती थी, वहीं ये रीतिमुक्त या स्वच्छंद कवि अपनी भावधारा में स्वत: ही बह जाते थे।'[9]

अंतत: हम कह सकते हैं कि रीतियुगीन कवि घनानंद स्वच्छंद काव्यधारा के मुख्य कवि रहे हैं। उनके काव्य के अध्ययन से हमें उनके युग का दर्शन हो जाता है। युगीन विचारधारा से हटकर एक लीक पर चलने के स्थान पर एक परंपरा, परिपाटी का अनुसरण करने के स्थान पर उन्होंने अपने स्वच्छंद स्वरूप का परिचय दिया। रूढ़ियों और बंधनों का उच्च स्वर में विरोध कर कवि घनानंद स्वच्छंदता के समर्थक कवि रहे हैं।

संदर्भ

1. सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बोधा ग्रंथावली, (इश्कनामा) प्रथम खंड, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं॰ 2031 छंद सं॰ 18
2. डॉ॰ कृष्णचंद्र वर्मा, घनानंद, रवींद्र प्रकाशन, ग्वालियर, 1916, पृ॰ 16
3. शशि सहगल, घनानंद का रचना संसार, अभिनव प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, 1980, पृ॰ 49
4. भगीरथ मिश्र, हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2029 वि॰, पृ॰ 82
5. डॉ॰ मनोहरलाल गौड़, घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2015 वि॰, पृ॰ 237
6. डॉ॰ कृष्णचंद्र वर्मा, रीतियुगीन काव्य, गायत्री प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद, 1965 पृ॰ 189
7. सं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ठाकुर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं॰ 2030, छंद सं॰ 7
8. घनानंद ग्रंथावली (प्रशस्ति), वाणी वितान बनारस, 2009, छंद सं॰ 1
9. घनानंद ग्रंथावली (वांड्मुख), पृ॰ 13, 14

Flat No 202, Shri Ram Mohan Apartment,
ADA-2,Ramghat Road, Aligarh (U.P.)
Mob. 9457109437
manishkvarshney@gmail.com

हिंदी सिनेमा में लोकतत्त्व : कथा, भाषा एवं गीत के संदर्भ में

डॉ॰ राजेश कुमार, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजकीय स्नातकोतर महिला महाविद्यालय, रोहतक

पिछले सौ वर्षों में जिस कला-विधा ने भारतीय जनमानस को सर्वाधिक आकर्षित एवं सम्मोहित किया है, वह है–सिनेमा। सिनेमा को 'मनुष्य की रचनात्मक प्रतिभा की शिखर उपलब्धि'[1] कहा गया है। सिनेमा दर्शक को बाहरी दुनिया के बंधनों से मुक्त करके उसकी संवेदना का अंश बन जाता है। सिनेमा में लोकजीवन के मूल्य, संस्कार, मान्यताएँ एवं आचार-विचार प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पाते हैं। इन्हीं तत्त्वों का समन्वित रूप लोकसंस्कृति का निर्माण करता है। इसीलिए निर्देशक कुमार साहनी कहते हैं कि 'फिल्म हर हाल में एक सांस्कृतिक उपज है , इसका सामाजिक मूल्यों से कुछ-न-कुछ संबंध होता ही है।'[2] सिनेमा जनजीवन के हल्के-फुल्के क्षणों से लेकर गहन अंतरंगता तक में समाया हुआ है। इममें सभ्यता-संस्कृति के अच्छे-बुरे सभी रंग दिखाई देते हैं। ये रंग इसमें जितने प्रभावी ढंग से अनुस्यूत होते हैं, यह उतना ही लोकप्रिय एवं यादगार बन जाता है। 'सिनेमा विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को पर्दे पर सजीव कर विभिन्न भाषा-भाषी, देसी-विदेशी जीवनशैली को एक-दूसरे के समक्ष प्रस्तुत करते हुए एक संवाद स्थापित करता है।'[3] हिंदी सिनेमा में लोकसंस्कृति को अभिव्यक्त करने वाले विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं। कथानक के अनुसार पात्र, परिवेश, वेशभूषा एवं भाषा के चयन के साथ-साथ इसमें अनेक लोकतत्त्वों का समावेश होता है। इसने लोककथा , लोकगीत , लोकधुनों एवं लोकभाषा का सहारा लेकर लोक में प्रचलित रिवाजों, परंपराओं, मान्यताओं, आचार-व्यवहार-संस्कार आदि सभी तत्त्वों को पर्दे पर साकार किया है। सिनेमा में इन लोकतत्त्वों का सगुंफन जितनी सूक्ष्मता एवं गहनता से होता है, दर्शक की संवेदना को यह उतने ही अधिक प्रभावी ढंग से स्पर्श करता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए लोककथा, लोकभाषा एवं लोकगीत प्रयुक्ति के संदर्भ में हिंदी सिनेमा का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है।

हिंदी सिनेमा के प्रारंभिककाल में बनी फिल्मों में धार्मिकता का पुट बहुत अधिक होता था। अधिकतर फिल्में किसी धार्मिक कथा का आधार लेकर बनाई जाती थीं। इनमें हिंदू धर्म-संस्कृति के उदात्त रूप का चित्रण हुआ है। देश की प्रथम फीचर फिल्म का गौरव प्राप्त करने वाली 'राजा हरिश्चंद्र' जनमानस में प्रचलित कथा पर ही आधारित थी। हिंदी की पहली सवाक् फिल्म 'आलमआरा' (1931) एक लोककथा आश्रित फिल्म थी जिसे मुस्लिम पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया था। इसी वर्ष प्रदर्शित 'शीरी फरहाद' पर्शियन लोककथा पर आधारित प्रेमकथा थी। प्रारंभिक फिल्मों में धार्मिकता के साथ-साथ लोक प्रचलित भक्ति संगीत का भी समावेश होता था। 'द्रौपदी', 'अमृत-मंथन', 'अयोध्या का राजा', 'भक्त प्रहलाद', 'भर्तृहरि', 'कृष्ण अवतार', 'माया मछिंद्र', 'मीराबाई', 'पवित्रगंगा', 'सतीसावित्री', 'सतीसोन', 'श्रवणकुमार', 'सुभद्रा हरण', 'कृष्ण-सुदामा', 'लंकादहन', 'पांडव कौरव', 'राधाकृष्ण', 'राजागोपीचंद', 'रामायण', 'रूप-बसंत', 'सती अनुसुइया',

'सीता स्वयंवर', 'भगत का भगवान', 'हरि-भक्ति', 'संततुलसीदास', 'विष्णुभक्ति', 'दक्षयज्ञ', 'कालिया मर्दन', 'वाल्मीकि', 'संतज्ञानेश्वर', 'सूरदास' आदि अनेक फिल्में इसका सशक्त उदाहरण हैं। पारसी थिएटर के प्रभाव से हिंदू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के लोकप्रिय नाटकों को अनेक फिल्मों के कथानक का आधार बनाया गया।

लोक में प्रसिद्ध प्रेम कथाओं के आधार पर भी अनेक सफल फिल्मों का निर्माण किया गया है। इस दृष्टि से 'हीर-रांझा', 'लैला-मजनू', 'सोनी-महिवाल', 'बैजू बावरा', 'अनारकली', 'सारंगा-सदाबृक्ष', 'रानी रूपमती बाजबहादुर', 'ढोलामारू' आदि फिल्में विशिष्ट उल्लेखनीय हैं। 'हीर रांझा' और 'लैला मजनूं' की प्रेमकथाओं पर तो अलग-अलग फिल्मकारों ने अलग-अलग समय में सफल फिल्मों का निर्माण किया है। 'गदर' एवं 'वीरजारा' जैसी फिल्मों के कथानक में पंजाब की संस्कृति का समावेश रहा है। इन प्रेमकथाओं में प्रेम, त्याग और समर्पण की अद्‌भुत भावनाएँ चित्रित हुई हैं। इनके अतिरिक्त 'रूप बसंत', 'शाही चोर', 'बनारसी ठग', 'शाही लकड़हारा' जैसी फिल्मों के कथानक लोकप्रिय जनकथाओं से लिए गए हैं। इनमें साहस, रोमांच एवं नाटकीयता का अद्‌भुत समन्वय है।

सन् 2005 में प्रदर्शित फिल्म 'पहेली' की कथा जनमानस में प्रचलित 'बुधवार की कथा' से ली गई है। इस लोककथा के अनुसार मान्यता है कि पति को अपनी पत्नी को बुधवार के दिन ससुराल से विदा कराकर नहीं लाना चाहिए। वैश्य परिवार का एक युवक अपने माता-पिता एवं सास-ससुर के मना करने पर भी बुधवार के दिन अपनी पत्नी को ससुराल से विदा कराकर चल पड़ता है। रास्ते में जब वह लघुशंका के लिए बैलगाड़ी से उतरकर जाता है तो बुध महाराज उसे सबक सिखाने हेतु उसका रूप धरकर गाड़ी में आ बैठते हैं और गाड़ीवान को गाड़ी हाँकने के लिए कह देते हैं। वह युवक पीछे-पीछे भागता है। काफी वाद-विवाद एवं पुलिस-थाने में जाने के बाद इन दोनों में असली-नकली का फैसला एक चरवाहे द्वारा किया जाता है। फिल्म 'पहेली' की पटकथा में प्रेम एवं रोमांस का समन्वय करके इसी लोककथा को विस्तृत कर दिया गया है। इसमें बुध महाराज की जगह एक भूत की परिकल्पना की गई है, जो चार वर्षों तक सेठ के लड़के की पत्नी के साथ उसके पति का रूप धारण करके रहता है। फिल्म में राजस्थानी संस्कृति का यथार्थवादी स्वरूप दिखाई देता है। 'दंगल', 'तनु वैड्स मनु', 'मटरू की बिजली का मन डोला' एवं 'NH-10' जैसी फिल्मों के कथानक हरियाणा की घटनाओं से लिए गए हैं। इनमें बोली-बानी के साथ-साथ हरियाणवी संस्कृति के विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं। फिल्म 'तीसरी कसम' में जहाँ यथार्थ की गहनता है वहीं लोक संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों का कलात्मक समावेश भी। इसी प्रकार फिल्म 'मोहल्ला असी' में बनारस की समकालीन संस्कृति अपने यथातथ्य रूप में चित्रित हुई है।

लोकभाषा एवं बोलियों की अपनी एक खूबसूरती होती है। इसी खूबसूरती ने फिल्मकारों को इनके प्रयोग के लिए प्रेरित किया है। 'वस्तुतः हिंदी सिनेमा की भाषा एवं सांस्कृतिक संरचना पंचमेल है द्य इसमें हिंदुस्तान भर में बोले जाने वाले जातीय-प्रजातीय शब्द एवं आचार-व्यवहारों का समन्वय देखने को मिलता है।'[4] परिवेशगत लोकभाषा का प्रयोग हिंदी फिल्मों में प्रारंभिककाल से ही होने लगा था। 'दरस बिना मोरे तरसे नैना' (आलम आरा, 1931), 'बालम आय बसो मोरे मन में' (देवदास, 1935), 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए' (स्ट्रीटसिंगर, 1938) जैसे गीतों में लोकभाषा की स्पष्ट झलक मिलती है।

सिने-संवादों में लोकभाषा का प्रयोग प्रायः पात्र के सामाजिक-आर्थिक स्तर के अनुरूप

किया गया है। फिल्म 'अछूत कन्या' (1936) में एक मोटर मालिक व रेलवे गेटमैन के मध्य संवाद इस बात का परिचायक है–

मोटर मालिक–'ऐ, ऐ, फाटक खोल!'

गेटमैन–'फाटक नाय खुल सके, बारह पचास की गाड़ी आय रही है।'

मोटर मालिक–'तो अभी तो बारह भी नहीं बजे!'

गेटमैन–'तो या मैं मेरो का कसूर है, साब? एक बजे के पहले मैं हरगिज फाटक नाय खोलूँगो। बारह और एक के बीच इहाँ भूत आव करै, भूत।'

हिंदी सिनेमा में परिवेशगत लोकभाषा के प्रयोग तो अवश्य मिलते हैं परंतु आग्रह खड़ीबोली के प्रयोग का ही रहा है विशुद्ध लोकभाषा के प्रयोग का नहीं। हाँ, 'गंगा जमना' (1961) और 'तीसरी कसम' (1966) जैसी फिल्मों में भाषा के लोकतत्त्व एवं आंचलिकता को बनाए रखने का प्रयास अवश्य हुआ है। फिल्म चौदहवीं का चाँद (1960), नकली नवाब (1962), मेरे मेहबूब (1963), पाकीजा (1972), शतरंज के खिलाड़ी (1978) आदि मुस्लिम जबान और तहजीब की बाकमाल तस्वीर पेश करती हैं। हास्य अभिनेता जॉनी वाकर और जॉनी लीवर द्वारा मारवाड़ी, गुजराती, मालबारी, मराठी और मुंबइया जबान में बोले गए संवाद लोकभाषा का सहज आनंद प्रदान करते हैं। महमूद की हैदराबादी और मद्रासी स्टाइल हिंदी आज भी अविस्मरणीय है, विशेषकर उन पर फिल्माया फिल्म 'गुमनाम' (1968) का गीत 'हमीं काले हैं तो क्या हुआ, दिलवाले हैं'।

सन् 1998 में आई फिल्म 'गुलाम' में एक गीत था–'आती क्या खंडाला?' इस गीत में ठेठ मुंबइया लोकभाषा का प्रयोग किया गया है। प्रबुद्ध वर्ग ने इसे फूहड़, बेहूदा और फहाश गीत कहते हुए 'कलम की वेश्यावृत्ति' का प्रतीक बता दिया था, परंतु यह गीत इतना लोकप्रिय हुआ कि इक्कीस वर्ष बाद सन् 2019 में हुए लोकसभा चुनाव में वोटरों को वोट डालने के लिए प्रेरित करने हेतु इसके आधार पर एक पैरोडी रची गई–

'ऐ क्या बोलती तू?

'ऐ क्या मैं बोलूँ?'

'सुन!'

'सुना'

'आती क्या वोट करने?'

'क्या, होगा, मेरे वोट करने से?'

'वोट करेंगे, ड्यूटी करेंगे, फ्यूचर चुनेंगे और क्या?'[5]

वस्तुतः सिनेमा में भाषा का प्रयोग संवादों एवं गीतों में ही होता है। सिनेमा के लेखक-गीतकार भाषा में सहजता एवं सजीवता के पक्षधर रहे है। कथानक एवं संदर्भ के अनुसार भाषा का चयन करने में ये लेखक-गीतकार सदैव तत्पर दिखाई देते हैं, उदाहरण के लिए तिग्मांशु धूलिया निर्देशित फिल्म 'पान सिंह तोमर' (2012) को लिया जा सकता है। इस फिल्म की भाषा में बुंदेलखंडी लोकजीवन सजीव हो उठा है। इसी प्रकार फिल्म 'लगान' (2001) के संवादों में अवधी, ब्रज और भोजपुरी का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है। फिल्म 'बत्ती गुल मीटर चालु' (2018) के संवादों पर उत्तराखंड अंचल की भाषा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है–

'यह तो उतराखंड का सबसे प्रसिद्ध किस्सा हुआ ठहरा। तुमने ना सुना, बल?'

'उत्ती देर तो हुई ठहरी, बल।'

'तू बड़ा सुधरने वाला हुआ ना।'

'तू तो नाम की ठहरी, यह तो काम की ठहरी।'

इनमें 'ठहरा', 'हुआ' और 'बल' शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा को आंचलिकता प्रदान की गई है।

सिनेमा में लोकतत्त्वों की अभिव्यक्ति का अन्य महत्त्वपूर्ण साधन हैं–लोकगीत। सवाक् सिनेमा के प्रारंभ से ही सिनेगीतों पर लोकगीतों का प्रभाव पड़ने लगा था। 'दरस बिना मोरे तरसे नैना' 'बालम आन बसो मोरे मन में' और 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय' जैसे प्रारंभिक सिने-गीत इसी तथ्य के परिचायक हैं। धीरे-धीरे संगीतकारों ने शास्त्रीय संगीत सुगम संगीत व वह लोकसंगीत एवं सुगम संगीत का समन्वय करके लोकगीतों को ख्याल, धमाल, होली, कजरी, ठुमरी, दादरा आदि अनेक प्रकारों में प्रस्तुत किया। इससे इन गीतों में भारतीय संगीत के संस्कार भी विद्यमान रहे और लोकतत्त्व भी। राजस्थान के संदर्भ में इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए जेरेमीमारे लिखते हैं, 'राजस्थान की परंपराएँ भी फिल्मी गीत व संगीत में समा गई हैं, जैसे कभी सपेरे बीन बजाते थे लेकिन अब वही बीन फिल्म संगीत में समा गई है।'[6]

'दो बीघा जमीन' (1953), 'मदर इंडिया' (1957) और 'उपकार' (1967) ऐसी फिल्में हैं जिनके प्रत्येक पक्ष में लोकसंस्कृति की अनुगूँज समाहित है। इन फिल्मों में जितनी शिद्दत के साथ कृषक जीवन की विडंबना व्यक्त हुई है, उतनी ही शिद्दत से लोकसंस्कृति भी अभिव्यक्त हुई है। इन फिल्मों के गीतों–'धरती कहे पुकार के' (दो बीघा जमीन), 'नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे ढूढूँ रे साँवरिया', 'उमरिया घटती जाय', 'दुखभरे दिन बीते रे भैया' (मदर इंडिया) और 'मेरे देश की धरती सोना उगले' (उपकार) परलोक संस्कृति एवं संगीत का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इनके फिल्मांकन में खेत-खलियान, हल-बैल, कुआँ-रहट आदि के दृश्य इन्हें ग्राम्यांचल की सोंधी महक से भर देते है।' विवाह जैसे संस्कार की तो सारी रीतियों और परंपराओं को गीतों के साथ फिल्मों में प्रस्तुत किया जाता है।'[7] हिंदी सिनेमा में प्रयुक्त कुछ उल्लेखनीय गीत जिन पर लोकगीत-संगीत का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव है, द्रष्टव्य हैं–

विदाई गीत

'काहे को ब्याही बिदेश रे लखी बाबुल मोरे।' (झंकार 1942, सुहागरात 1948 और नादिरशाह 1968)

'पी के घर आज प्यारी दुल्हनिया चली।' (मदर इंडिया)

'चल री सजनी अब क्या सोचे।' (बंबई का बाबू, 1960)

'लाली लाली डोलिया में लाली रे दुल्हनिया।' (तीसरीकसम, 1966)

'मैं तो छोड़ चली बाबुल का देश।' (सरस्वती चंद्र, 1968)

'अगले जन्म मोहे बिटिया ना कीजो।' (उमरावजान , 1981)

'जब तक पूरे ना हो फेरे सात।' (नदिया के पार, 1982)

'छोड़ बाबुल का घर।' (आज का अर्जुन, 1990)

'बाबुल जो तुमने सिखाया।' (हम आपके हैं कौन, 1994)

वैवाहिक (खोड़िया) गीत

'मैं ससुराल नहीं जाऊँगी डोली रख दो कहारो' और 'मेरे हाथों में नौ-नौ चूड़ियाँ हैं'

(चाँदनी, 1989)

'दीदी तेरा देवर दीवाना' (हम आपके हैं कौन)

'बन्नो तेरी अखियाँ सुरमेदानी' (दुश्मन, 1995)

होली गीत

'का संग खेलूँ फाग रे, गए दिन होली खेलन के' (महात्मा कबीर, 1954)

'होली आई रे कन्हाई' (मदर इंडिया)

'होरी खेलत नंदलाल बिरज में' (गोदान, 1963)

'रंग बरसे भीगे चुनरवाली' (सिलसिला,1981)

'होरी खेले रघुवीरा अवध में' (बागबान, 2003)

मौसम संबंधी गीत

'हरियाला सावन ढोल बजाता आया' (दो बीघा जमीन)

'अब के बरस भेज भैया को बाबुल सावन में लीजो बुलाए' (बंदिनी, 1963)

'अल्लाह मेघ दे पानी दे' (गाइड, 1966)

'आई झूम के बसंत' (उपकार)

'बिना बदरा के बिजुरिया कैसे चमके (बंधन, 1969)

'पानी रे पानी तेरा रंग कैसा' (शोर, 1970)

लाचारी गीत

'रसियारे मन बसिया रे' (परदेसी , 1957)

'बार बार तोहे क्या समझाए पायल की झंकार' (आरती, 1962)

'नदी नारे ना जाओ श्याम पैयाँ परूँ, मोको पीहर में मत छेड़' (मुझे जीने दो, 1963)

'जारी पवनिया पिया के देश जा' (दो बूँद, 1971)

'चले आओ सैंया रंगीले मैं वारी रे' (बाजार, 1982)

'चंदा रे मोरी पतिया ले जा, पतिया ले जा' (बंजारिन ,1960)

'न जाओ सैंया छुड़ा के बैयां' (साहब, बीवी और गुलाम, 1962)

'मोरा साजन सौतन घर जाए' (पाकीजा)

छेड़छाड़ एवं चुहलबाजीपूर्ण गीत

'सैयां झूठों का बड़ा सरताज निकला' (दो आँखें बारह हाथ, 1957)

'चढ़ गयो पापी बिछुआ' (मधुमति, 1960)

'मोहे पनघट पे नंदलाल छेड़ गयो रे' (मुगल-ए-आजम, 1960)

'नैन लड़ जइहैं तो, 'ना मानू ना मानो ना मानू रे' और 'ढूँढो ढूँढो रे साजना' (गंगा जमना, 1961)

'मोसे छल किए जा' (गाइड, 1965)

'पान खाए सैंया हमारो' (तीसरी कसम, 1966)

'पीतल की मोरी गागरी (दो बूँद, 1971)

'इन्हीं लोगों ने ले लीन्हा दुपट्टा मेरा' (पाकीजा)

'मुझे नौलखा मँगा दे रे' (शराबी, 1984)

पूर्वांचल का प्रभाव

'कउन रंग मुंगवा कउन रंग मोतिया' (हीरा मोती,1959)
'पिपरा के पतवा सरीखे डोले मनवा' (गोदान, 1963)
'प्यार किया तो डरना क्या' (प्रेम किया क्या चोरी करी है' का प्रभाव, मुगल-ए-आजम)
'पिया ऐसो जिया में समाय गयो रे' (साहब, बीवी और गुलाम)
'उई माँ उई माँ ये क्या हो गया' (पारसमणि, 1963)
'सजनवा बैरी हो गए हमार और चलत मुसाफिर मोह लिया रे' (तीसरी कसम)
'झुमका गिरा रे बरेली के बाजार में' (मेरा साया, 1966)
'कजरा लगा के बिंदिया सजा के' (मेरा गाँव मेरा देश, 1971)
'बोले रे पपीहरा' (गुड्डी, 1971)
'साँची कहे तोरे आवन से हमरे और कौन दिशा में लेके चला रे बटोहिया' (नदिया के पार, 1982)
'काहे सताए काहे रुलाए' (कयामत से कयामत तक, 1988)

राजस्थानी प्रभाव

'म्हारो पल्लो लटके' (नौकर, 1979)
'म्हारे राजस्थान मां और मोरनी बागा मां बोले आधी रात मां' (लम्हे, 1991)
'दिल हूम हूम करे और यारा सिली-सिली' (रुदाली, 1993)
'इंजन की सीटी पै मारो मन डोले' (खूबसूरत, 2014)
'केसरिया बालम आओ पधारो म्हारे देस' (डोर, 2006)
'निंबूड़ा-निंबूड़ा-निंबूड़ा' (हम दिल दे चुके सनम, 1999)

पंजाबी प्रभाव

'नाचे अंगवे' (हीर रांझा, 1970)
'लेदे सैयां ओढ़नी पंजाबी कलीदार' (पवित्र पापी, 1970)
'बोल दो मीठे बोल सोणिए' और 'सोहणी चिनाबदी' (सोहनी महिवाल, 1985)
'चप्पा चप्पा चरखा चले' (माचिस, 1996)
'मार उड़ा री नी कुकिए', 'शाबानी शाबा' और 'वतन वे ओ मेरिया' (पिंजर, 2003)
'एक कुड़ी जिदानाम मोहब्बत' (उड़ता पंजाब, 2016)

कश्मीरी प्रभाव

'मेरी जां बल्ले-बल्ले' (कश्मीर की कली, 1964)
'नारदाना अनारदाना' (हिना, 1991)
'भूमरो-भूमरो श्याम रंग भूमरो' (मिशन कश्मीर, 2000)

इसके अतिरिक्त हिंदी सिनेमा में प्रयुक्त अनेक गजलों एवं कव्वालियों पर अरबी एवं सूफियाना प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इनमें मुस्लिम संस्कृति एवं लखनवी तहजीब साकार हो उठी है।

वस्तुतः हिंदी सिनेमा में लोकतत्व अत्यंत गहराई तक समाए हुए हैं। इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति द्वारा सिनेमा ने देश के सांस्कृतिक वैविध्य को न केवल जीवित ही रखा है वरन् इसका पोषण एवं संवर्धन भी किया है। सिनेमा की इस क्षमता को देखकर ही डॉ॰ राममनोहर लोहिया ने कहा था, 'भारत को दो ही चीजें एक रख सकतीहैं–पहला गाँधी और दूसरी फिल्म'[8] निष्कर्ष रूप

में हम कह सकते हैं कि हिंदी सिनेमा ने भारत की लोक-संस्कृति में अनुस्यूत 'अनेकता में एकता' के भाव को सही अर्थों में प्रस्तुत किया है।

संदर्भ

1. कमलाप्रसाद, हिंदी सिनेमा 20वीं सदी से 21वीं सदी, संपा॰ प्रह्लाद अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, सं॰ 2013, पृ॰ 12
2. कुमार साहनी, दिनमान साप्ताहिक, प्र॰ टाइम्स ऑफ इंडिया समूह, दिल्ली (बैनेट एंड कोल मैन कं॰लि॰) 14 सितंबर 1975, पृ॰ 44
3. साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध, ले॰ नीराजल क्षत्री, शिल्पायन, दिल्ली, सं॰ 2015, पृ॰ 18
4. प्रहलाद अग्रवाल, हिंदी सिनेमा 20वीं से 21वीं सदी, पृ॰ 23
5. राजकुमार केसवानी, आपस की बात, रसरंग, दैनिक भास्कर, रोहतक, संस्करण, 11 अगस्त 2019, पृ॰ 3
6. जेरे मीमारे एंड हाना चार्लटन, 'देयर विल ऑल वेजबीस्टार्स इन द स्काई, द इंडियन फिल्म म्यूजिक फीनोमन, 'इनबीट्स' ऑफ द हार्ट पॉपुलर म्यूजिक ऑफ द वर्ल्ड, पैनथियन, संस्करण 1985, पृ॰ 147-148, (स्वयंअनुदित)
7. जयप्रकाश चौकसे, 'परदे के पीछे' 'क्या फिल्म जीवन का पाठ्यक्रम है', दैनिक भास्कर, रोहतक संस्करण, 24 सितंबर 2019, पृ॰ 4
8. उद्धृत, भारतीय सिनेमा की विकास यात्रा , संपा॰ मधु रानी शुक्ला, कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृ॰ 326

सुपुत्र श्री जयनारायण
गांव व डाकघर-डीघलपान्ना कौशिक नगर
जिला-झज्जर 124107 **(हरियाणा)**
मो॰ 9896321474
drrajeshgautam2020@gmail.com

हिंदी कवि प्रोफेसर जुगमंदिर तायल के काव्य में प्रगतिशील-सौंदर्य

डॉ॰ उमेश कुमार, सहायक आचार्य हिंदी
राजकीय कन्या महाविद्यालय, चौमूँ (जयपुर)

हिंदी के चर्चित कवि और कथाकार उदय प्रकाश ने जुगमंदिर तायल जी के बारे में कहा है कि वे एक महत्त्वपूर्ण कवि ही नहीं बल्कि हिंदी की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति भी हैं। यह वह दौर था जब अँग्रेजों की गुलामी से आजादी प्राप्त करने में देश संघर्षरत था। अलवर में श्री जुगमंदिर तायल जी का जन्म 16 नवंबर, 1936 में हुआ। समय के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा पूरी की और प्रोफेसर बने। समय अँगड़ाई ले रहा था। देश अँग्रेजों की गुलामी से आजाद हो गया था। यह वह दौर था जब देश नवनिर्माण के सपने सँजो रहा था। लोकतंत्र का युग आरंभ हो गया था। जिसमें समानता, न्याय और भाईचारे की भावना को विकसित करने का विचार प्रवाहित हो रहा था। उनकी कविताएँ मन्मथनाथ गुप्त के संपादन में निकलने वाली सरकारी पत्रिका योजना के मुख्यपृष्ठ पर प्रकाशित होने लगीं थीं। इसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य में प्रो॰ जुगमंदिर तायल जी की काव्य लेखनी ने हिंदी क्षेत्र में अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की। आरंभ में उन्होंने बच्चों के बारे में लिखना आरंभ किया फिर 1950 में 'भयानक दल' नामक देशभक्ति पूर्ण जासूसी उपन्यास लिखा था। इसमें भारत की स्वतंत्रता के लिए गुप्त रूप से संघर्ष करने वाले दल की कथावस्तु थी। तायल जी की पहली प्रकाशित कृति 'अतीत की स्मृतियाँ' शीर्षक कहानी है। यह अगस्त 1951 में 'अनल' नाम से प्रकाशित हुई थी। यह कथा जागीरदारों के अत्याचारों को बताती है। जागीरदारों के अत्याचारों के विरुद्ध निकलते एक जुलूस को देखकर कहानी का नायक अपने अतीत की यादों में डूब जाता है, जब उसने जागीरदार के अत्याचारों को देखा-भोगा था। रचनाकार पर इस समय प्रेमचंद का प्रभाव नजर आता है। उनके कृतित्व में संवैधानिक आदर्श को अभिव्यक्ति मिली है।

तायल जी ने साहित्य में प्रगतिशील चेतना को प्रवाहित किया। 1965 में धर्मवीर भारती, धर्मयुग में उनकी कविताएँ प्रकाशित करने लगे थे। 1972 ई॰ में वे राजस्थान साहित्य अकादमी के सदस्य बने थे। उन्होंने प्रकृति से अपना नाता जोड़कर देश में सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक बदलाव लाने का संदेश दिया। अपने परिवेश के बहुआयामी लोक जीवन की छवियों को उन्होंने साहित्य में चित्रित किया है। तायल जी स्थानीय के साथ एक वैश्विक सोच को आगे बढ़ाते हैं।

वरिष्ठ प्रगतिशील कवि प्रो॰ जुगमंदिर तायल जी ने आरंभ में चार-पाँच बालकथाएँ लिखीं थी, उन्होंने अपने नजरिए से बच्चों के बारे में लिखा है। उन्होंने उनके बारे में चिंता व्यक्त की है। विकास की राह पर तीव्र गति से बढ़ रहे देश में करोड़ों बच्चों की जगह कहाँ है, उनका भविष्य क्या है और उनका बचपन कहाँ है? उनकी 'बचपन कहाँ है' कविता में लड़कियाँ अपने बचपन के बारे में पूछती हैं कि वह इस संस्कृति में कहाँ गायब हो गया। लड़कियों से इस समाज में जो व्यवहार होता है वह बराबरी का नहीं होता है। यह वह दौर था जब चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की जीत हुई

 ISSN 0975-735X

और कम्युनिस्ट सरकार स्थापित हुई। यह वह दौर था जब 'हिंदू कोड बिल' पर बहुत चर्चा होती थी। तायल जी इसके पक्ष में बहस करते हैं। इसी संदर्भ में लैंगिक भेदभाव की पीड़ा ब्यान करती उनकी कविता का उदाहरण देखिए–

पूनम, रेखा और कमला/ सवाल पूछती हैं
हम किलकना, उछलना, कूदना चाहती हैं
हम खुशियाँ मनाना चाहती हैं/ हमारा बचपन कहाँ है?

बच्चे देश का भविष्य हैं, यह भविष्य कैसा है? उजाला भरने वाला है या अँधेरा। करोड़ों बच्चों का जीवन संघर्ष में गुजरता है। घरों की सफाई, गलियों की सफाई, कचरा उठाने का कार्य, मैला ढोने का कार्य और होटल-ढाबों में बर्तन धोने का कार्य आदि में अपना बचपन खोते बच्चों का भविष्य क्या है? उनके स्कूल कहाँ हैं? तायल जी की कविता में यह वेदना झलकती है। लड़कियाँ अपना अधिकार माँग रही हैं। वे कहती हैं–

हम कंधे पर बस्ता लटका
स्कूल जाना चाहती हैं/ हमारे स्कूल कहाँ हैं?

सब कहते हैं बच्चे देश का भविष्य हैं। पर बच्चों का भविष्य सँवारने का वक्त उन सबके पास शायद न के बराबर है। ऐसी स्थिति में बच्चे अपना भविष्य स्वयं ही सँवारेंगे। अपने दौर को समझकर वे अपना रास्ता स्वयं बनाएँगे। उनकी प्राणवायु समाज के झोंके हैं। वे जीना जान रहे हैं। उनकी आँखों में चमक आने लगी है। वे किताब पढ़ने लगे हैं। सपने देखने लगे हैं। उनमें साहस आने लगा है। उजाले की राह पर चलने की हिम्मत आने लगी है। तायल जी की 'किताब पढ़ते हुए' कविता में शब्द की शक्ति देखिए, यह वह शक्ति है जो नारी सबलीकरण की खुराक है। उन्होंने देश के भविष्य को अपनी काव्य लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है–

सुबह की गुनगुनी धूप में,/ सकीना, नफीसा और जहीरा
किताब पढ़ रही हैं।
* * *
कल... जब जिंदगी का बोझ/ उनके कंधों को दबाने लगेगा,
कल... धूल भरे लंबे रास्तों में/जब उनके कदम थकने लगेंगे
किताब उनके साथ खड़ी होगी/ शब्द की पूरी ताकत के साथ।

आज के बच्चे नए दौर के बच्चे हैं, कर्मशील और संवेदनशील। सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए तायल जी ने बच्चों के भविष्य का सपना देखा है। उनकी 'अखबार बाँटने वाले' कविता में एक आशा भरी भोर है। जिस प्रकार वातावरण के प्रभाव से परिवर्तन होना सुनिश्चित है, उसी प्रकार मानवीय कार्यों के भविष्य में प्रगति भी संभव है। मानव जीवन परिवर्तनशील है और परिवर्तन होने से प्रगति अवश्य होगी। जो आज अखबार बाँट रहा है वह कल अखबार पढ़ेगा और सवाल पूछेगा अर्थात् जागरूक होगा। तायल जी की कविता की यही विशेषता है कि वे कविता के माध्यम से अपनी बात को संप्रेषित करते हैं। कविता में भाव छिपा होता है। पाठक भावार्थ सहज रूप में ग्रहण कर लेता है। नाम भी अमीरी-गरीबी का भान कराते हैं।

जाड़े की अल सुबह/ पूरन, अफजल और दीनू
साइकिल दौड़ाते/ घर-घर अखबार बाँट रहे हैं।
* * *

कल, परसों या फिर तरसों/ वे खुद अखबार पढ़ने लगेंगे
और पूछेंगे उन स्कूलों के पते/ जहाँ वे पढ़ने जा सकें।

आज के प्रदूषणयुक्त पर्यावरण में तायल जी बच्चों के लिए स्वच्छ वातावरण के बारे में विचार करते हैं। उनकी एक कविता 'इतनी प्रार्थना' में आधुनिक सभ्यता पर व्यंग्य किया गया है। इस आधुनिक सभ्यता में बड़े-बड़े बाजार, ऊँचे-ऊँचे होटल, मॉल, बिल्डिंगें और इसी तरह की दूसरी चीजें बनाई जा रही हैं। लेकिन बच्चों की सुख-सुविधाओं पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता। इस आधुनिक सभ्यता के निर्माताओं पर व्यंग्य करते हुए कवि कहता है कि सारा बड़ा-बड़ा निर्माण तो करो, पर क्या आप बच्चों के लिए छोटी सी जगह भी छोड़ सकते हो, जहाँ वह किलकारी मार सकें, हँस सकें, खेल सकें और अपना बचपन आनंदमय महसूस कर सकें।

बस इतनी प्रार्थना है/ छोड़ दीजिए एक छोटी से जगह
धुआँ, धूल और शोर से मुक्त/जहाँ बच्चे
खेल और सो सके चैन से
धुआँ... उनके गुलाबी फेफड़ों को/ काला नहीं करे
धूल उनकी आँखों में चुभे नहीं।

साक्षरता की दृष्टि से लड़कियाँ कम साक्षर हैं। प्रत्येक समुदाय शिक्षा और अच्छी जिंदगी के अपने अधिकार के लिए संघर्षरत है। तायल जी अपनी कविता 'लड़कियों के सवाल' में लैंगिक असमानता अर्थात् लड़के और लड़कियों के बीच में जो भेदभाव बरता जाता है उसका चित्रण करते हैं। लड़कियाँ तरह-तरह के सवाल पूछ करके, भाई या लड़कों की तुलना में अपनी हीन स्थिति की तरफ ध्यान आकर्षित करती हैं। कवि कविता के अंत में अपनी ओर से टिप्पणी करता है। लड़कियों का सवाल पूछना, सिर्फ सवाल पूछना नहीं है, बल्कि अपने साथ होनेवाले भेदभाव का विरोध करना है और इस तरह से सवाल करके वे अपना समानता का अधिकार माँग रही हैं–

वे जानना चाहती हैं/ अपनी पसंद की किताबें
पढ़ने का अवसर हमें क्यों नहीं है ?
* * *
लड़कियाँ अपने हक माँग रही हैं।

तायल जी ने बालमन की अनेक छवियों को चित्रित किया है। बच्चों का एक गुण है, शरारत करना। यदि बच्चे शरारत करते हैं तो उनका बचपन निडर रहता है। तायल जी ने 'बच्चे और एक बूढ़ा' कविता के माध्यम से बच्चों की शरारत और निडरता को अभिव्यक्ति दी है। रचनाकार ने सहज-सरल अनुभूतियों को सहज-सरलता के साथ प्रकट किया है। यहाँ पर बूढ़ा भूतकाल अर्थात् बीतते हुए जमाने का प्रतीक है और बच्चे भविष्य का प्रतीक हैं जो वर्तमान बन रहा है। जो ऊर्जा ओर निर्भीकता से भरा हुआ है। निडरता उनका आदर्श है और यह आदर्श उन्होंने बच्चों में स्थापित किया है–

शैतान बच्चों ने/ एक बूढ़े को घेर रखा है।
* * *
इन दबंग बच्चों का वह क्या करे
जिन्हें कैसा भी डर/ नहीं डराता है।

प्रोफेसर जुगमंदिर तायल ने अपने दृष्टिकोण से प्रकृति का चित्रण किया है। आरंभ में उनकी

पहचान प्रकृति के कवि के रूप में स्थापित हुई। सन् 1954 में उनकी रचनाओं का दौर आरंभ हुआ। उनका पहला कविता संग्रह 'धूप भरी सुबह' प्रकृति को समर्पित है। सूरज साक्षी है हरेक चीज का, जो संसार में घटित हो रही हैं। उससे कोई कुछ नहीं छिपा सकता है। उसी सूरज को वो अपना गीत समर्पित करते हैं। उनकी कविताओं में सौंदर्य चित्रण की प्रधानता है। नई कविता के दौर में नई उपमान-योजना रचनाकार की स्वयं की है। उनकी इस नई उपमान-योजना ने उनकी कविताओं को आकर्षक और सहज पठनीय बनाया है।

जो रोज सुबह/ फूलों के झुरमुट में
मनभावन मुस्कान खिलाता
उस सूरज को/ मेरा गीत समर्पित।

'धूप भरी सुबह' संकलन का ही एक और उदाहरण देखिए जो प्रकृति में परिवर्तनशीलता से आई बहार और प्रकृति का मानवीकरण अभिव्यक्त करता है। जो कुछ उनको मानव जीवन में घटित होता हुआ नजर आता है उसका कोई न कोई जीवित रूप उनको प्रकृति में दिखाई दे जाता है। उनकी कविताओं में प्रगतिशीलता के साथ सौंदर्यता भी कूट-कूटकर भरी हुई है। रचनाकार का मानना है कि प्रगतिशील विचारधारा सौंदर्य विरोधी विचारधारा नहीं है। प्रकृति सौंदर्य समस्त जीवन सौंदर्य का हिस्सा है। केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति सौंदर्य के बड़े समर्थ कवि हैं। रचनाकार ने प्रकृति सौंदर्य को जीवन संघर्ष से जोड़ने की अनूठी पहल की है जो हिंदी साहित्य में नवीन स्थापना है।

रात चाँदनी में/ बहुत घूमा मैं...
सैमल के लाल फूल फूटे/ आमों पर बौर आई
शिरीष की गंध फैली/ गुलमुहर के फूल झूले
अमलतास ने स्वर्ण सज्जा की।
मैं दौड़ता रहा/ चाँदनी भागती रही।

'जंगल से गुजरते हुए' काव्य-संग्रह में 'अलवर' शीर्षक से एक कविता का उदाहरण देखिए। इससे पता चलता है कि यदि किसी शहर को जानना है तो वहाँ के कवियों को पढ़ना चाहिए। रचनाकार अलवर के निवासी हैं। अलवर को समझना है तो रचनाकार को कृतियों में अलवर समझ में आ जाएगा। रचनाकार की कविता के माध्यम से अलवर शहर को पहचाना जा सकता है। अलवर को राजस्थान का केरल माना जाने लगा था। इसमें कवि का योगदान अविस्मरणीय रहेगा–

पहाड़ और पहाड़... पहाड़
दूर-दूर फैली हैं अरावली की लंबी बाहें
एक बाँह के सहारे लेटा है/ छोटा शहर...
हरी मखमल की गद्दी/ झरने देते शीतल स्पर्श
हर वर्ष खिलते पलाश के फूल...
संगीत साहित्य संरक्षा की साक्षी लिए
मौन खड़े कितने सामंती अवशेष...
महादेव के आसन से/ टकराती नए नारों की प्रतिध्वनियाँ
युवा हो गया है शहर...

प्रो॰ तायल का मानना है कि प्रगतिशील कविता में विचार या सामाजिक सरोकारों के साथ-साथ प्रेम, सौहार्द और प्रकृति का मिलन भी है। वे भाव की प्रधानता पर जोर देते हैं। अर्थ में नवीनता

भरना कोई तायल जी से सीखे। आज के दौर की पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ विकास के नाम पर लोगों के जीवन को उसके असली उद्देश्यों से परे करती हैं। व्यक्ति या व्यक्तियों का लाभ बढ़ता है और समाज का विकास रूकता है। दोनों के बीच अंतराल बढ़ता है। तायल जी की कविता जीवन के इस यथार्थ की नई अभिव्यक्ति है। वे 'जंगल से गुजरते हुए' कविता-संग्रह में तत्कालीन उच्च वर्ग पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि तुम्हारे पास पूँजी और हथियारों की ताकत है, तो कवि के पास कलम की ताकत है। वह बौद्धिक साम्राज्य स्थापित करने की सीढ़ी है। बौद्धिक साम्राज्य जो भौतिक साम्राज्य को बौना साबित कर सकता है। वह बौद्धिक साम्राज्य जो मानवता के आदर्श को स्थापित करेगा। मानवता से स्थापित संसार में ही भावनाओं का जुड़ाव होगा और एकता आएगी। रचनाकार का मानना है कि मार्क्सवाद केवल राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है। यह राजनीतिक विचारधारा के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था और ऐतिहासिक विकास को जानने की पद्धति भी है। इसमें श्रेष्ठ विचारधारा का विकास अभी नहीं हुआ है। बतौर राजनैतिक विचारधारा मार्क्सवाद गलत साबित हो गया है और उसे नया रूप देने की आवश्यकता है–

अचानक/ वे लोग उठ खड़े हुए
...और पूछने लगे/ कविता करने का अर्थ क्या है?
कविता का अर्थ–मैंने कहा/ पहचानना है दुनिया को...
कविता एक शुरुआत है/ जुलूस में शामिल होने की
उसकी धड़कनों को पढ़ने की/ पकड़ने की।

प्रो॰ तायल की 'जंगल से गुजरते हुए' कविता-संग्रह में 'प्रेत' एक व्यंग्य कविता है जिसमें शुरू में धन की शक्ति रूपी जो प्रेत है उसकी शक्ति का और उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है। कविता के अंत में रचनाकार कहता है कि मैं उस प्रेत से सिर्फ एक सवाल पूछना चाहता हूँ कि क्या वह एक मधुमक्खी को कमलवन का पता बता सकता है। इस तरह से कवि ने स्पष्ट किया है कि धन के प्रेत की शक्ति केवल भौतिक सुख-सुविधाओं तक ही सीमित है। मनुष्य के भाव जगत के संबंध में वह बिल्कुल शक्तिहीन है। यहाँ पर कवि ने इस वैश्वीकरण के दौर में पूँजी की शक्ति को यह अहसास दिलाया है कि वह सब-कुछ करने में असमर्थ है। मानवीय संवेदनाओं के संसार में वह शक्तिहीन है–

आजकल सब उस प्रेत की चर्चा करते हैं
मैं उस प्रेत से मिलना चाहता हूँ
लोग कहते हैं वह बहुत शक्तिशाली है...
जो भी उसे देखता है/ मोहित हो जाता है...
वह भारी से भारी और मुश्किल से मुश्किल काम कर सकता है
...मैं उससे सिर्फ यह पूछना चाहता हूँ कि क्या वह
एक मधुमक्खी को कमल वन का रास्ता बता सकेगा।

भूमंडलीकरण के दौर में पूँजी का एकाधिपत्य समाज पर होने से सांप्रदायिक विद्वेष की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। इससे देश और समाज की समरसता क्षीण हुई है। इन स्थितियों में रचनाकार उसकी तह में जाता है और समाधान करता है। प्रो॰ तायल के सांप्रदायिक सद्भाव पर विचार उनके काव्य-संग्रह 'जंगल से गुजरते हुए' में प्रकट होते हैं। स्वतंत्र भारत के पच्चीस वर्ष के बाद देश के सामने तमाम तरह की चुनौतियाँ आने लगीं और सांप्रदायिक-भेद की खाई और चौड़ी होने लगी।

ऐसे दौर में रचनाकार ने व्यंग्य के माध्यम से कहा है–

ईश्वर और खुदा में/ हमेशा लड़ाई क्यों रहती है
वे समझते नहीं थे/ इतिहास उन्होंने कभी पढ़ा नहीं था।

प्रो॰ जुगमंदिर तायल जी शब्द की ताकत की शाश्वतता, कविता की प्रासंगिकता और उसकी शक्ति का अहसास कराते हैं। दरअसल, यहाँ कवि शब्दों की ताकत को श्रम के साथ संबद्ध कर अपनी कविता का एक दर्षन विकसित करते हैं। यह दर्शन रचनाकार के यहाँ बिंबमयी भाषा में अनेक रूपों में रूपापित होता है–

फिर भी, हाँ, फिर भी/ किसी तितली के पंख पीछे
या चंचल गिलहरियों की/ काली धारियों के नीचे
या किसी हँसते बच्चे की/ दंतलियों के बीच वाली जगह में
छुपे रहेंगे शब्द/ और उन शब्दों की गहराइयों में बची रहेगी कविता
अपनी पूरी ताकत के साथ।

तायल जी की कविताओं में देश का भविष्य सँवारने की जद्दोजहद है। देश का भविष्य तभी समृद्ध और विकसित होगा जब देश का भविष्य संपोषित होगा। शिक्षा से ही देश का सुधार होगा। एक छोटी सी आशा ने बच्चों की जिंदगी में रोशनी फैलाई है। 6 से 14 वर्ष की उम्र के बच्चों की शिक्षा के लिए नया कानून बना है। आगामी भविष्य में अनंत खुशियाँ आएँगी। बच्चे पढ़ेंगे तो देश जगेगा और देश जाग्रत होगा तो विकास होगा। नया सवेरा आएगा। देश का नव निर्माण होगा।

तायल जी की कविताएँ अपने पाठक को जीवन की समस्त पीड़ाओं का सामना और उनसे संघर्ष करना सिखाती हैं। जीवन में अंधकार और रोशनी के संघर्ष में, रोशनी की जीत दिखाती हैं। यह आशावाद उनके रचनाकर्म का फल है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में नई कविता के व्यक्तिवादी दर्शन को मानने वाले कवियों की तरह केवल घुटन-कुंठा ऊब-संत्रास का ही स्वर नहीं है बल्कि इन स्थितियों से पार पाने का साहस भी है। प्रो॰ जुगमंदिर तायल जी ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है–'प्रगतिशील विचारधारा सौंदर्य विरोधी विचारधारा नहीं है। प्रकृति सौंदर्य समग्र जीवन सौंदर्य का अंग है। केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति सौंदर्य के बड़े समर्थ कवि हैं। फिर धीरे-धीरे मैंने प्रकृति सौंदर्य को जीवन संघर्ष से जोड़ना सीखा। विचारों की प्रौढ़ता बढ़ी तो प्रकृति को नए रूप में देखने-समझने की दृष्टि भी मिली। प्रकृति के अनेक रूप हैं और निरंतर परिवर्तनशील हैं। प्रकृति का ऋतुचक्र निरंतर चलता रहता है। मनुष्य का जीवन भी निरंतर परिवर्तनशील है। यदि दोनों को एक साथ रखकर देखें-समझें तो प्रकृति का नया रूप और मनुष्य से उसका संबंध समझ में आने लगता है। इस दृष्टि से जब मैं समझने लगा तो लगा कि बरसाती बाढ़ (पानी का तेज प्रवाह) ऐसे जन-विद्रोह का प्रतीक भी हो सकती है जिसे रोकना बहुत कठिन होता है। आग, जन क्रांति का प्रतीक भी बन सकती है। 'क्रांति की ज्वाला' शब्द तो प्रसिद्ध है ही। ग्रीष्म कठिन ऋतु है। ग्रीष्म के दिनों में सूरज की तेज धूप में सब-कुछ जलता है और फिर शीतल वर्षा के दिन आते हैं। मैंने समझा (और एक कविता में लिखा भी) कि प्रकृति पहले कठिन तपस्या करती है और फिर बादल आकर उसे शांति सुख देते हैं। जीवन में भी कुछ पाने (सफलता) के लिए तपस्या कठोर श्रम जरूरी है। हम जानते हैं कि धरती की भीतरी पर्तों में बहुत गरम लावा निरंतर बहता है। जब वह बहुत अधिक बढ़ जाता है तो ज्वालामुखी के रूप में फटकर बाहर आ जाता है। समाज रचना के भीतर भी इसी तरह मेहनतकशों के असंतोष क्रोध का लावा बह रहा है। एक दिन वह भी जनक्रांति के रूप में फूट

पड़ेगा।

जन-संघर्ष और जनक्रांति के भावों को इस तरह प्रकृति के साथ जोड़कर देखने से रचना का नया भाव सौंदर्य विकसित होता है। महाकवि निराला और सुमित्रानंदन पंत ऐसे प्रयोग पहले कर चुके हैं। नागार्जुन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील कवि हैं। उन्होंने प्रकृति सौंदर्य की अनेक कविताएँ लिखी हैं। प्रकृति-सौंदर्य समग्र जीवन-सौंदर्य का हिस्सा है। सौंदर्य की रक्षा प्रगतिशील विचारधारा का एक प्रमुख उद्देश्य है। असमानता मूलक मौजूदा कुरूप समाज व्यवस्था को नष्ट करके प्रगतिशील विचारधारा जीवन सौंदर्य से भरपूर समाजवादी-व्यवस्था की रचना करना चाहती है।' (संपादक : ईशमधु तलवार, (15 सितंबर, 2018), प्रसंग : जुगमंदिर तायल, मुद्रक : दिव्य भारती पब्लिशिंग एजेंसी, 926-बी, ग्रीन हाउस, जड़ियों का रास्ता, चौडा रास्ता, जयपुर, पृ॰ 28) तायल जी इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक तक नियमित रूप से काव्य सृजन करते रहे। इसके बाद तायल जी कवि-कर्म के प्रति विरक्त हो गए क्योंकि अब लोगों की सोच बदल गई। लोग कविताओं पर ध्यान नहीं देते हैं। पहले लोग कविताएँ पढ़ते थे और परिवर्तन लाते थे। तायल जी ने अब कविता कर्म की जगह प्रत्यक्ष रूप से मेवात क्षेत्र के बच्चों की शिक्षा के लिए संगठन बनाया और परिवर्तन लाया है। राजस्थान में किशनगढ़ बास के नजदीक मिर्जापुर गाँव से उन्होंने मेवात क्षेत्र में मुस्लिम बालिका शिक्षा का शंखनाद किया। अब मेवात क्षेत्र की मुस्लिम बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर देश का नाम ऊँचा कर रही हैं। इस क्षेत्र में इनके प्रेरणास्रोत प्रोफेसर जुगमंदिर तायल संघर्षरत हैं। शिक्षा से अलख जगाने वाले कर्मठ विद्वानों में भारत की जमीन पर कवि जुगमंदिर तायल अग्रणी भूमिका निभा रहे हैं। उन्होंने अपनी वैश्विक पहचान बनाई है। उन्होंने भारत के बौद्धिक-सामाजिक-आर्थिक विकास की राह समुन्नत की है और अभी भी संघर्षरत हैं।

संदर्भ

1. संपादक : नयाल, शिव सिंह, सफर बाल-पत्रिका अंक 9-10, प्रकाशन : अलारिप्पु, जयपुर।
2. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, किताब पढ़ते हुए
3. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, बचपन कहाँ है
4. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, लड़कियों के सवाल
5. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, इतनी प्रार्थना
6. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, अखबार बाँटने वाले
7. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, बच्चे और एक बूढ़ा
8. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, धूप भरी सुबह
9. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, जंगल से गुजरते हुए
10. प्रो॰ जुगमंदिर तायल, मेरी रचना प्रक्रिया
11. संपादक : तलवार, ईषमधु, 2018, प्रसंग : जुगमंदिर तायल, मुद्रक : दिव्य भारती पब्लिशिंग एजेंसी, 926-बी, ग्रीन हाउस, जड़ियों का रास्ता, चौडा रास्ता, जयपुर

P.N. C-174, Ayodhya Nagar,
Kanha Vihar, Bhura Patel Marg,
Opposite Shalby Hospital
200 Feet Bypass, Lalarpura,
JAIPUR 302021 (RAJ.)
Mob. 8769642307
drukumar7@gmail.com

वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद की भूमिका

डॉ॰ विनोद कुमार, एसो॰ प्रो॰ (हिंदी)
समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब)

अनेक दृष्टियों से 'समर्थ-भारत' होने के बावजूद हम अपना वह स्थान क्यों नहीं बना पा रहे? जिसके हम अधिकारी पात्र हैं। आखिर हमें ऐसा क्या करना होगा, जिससे हम अपने खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर विश्व-शक्ति के रूप में स्वयं को स्थापित एवं प्रमाणित कर पाएँ। कुछ ऐसे प्रश्न अवश्य हैं? जिनका उत्तर तलाशना और इस मार्ग में आने वाली समस्याओं एवं बाधाओं का समाधान करना जरूरी है, क्योंकि यही हमारे राष्ट्रीय विकास के साथ-साथ हमारे आने वाले उज्ज्वल कल का साधक बनेगा। नई राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के अंतर्गत राष्ट्रीय कौशल विकास मिशन, कौशल विकास व उद्यमिता के साथ अद्यतन वैज्ञानिक जानकारी एवं अत्याधुनिक तकनीकी कौशलता, कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जो आज के समय की अपेक्षा है और भारत सरकार, प्रांतीय सरकारों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा इस दिशा में की गई पहल सार्थक हो रही है, किंतु खेद का विषय है कि नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति और वैज्ञानिक-तकनीकी अनुवाद, कुछ कारणों से अभी भी उपेक्षित है।

अपनी सांस्कृतिक-निधि, ज्ञान-विज्ञान और आधुनिक तकनीकी कौशल के संयोग एवं सुयोग से, समस्त विश्व-साहित्य के साथ-साथ विज्ञान एवं तकनीक के अन्य अनुशासनों के अद्यतन विशिष्ट ज्ञान को भी अनुवाद-मार्ग तथा पारिभाषिक शब्दावली के संयोग-सहयोग से संचित किया जा सकता है और विश्व-ज्ञान से स्नात हुआ जा सकता है।

संश्लेषण-विश्लेषण

'भारतीय संस्कृति एवं विचार के ज्ञान हस्तांतरण में आधुनिक तकनीक के सम्मिश्रण की वर्तमान आवश्यकता एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसे डिजिटल युग में शिक्षा में भी परिवर्तन एवं नीति निर्माण की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 'नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा' अत्यंत अपेक्षित एवं प्रयोजनीय है। ..और यह 'स्वामी विवेकानंद जी और महात्मा गांधी के शिक्षा एवं ज्ञान के स्वप्न का सम्मिश्रण है। ध्यातव्य है कि 'प्राचीन ज्ञान, वर्तमान ज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग से भविष्य में देश के युवा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्पर्धा करने का अवसर मिलेगा, साथ ही अपने ज्ञान, कौशल एवं दक्षता से रोजगार के अवसर प्राप्त करेगा। कृत्रिम बुद्धिमता के प्रयोग से भविष्य के साथ देश 'आत्मनिर्भर भारत' बनने के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।'[1]

इस संकल्पना की संपूर्ति हेतु अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय संपर्क-सूत्र का भी महत्त्व समझा गया; इसके साथ-साथ जीवन के प्रथम क्षण से अंतिम क्षण तक भावनाओं की संवाहिका अर्थात् मातृभाषा की सहभागिता शिक्षा-क्षेत्र में 'सोने पे सुहागा' हुआ। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रख नई शिक्षा-नीति में 'त्रिभाषा सूत्र' को लागू करने पर पुनः प्रतिबद्धता व्यक्त की गई है, जिसके अनुपालन से पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, अर्थात् संपूर्ण भारत, ज्ञान-विज्ञान एवं चिंतन-सृजन की संपत्ति का

परस्पर आदान-प्रदान कर श्रेष्ठ-समर्थ हो सके।

गणित, विज्ञान एवं तकनीकी पाठ्यक्रम को भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने के साथ-साथ ई-लर्निंग द्वारा ज्ञान के प्रकाश को प्रसारित करने की संकल्पना है। केंद्रीय स्तर पर भारतीय भाषाओं में सॉफ्टवेयर तैयार करने के कार्य किए जा रहे हैं। विद्यालयीन शिक्षा के लिए ई-सामग्री सभी राज्यों के साथ-साथ एनसीईआरटी, सीआईईटी, सीबीएसई, एनआईओएस और अन्य निकायों व संस्थानों द्वारा भी सभी क्षेत्रीय भाषाओं में विकसित करने की प्रतिबद्धता और तकनीकी-प्रौद्योगिकी, कला-संस्कृति के संवर्धन का संकल्प है।[2]

संस्कृत वैज्ञानिक दृष्टि से संपूर्ण भाषा है; इसे पाठशालाओं तक सीमित न रखते हुए विद्यालयों में त्रिभाषा सूत्र के तहत एक विकल्प के रूप में स्थान देकर रुचिपूर्ण एवं नवाचारी तरीकों से पढ़ाने का उपक्रम समकालीन एवं प्रासंगिक विषयों जैसे गणित, खगोलशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नाटक विद्या, योग आदि से भी पुनः जोड़ने का प्रयास एक सार्थक कदम है।

अनुवादः अपेक्षा बनाम उपेक्षा

संसार का उत्कृष्ट ज्ञान विश्व की विभिन्न भाषाओं में सुलभ है; जैसे कि विज्ञान का ज्ञान रूसी भाषा में और दर्शन का ज्ञान जर्मन भाषा में, पुरातत्त्व साहित्य का अधिक अच्छा ज्ञान फ्रांसीसी भाषा में है, जिसे प्राप्ति का हमारा भी अधिकार है और यह हमें अनुवाद के माध्यम से सहज ही मिल सकता है। वैश्विक स्तर पर अच्छे ज्ञान की पुस्तक किसी भी भाषा में छपती है तब जापान में एक मास के भीतर उसका अपनी भाषा में अनुवाद उपलब्ध करवा दिया जाता है। यदि हमें भी भारत को ज्ञानवान समाज बनाना है तो अपनी भाषाओं में सभी प्रकार का ज्ञान उपलब्ध कराने से ही यह संभव हो पाएगा। नई शिक्षा-नीति में राष्ट्रीय अनुवाद संस्थान की स्थापना तथा अनुवाद के उच्च गुणवत्ता वाले पाठ्यक्रम चलाने का प्रावधान किया गया है, जो इस अपेक्षा की पूर्ति का सबल साधन बन सकता है।

ऐसा भी नहीं है कि इस दिशा में पहले कोई उपक्रम नहीं किया गया; यदि अपने इतिहास पर अनुसंधानात्मक दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि अन्य देशों की तरह भारत में भी साहित्य के साथ-साथ साहित्येतर विषयों से संबंधित सामग्री को अनुवाद के माध्यम से लाने की परंपरा दिखाई देती है। अत्यंत श्रमसाध्य अनुसंधानपरक आलेख में श्री अमित शुक्ल जी ने तथ्य जुटाएँ हैं, जो यह बयान करते हैं कि साहित्यक अनुवाद की तरह वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन-अनुसंधान निरंतर चल रहा है। हर देश वैज्ञानिक चिंतन तथा अनुसंधान से लाभान्वित होने का प्रयास करते हैं। भारत में भी वैज्ञानिक चिंतन की परंपरा प्राचीन रही है, पर आधुनिक लेखन की परंपरा के लिए प्रेरणा, पाश्चात्य वैज्ञानिक साहित्य ही रहा है।

भारत में विज्ञान तथा तकनीकी लेखन की आधुनिक परंपरा में कुछ वैज्ञानिक अँग्रेजी माध्यम से ही करते रहे हैं। आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी विषयों से संबंधित अनुसंधानात्मक लेख प्रकाशित करवाने वाली पत्रिका एशियाटिक रिसर्चेज है। श्री जगदीशचंद्र बसु का भौतिकी में प्रथम शोधपत्र इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इंडियन जर्नल आफ फिजिक्स में श्री सी॰बी॰ रमन का प्रसिद्ध शोध पत्र प्रकाश के विकिरण प्रकाशित हुआ था। प्रो॰ टी॰के॰ गजर के दिशा निर्देश में पाँच वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सन् 1909 में महेशचरण सिंह की रसायनशास्त्र नामक पुस्तक हिंदी में प्रकाशित हुई। बंग साहित्य परिषद् कलकत्ता ने बंगाल व वाराणसी में नागरी प्रचारणी सभा

ने हिंदी में विज्ञान तथा तकनीकी विषयों की कुछ पुस्तकें और शब्द-संग्रह प्रकाशित किए। इसी प्रकार 1906 में हिंदी वैज्ञानिक कोष प्रकाशित कर वैज्ञानिक लेखन में आने वाली पारिभाषिक शब्दावली की समस्याओं को हल करने का प्रयास किया गया।[3]

महामना मदन मोहन मालवीय जी ने विज्ञान एवं तकनीकी विषयों में हिंदी में पाठ्य पुस्तकों के सृजन हेतु एक परिषद् का गठन किया, जिसने 1931 के बाद अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया। उनका मानना था कि देशी भाषाओं में उस साहित्य का निर्माण करना एक दुष्कर कार्य है, जिसके माध्यम से वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों में उच्च शिक्षा दी जा सके। इसके लिए अगाध परिश्रम तथा समय की आवश्यकता होगी, किंतु आत्मविश्वास तथा दृढ़निश्चय के सन्मुख सब कठिनाइयाँ सरल बन जाती हैं।[4]

विज्ञान और तकनीक के आज के इस युग में तो अनुवाद की अपेक्षा और भी अधिक हो गई है, बल्कि कहना चाहिए कि अनिवार्यता बन चुकी है, जिसे स्वीकार करते हुए नई शिक्षा-नीति में सभी शास्त्रीय भाषाओं और साहित्य का अध्ययन करने वाले संस्थानों और विश्वविद्यालयों के विस्तार की बात कही गई है और देशभर में बिखरी हुई लाखों पांडुलिपियों को एकत्रित और संरक्षित करके उनके अनुवाद तथा अध्ययन करने के प्रयास की प्रतिबद्धता दर्शाई गई है। हाँ, इस दिशा में बहुत सी बाधाएँ और चुनौतियाँ हैं; यह भी एक सच्चाई है। डॉ॰ मनीषमोहन गौर के शब्दों में 'वैज्ञानिक साहित्य के अनुवाद को अक्सर मामूली समझकर इसकी अनदेखी की जाती है, मगर यह मौलिक लेखन से कतई कम महत्त्वर्ण नहीं होता।...विश्व संस्कृतियों, मानव समाज, ज्ञान-विज्ञान आदि की जानकारी दुनिया में फैलाव के पीछे अनुवाद एक बड़ा परिवर्तनकारी माध्यम रहा है। इसलिए अनुवाद के महत्त्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। अगर देखा जाए तो अनुवाद के काम में मौलिक लेखन से कहीं अधिक जानकारी, श्रम और साधना की आवश्यकता होती है। इसमें स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा के अतिरिक्त अनुवाद किए जाने वाले विषय का ज्ञान भी आवश्यक होता है। उसूलों की बात करें तो एक अनुवादक को इन अहम कसौटियों पर खरा उतरना होता है—दोनों भाषाओं का समुचित ज्ञान, तकनीकी शब्दावली की जानकारी, विषय की मूलभूत जानकारी, प्रस्तुतीकरण, लक्ष्य वर्ग को ध्यान में रखकर उसकी परिचित भाषा शैली का प्रयोग, लेकिन अनुवाद के कार्य में गंभीर चुनौतियाँ हैं और सबसे पहली चुनौती तो यह है कि अक्सर अनुपयुक्त व्यक्ति इसमें अपनी जोर आजमाइश करने लगते हैं। सबसे पहले इसमें रुचि को विकसित किया जाना आवश्यक है और हँसी-खेल जानकर इसे न आजमाएँ, इस कार्य को गंभीरता से लेने की जरूरत है।...इसे अधिक सुनियोजित और सुविचारित ढंग से एक तर्कसंगत रणनीति के अंतर्गत अंजाम दिया जाना आवश्यक है।'[5]

हिंदी विज्ञान लेखन की समस्याओं का संकेत करते हुए सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख समस्या शब्दावली की रहती है। स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में तथ्यों को समकक्ष धरातल सहित लाना तभी संभव है, जब अनुवादक-लेखक की पृष्ठभूमि वैज्ञानिक हो, इसके साथ ही दोनों भाषाओं का समुचित ज्ञान भी अपेक्षित है। 'लोकप्रिय और रुचिकर विज्ञान का लेखक अपने लेखन में अँग्रेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग ज्यों-का-त्यों कर लेता है, परंतु इसमें सबसे मुख्य कठिनाई यह होती है कि भाषा की एकरूपता समाप्त हो जाती है। अतः आवश्यकता है कि शब्दावली में समरूपता लाकर उसका प्रयोग सुनिश्चित किया जाए।'[6]

यह वैज्ञानिक तथ्य है कि उत्कृष्ट रचनात्मकता, सृजनात्मकता, नवाचार एवं शोध-अनुसंधान

मातृभाषा में अपेक्षाकृत अधिक सरलता से संभव है। है। भारतीय वैज्ञानिक सी॰वी॰ श्रीनाथ शास्त्री का कथन है कि अँग्रेजी के माध्यम से इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की तुलना में भारतीय भाषाओं में पढ़े छात्र, अधिक वैज्ञानिक अनुसंधान करते हैं। इस नीति ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए प्रस्तावित 'राष्ट्रीय शोध संस्थान' में भारतीय भाषाओं में शोध हेतु आवश्यक निधि के प्रावधान की संकल्पना है। लेकिन जाने क्यों भारत में अनुवाद को प्रायः अपेक्षा के स्थान पर उपेक्षा का पात्र बनाना पड़ रहा है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भारतीय भाषाओं के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास के संदर्भ में आवश्यक अधिकतर बातों का समावेश किया गया है, परंतु सबसे बड़ा प्रश्न इसके क्रियान्वयन का है। केंद्र एवं कुछ राज्यों एवं शैक्षिक संस्थाओं ने इस दिशा में प्रयास प्रारंभ कर दिए है। उदाहरण के लिए मेडिकल हेतु राष्ट्रीय प्रवेश व पात्रता परीक्षा भारतीय भाषाओं में आयोजित की जा रही है। शिक्षा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के विकास एवं विस्तार हेतु राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय भाषा परिषद् का गठन किया है। अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् द्वारा इंजीनियरिंग का पाठ्यक्रम आठ भाषाओं में तैयार किया गया है। राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान एवं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान ने भारतीय भाषाओं में कार्य प्रारंभ कर दिया है। इसी के साथ मध्यप्रदेश सरकार द्वारा मेडिकल शिक्षा का पाठ्यक्रम हिंदी में तैयार किया जा चुका है। Indian Translation And Interpretation की स्थापना भी इस दिशा में अत्यंत सराहनीय संकल्प है।

इसी संदर्भ में मशीनी अनुवाद भी एक कार्यक्षेत्र है, जहाँ बहुत कुछ हुआ है, हो रहा है और बहुत कुछ होने की संभावनाएँ बनी हुई हैं। 'भारतीय भाषाओं के लिए प्रौद्योगिकी विकास (TDIL)परियोजना के अंतर्गत मशीनी अनुवाद के लिए कई उपकरण निर्मित किए गए हैं। इनमें प्रमुख रूप से ज्ञान स्रोत (समानांतरः Parallel)कॉरपोरा, बहुभाषिक लाइब्रेरी कोश, कोशीय स्रोत), ज्ञान उपकरण (भाषा संसाधन टूल्स), अनुवाद सहायक प्रणाली (मशीनी अनुवाद, बहुभाषिक सूचना एक्सेस, सूचना प्रत्यानयन), मानव-मशीन अंतरापृष्ठ प्रणाली (संप्रतीक अभिज्ञान प्रणाली, वाणी अभिज्ञान प्रणाली, पाठ से वाक् प्रणाली), स्थानीयकरण (Localization),भाषा-प्रौद्योगिकी मानव स्रोत विकास (प्राकृतिक भाषा संसाधन और कंप्यूटेशनल भाषाविज्ञान में मानवशक्ति का विकास), मानकीकरण के क्षेत्र में विकास किया जा चुका है।...मशीनी अनुवाद के दीर्घकालिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भारतीय भाषाओं कि लिए प्रौद्योगिकी विकास (TDIL)परियोजना के अंतर्गत वाक् से वाक् अनुवाद प्रणाली और मानव सहयोगी प्रणालियों एवं विभिन्न स्रोत केंद्रों का विकास होना सुनिश्चित हुआ है। इसकी पूर्ति हेतु विश्वभर में विभिन्न परियोजनाओं पर कार्य चल रहे हैं। भारतीय भाषा प्रौद्योगिकी प्रसरण एवं विस्तारण केंद्र (Indian Language Technology Proliferation and Deployment Centre : ILTP-DC)द्वारा अनेक शोध क्षेत्रों को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसके अंतर्गत प्रति भाषिक सूचना एक्सेस (Cross-lingual Information Access)का विकास, भारतीय भाषाओं के लिए रोबस्ट दस्तावेज विश्लेषण एवं अभिज्ञान प्रणाली (Robust Document Analysis - Recognition System) का विकास, ऑन-लाइन हस्तलिखित अभिज्ञान प्रणाली'[7] आदि अनुसंधान कार्य इस दिशा में शुभ संकेत हैं।

यह भी एक तथ्य है कि यंत्र मानव नहीं है; और मशीनी अनुवाद की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, लेकिन इसके बावजूद मानव-निर्मित यंत्र हमारी बहुत सी समस्याओं का समाधान कर पाने में समर्थ हो रहे हैं।

अनुवाद मशीनी हो या मानवीय, इस संदर्भ में बल देकर एक और तथ्य स्पष्ट कर देना संगत होगा कि देशकालौचित्य से वैज्ञानिक-तकनीकी अनुवाद के कार्य में भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति, और भारतीय साहित्यशास्त्रीय पक्ष को संरक्षित रखना भी अपेक्षित है; इसके साथ ही अनुवाद प्रकरण में 'समतुल्यता का सिद्धांत' भी महत्त्वपूर्ण भूमिका में रहना चाहिए। यह समतुल्यता ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य, प्रकार्य और प्रोक्ति, सभी स्तरों पर रहनी चाहिए।

संबद्ध उद्देश्यों की संपूर्ति हेतु राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 4(1) के अधीन संसदीय राजभाषा समिति द्वारा भारत सरकार, गृह मंत्रालय (राजभाषा विभाग) के 30 दिसंबर 1988 के संकल्प संख्या 1/20012/1/87-रा.भा. (क-1) के अनुसार केंद्रीय सरकार के कार्यालयों में, अनुवाद व्यवस्थाका सुदृढ़ीकरण, प्रशिक्षण सामग्री का अनुवाद, अनुवाद संबंधी पदों का सृजन, विधिक सामग्री अनुवाद-प्रशिक्षण, कार्यशालाओं एवं पुनश्चर्या कार्यक्रमों का आयोजन की सिफारिशें की गईं, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं; किंतु खेद का विषय है कि अभी तक इनका पूर्ण रूप से सार्थक एवं सफल कार्यान्वयन नहीं किया जा सका है। इस दिशा में, निति-नियामकों, सांस्थानिक प्रबंधकों और उपभोक्ताओं-हम सभी को और अधिक गंभीर होने की आवश्यकता है।

उपसंहार

किसी भी समाज की पूर्व-स्थापित परंपरा और पूर्व-स्थापित प्रणाली में परिवर्तन, नए समय की अनिवार्य अपेक्षा होती है। इस परिवर्तन के पक्ष में समय-समय पर स्वर सुनाई देते हैं, लेकिन किसी भी नई प्रणाली को स्वीकार करने में प्रायः संकोच बना रहता है। इस संकोच के पीछे कभी कुछ भ्रांतियाँ होती हैं, तो कभी कुछ चुनौतियाँ। अकादमिक जगत की बात करें तो आज हमारे सामने दो महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं; एक है नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति का संपूर्ण एवं सफल कार्यान्वयन और दूसरा है–अनुवाद; विशिष्ट रूप से वैज्ञानिक-तकनीकी अनुवाद। यह दोनों संदर्भ अथवा मुद्दे भी इसका अपवाद नहीं हैं। नए संदर्भों में, सांस्कृतिक विरासत को, विश्लेषित करते हुए, साहित्य एवं साहित्येतर ज्ञानानुशासनों सहित विशेष रूप से वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुवाद की महत्ता को समझकर, अनुवाद के प्रति उपेक्षा भाव त्यागकर, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली का निर्माण एवं अनुप्रयोग, जो एक महत्त्वपूर्ण चुनौती है; इसका सामना करना और विजय पाना हमारी प्राथमिक अपेक्षा है। इसके लिए योजनाओं का अविलंब लागू होना भी सफलता का महत्त्वपूर्ण कारक होगा। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति और इससे संबद्ध अन्य बहुपक्षीय कौशल-विकास के संकल्प को अनुवाद की सहायता से सफलता मिलेगी और इसे व्यावहारिक धरातल पर कार्यान्वित करने से बहुत सी आशंकाओं अथवा समस्याओं का समाधान स्वतः हो जाएगा और हम लक्ष्य की तरफ निश्चय ही तीव्रगामी हो आगे बढ़ेंगे।

संदर्भ

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के परिप्रेक्ष्यः भविष्य एवं चुनौतियाँ, डॉ॰ नरेंद्र कुमार पाल, ज्ञान गरिमा सिंधुः अंक-72, अक्टूबर-दिसंबर, 2021
2. नई शिक्षा नीति एवं भारतीय भाषाएँ, अतुल कोठारी, https://www.loknitikendra-com/new-education-policy-and-indian-languages/
3. वैश्विक परिदृश्य में अनुवाद की दशा व दिशा', अमित शुक्ल Remarking: An Analisation, Vol-I* Issue-V* August – 2016
4. महामना पं॰ मदनमोहन मालवीय द्वारा 14 दिसंबर 1929 को काशी हिंदू विश्वविद्यालय में 12वें

दीक्षांत भाषण का अंश, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 : विज्ञान संचार में मातृभाषा-माध्यम की भूमिका, डॉ॰ दयाशंकर त्रिपाठी, के आलेख से साभार, ज्ञान गरिमा सिंधु: अंक-72,(अक्टूबर-दिसंबर 2021
5. वैज्ञानिक साहित्य का हिंदी अनुवाद-चुनौतियाँ और संभावनाएँ, डॉ॰ मनीष मोहन गोर, वैज्ञानिक, हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद्, मुंबई, जुलाई-सितंबर 2017
6. हिंदी विज्ञान-लेखन समस्याएँ एवं संभावनाएँ, संजयकुमार, भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान पत्रिका, जून 2003
7. मशीनी अनुवाद: भूत, वर्तमान एवं भविष्य, करुणा निधि https://hinditech.in/journal-aspx?cid=59

Flat no. 6, BDA Enclave,
Phase 2, Near KMV College,
Tanda Road, Jalandhar City-144003 (Punjab)
Mob. 9876758830
mrvinodsharma750@gmail.com

 ISSN 0975-735X

नर-नारी के पारस्परिक संबंध : हिंदी के साठोत्तरी उपन्यासों के आलोक में

डॉ॰ उर्मिला कुमारी, तदर्थ सहायक प्राध्यापिका (हिंदी)
के॰एल॰पी॰ कॉलेज, रेवाड़ी (हरि॰)

समाज की पहली आधर भूमि बनता है परिवार। नर और नारी मिलकर ही समाज की नींव की पहली ईंट जुटाते हैं। विवाह उसी के सुदीर्घ अनुभवों का सुपरिणाम है। बारीकी से देखें तो पता चलेगा कि सर्वाधिक आक्रमण उसी पर हुआ है। आज वह पूर्णत: क्षत-विक्षत है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्र रे॰ई॰ बेबर का कहना है कि परिवार के दुर्दिन हैं। व्यक्तिगत परिवार इतने टूटे जाएँगे कि उनकी कभी भी मुरम्मत नहीं की जा सकेगी।[1] 'दुर्दिन की गूँज सुनिए' उपन्यास है 'डाक बंगला' और प्रकाशनकाल सन् 1962 है, लेखक हैं–सुप्रसिद्ध साहित्यकार कमलेश्वर। 'शादी का आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं है। अगर आत्मा की बात होती तो शादियाँ करने की उम्र पचास के बाद होती। यह महज एक शारीरिक आवश्यकता है जिसे आदर्श का ताज पहनाकर गरिमा प्रदान की गई है।[2] क्वारें मातृत्व से भय नहीं। उपन्यास है 'दहकन के पार' लेखिका है निरूपमा सेवती, प्रकाशन काल 1983 है। 'वैवाहिक समझौते का लेबल भर न होने से क्या किसी जीवंत सच को या कि सहज अस्तित्व से आए किसी जीवंत बच्चे को नाजायज कहा जा सकता है? इतनी बेतुकी बात। इतने ज्यादा वैज्ञानिक युग की इतनी बड़ी अवैज्ञानिक बात।'[3]

वास्तव में दैहिक संबंध, अब मामूली बात हो गए हैं। उपन्यास है 'अपनी अपनी यात्रा'। लेखिका है कुसुम अंसल, प्रकाशनकाल सन् 1981 है। उपन्यास के अनुसार नायिका की दृष्टि में 'पुरुष का स्थान नारी के जीवन में मात्रा एक आवश्यकता है।'[4]

वैवाहिक जीवन की निरर्थकता पर चुटकी देखिए। उपन्यास है मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप'। प्रकाशनकाल सन् 1975 'यह वैवाहिक जीवन भी अजीब चीज है, जो करो एक साथ। साथ बैठो, साथ बोलो, चाहे बोलने को कुछ हो चाहे न हो, साथ घूमो, साथ दोस्त बनाओ, चाहे एक का दोस्त दूसरे को कितना की नामुराद क्यों लगे। साथ खाओ, साथ सोओ, चाहे एक के खुर्राटे दूसरे को सारी रात जगाए क्यों न रखें?[5] शारीरिक संबंध किसी से भी स्थापित करने में कोई अपराध-बोध नहीं, कोई डर नहीं, कोई झिझक या हिचक नहीं। उपन्यास है, 'न आने वाला कल', लेखक है मोहन राकेश। प्रकाशनकाल सन् 1968 है 'जहाँ तक शरीर की नैतिकता का संबंध है, उसे लेकर मेरे मन में कोई कुंठा नहीं रहीं।'[6]

यशपाल हिंदी के गिने-चुने उन उपन्यासकारों में से एक थे जिन्हें आज भी उनके महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा सच' के कारण बार-बार याद किया जाता है। निश्चित ही वे साम्यवादी थे और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साम्यवादी धरणाओं के अनुपालन के समर्थक थे। 'उनके 1968 में प्रकाशित क्यों फँसे उपन्यास में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों के संदर्भ में बहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।'[7] 'इसी उपन्यास में नारी की स्वतंत्रता और समता पर भी नई दृष्टि से

विचार प्रस्तुत किए गए है।'[8]

'प्रेम के नाम पर आज के विचारक (?) को हँसी आती है। वह उसे बौद्धिक विलास से अधिक कुछ नहीं मानता। प्रेम का धंधा महज बेवकूफी है। आश्चर्य है कि इतनी सारी शताब्दियाँ इसे ढो कैसे पाई?'[9] यह कथन रमेश बख्शी 'बैसाखियों वाली इमारत' में आता है। अपने एक अन्य उपन्यास 'जलता हुआ लावा में रमेश बख्शी कहते हैं–'हम दोनों को ही प्रेम या रोमांस के नाम से एलर्जी है। मुझे शायद रोमांस के नाम से जुकाम हो जाए और उसे तो निश्चित ही उबकाइयाँ आने लगेंगी।'[10] 'पत्थरों का शहर' नामक उपन्यास में लेखक सुरेश सिन्हा की सलाह देखिए–'प्रेम को अब मरी हुई चीज मान लेना चाहिए और उसे त्याग ही देना चाहिए।'[11]

सन् 1990 में एक उपन्यास प्रकाशित हुआ–'एक जमीन अपनी'। इसकी लेखिका है चित्रा मुद्गल। उनका यह कहना तो ठीक है कि सदियों से बंदी बनाई गई नारी से सहजता की उम्मीद करना अयुक्तिसंगत है–'स्त्री क्या, किसी भी व्यक्ति को एक कमरे में सालों-साल बंद रखिए मात्रा उसे खाना-पानी देते रहिए, खुली हवा-पानी से वंचित वह व्यक्ति एक दिन असंतुलित हो उठेगा। उसकी संवदेना कुंठित हो जाएगी। उसकी निर्णय क्षमता छीज जाएगी। उसकी दुनिया सिमटकर उसी कमरे में सीमित रह जाएगी। वही हाल स्त्रियों का हुआ है। अब जब नाममात्रा के लिए दरचाजे-खिड़कियाँ खोली जा रही हैं, आप कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वे एकदम हदें तोड़कर पूरी सामर्थ्य के साथ उपस्थित हो पर इसी उपन्यास के एक अन्य पात्रा का कथन देखिए–'पत्नी शब्द से मुझे दासत्व की बू आती है। इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है। स्त्री को सतीत्व से मुक्ति नहीं चाहिए, उन रूढ़ियों से मुक्ति चाहिए जिन्होंने उसे वस्तु बना दिया है।'

काफी अर्से पहले एक आंदोलन चला था–गर्भनिरोध आंदोलन। उस आंदोलन की नेता थीं–मार्गरेट सेंगर। सेंगर का आविर्भाव काल सन् 1883-1966 माना जाता है। उनका कहना था कि 'कोई भी नारी अपने आप को मुक्त नहीं कर सकती जब तक वह स्वच्छंद होकर यह चुनाव नहीं कर सकती कि वह माँ बने या नहीं? सन् 1960 के आस पास ही शुलीमिथ फायरस्टोन ने प्रतिपादिन किया था कि 'स्त्री की अपनी स्वतंत्रता तब घटित होगी जब वैज्ञानिक प्रगति उसे गर्भाशयजनित दायित्वों से मुक्त कर देगी।'[12] सुप्रसिद्ध उपन्यासकार विष्णु प्रभाकर ने भी उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर, में प्रकारांतर से यही बात कही है–'पुरुष ने रकाब का आविष्कार कर घोड़े को दास बनाया, वैसे ही मातृत्व की महत्ता से अलंकृत करके नारी को, सदा के लिए, दासी बना लिया।'[13]

प्रमोद सिन्हा के उपन्यास 'उसका शहर' की नायिका विवाह को पुरुष के साथ बंधन रूप में मानते हुए उसे नकारती है। 'मैं इन बंधनों को आवश्यक नहीं मानती। बँधा हुआ आदमी सड़ जाता है। उसमें विश्वास की भावना भी समाप्त हो जाती है।'[14]

कालांतर में नारी ने सीखा कि आर्थिक स्वतंत्रता ही महत्त्वपूर्ण है और उसकी अनुपस्थिति में कोई गुण अधिक देर तक गुण नहीं बना रहता, इसीलिए धीरे-धीरे कार्यरत महिलाओं की संख्या बढ़नी शुरू हुई। किंतु नारी के इस रूप के संबंध में पुरुषों के परंपरागत चिंतन में कोई अंतर नहीं आया। कृष्ण बलदेव वैद का एक उपन्यास 'नर-नारी' सन् 1996 में प्रकाशित हुआ। उसके कुछ अंश देखिए–'कैरियर ठीक नहीं। फुटकर नौकरी ठीक, कैरियर का चक्कर नहीं। कैरियर वाली हो तो मर्द का मुकाबला करती है।'[15] 'बुद्धिमान औरत चाहिए ही नहीं।' उसके सामने पड़ते ही मरदानगी गायब। औरतों को सोचने से क्या मतलब? सोचने वाली औरतों पर मर्द रीझता ही नहीं'। उसे तो ब्यूटीफुल बॉडी चाहिए, ब्रेन नहीं। ब्रेन के सामने तो वह बुझ जाता है।'[16] आगे देखें–'वर्किंग

वाइफ में नखरा-टखरा तो होता है, ग्रेस नहीं होती। टीम-टाम तो होती है, ब्यूटी नहीं होती। अकड़ तो होती है, टोलरेंस नहीं होती।'[17] 'कँवारपन का भूत मर्दों पर अभी भी सवार है। कँवारेपन का अग्राह उसे कुछ और सोचने ही नहीं देता।'[18]

सन् 1967 में एक उपन्यास प्रकाशित हुआ 'एक पति के नोट्स'। उपन्यास ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। लेखक थे महेंद्र भल्ला। 'उपन्यास का नायक नर नारी के पारस्परिक दैहिक संबंध को आनंदायक नहीं मानता। उसे निरर्थकता में, एकरसता में, परिणत हो जाने वाला मानता है। पत्नी उसे जल्दी ही नीरस और उबाऊ लगने लगती है। वह उससे पीछा छुड़ाने के बहाने ढूँढने में लगा रहता है।'[19] भारतीय तयशुदा विवाह-पद्धति, शरीर और मन के सामरस्य के लक्ष्य न करने वाली पद्धति, निश्चय ही जुगुत्साकारक लगती है। उसकी ओर मंजुल भगत ने 'चितकोबरा' में संकेत किया है। यह उपन्यास सन् 1979 का प्रकाशित है–'प्रेमहीन शरीर संबंध जो भारतीय तयशुदा विवाह पद्धति की स्वाभाविक स्थिति है भयानक आत्म-पीड़न के अलावा क्या कुछ और कही जा सकती है? इससे भयावह स्थिति दूसरी हो ही नहीं सकती जब मन और तन इस तरह विभक्त हो जाए कि तन भोग में रत रहे और मन अलग पड़ा रहे।'[20]

अब एक ऐसी स्थिति का वर्णन देखिए जो आज के युग में ही, संभवतया, चरितार्थ हो सकती थी। उपन्यास है 'अचला : एक मनः स्थिति' लेखक है मुद्राराक्षस और प्रकाशनकाल सन् 1975 है। नायिका अचला माडलिंग का काम करती है। 'विवाह संजय से करती है। जीवन में दूसरे छोर पर है धनराज। संजय के विरुद्ध इंकवारी आती है इंकवारी के पदाधिकारी हैं धनराज के पिता। संजय दबाव डालता है। वह मजबूर हो जाती है, धनराज के प्रति समर्पण के लिए।'[21]

'मित्रो मरजानी' में कृष्णा सोबती ने महिला उपन्यास-लेखक का रंगरूप एकदम बदल दिया था। उपन्यास की नायिका मित्रो दबंग है। वह अपनी वासना की तीव्रता से परिचित है और उसे कह डालने से घबराती या शर्माती नहीं–'तुम्हीं बताओ जिठानी तुम्हारा-सा सत-बल कहाँ से पाऊँ-लाऊँ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता ...और मेरी देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली सी तड़पती हूँ।[22] एक अन्य अवसर पर कहती है–'मेरा यह बेअक्ल मर्द यह नहीं जानता कि मुझ सी दरियाई नार किस गुर से काबू में आती है। मैं निगोड़ी बन-ठन के बैठती हूँ तो गबरू सौदा सुलफ लेने उठ जाता है।'

आजकल एक उपन्यास की विशेष चर्चा है–पद्मा सचदेव का 'भटको नहीं धनंजय।' एकदम नया उपन्यास है। प्रकाशनकाल, संभवतया, सन् 2000 है। उसमें द्रोपदी की पीड़ा का वर्णन देखिए–'स्वयंवर में द्रौपदी को जीता तो अर्जुन ने द्रौपदी ने, वरमाला डाली अर्जुन के गले में, पर उसे पत्नी बनना पड़ा चार अन्य की भी। यह क्या हुआ?'[23]

एक अन्य उपन्यास आया है। 'कठगुलाब' उसकी लेखिका हैं–मृदुला गर्ग। उसके एक पात्र का संवाद देखें–'विवाह। अखंड, पूर्ण, परम, नित्य दुख पाने का माध्यम।'[24]

'नारी जीवन के कितने ही अंग तो ऐसे हैं जिन तक लेखकों की निगाह अभी तक नहीं जा सकी। आज इन अंगों के वर्णन की माँग बराबर उठाई जा रही है। वे अंग हैं–मासिक धर्म के समय की पीड़ा, प्रजनन के समय की पीड़ा, स्तन-पान के समय की समस्याएँ। कुछ अंग तो एकदम वर्जित मान लिए गए है–संतान की इच्छा से अलग यौनाचार तथा यौनानंद। यही कारण है कि आज की लेखिकाएँ पुरुष-लेखक पर भरोसा नहीं करतीं–स्त्रियों द्वारा स्त्रियों के विषय में जो लिखा गया है, पुरुषों का लिखा उससे बिल्कुल अलग है।'[25]

आजकल चारों ओर नारीवाद की चर्चा है। निश्चय ही, नारीवाद नकारात्मक आंदोलन नहीं है। वह स्वस्थ मानवीय दृष्टिकोण है और उसका लक्ष्य नारी-स्वातंत्र्य का विस्तार और व्यापकता ही है। इस आंदोलन या दृष्टिकोण को लेकर हिंदी में भी कितने ही ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। उनमें से उल्लेखनीय हैं–मृणाल पांडेय का 'परिधि पर स्त्री', राजकिशोर का 'स्त्री के लिए जगह', उषा महाजन का, 'उठो अन्नपूर्णा साथ चलें', क्षमा शर्मा का, 'स्त्री का समय', मृदुला गर्ग का, 'चुकते नहीं सवाल', अनामिका का 'स्त्रीत्व का मानचित्र', अरविंद जैन का 'स्त्री होने की सजा', सरला माहेश्वरी का 'समान नागरिक संहिता, कात्यायनी का 'दुर्ग द्वार पर दस्तक'। इन सबमें मृणाल पांडेय के ग्रंथ में चर्चित एक घटना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। घटना निश्चय की सच्ची है। 'कलकत्ता विश्वविद्यालय में आयोजित उत्सव का शुभारंभ अरुंधती राय चौधरी द्वारा वैदिक ऋचाओं के सस्वर पाठ से होना था जब वे पाठ के लिए उद्धत हुई तो उस आयोजन के विशिष्ट अतिथि पुरी के शंकराचार्य ने तुरंत आग बबूला होकर प्रतिबद्ध किया और कहा कि यदि उनकी उपस्थिति में स्त्री वैदिक ऋचाओं का पाठ करती है तो वे उठकर चले जाएँगे। लिहाजा आयोजकों ने सुश्री राय चौधरी को पाठ न करने को कहा और वे अपमानित महसूस करती हुई स्टेज से वापस लौटने को बाध्य हुई।'[26]

वास्तव में नर-नारी के पारस्परिक संबंधों को लेकर, प्रायः एक सत्य को आधारभूत सत्य को भुला दिया जाता है। समस्त विग्रह की जड़ अंततः वही भूल बनती है। वह है–'नर-नारी के पारस्परिक संबंधों को सदा गतिशील होने को भूल जाना।'[27] व्यक्ति और समाज की प्रत्येक गतिविधि का नर-नारी के पारस्परिक संबंधों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन के अनुरूप ढल जाने पर या परिवर्तन को अपने अनुरूप ढाल लेने पर संबंध सुखद बने रह सकते हैं, किंतु इसके उल्टा हो जाने पर वह विग्रह जन्म लेता है। जिसका उपचार तलाक के पास भी नहीं है। यह भूलना ही नहीं चाहिए कि समाज की आधरभूत इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार है : परिवार जो नर-नारी के पारस्परिक व्यवहार से रूपाकार ग्रहण करता है। इस आधरभूत ईकाई अर्थात् पारिवारिक संबंध को दृष्टि में रखकर ही आगे बढ़ना चाहिए। व्यक्ति को नहीं, परिवार को लक्ष्य किया जाना चाहिए। हम सुप्रसिद्ध कहानीकार-उपन्यासकार राजेंद्र यादव से पूर्णतः सहमत है कि 'समाज की आधरभूत इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार है और परिवार का मूल है–स्त्री-पुरुष का युग्म। सहज युग्म।'[28] पीड़ित, वलित या उद्‌भ्रांत युग्म नहीं है।

आदर्शों को, मान्यताओं को, स्थापनाओं को, व्यक्तिगत सूझ-बूझ को गतिशील बनाए रखना ही जीवन है किंतु ऐसा हो कहा पाता है। हम मूर्ति बनाने के लिए आतुर रहते हैं और भजन के समय निष्प्राण होने लगते हैं, जबकि भजन भी उतना ही भावरंजक है। इस प्रक्रिया को सुप्रसिद्ध उपन्यासकार मृदुला गर्ग ने उच्छेदन का नाम दिया है। उच्छेदन तो दूर रहा, हम उन शिकंजों को सहज और स्थाई मान बैठते हैं। दुष्परिणाम? भयावह 'मेरा मानना है कि साहित्य लेखन का ध्येय उस प्रचलित सत्य पर प्रश्नचिह्न लगाना है जो सांस्कृतिक सत्ता द्वारा प्रतिपादित होता है और जो सत्तारूढ़ स्वीकृति के बल पर लोक से मनवाया जाता है। सांस्कृतिक सत्ता का शिकंजा राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के विधानों से ज्यादा मजबूत जकड़ वाला होता है। वह प्रत्यक्ष रूप से अपने नियम नहीं थोपता, वरन् संस्कार का रूप देकर उनका इस तरह आंतरिकरण करवाता है कि लोगों को लगता रहे कि उन्होंने खुद उनको चुना है। वे उनसे छूटने के लिए हाथ-पाँव नहीं मारते, बल्कि, प्रायः शिकंजे की गाँठें कसते रहते हैं। वास्तव में हम पवित्र (?) मूर्तियाँ गढ़ने में सिद्धहस्त हो चले

हैं। एक बार मूर्ति खड़ी कर लें तो उसमें प्राण फूँकने के हर प्रयास को अधर्म या राजद्रोह की संज्ञा देने लगते हैं हमें चाहिए कि हम महिमा के मोह को त्याग कर, तनिक अश्रद्धा-अवज्ञा-संशय से स्थापनाओं का आँकलन करें।'[29] प्रत्येक मोड़ पर करें।

यदि पितृसत्तात्मकता की सीमाओं को ही पहचान लिया जाए, यदि उनमें अनावश्यक रूप से प्रताड़ित न हुआ जाए, यदि उनके विगत होने को भली-भाँति आँक तथा समझ लिया जाए तो गुत्थी, पर्याप्त मात्रा में सुलझती दीख पड़ेगी। तब, वस्तुतः पता लग जाएगा कि नारी की पीठ पर सदियों से लादा गया बोझ, बोझ ही है और नारी को उस बोझ से अब मुक्ति मिलनी चाहिए, 'यौन शुचिता, पातिव्रत, सतीत्व, वैधव्य जैसे मूल्य स्त्री के सम्मान के नहीं, पुरुष के अहंकार के, उसकी दीनता के उसकी असुरक्षा के पैमाने हैं। पितृ-सत्ता के मूल्य हैं। स्त्री की बेड़ियाँ हैं।'[30] यही बात मातृत्व के, उसके भावातिरंजित रूप के संबंध में खरी उतरती है-'पुरुष ने रकाब का आविष्कार करके घोड़े को दास बनाया, वैसे ही नारी को मातृत्व-महत्ता से अलंकृत करके उसे अपनी दासी बना लिया।'[31] 'धीरे-धीरे माँ बनने की सहज इच्छा को औरत ने चादर, बुर्के या घूँघट की तरह, अपने आस्तित्व पर ओढ़ लिया। शिशु-जन्म नैसर्गिक न रहकर सामाजिक कर्म बन गया। पहरेदारी पर पुरुष-सत्ता बैठ गई। स्त्री की परिपूर्णता, श्रेष्ठता, सफलता उसके अच्छी माँ बनने से आँकी जाने लगी।'[32]

नारी को उसके सहज रूप से वंचित कर दिया गया। पहले उसे परवश बनाया, उसमें अनेक दुर्बलताओं का समावेश किया, फिर कभी तो मातृत्व, कभी पत्नीत्व और कभी आदर्श प्रेम आदि के नाम पर उसे उसकी स्वतंत्र अस्मिता से, उसके स्वतंत्र अस्तित्व से, उसे उसके सामान्य इंसान होने से वंचित कर दिया।

संदर्भ

1. मैरिज एंड द फेमिली आफ्टर द वार, पृ॰ 168
2. कमलेश्वर, डाक बंगला, 1962, पृ॰ 65
3. निरुपमा सेवती, दहकन के पार, 1983, पृ॰ 78
4. कुसुम अंसल, अपनी-अपनी यात्रा, 1981, पृ॰ 105
5. मृदुला गर्ग, उसके हिस्से की धूप, 1975, पृ॰ 20
6. मोहन राकेश, न आने वाला कल, 1968, पृ॰ 141
7. यशपाल, क्यों फँसे, 1968, पृ॰ 75
8. वही, पृ॰ 83
9. रमेश बख्शी, बैसाखियों वाली इमारत, 1966, पृ॰ 36
10. रमेश बख्शी, जलता हुआ लावा, पृ॰ 82
11. सुरेश सिन्हा, पत्थरों का शहर, पृ॰ 311
12. मासिक हंस, नवंबर-दिसंबर 94, पृ॰ 31
13. विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृ॰ 376
14. प्रमोद सिन्हा, उसका शहर, पृ॰ 102
15. कृष्णा बलदेव वैद, नर-नारी, 1996 पृ॰ 34
16. वही, पृ॰ 36
17. वही, पृ॰ 67

18. वही, पृ॰ 69
19. महेंद्र भल्ला, एक पति के नोटस, 1967, पृ॰ 78
20. मंजुल भगत, चितकोबरा, 1979, पृ॰ 10
21. मुद्रा राक्षस, अचला : एक मन:स्थिति, 1678, पृ॰ 30
22. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, 1975, पृ॰ 20
23. पद्मा सचदेवा, भटको नहीं धनंजय, सन् 2000 पृ॰ 32
24. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, 1996, पृ॰ 162
25. क्षमा शर्मा, हंस, दिसंबर, 2000
26. मृणाल पांडेय, परिधि पर स्त्री, पृ॰ 15
27. The relation between the man and woman will change for even, it is no use thinking. You can put a stamp on it to keep it in status – qua – selected critisim, Dr. H. Larlawrence
28. राजेंद्र यादव, मासिक हंस, जुलाई 68
29. मृदुला गर्ग, मासिक हंस, जुलाई 99 पृ. 107–109
30. अर्चना शर्मा, मासिक हंस, जनवरी–पफरवरी 2000 पृ॰ 5
31. विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृ॰ 396
32. मृदुला गर्ग, मासिक हंस, जनवरी–पफरवरी 2000, पृ॰ 168

उर्मिला कुमारी
द्वारा श्री शिवसागर
गाँव भाड़ावास,
जिला रेवाड़ी (हरि॰) 123401
मो॰ 8901482352
sivsagar698@gmail.com

 ISSN 0975-735X

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्व

यशवीर सिंह, शोध छात्र
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाजपुर (उत्तराखंड)

राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम है। राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र के भौगोलिक, सांस्कृतिक और समाज में रहने वाले लोगों में प्रेम और एकता की भावना है। यह भावना संपूर्ण विश्व में हर देश के लोगों के दिलों में व्याप्त है। ऐसा माना जाता है कि इसका विकास आधुनिक विश्व में राजनीतिक पुनर्जागरण का परिणाम है। भारत में राष्ट्रीय चेतना की अवधारणा का अभाव नहीं रहा, लेकिन आवश्यकता पाश्चात्य संपर्क ब्रिटिश राज्य के विस्तार, पाश्चात्य शिक्षा एवं विकास ने भारतीय राष्ट्रवाद को एक दिशा प्रदान की। साथ ही ऐसे अनेक तत्त्व है, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया।

आर्थिक परिवेश का परिवर्तित स्वरूप

सोने की चिड़िया कहे जाने वाले भारत की आत्मनिर्भर सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का मूलआधार गाँव हुआ करते थे, जो बंद अर्थव्यस्था के प्रतिरूप थे। ग्राम व्यवस्था छोटे-छोटे गणतंत्र के रूप में विस्तृत थी। प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकता अनुसार वस्तुओं को उत्पादित कर विदेशी संबंधों से मुक्त था। ब्रिटिश अधिकार पूर्व भारत में समय-समय पर अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए लेकिन इन राजनीतिक परिवर्तनों से केवल राजनीतिक सत्ता में बदलाव हुए मूलभूत आर्थिक ढाँचे या भारत की आत्मनिर्भर समाजिक-आर्थिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया। लेकिन ब्रिटिश राज के दौरान भारत पर अँग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हेतु उठाया गया प्रत्येक कदम भारतीय आर्थिक ढाँचे के लिए एक प्रहार साबित हुआ और अंततः भारतीय आर्थिक ढाँचा धराशायी हो गया।

ब्रिटिश राज पूर्व भारत में प्रचालित भू-राजस्व एकत्रण व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों व जागीरदारों को भू-उत्पाद में कुछ अधिकार प्राप्त थे तो वहीं किसानों व काश्तकारों को भी परंपरा अनुरूप कुछ अधिकार हासिल थे। जैसा कि वीना ओल्डनवर्ग का मानना है कि किसान परिवार में स्त्रियों को भी कृषि उत्पाद में उपभोग के निश्चित अधिकार हासिल थे। लेकिन ब्रिटिश शासन में यह व्यवस्था प्रचलन से बाहर हो गई और भूस्वामित्व में परिवर्तन आया। ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों के अंतर्गत स्थायी बंदोबस्त के तहत जमींदार तो रैय्यतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत किसान को भूस्वामित्व का अधिकार प्राप्त हुआ। जिससे जमीन व्यक्तिगत बन गई और भूमि की मंडियाँ विकसित हुईं जहाँ भूमि का क्रय-विक्रय किया जा सकता था। जिसकी सुरक्षा की गारन्टी पर किसान साहूकारों से उधार ले सकता था। इस व्यवस्था से गाँव कृषि-संबंधी आर्थिक व न्यायिक कार्यों से वंचित हुए व गाँवों की स्वाधीनता समाप्त हो गई।

ब्रिटिश राज में भारतीय कृषि के स्थानीय स्वरूप का स्थान राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप ने ले लिया, जिसके अनेक कारण थे। जैसे-जैसे बाजार की उपलब्धता, नवीन यातायात साधन, सड़कों का निर्माण, रेलवे तथा बंदरगाहों का विकास आदि। भारतीय कृषि के इस स्वरूप में आए परिवर्तन के साथ-साथ कृषि का वाणिज्यीकरण भी हुआ। लगान की ऊँची दर, महाजनों का

ऋणजाल, इग्लैंड में कच्चे माल की माँग, परिवहन व्यवस्था में सुधार तथा बाजार की उपलब्धता आदि ऐसे अनेक कारण थे जिन्होंने कृषि वाणिज्यीकरण को बढ़ावा दिया जिसके परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्न फसलों के स्थान पर कपास, नील, अफीम, रेशम, तंबाकू तथा चाय आदि की फसलों के उत्पादन को महत्त्व दिया जाने लगा।

ब्रिटिश कंपनी आगमन पूर्व भारत में गाँव अपने निकटवर्ती चरागाहों तथा जंगल की भूमि का उपयोग मुफ्त करते थे लेकिन ब्रिटिश शासकों ने विभिन्न जंगल कानून पास करके ग्राम-समाज से यह अधिकार छीन लिया। इस प्रकार आर्थिक परिवेश के परिवर्तित स्वरूप ने भारतीय राष्ट्रवाद को प्रेरणा स्वरूपी बल प्रदान किया।

ब्रिटिश शासन की शोषणकारी आर्थिक नीति

ब्रिटिशकालीन आर्थिक शोषणकारी नीतियाँ राष्ट्रीयता की उत्पत्ति का सर्वप्रमुख कारण मानी जाती हैं। इन नीतियों का भारतीय अर्थव्यस्था पर प्रभाव अत्यंत विनाशकारी रहा। जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा, 'भारतीय अर्थव्यवस्था उस उच्च स्थिति तक पहुँच चुकी थी जैसा कि औद्योगिक क्रांति पूर्व होनी चाहिए थी, परंतु विदेशी राजनीतिक प्रभुत्व ने इस अर्थव्यवस्था का शीघ्र ही विनाश कर दिया और उसके बदले में कोई अनुकूल तथा रचनात्मक तत्त्व नहीं दिया।'[1]

ब्रिटिश आर्थिक नीतियों ने भारत के प्राचीन हस्तशिल्प और उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटेन के व्यापारियों व शिल्प-उत्पादकों के हितार्थ अनेक ऐसे कानून पारित किए जिससे भारतीय उद्योग नष्ट होते चले गए। इस विषय में बी॰डी॰ वसु ने ऐसे अनेक कारक सुझाए जिससे भारतीय उद्योगों का विनाश हुआ।[2]

1-भारत में मुक्त ब्रिटिश व्यापार शुरू करना

2-भारत से कच्चे माल का निर्यात करना

3-भारत में रेलवे का निर्माण करना

4-भारतीय कारीगरों को अपने रोजगार की गुप्त बातें बताने के लिए मजबूर करना

5-प्रदर्शनियों का आयोजन

6-भारत में रहने वाले अँग्रेजों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करना

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उपनिवेश को कच्चे माल के स्त्रोत के रूप में देखा, वह ब्रिटेन में आवश्यक कच्चे-माल की आपूर्ति भारत से करते और बाद मे वहाँ मशीनों द्वारा निर्मित माल से भारतीय बाजारों को भर दिया जाता। ब्रिटिश व्यापारियों को लाभ पहुँचाने के लिए भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर अत्यधिक कर लगाया गया तो वहीं भारत आयातित वस्तुओं पर कर में भारी छूट प्रदान की गई। इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण ऐसी सामाजिक शक्तियों का जन्म हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय राष्ट्रवाद को प्रेरित किया।

दूरसंचार व आवागमन के साधनों का विकास

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में दूरसंचार व आवागमन के साधनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, इनके बिना राष्ट्रवाद को मूर्त रूप दे पाना अत्यंत मुश्किल था। ब्रिटिश शासकों ने इनका विकास भारत के राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक विकास के लिए नहीं किया बल्कि भारत में अँग्रेजों के प्रशासनिक, सैनिक, आर्थिक,व्यापारिक व राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु किया।

भारत को एक सूत्र में बाँधने का कार्य रेलवे ने किया, इसकी उपयोगिता के विषय में

एडसिन अरनल्ड ने लिखा, 'रेलवे भारत के लिए वह कार्य कर देगी जो बड़े-बड़े वंशों ने पहले कभी नहीं किया, जो अकबर अपनी दयाशीलता अथवा टीपू अपनी उग्रता द्वारा नहीं कर सके।'[3] वे भारत को एक राष्ट्र नहीं बना सके। रेलवे के विकास ने देश के विभिन्न हिस्सों में रहने वालों के बीच की दूरी को खत्म किया। पक्के मार्गों के निर्माण ने ग्रामीण क्षेत्रों को बड़े-बड़े नगरों से जोड़ दिया। डाकखानों के विकास ने देश के सामाजिक, शैक्षणिक, वौद्धिक तथा राजनीतिक जीवन में परिवर्तन ला दिया। कुछ पैसे के सामान्य टिकट पर समाचार पत्रों व पार्सलों को कहीं भी भेजा जा सकता था। डाक व तार के विकास ने इस क्षेत्र को और गतिवान बना दिया। इस प्रकार इन साधनों के विकास ने क्षेत्रीय दूरी को समाप्त कर लोगों को करीब ला दिया, एक-दूसरे के विचारों को जानने का मौका प्रदान किया। राष्ट्रीय आंदोलनों व बौद्धिक विचारों को देश के कोने-कोने तक पहुँचा दिया, जो आगे चलकर राष्ट्रवाद के विकास में मील का पत्थर साबित हुए।

ब्रिटिश शासकों का जाति विभेदात्मक व्यवहार

भारत में राष्ट्रीय भावनाओं के सूर्योदय में गौण किंतु महत्त्वपूर्ण कारण ब्रिटिश शासकों का भारतीयों के प्रति किया जाने वाला जाति विभेदात्मक व्यवहार था। 1857 के विद्रोह पश्चात् इस प्रकार के व्यवहार में अधिक प्रगाढ़ता देखने को मिली जैसा कि गुरुमुख निहाल सिंह ने लिखा, 'विद्रोह के बाद भारत में आनेवाले अँग्रेजों के मस्तिष्क में भारतीयों के बारे में विभिन्न धारणाएँ होती थीं। वे मंच के तत्कालीन दास्य चित्रों के अनुसार भारतीयों को ऐसा जंतु समझते थे जो आधा वनमानुष और आधा नीग्रो था, जिसे केवल भय द्वारा ही समझाया जा सकता था और जिसके लिए नरनल नील तथा उसके साथियों का घृणा और आतंक का व्यवहार ही उपयुक्त था।'[4] इस जाति विभेदात्मक नीति के कारण अँग्रेजों व भारतीयों के मध्य खाई बढ़ती चली गई। रेल में भारतीयों को अँग्रेजों के साथ सफर की अनुमति नहीं थी। भारतीयों को काले लोग कहकर पुकारा जाता, जगह-जगह भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता, जैसे-होटल, क्लब, पार्क आदि। अँग्रेजों की इस जाति भेदभावपूर्ण नीति परिणामस्वरूप भारतीयों के मन में अँग्रेजों के प्रति घृणा की भावना भर गई। जिससे राष्ट्रीय भावना का तीव्र गति से विकास हुआ, जैसा कि गैरेट ने लिखा–'भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपर्युक्त कटुता की भावना एक बहुत बड़ा कारण थी।'[5]

तत्कालीन विश्वव्यापी घटनाएँ

डॉ॰ आर॰सी॰ मजूमदार ने लिखा है कि 19वीं शताब्दी में यूरोप में जो स्वाधीनता संग्राम लड़े गए, उन्होंने भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन व राष्ट्रवाद को प्रभावित किया।[6] 4 जुलाई 1776 को अमेरिकी आजादी की घोषणा और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति ने भारतीय 19वीं शताब्दी के जनतांत्रिक व राष्ट्रवादी आंदोलनों को प्रभावित किया।[7] 1859-61 में इटली के एकीकरण के लिए मैजिनी और गैरीवाल्डी के नेतृत्व में 'युवा इटली' नामक आंदोलन चलाया गया। स्पेन तथा पुर्तगाल के दक्षिणी अमरीका के साम्राज्यों के खंडहरों पर अनेक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो रहे थे। यूरोप में यूनान तथा इटली के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम ने कुछ हद तक जबकि आयरलैंड के स्वतंत्रता संग्राम ने विशेषत: भारतीयों के राष्ट्रवादी विचारों को मजबूती प्रदान की।

तत्कालीन भारतीय ब्रिटिश सरकार का यह प्रयास रहा कि भारत को अन्य देशों के जनतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनों से प्रभाव मुक्त रखा जाए। लेकिन वे इस कार्य में कुछ हद तक सफल रहे, पूर्णत्य: नहीं। उपर्युक्त विश्वव्यापी घटनाओं ने भारत पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य

डाला। स्पेन की बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति (1820–23) की सफलता पर राजा राममोहन राय ने कलकत्ता के टाउनहॉल पर पार्टी दी थी। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी तथा लाला लाजपतराय ने मैजिनी, गैरीवाल्डी तथा कार्बोनारी आंदोलनों पर अपने विचार युक्त लेख लिखे।[8] इस प्रकार विश्वव्यापी क्रांतिकारी घटनाओं व आंदोलन ने उभरते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित किया।

समृद्ध व गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा

विदेशी विद्धानों द्वारा किए गए ऐतिहासिक अनुसंधानों ने भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं को दृढ़ता प्रदान की। जैसा कि डॉ॰ आर॰सी॰ मजूमदार ने लिखा 'यह खोज भारतीयों के मन में चेतना उत्पन्न करने में असफल नहीं हो सकती थी, जिसके परिणामस्वरूप उसके हृदय राष्ट्रीयता की भावना व देश भक्ति से भर गए।'[9]

प्राचीन भारतीय इतिहास के ऐतिहासिक अनुसंधान करने वाले विदेशी विद्धानों में सर विलियम जोन्स, मोनियर विलियम्स, मैक्समूलर, जैकोबी कोल ब्रूक, ए॰वी॰ कीथ आदि सम्मिलित हैं जिन्होंने अनुसंधान व ऐतिहासिक ग्रंथों का अँग्रेजी भाषा में अनुवाद कर भारत की समृद्ध व गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा का ज्ञान कराया। विशेषकर कनिंघम जैसे पुरातत्त्वविदों ने खुदाई द्वारा भारतीय संस्कृति के महान व गौरवशाली चित्र को प्रस्तुत किया जो यूरोपीय प्राचीन सभ्यताओं से कम गौरवशाली नहीं था। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्धानों ने भारतीय ग्रंथों का अँग्रेजी में अनुवाद किया, जिससे भारतीय सभ्यताओं व संस्कृति को एक नया आयाम मिला और इनकी तुलना विश्व की श्रेष्ठ संस्कृतियों में की जाने लगी। जब भारतीयों को यह ज्ञान हुआ कि स्वयं पश्चिमी विद्वान उनकी संस्कृति का गुणगान कर रहे हैं तो वह आत्महीनता की बजाए आत्मविश्वास से जाग्रत हो उठे। जैसा कि के॰ए॰ पाणिक्कर लिखते हैं कि इन ऐतिहासिक अनुसंधानों ने भारतीयों में आत्मविश्वास जाग्रत किया और उन्हें अपनी सभ्यता व संस्कृति पर गर्व करना सिखलाया।' इन सभी तत्त्वों ने भारतीयों में आत्मविश्वास रूपी दीप प्रज्वलित कर देशभक्ति व राष्ट्रवाद रूपी प्रकाश को फैलाया।

लार्ड लिटन की समीपस्थ दृष्टिकोण युक्त नीतियाँ

लार्ड लिटन (1876–1880) के समीपस्थ दृष्टिकोण व अन्यायपूर्ण नीतियों ने राष्ट्र भावना को प्रज्वलित करने का कार्य किया। जिससे राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुआ। जैसा कि सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने कहा 'कभी-कभी बुरे शासक की राजनीतिक प्रगति विकास में सहायक सिद्ध होती है, लिटन ने शिक्षित समुदाय में उस सीमा तक नए जीवन की लहर फूँक दी। जो कि कई वर्षों के आंदोलन से संभव नहीं थी।'[10] लार्ड लिटन ने अनेक ऐसे कार्य किए जो राष्ट्रभावना जगाने में सहायक सिद्ध हुए–

1876 में ब्रिटिश सरकार ने आई॰सी॰एस॰ में सम्मिलित होने की आयु 21 वर्ष के स्थान पर 19 वर्ष कर दी, जिससे भारतीय शिक्षित वर्ग इस परिक्षा से वंचित हो गया। परिणामस्वरूप सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना इसके विरोध स्वरूप की गई। इससे उत्पन्न असंतोष ने एक विशाल आंदोलन को जन्म दिया। अंततः सरकार को मजबूरन आयु सीमा पूर्ववत करनी पड़ी।

1877 में दिल्ली में एक भव्य विशाल दरबार का आयोजन किया गया, जिसका कारण महारानी विक्टोरिया को भारत साम्राज्ञी घोषित किया जाना था। इसी समय दक्षिण भारत में भयानक अकाल के कारण हजारों लोगों की मौतें हुईं किंतु लिटन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परिणामस्वरूप भारतीय जनता में असंतोष उत्पन्न हो गया। कलकत्ता के एक समाचारपत्र ने इस दरबार की आलोचना करते हुए लिखा–'जब रोम जल रहा था, नीरो अपनी बाँसुरी बजा रहा था।'[11]

1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट'[12] के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगा दिए। 1878 में ही पारित शस्त्र अधिनियम ने भारतीयों के हथियार रखने के लिए लाईसेंस अनिवार्य कर दिया, जबकि अँग्रेजों के लिए ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था।

राजनीतिक व प्रशासनिक एकता का पुनः प्रादुर्भाव

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही भारत में राजनीतिक व प्रशासनिक एकता का क्षय हो गया। लेकिन अँग्रेजों का महत्त्वपूर्ण कार्य यह रहा कि भारत में केंद्रीय सत्ता की स्थापना जिसके कारण एक बार पुनः समस्त भारत में राजनीतिक एंव प्रशासनिक एकीकरण हुआ। संपूर्ण भारत में एक समान कानून व नियम लागू किए गए। नया केंद्रीय राजतंत्र सारे देश में व्याप्त था, कानून की दृष्टि से सभी नागरिक बराबर थे। इसी समय संचार साधनों ने राजनीतिक व प्रशासनिक एकता को सुदृढ़ता प्रदान की, जिससे राष्ट्रीय आंदोलन को बल मिला। जैसा कि डॉ॰ के॰वी॰ पुन्निया ने लिखा है, 'हिमालय से कन्याकुमारी तक संपूर्ण भारत एक सरकार के अधीन था और इसने जनता में राजनीतिक एकता को जन्म दिया।

निष्कर्ष–भारतीय राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्वों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रवाद का जन्म ब्रिटिश सरकार के कार्यों व नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ। जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन में राजनीतिक व प्रशासनिक एकता को बल मिला, पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ और यातायात के साधनों का विकास हुआ। इन सभी कार्यों से एक तरफ ब्रिटिश शासन को लाभ हुआ तो दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवाद के जन्म में भी योगदान मिला।

संदर्भ

1. बी॰एल॰ ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस॰ चंद एंड कंपनी प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 295
2. आर॰एल॰ शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008, पृ॰ 464
3. बी॰एल॰ ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस॰ चंद एंड कंपनी प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 292
4. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, महार्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 15
6. सुमित सरकार, आधुनिक भारत, 1885-1947, दिल्ली, 1983, पृ॰ 127
7. आर॰एल॰ शुक्ल, आधुनिक भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008, पृ॰ 472
8. बी॰एल॰ ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, एस॰ चंद एंड कंपनी प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 294
9. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, महार्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक, पृ॰ 12
10. वही, पृ॰ 17
11. वही, पृ॰ 17
12. विपिनचंद्र, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2011, पृ॰ 79

सुपुत्र श्री राजेंद्र सिंह
मकान सं॰ सी-2, **श्री राम मार्केट, माता मंदिर के सामने,**
प्रकाश नगर चौराहा, लाईन पार, मुरादाबाद 244001 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ 9410610653
yash71989@gmail.com

महेंद्र भीष्म के उपन्यासों में चित्रित किन्नर समुदाय : हाशिया से मुख्यधारा में आने का संघर्ष

डॉ॰ जाकिर हुसैन गुलगुंदी
सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
कर्नाटक कला महाविद्यालय, धारवाड़ (कर्नाटक)

महेंद्र भीष्म एक संवेदनशील कथाकार हैं। उन्होंने किन्नर समुदाय को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। उनके अबतक किन्नर केंद्रित दो उपन्यास–'किन्नर कथा' और 'मैं पायल' प्रकाशित हो चुके हैं। आज किन्नरों के प्रति भेद और घृणा समाज की पुरुषवादी मानसिकता का ही परिणाम है। एक माँ को उसकी हर संतान प्रिय होती है। चाहे वह संतान उभयलिंगी ही क्यों न हो। पुरुष अपनी संतान को झूठी मान-मर्यादा और पुरुषत्व से जोड़कर देखता है। यशपाल अपनी कहानी 'दिव्या' में लिखते हैं–'जन्म का अपराध...? यदि यह अपराध है तो इसका मार्जन किस प्रकार संभव है? शास्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई जन्म को परिवर्तन नहीं कर सकती! कोई भी उपाय जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकता! जन्म के अपराध का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले।'[1] सभ्यता के जिस सोपान पर आज मनुष्य खड़ा है वह वास्तव में मानवीय मूल्य खो चुका है। संवेदनहीनता, आत्मकेंद्रीयता, स्वार्थ के चलते दूसरे मनुष्य ही नहीं अपनी संतान को ही हिकारता से देखता है।

महेंद्र भीष्म ने किन्नर समुदाय को केंद्र में रखकर दो उपन्यास लिखे हैं–'किन्नर कथा' और 'मैं पायल'। किन्नर कथा उपन्यास में राजा जगत सिंह की पत्नी जब जुड़वा कन्याओं को जन्म देती है उनमें एक कन्या किन्नर होती है। राजा जगत सिंह की पत्नी दाई निरंजना से कहती है–'काकी अब हमाई सबकी लाज तुमाए हाथन है। तुम तो दायजू के सुभाव जानती हो, कितेक गुस्सैल हैं वे, जा खबर तो वे बर्दाश्त न कर पैहें, काकी तुमे जो बात सबसे छुपाने परे, हमाये तुमाये के अलावा कोऊ, न जान पाए, दायजू भी...उने पता परे तो वे ई नन्हीं-सी जान का मरवा डारे, काकी तुमे हमाई सौगंध...तुमे जो रुपइय्या पईसा चाऊने हो, मैं मी मागा करों, पर तुमे ई बात हां एकदम गुप्त रखने।'[2]

चाल चार साल बाद जब जगत सिंह को सोना के हिजड़ा होने की बात पता चलती है तो वह अपनी मान-मर्यादा के कारण सोना को मारने का आदेश देता है–'अरे जब हमने मोह ममता नहीं देखी, तो, तुम काय डिग रये, अपने बुंदेला खानदान को नाम डुबा दें, क्षत्रीय वंश में हिजड़ा, काउ हिजड़ा को पालें-पोसें, अरे आज, नहीं तो कल, जब सबके सामने जा बात आ जेहे कि हमाई संतान हिजड़ा है, बुंदेला खून, हिजड़ा पैदा करत, तो का गत हुई हमाई, समझत काय नईय्या तुम इत्ती-सी बात।'[3] सोना की हत्या का विचार राजा जगत सिंह की न केवल समाज की मानसिकता को उजागर करता है, किन्नरों के प्रति घृणा एवं उपेक्षा को भी सामने लाता है। राजा जगत सिंह झूठी शान और मान-मर्यादा के कारण ही अपनी संतान की हत्या के बारे में सोचते हैं। ऐसी ही मानसिकता 'मैं पायल' उपन्यास के जुगनी के पिता की भी है। जुगनी के पिता को जुगनी का जन्म

 ISSN 0975-735X

एक कलंक के समान लगता है, 'ये जुगनी! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजड़ा है...।'[4] जुगनी के पिता अपने पुरुषत्व को संतुष्ट करने के लिए और समाज के सवालों से बचने के लिए उसे लड़कों के कपड़े पहनाते हैं–'अब यह पैंट-शर्ट पहनेगी, लड़का बनकर रहेगी और इसका नाम 'जुगनू' होगा। कोई भी इसे जुगनी नहीं बोलेगा...अब यह मेरा बेटा है।'[5]

उपन्यासकार ने जगत सिंह और जुगनू के पिता के माध्यम से किन्नरों के परिजनों के आंतर्द्वंद्व, उनकी कशमकश, उनके मनोविज्ञान को चित्रित किया है। जब जगतराज सोना को मारने का आदेश देता है तो उसके मन में द्वंद्व उत्पन्न होता है। एक मन कह रहा था रोक ले पंचम सिंह को, दूसरा मन कहता है, वंश-खानदान की मर्यादा के लिए त्याग तो करना ही पड़ता है–'फिर एक हिजड़ा बच्चे के प्राण बचाकर वह क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या कहेगा समाज? थूकेंगे लोग उस पर, हँसेंगे उसके वंश पर कि एक हिजड़ा पैदा किया है, ठाकुर जगतराज सिंह बुंदेला ने, वीर बुंदेला खानदान में हिजड़ों का जन्म, गाली एक बहुत बड़ी गाली, सरेआम करारा तमाचा, नहीं, नहीं उसने जो निर्णय किया है, वह सही है। वह सच है, शेष बातें निरर्थक बकवास है।'[6]

सभ्यता का नकाब ओढ़ अपनी झूठी मान-मर्यादा को सब-कुछ माननेवाले लोगों की संख्या कुछ कम नहीं है। यह सोच व्यक्ति को संवेदनहीनता की उस स्थिति में खड़ा कर देती है कि वह संतान को मारने का सोचता है। ऐसी सोच यह सवाल उठाता है कि मान मर्यादा को जीवन से भी मूल्यवान मानने वाला समाज सभ्यता के किस युग में जा रहा है? इसी समाज में पंचम सिंह जैसे लोग भी है जिनकी संवेदनाएँ जीवित हैं–'आगे का शब्द सुनने की स्थिति में नहीं था, सोना का कक्काजू, उसका पाषाण हृदय मोम-सा पिघलता जा रहा था। वध के लिए लाया चाकू कब का वह बहते झरने में फेंक चुका था। आँखों में आसुओं का सैलाब कब का बाहर आ चुका था। वह क्या करने जा रहा था। उस नन्हीं-सी जान को मार डालना चाहता था वह, जिसके हृदय में उसके प्रति अथाह प्रेम भरा पड़ा है। एक बूँद रक्त देख जो उसके लिए इतना आकुल हो उठी है, उस नन्हीं जान के प्राण वह हर लेने के लिए उसे यहाँ लेकर आया है।'[7] आज किन्नर समुदाय ने थोड़ा-बहुत अपना अस्तित्व बनाए रखा है तो पंचम सिंह जैसे संवेदनशील लोगों के कारण।

'मैं पायल' उपन्यास में महेंद्र भीष्म भारतीय समाज की कुरूपता को बड़े ही सहजता से सामने लाया है। यह समाज वैज्ञानिकता और अधुनिकता के बड़ी-बड़ी डींगें हाँकता है, लेकिन किन्नरों के जन्म के वास्तविकता को स्वीकार करने से इंकार करता है। जो समाज दिन में सभ्य कहलाता है वही अँधेरे में जानवर बन जाता है। एक लड़की या स्त्री को देखते ही पुरुष के अंदर बसा जानवर जाग्रत हो उठता है। चाहे वह नारी के वेश में किन्नर ही क्यों न हो। जब जुगनी अकेले ट्रेन में सफर करती है, एक प्रौढ़ व्यक्ति उसे अपनी वासना का शिकार बनाने की कोशिश करता है–'प्रौढ़ की हरकतें बढ़ती जा रही थीं...हे भगवान! मैं डर गई, मारे घबराहट के मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। उसका हाथ मेरी पिंडली से ऊपर सरकने लगा था।'[8] पुलिस को जनता का रक्षक माना जाता है, लेकिन वे भी लड़की या स्त्री को देखते हैं तो लार टपकाने लगते हैं। उपन्यास के एक संदर्भ में स्टेशन का सिपाही अकेली जुगनी को देख उसे छेड़ने लगता है–'उसने मेरी बाँई छाती बेरहमी से मसल दी। मैं दर्द से रोने लगी, उसने मुझे चिपका लिया।'[9] यह हमारे सभ्य समाज का असली रूप है, जहाँ लड़की की वेशभूषा पहने किन्नर भी यौन शोषण का शिकार हो जाते हैं।

'मैं पायल' उपन्यास एक किन्नर के रूप में जुगनी का संघर्ष है। वह जो संघर्ष करती है, सिर्फ समाज के मुख्यधारा में शामिल होने के लिए करती है। 'किन्नर-कथा' की तारा और सोना भी अपनी

वास्तविक पहचान पाने के लिए संघर्ष करती हैं। इस संघर्ष की प्रक्रिया सर्वप्रथम उनके किनारों के घर से ही प्रारंभ होता है। जुगनी के घर में उसकी पहचान छिपाई जाती है। सोना तो घर से निकलते समय अबोध थी उसे विस्थापन का एहसास नहीं हुआ परंतु तारा चौदह वर्ष की थी जब उसे हिजड़ों को सौंप दिया गया था। विडंबना यह है कि बिना किसी अपराध के किन्नरों को परिवार से विस्थापित होना पड़ता है। तारा और जुगनी को पारिवारिक मोह बार-बार घर की ओर खींचता है, उन्हें माँ-बाप के साथ सगे-संबंधियों की याद सताती है। उनके संपर्क में आने पर बार-बार अपमानित भी होना पड़ता है। वास्तव में किन्नर के रूप में पैदा होने में इनका कोई दोष नहीं होता। फिर भी उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। 'कौन तार से बनी चादरिया' में सुंदरी कहती है–'हाथ-पैर, मुँह-कान, मानुस के समान होके भी हम मानुस में नहीं गिनाते हैं। ऐसे में अच्छा होता कि हम कौनों जानवरे जाति में जन्म लेते चाहे मरद होते चाहे मउगी। अभी हम क्या हैं? बताओ तो?'[10]

अपनी अस्मिता और स्वतंत्र पहचान के लिए घर से निकली जुगनी को निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष के रास्ते पर उसका सामना सबसे पहले भूख से होता है। 'भूख के मारे दम निकल रहा था। चाट के ठेले के पास-पहुँचने से मेरी भूख और बढ़ गई थी। मन हो रहा था कि जूठे दोने में बची-कुची चाट ही खा लूँ। मैं यह सोच ही रही थी कि मैंने देखा, मेरी हमउम्र के दो बच्चे वहाँ आकर जूठे दोने चाटने लगे। मुझसे रहा नहीं गया। मैं भी उनके पास जाकर बैठ गई। दोनों बच्चे कुछ न बोले बल्कि एक ने एक दोना मेरी ओर बढ़ा दिया। दोने में मटर के कुछ दाने थे पर दही व मीठी चटनी लगी हुई थी, मैंने जीभ से दोना चाट लिया।'[11] सभ्य समाज से भी अधिक संवेदनशील तो ये भिखारी होते हैं जो एक जून की रोटी के लिए संघर्ष करते रहते हैं लेकिन मिल-बाँटकर खाते हैं–'उन भिखारियों के बीच में जितने भी दिन-रात रही, कभी भूखी नहीं सोई। वे भिखारी जरूर थे, पर उनके अंदर मानवता थी, दूसरे के किए दुख-दर्द था, अपने साथियों के प्रति हमदर्दी थी, अपनत्व था। एक-दूसरे के लिए वह समर्पित थे।'[12]

उपन्यासकार ने पायल की जीवन-यात्रा में किन्नरों के विस्थापन की समस्या उठाई है। किन्नरों के जीवन में विस्थापन का कारण विघटन ही होता है। विस्थापन का कारण चाहे रोटी हो या कोई अन्य कारण लेकिन होता कष्टदायक है। किन्नरों के जीवन की विडंबना यह है कि उन्हें इच्छा-अनिच्छा रहने पर भी उन्हें विस्थापित होना पड़ता है। जुगनी के विस्थापन को दृष्टि केंद्र में रखकर उपन्यासकार ने लिखा है–'इतनी कम उम्र में घर-परिवार से हमेशा के लिए दूर हो जाने का दृढ़-संकल्प बहुत बड़ा और कठोर होता है, बरसात की बहती नदी में कूद जाने जैसा होता है फिर नदी की इच्छा उसकी लहरें जहाँ ले जाएँ, किनारे पर लगाएँ या भँवर में डूब जाने दें। सभी कुछ स्थिति-परिस्थिति परमात्मा की इच्छा पर निर्धारित रहता है। जीवन में महत्त्वपूर्ण मौके आते हैं, आगे के दृश्य-परिदृश्य वस्तुस्थिति और यथार्थ से टकराते हुए नए मुकाम निर्धारित करते हैं।'[13]

एक किन्नर के साथ सामान्य मनुष्य जैसा व्यवहार नहीं किया जाता। वह सदियों की बनाई सोच का शिकार है। जब माँ-बाप, भाई-बहन ही किन्नर को अपना नहीं समझते तो समाज की बात ही क्या। माँ ही है, जिसकी संवेदना अपनी संतान के प्रति होती है। पुरुष तो अपने ही पुरुषत्व पर लांछन समझता है। घर पर अपने साथ होनेवाले व्यवहार के कारण ही वह अपनी दुनिया में जाना पसंद करता है। किन्नर को किन्नर के साथ डेरे में रहना ही समचीन होता है क्योंकि यहाँ सभी एक जैसे होने के कारण अपमान, अन्याय नहीं होता। डेरे में सभी एक परिवार की तरह मिल-जुलकर रहते हैं क्योंकि सभी को नियती एवं त्रासदी एक जैसी होती है। रिया वैन चलाते हुए गंभीरता में

किन्नरों की असलियत बयान करती है–घर परिवार में रहने से हमें क्या मिला अपने ही सगों के जुल्मों के शिकार हुए। जब हमारा खुद का बाप, भाई ही हमारी जान का दुश्मन बन बैठा तो ऐसे घर-परिवार से गुरुमाई का डेरा हमारे लिए स्वर्ग से कम नहीं।'[14]

'मैं पायल' की जुगनी सम्मानपूर्वक जीना चाहती है, वह पहले पंडितजी के चाय की दुकान पर काम करती है, संतोष सिंह के कैंटीन में और पूनम टॉकिज में गेटकीपर की नौकरी करती है। बाद में वह टॉकिज में ही प्रोजेक्टर चलाने लगती है। जुगनी का यह कार्य सिद्ध करता है कि किन्नर भी सामान्य मनुष्य की तरह हर कार्य कर सकते हैं। जब से जुगनी टॉकिज में प्रोजेक्ट चलाने का कार्य करने लगी थी तब से उसकी भूख की समस्या कम हो गई थी। भूख की समस्या कम होते ही वह अपनी अस्मिता और पहचान के लिए लड़ने लगती है। अपनी वास्तविक पहचान के साथ जीने का प्रयास करती है–'सरेआम मनचाही ड्रेस में जिंदगी में पहली बार में स्वयं को न्याय दे पा रही थी, कोई रोक-टोक नहीं, पहचान के लिए जीने का कोई अंदेशा नहीं, स्वतंत्र-स्वच्छंद।'[15]

कहने के लिए किन्नरों का अपना समाज होता है किंतु अपने समाज में भी वे स्वतंत्र नहीं रह सकते। वे अपनी मर्जी से अपना कार्य नहीं कर सकते। किन्नर बधाई टोली में नाच-गाना कर और नेग माँगकर अपना गुजारा करते हैं। जुगनी स्वतंत्र जीवनयापन करने के लिए अपनों के पास जा पहुँचती है, परंतु वहाँ जाने के बाद इसे अपने जीवन की असलियत का पता चलती है। गुरुमाई उसे कहती है–'देख बेटा, हम हिजड़ों की यही नियति है। दूसरों के सुख में, खुशी में सम्मिलित हो बधाई गाना-बजाना और उनसे इनाम बख्शीश पाना।'[16] अपने जीवन की असलियत को जानने के बाद चाहकर भी डेरे से अलग नहीं हो पाती है।

एक किन्नर सामान्य मनुष्य की तरह जीवनयापन करने के लिए ललचाता रहता है। वह भले ही डेरे पर अपने आपको महसूस करता है अपनी इच्छा के अनुसार रहता, ओढ़ना-पहनना तो कर सकता है परंतु डेरे की गुरुमाई के भी आदेश का पालन करना पड़ता है। जुगनी डेरे से निकलना चाहती है। वह मुख्यधारा से कटकर नहीं बल्कि मुख्यधारा में रहकर जीना चाहती है।

आजकल नकली किन्नरों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। मुकम्मिल पुरुष खुलेआम साड़ी पहनकर नेग उठाता है। 'किन्नर कथा' उपन्यास में किन्नरों का अलग रूप पेश किया है। उपन्यासकार ने असली और नकली हिजड़ों के माध्यम से उनके जीवन के वास्तविक पहलुओं को उजागर किया है। नकली और असली किन्नरों के बर्ताव में जमीन-आसमान का फर्क होता है। नकली किन्नर जबरदस्ती नेग उठाने का कार्य करते हैं और मुँहमागा नेग न मिलने पर नंगाई पर उतर आते हैं। देह व्यापार भी करते हैं। अपने कुकर्म से असली किन्नरों को बदनाम करते हैं। तारा का डेरा इसका अपवाद है। तारा अपने डेरे के दो किन्नरों को अपने अनुसार रहने में मदद करती है– 'तारा ने अपने ही डेरे के दो हिजड़ों का लिंग परिवर्तन करा, उन्हें स्त्री रूप प्रदान कर उनका विवाह भी करा दिया था। कुल हिजड़ों में तीस प्रतिशत हिजड़े ऐसे हैं, जिन्हें ऑपरेशन द्वारा स्त्री या पुरुष बनाया जा सकता है। तारा ने चंदा के लिए भी यही स्वप्न सँजो रखा था। उसका ऑपरेशन करा वह उसे संपूर्ण स्त्री के रूप में देखना चाहती थी। तारा चंदा के लिए उपयुक्त वर देखकर उसका विवाह करा देने के लिए दृढ़ संकल्पित थी।'[17]

ईश्वर की ही बनाई कृति हिजड़ा जो न तो पुरुष न ही स्त्री, जब उसे इस बात का अर्थात् अपनी अपूर्णता का अहसास होता है तब वह अपने भाग्य को कोसते हैं। 'किन्नर-कथा' उपन्यास के एक प्रसंग है जिसमें चंदा और मनीष एक-दूसरे से प्रेम करते हैं किंतु चंदा को इस बात का भय

है कि मनीष उसे स्वीकार करेगा या नहीं।

किन्नर समुदाय अपने परिवार और समाज से होकर जीवनयापन करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। जब उन्हें अपने परिजनों की याद आती हैं तो अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार और गिले-शिकवे भूलकर उन्हें मिलने जाते हैं। 'किन्नर कथा' उपन्यास की तारा अपने भाई के बुलाने पर मिलने पहुँचती है इस संदर्भ में उसे जो खुशी मिलती है उसका चित्रण उपन्यासकार कुछ इस प्रकार करते हैं–'आज तारा की हृदय-तंत्रियाँ उछल रही थीं, जैसे वह ससुराल से पहली बार नैहर जा रही हो। कभी दोबारा बड़े के यहाँ न आने की कसम, खाकर गई थी वह, पर उन्हीं के बुलावे पर पिछला सब कड़वा भूल वह वहीं जा रही थी।'[18]

किन्नर समुदाय भी सामान्य मनुष्य जैसा जीवन व्यतीत करना चाहता है। किन्नरों की इच्छाएँ और सपने वैसे ही होते हैं जैसे आम लोगों की। 'मैं पायल' की जुगनी डेरे में रहकर आम किन्नरों की तरह ताली पीटकर या नाच-गाकर जीवन चलाने के बजाए अपने लिए अलग रास्ता चुनती है जिसमें वह इस सभ्य समाज में ससम्मान जीवनयापन करे–'अगले दिन उन सज्जनों ने मुझे एक आर्केस्ट्रा वाले से मिलवाया। वह आर्केस्ट्रा वाला मुझे आकाशवाणी फिर दूरदर्शन अपने साथ लेकर गया। वहाँ पर प्रोग्राम अधिकारियों ने मेरे फन हो सराहा और फिर बात बन गई। और मेरी हालत यह हो गई कि एक पैर लखनऊ में तो दूसरा कानपुर में। मैं आकाशवाणी, दूरदर्शन और आर्केस्ट्रा के कार्यक्रमों में व्यस्त रहने लगी। मुझे जीने का मकसद मिल गया था। नाम शोहरत और पैसा।'[19]

'मैं पायल' उपन्यास में जुगनी किन्नर होने पर भी अपने परंपरागत कार्यों का प्रतिरोध करती है। वह ताली बजाना, बधाई गाना नहीं चाहती। वह अपमानित, शोषित जीवन जीने से विरोध करती है। जुगनी कहती है–'मैं एक किन्नर हूँ तो क्या किन्नर होना अपराध है, जो उसे उसका स्वभाव के विपरीत कार्य करने के लिए विवश किया जा रहा है। क्या एक किन्नर को बधाई टोली के अलावा अन्य कार्य-दायित्व नहीं सौंपे जा सकते। मैं टॉकिज में प्रोजेक्ट चलाती हूँ। उसके पहले अन्य छोटे-मोटे कार्य भी मैंने किए हैं फिर मुझे क्यों बाध्य किया जा रहा है कि मैं इनकी तरह ताली पीटूँ, ढोलक बजाऊँ, नाचूँ और बधाई गाऊँ।'[20]

'मैं पायल' उपन्यास के अंत में महेंद्र भीष्म किन्नरों की समस्या को दिशा प्रदान करते हैं। आज भी स्थितियाँ थोड़े बहुत बदलावों के साथ परिवर्तन तो ले रही हैं पर आज भी हम किन्नरों के प्रति सामाजिक स्थिति जस-की-तस बनी हुई है। इसमें स्वयं किन्नर भी इस स्थिति के किए बराबर दोषी है; जो खुद भी स्वयं को चली आ रही व्यवस्था में ढाले हुए हैं। वे बने हुए घेरे से बाहर आने में डरते हैं, उनमें आत्मविश्वास की जबरदस्त कमी है। बधाई टोली का ऐसा स्वाद सभी ने चखा हुआ है, जो हर समय उनका मुँह मीठा किए रहता है। फलस्वरूप अपने दायरे से बाहर आकर काम, रोजगार करने की हिम्मत व मेहनत न कर पाते का अंदेशा उनमें बना रहता है। रोजगार गारंटी व शिक्षा का अभाव, नैतिक चरित्र का पतन कई ऐसे मूलभूत कारण हैं, जो हमारे किन्नर समाज की उन्नति में रुकावट बन सामने आ खड़े होते हैं। फिर भी आशा की नई-नई किरणें खुल रही है।'[21] वास्तव में आज किन्नरों की जो स्थिति है उसके लिए यह सभ्य समाज जितना जिम्मेदार है उतना ही जिम्मेदार खुद उनका समुदाय है। इस यथार्थ को जितनी जल्दी वे समझ जाएँगे उतनी जल्दी वे मुख्यधारा से जुड़ जाएँगे।

उपन्यासकार महेंद्र भीष्म ने 'मैं पायल' उपन्यास में जुगनी के माध्यम से जो रास्ता दिखाया है वह किन्नरों को हाशिये से मुख्यधारा में जोड़ने में कारगर सिद्ध हो सकता है। 'किन्नर कथा' के

पंचम सिंह, मनीष और शोभन जैसी सहृदयता पूरा समाज दिखाए तो किन्नरों को भी सामान्य जीवन जीने का मौका मिल सकता है। दयाशंकर पांडे लिखते हैं–'उपन्यासकार को इसके लिए बधाई जरूर देनी चाहिए कि न सिर्फ समाज में बल्कि लेखन में भी एक नितांत उपेक्षित विषय पर न सिर्फ उपन्यास लिखा बल्कि किन्नर समाज के लिए समाज और लेखन में एक नया परिवेश, एक नई और सकारात्मक धारणा का भी सूत्रपात किया है। अभी तक तो लगभग सभी समाज में किन्नर उपेक्षा और हँसी का ही पात्र रहे हैं, पर यह उपन्यास पढ़कर किन्नर समाज के बारे में सम्मान और अपनेपन का स्थाई भाव मन में उपजता है। शायद यही इस उपन्यास की बड़ी ताकत है।'[22]

महेंद्र भीष्म ने 'किन्नर कथा' के माध्यम से, जिसमें सोना जैसी किन्नर ऑपरेशन के माध्यम से सामान्य स्त्री का जीवन व्यतीत करती है और विवाह के माध्यम से समाज की मुख्यधारा में शामिल होती है। 'मैं पायल' उपन्यास में जुगनी ऑर्केस्ट्रा, आकाशवाणी, दूरदर्शन में काम कर सामान्य मनुष्य जैसा जीवनयापन करने का प्रयास करती है। दोनों उपन्यासों में अलग-अलग रास्ते बताए गए हैं जिनसे 'किन्नर समुदाय मुख्यधारा से जुड़ सकते हैं। महेंद्र भीष्म के दोनों उपन्यास सभ्य समाज पर तीखा प्रहार है। दोनों उपन्यास किन्नर समुदाय के प्रति संवेदना उत्पन्न करने के साथ-साथ हमारे मन में अपराधबोध भी जाग्रत करते हैं।

संदर्भ

1. दिव्या, यशपाल, पृ॰ 21
2. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 16
3. वही, पृ॰ 27
4. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 26
5. वही, पृ॰ 32
6. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 32
7. वही, पृ॰ 35-36
8. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 45
9. वही, पृ॰ 49
10. थर्ड जेंडर: हिंदी कहानियाँ, सं. डॉ॰ एम. इरोज खान, पृ॰ 100
11. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 61
12. वही, पृ॰ 66
13. वही, पृ॰ 55-56
14. वही, पृ॰ 94
15. वही, पृ॰ 91
16. वही, पृ॰ 96
17. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 60
18. वही, पृ॰ 110
19. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, पृ॰ 109
20. वही, पृ॰ 98
21. वही, पृ॰ 119
22. दयानंद पांडे, किन्नर समाज की पुरजोर पैरवी और शिनाख्त, सरोकारनामा http://sarokarnama.blogspot.com/2012/01/blog-spot-1882-html

सुदामाचरित काव्य में सांस्कृतिक आदर्श

डॉ॰ अमितेश बोकन, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजकीय कन्या महाविद्यालय, सेक्टर 14 गुरुग्राम, हरियाणा

नरोत्तमदास द्वारा रचित सुदामा चरित काव्य मूल रूप से सुदामा और कृष्ण की कथा का आधार लेकर विकसित हुआ है। इसमें भी विशेष रूप से सुदामा का द्वारिका नगरी तक कृष्ण के पास जाने और वापिस अपनी जन्मभूमि में आने तक की कथा का वर्णन हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है–'इसमें घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी रचना बहुत ही सरल और हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है।'[1] इस काव्य में मूल रूप से तीन पात्र प्रमुख हैं–सुदामा, उसकी पत्नी सुबुद्धि और कृष्ण। इन तीनों पात्रों के माध्यम से नरोत्तमदास ने भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों का निरूपण किया है। सुदामा की पत्नी सुबुद्धि एक आदर्श भारतीय गृहणी के रूप में चित्रित की गई है। काव्य का आरंभ भी सुदामा की पत्नी सुबुद्धि के संवाद से हुआ है। अत्यधिक निर्धनता की स्थिति में सुबुद्धि सुदामा को उनके मित्र कृष्ण की याद दिलाती है। वह कहती है कि कृष्ण तो स्वयं महादानी है। इसलिए उनसे अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए सहायता की याचना करना अनुचित नहीं है। सुबुद्धि कहती है–

महादानि जिनके हितू, जदु कुल केरव चंद।
ते दारिद संताप तें, रहैं न किमि निर्द्वंद्व।।[2]

सुदामा भारतीय संस्कृति के आदर्श रूप को प्रस्तुत करता हुआ इस भौतिक संसार के सभी भौतिक साधनों को निरर्थक मानता है। भगवान को धर्म सहित जप और योग के माध्यम से भजते रहना ही व्यक्ति का उद्देश्य होता है। वह कहता है कि मैं इस लोक में अपने परलोक को सुधारने के कर्म करना चाहता हूँ और मेरे हृदय में केवल श्रीकृष्ण के चरण कमल ही अंकित हैं–

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय ताको कहाँ अब देति है सिच्छा
जे तप के परलोक सुधारत, संपति की तिनके नहिं इच्छा
मेरे हिये हरि के पद पंकज, बार हजार लै देखि परिच्छा
औरन को धन चाहिये बावरि, बामन को धन केवल भिच्छा।[3]

ब्राह्मण के लिए इस संसार में धन के रूप में केवल भिक्षा ही वरेण्य होती है। धन के संबंध में वे आचार्य भृतृहरि की बताई बातों को जानते हैं। उन्होंने कहा है–

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवतिं[4]

अर्थात् धन की तीन ही गतियाँ होती हैं–या तो उसे अपने ऊपर खर्च किया जाए या उसे दान दिया जाए। धन की तीसरी गति नष्ट हो जाना होता है।

भारतीय संस्कृति में मित्रता का संबंध अत्यंत पवित्र माना गया है। सुदामा की कृष्ण से मित्रता एक आदर्श संबंध को स्थापित करती है। सुदामा एक स्वाभिमानी व्यक्ति के रूप में सामने

 ISSN 0975-735X

आते हैं। सुबुद्धि उन्हें बार-बार कृष्ण से आर्थिक सहायता लेने को कहती है किंतु सुदामा मित्रता के संबंध के बीच स्वयं के नैतिक आदर्शों का भी पालन करना चाहते हैं। सुदामा 'विपत्ति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।'[5] के आदर्श का निर्वाह करना चाहते हैं। सच्चा मित्र स्वयं ही मित्र को संकट में देखकर सहायता के लिए आगे आ जाता है। सुदामा मित्रता के आदर्श को प्रस्तुत करता हुआ सुबोध से कहता है कि....

तैं तो कही नीकी सुनु बात ही की यह
रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए
मित्र के मिलते मित्र धाइए परसपर
मित्र कें जौ जेंइए तौ आपहू जेवाइए।[6]

सुदामा ने सारा जीवन दरिद्रता में व्यतीत कर दिया है। वह बुढ़ापे की अवस्था में कृष्ण के पास जाकर आर्थिक सहायता की याचना नहीं करना चाहता। भारतीय संस्कृति के अनुसार वह अपने आत्मसम्मान और स्वाभिमान की रक्षा करना चाहता है। सुदामा यहाँ अपने उच्च नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के साथ कोई समझौता नहीं करना चाहते। किंतु अपनी पत्नी सुबुद्धि के अत्यधिक आग्रह के कारण वह अंततः कृष्ण के दर्शनार्थ द्वारिका नगरी जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। विपत्ति काल में सभी को धनवान व्यक्ति के पास जाना ही पड़ता है। रहीम ने भी कहा है–

कोऊ रहीम जनि काहू के, द्वार गए पछिताय।
संपत्ति के सब जात हैं, विपत्ति सबै लै जाय।[7]

मित्र के यहाँ खाली हाथ जाने का विचार उन्हें विचलित कर देता है। इस समस्या को वे अपनी पत्नी से कहते हैं। सुबुद्धि यह सुनकर–

यह सुनि के तब ब्राह्मनी, गई परोसी पास।
पाव सेर चाउर लिए आई सहित हुलास।[8]

यहाँ सुदामा की पत्नी सुबुद्धि का भारतीय संस्कृति के अनुरूप एक आदर्श ग्रहणी रूप भी सामने आता है। अत्यधिक दरिद्रता के कारण उसके घर में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह दे सके। इसीलिए पड़ोस के घर से चावल माँग कर लाती है। सुदामा की पत्नी सुबुद्धि के द्वारा सुदामा को कृष्ण से सहायता माँगने के लिए प्रेरित करना किसी स्वार्थ या लोभ लालच की भावना से जन्य कार्य नहीं माना जा सकता। भारतीय स्त्रियाँ यहाँ की संस्कृति के अनुकूल दरिद्रता की स्थिति में भी घर की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रही हैं। सुबुद्धि का यह कथन उसके इसी आदर्श रूप को दिखाता है–

कोदों सवाँ जुरितो भरि पेट तौ चाहति ना दधि दूध मठौती।
सीत बितीत जौ सिसियातहिं हौं हठती पै तुम्हें न हठौती।
जो जनती न हितू हरि सों तुम्हें काहे को द्वारिका पेलि पठौती।
या घर ते न गयौ कबहूँ पिय, टूटो तवा अरु फूटी कठौती।[9]

घर में अत्यधिक दरिद्रता है। टूटे हुए तवे और फूटी कठौती से ही काम चल रहा है। भयानक सर्दियों की रात को भी रेहटी टूटते हुए काट लेती है। केवल थोड़े बहुत अनाज के दाने प्राप्त करने के लिए ही वह कृष्ण की सहायता के लिए सुदामा को भेजना चाहती है। जीभ के स्वाद के लिए मिष्ठान खाने की अभिलाषा उसे नहीं है और सबसे बड़ी बात यह कि कृष्ण सुदामा के मित्र हैं इसलिए भी रहे सुदामा को कृष्ण के पास भेजना चाहती है। क्योंकि मित्र से सहायता लेना अनैतिक

और अनुचित नहीं है।

सुदामा जब द्वारिका नगरी में पहुँचते हैं तब उन्हें वहाँ के नागरिकों से अत्यधिक सम्मान मिलता है और उनमें से कुछ उनके द्वारिका नगरी में आने के प्रयोजन को पूछते हैं। सुदामा के विप्र रूप को देखकर द्वारपाल उन्हें भारतीय संस्कृति के अनुकूल दंडवत प्रणाम करता है और उनसे उनका परिचय पूछता है। कवि नरोत्तमदास ने लिखा है–

द्वारपाल द्विज जानि के, कीन्हौं दंड प्रनाम।
विप्र कृपा करि भाषिए, सकुल आपनो नाम।[10]

कृष्ण जब द्वारपाल से उनके आने का समाचार सुनते हैं तो उनके हृदय की व्याकुलता प्रकट होती है–

बोल्यौ द्वारपाल सुदामा नाम पाँड़े सुनि
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय
भेंटत लपटाय करि ऐसे दुख सानै को
नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि
बिप्र बोल्यौं विपदा में मोहि पहिचाने को।[11]

सुदामा की अत्यधिक दीन दशा को देखकर कृष्णा अत्यंत दुखी होते हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है–'इस खंड चरित में एक ही मर्मस्पर्शी स्थल था उसे कवि ने भली-भाँति पहचाना है और उसका वर्णन सहृदयतापूर्वक किया है–दरिद्र सुदामा और द्वारकेश श्रीकृष्ण की भेंट। श्रीकृष्ण सुदामा का नाम सुनते ही राज कार्य छोड़कर दौड़ पड़ते हैं। मित्र के चरण आँसुओं से ही धो देते हैं।[12] सुदामा की यात्रा की कष्टजन्य थकान को दूर करने के लिए कृष्ण उनके पैरों को धोने के लिए परात में जल मँगवाते हैं–

ऐसे बेहाल बेवाइन सों, पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय! महादुख पायो सखा, तुम आये इतै न किते दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिके करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सौं पग धोये।[13]

कृष्ण की अपने मित्र सुदामा के प्रति यह सहानुभूति और आतिथ्य सत्कार की भावना भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों को प्रस्तुत करती है। सुदामा के द्वारा भेंट के रूप में लाए हुए चावलों को कृष्ण बड़े प्रेम से खाने लगते हैं। द्वारकाधीश कृष्ण के लिए पोटली में बँधे हुए चावल अमूल्य हो जाते हैं। उन्हें एक मित्र के प्रेम का अनुभव मिलता है। वस्तुतः वस्तु से अधिक महत्त्व भारतीय संस्कृति में भावों का रहा है। कृष्ण सुदामा के द्वारा लाए गए चावलों में प्रेम की सुगंध को महसूस करते हैं। सात दिन तक कृष्ण सुदामा के आथित्य सत्कार में लगे रहते हैं। तत्पश्चात कृष्ण सुदामा को उनके घर के लिए विदा करते हैं। मित्र की सहायता प्रदर्शन के साथ की जाए तो वह अहंकार को प्रदर्शित करती है। कृष्ण सुदामा को विदा करते समय खाली हाथ भेजते हैं। किंतु सुदामा के घर का पुनरुद्धार करके वहाँ एक सुंदर महल बनवा देते हैं और उसे धन-धान्य से भर देते हैं। सुदामा प्रभु की लीला को समझ नहीं पाते हैं। यहाँ उनका मन पश्चाताप से भरता है। उन्हें प्रभु की लीला का ज्ञान अपने घर पहुँचकर ही हो पाता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में–'यह पुस्तक मित्रता के आदर्श पर बनी है। मित्र को प्रीति का रसायन कहा गया है।'[14]

रहीम ने भी सच्चा मित्र उसी को माना है जो विपत्ति काल में सहायता करे–

कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
विपत्ति कसौटी जे कसे, ते ही साँचे मीत।[15]

इस काव्य में भारतीय संस्कृति के मित्रता निर्वाह, आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए जीवनयापन करना, शिक्षक के धर्म का निर्वाह करना, परिचय और अपरिचय की स्थिति में शिष्टाचारपूर्वक मिलना, भौतिक वस्तुओं को तुच्छ समझना इत्यादि तत्त्वों को सुदामा और कृष्ण के माध्यम से सफलतापूर्वक व्यंजित किया गया है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 110
2. डॉ॰ मोहनलाल रत्नाकर (संपादक), सुदामा चरित, पृ॰ 39
3. वही, पृ॰ 40
4. धर्म बारिया (संपादक), भर्तृहरि शतक, पृ॰ 52
5. डॉ॰ मोहनलाल रत्नाकर (संपादक), सुदामा चरित, पृ॰ 43
6. वही, पृ॰ 42
7. विद्यानिवास मिश्र (संपादक), रहीम ग्रंथावली, पृ॰ 73
8. वही, पृ॰ 44
9. वही, पृ॰ 41
10. वही, पृ॰ 45
11. वही, पृ॰ 45
12. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य का अतीत, भाग 1, पृ॰ 241
13. डॉ॰ मोहनलाल रत्नाकर (संपादक), सुदामा चरित, पृ॰ 46
14. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य का अतीत, भाग 1, पृ॰ 241
15. विद्यानिवास मिश्र (संपादक), रहीम ग्रंथावली, पृ॰ 72

मो॰ 9953903770

ट्रांसजेंडर के 'तन-मन' की व्यथा-कथा

डॉ॰ अमित कुमार, सहा॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ (हरि॰)

ट्रांसजेंडर के जीवन पर केंद्रित 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' आत्मकथा में मानोबी बंद्योपाध्याय का वक्तव्य इस दुनिया की हकीकत पर सवाल खड़ा करता है–'कितनी बार ऐसा हुआ है कि आपकी गाड़ी लाल बत्ती पर रुकी है और आपने कार की खिड़की के बाहर से भीख माँगते हिजड़े को देखकर अपना मुँह मोड़ लिया है? क्या आपको बहुत घृणा महसूस हुई? क्या यह स्थिति उस अनुभूति से बदतर नहीं लगी जो आप गोद में बच्चा लिए किसी भिखारिन को भीख माँगते देखकर महसूस करते हैं? क्यों? मैं आपको बताती हूँ कि ऐसा क्यों है। आप हिजड़े से घृणा करते हैं क्योंकि उसके लिंग के साथ कोई पहचान नहीं जोड़ पाते। आप उसे एक विचित्र, घृणित जीव, संभवत: एक अपराधी और निश्चित तौर पर एक अवमानव समझते हैं।'[1] सही तो यह है कि 'हिजड़ा', 'बृहन्नला', 'खोजा', 'किन्नर', 'लौंडा', 'ट्रांसजेंडर', 'थर्डजेंडर' को जीवन में हम 'अवांछित' की तरह लेते हैं। इनकी दुनिया समझना तो दूर, इनसे कोई रिश्ता तक रखना हम पसंद नहीं करते। हमारे लिए ये एक तमाशे से अधिक कुछ नहीं हैं।

23 सितंबर, 1964 को प॰ बंगाल के चितरंजन बंद्योपाध्याय के घर दो बेटियों के बाद जन्मे सोमनाथ में बचपन से ही लड़कियों जैसी हरकतें पैदा होने लगी थीं जो लाख कोशिशों के बाद भी दब नहीं पाई थीं। वही लड़का अपने स्त्रैण गुणों के साथ न केवल पीएच॰डी॰ तक उच्च शिक्षा ग्रहण करता है, अपितु एक महिला कॉलेज में प्रिंसीपल के पद को भी सुशोभित करता है। उसके भीतर एक स्त्री का मन धड़कता है। उसकी अपनी शारीरिक और भावनात्मक जरूरतें हैं। वह पुरुष तन के साथ पैदा जरूर होता है, लेकिन बचपन से ही अपने को एक स्त्री के रूप में मानता है। शुरू से ही फ्रॉक पहनने और काजल, लिपिस्टिक लगाने का शौक सोमनाथ के जीवन में इस तरह से स्थाई रूप से उपस्थित हो गया कि सोमनाथ फिर से कभी सोमनाथ नहीं रहने पाया। अपने भीतर होने वाले रूपांतरण के बारे में उसकी स्वीकार्यता देखी जा सकती है–'...मैं मौका पाते ही अपने निक्कर-शर्ट उतारकर, उनकी फ्रॉक मेरे शरीर पर गाउन जैसी लगतीं, पर मैं फिर भी उन्हें पहनती और शीशे के आगे खड़ी होकर खुद को निहारती। पहले मैं यह सब अपने कमरे के एकांत में करती थी, पर फिर धीरे-धीरे मैं उन्हें पहनकर सारे घर में घूमने लगी। मेरी चाचियों और दूसरे भाइयों को पहले मेरा बचपन लगा और उन्होंने इसे हँसकर टाला, पर जब मैंने माँ के सिंगारदान से काजल और लिपस्टिक लगाना भी शुरू कर दिया तो माँ और बहनों को एहसास हुआ कि मैं बिगड़ रही थी; मेरे साथ कोई न कोई गड़बड़ तो जरूर थी।'[2] सोमदेव के मन में स्वयं को स्त्री समझने का एहसास दिन पर दिन बलवती ही होता है–'आठवीं कक्षा तक आते-आते, मैं पूरे आत्मविश्वास के साथ, घर में बहनों के कपड़े पहनने लगी। यह देखकर सभी सदमे में आ जाते कि एक लड़का कैसे कपड़े पहन रहा था, लेकिन मुझे किसी की परवाह नहीं थी। शायद कक्षा के लड़कों की ओर से मिला दुलार ही मुझे और बिंदास और निडर बना रहा था। मैं किसी की एक नहीं सुनती थी। एक बार माँ ने मुझे

 ISSN 0975-735X

अकेले में बिठाकर समझाना चाहा कि लड़का होकर लड़कियों की तरह रहना और कपड़े पहनना; मेरा यह बर्ताव पूरे खानदान के लिए बदनामी का कारण बन रहा है। 'परंतु माँ! मैं एक स्त्री हूँ... क्या आपको विश्वास नहीं आता? क्या मुझे आप लोगों से बेहतर तरीके से कपड़े पहनने नहीं आते? माँ, आप मुझे एक लड़की बनने दो...।' मैं उन्हें जवाब देती और वे मुझे विस्फारित नेत्रों से ताकती रह जातीं। उन्होंने कभी अपनी पीड़ा प्रकट नहीं होने दी, पर अब मैं उनके दर्द की कल्पना कर सकती हूँ। सारा संसार उन्हें ही दोष देने लगा था कि वे मुझे वश में नहीं रख सकीं। बेचारी माँ लोग नहीं जानते थे कि वे किस तरह सदा स्वयं से जूझतीं और स्वयं को दोषी मानतीं कि उन्होंने एक हिजड़े को जन्म दिया।'[3]

स्त्री होने का सोमनाथ पर भावात्मक रूप से इतना दबाव है कि वह अपने जननांग तक को बदलवा लेना चाहता है। उसी के शब्दों में–'मैं अपने पुरुष जननांग स्वीकार नहीं कर पा रही थी। मैं अपनी बहनों के से जननांग चाहती थी।'[4] देह से जुड़े सवाल अक्सर उसे विचलित करते। स्त्री-पुरुष होने का द्वंद्व उसे प्रश्न-जाल में उलझाए रखता–'मैं बहुत भ्रमित थी; मेरा जीवन एक अंतहीन भूल-भुलैया बन गया था। हर बार मैं एक ही मोड़ पर आ जाती। मैं कौन थी? मेरी देह मेरी आत्मा से अलग क्यों थी? या मुझे अपनी पहचान को जानने में भूल हो रही थी? मेरा जन्म इस तरह क्यों हुआ? क्या यह पिछले जन्मों के कर्म थे, जिन्हें इस तरह चुकाया जा रहा था? मैं इस जाल से बाहर आने के लिए क्या कर सकती थी? मैं जितने लोगों को जानती थी, उनमें से अधिकतर का यही मानना था कि मैं एक होमोसक्सुअल यानी समलैंगिक थी। उन्होंने मुझे एक 'जनाना लड़का' बना दिया था जो हिजड़ा बनने की तैयारी में था। उन्हें पक्के तौर पर नहीं पता था कि मेरे पास पुरुष गुप्तांग थे या नहीं और वे अक्सर मेरे बारे में अश्लील चुटकुले बनाते कि मेरे पजामे के अंदर एक मर्द का जिस्म है या औरत का...?'[5]

स्पष्टता सोमनाथ के व्यक्तित्व की एक बड़ी विशेषता है। बचपन से ही अपने कजिन के साथ बने संबंधों को सोमनाथ छुपाता नहीं है। स्कूली पढ़ाई के दौरान वह लड़कों की बजाय लड़कियों के कपड़े पहनना पसंद करता है। औरों की तरह उसकी माँ जब उसके इस तरह के पहनावे को अचरज से देखती हुई बदनामी से जोड़ती है तो सोमनाथ यह कहते हुए बिलकुल भी नहीं हिचकता–'परंतु माँ! मैं एक स्त्री हूँ...क्या आपको विश्वास नहीं आता? क्या मुझे आप लोगों से बेहतर तरीके से कपड़े पहनने नहीं आते? माँ, आप मुझे एक लड़की बनने दो...।'[6] अपने विद्यार्थी-काल में सोमनाथ स्वयं को स्त्री मानते हुए आनंद की अनुभूति करता है–'मुझे कक्षा में मधुमक्खियों की रानी बनने के एहसास में बहुत आनंद आता था।'[7] अपनी भावनाओं की तृप्ति के लिए स्त्री गुप्तांग की कमी उसे हमेशा महसूस होती है। इसके बिना एक अधूरापन उसे सालता है। उसे लगता है कि उसकी देह और आत्मा दोनों अलग-अलग हैं। वह अपनी देह का अंतरण अपनी आत्मा के अनुरूप चाहता है। देह के स्त्रैण परिवर्तनों के लिए उसकी बेचैनी समझी जा सकती है– 'मैं एक स्त्री की आत्मा थी, जिसे पुरुष की देह में कैद कर दिया गया था और मैं वक्ष और योनि पाने के लिए तरस रही थी।'[8] उसके मन में अपने जीवन और पहचान के बारे में खूब द्वंद्व मचता है। इसे लेकर एक छटपटाहट सोमनाथ उर्फ मानोबी के भीतर देखी जा सकती है–'मेरा जीवन एक अंतहीन भूल-भुलैया बन गया था-हर बार मैं एक ही मोड़ पर आ जाती। मैं कौन थी? मेरी देह आत्मा से अलग क्यों थी? या मुझे अपनी पहचान को जानने में भूल हो रही थी? मेरा जन्म इस तरह क्यों हुआ? क्या यह पिछले जन्मों के कर्म थे, जिन्हें इस तरह चुकाया जा रहा था? मैं इस जाल से

बाहर आने के लिए क्या कर सकती थी?'[9] बंगाली कवि शंखघोष को लिखे पत्र में भी उसका दुख इस प्रकार से अभिव्यक्त होता है–'मैं बहुत कष्ट में हूँ, क्योंकि मैं अपनी पुरुष देह की इस यौन कैद से बाहर आकर, अपने स्त्री रूप व आत्मा को पाना चाहती हूँ।'[10]

स्त्रियों की तरह व्यवहार करना सोमनाथ को हमेशा भाता है। स्त्री बनना मानो उसके जीवन का एक लक्ष्य ही हो। स्वयं को स्त्री बनते हुए देखना उसके लिए किसी प्रकार की शर्मिंदगी का विषय नहीं है। न ही वह स्त्री के जीवन के दुखों और संघर्षों से अनभिज्ञ है। उसकी दिली-इच्छा है कि एक स्त्री की जैविक क्रियाएँ उसकी देह में भी घटित हों–'मैं चाहती थी कि मुझे भी माहवारी और रक्तस्राव का अनुभव मिले। मैं जानती थी कि कपड़े की वे पट्टियाँ जो धोकर किसी एकांत कोने में सुखाई जाती थीं, उनका क्या प्रयोजन था। अपने कमरे में अकेला होने पर मैं वैसी ही पट्टियों से नकली पैड बनाकर अपने गुप्तांगों के पास बाँध लेती, मानो मुझे पीरियड्स हो रहे हों।'[11] दो देहों के बीच का द्वंद्व उसे बहुत परेशान करता है। यह सब उसके साथ निरंतरता में घटित होता है। अपनी देह को लेकर एक भ्रम उसके मन में रहता है–'मैं घंटों दर्पण के सामने नग्न खड़ी होकर, अपने सामने दिख रही छवि का परीक्षण करती जो मुझे घूरती दिखाई देती। मुझे उस पुरुष देह से घृणा थी। मैं उस देह से इतना-सा भी जुड़ाव महसूस नहीं कर पाती थी। उस सपाट देह में कहीं कोई उतार-चढ़ाव नहीं थे।'[12] स्त्री की देह में खुद को देखना मानोबी के जीवन का मानो अंतिम लक्ष्य था। अपनी ही पुरुष देह को देख वह उस रूप में खुद को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी–'मेरी आत्मा और लैंगिकता, दर्पण में दिखने वाली छवि से मेल नहीं खाते थे। मैं अपनी उस संपूर्ण छवि को पाने के लिए घंटों बिसूरती और जी में आता कि अपना जिस्म फाड़कर उस पुरुष देह से बाहर निकल जाऊँ, जिसमें मेरा जन्म हुआ था। मैं जानती थी कि अगर मैं लोगों के बीच पुरुषोचित वस्त्र पहनकर वैसा ही आचरण करूँ तो उन सब अपमानों और छीछालेदर से बच सकती थी, जो मेरी जिंदगी के एक-एक क्षण का अटूट अंग बन गए थे।'[13] इस द्वंद्व से बचने के लिए ही वह अपने यौन अंगों को बदलना चाहती है। यह जानते हुए कि चिकित्सा के माध्यम से लिंग परिवर्तन करना बहुत बड़ा जोखिम उठाना है, मानोबी उसे अस्वीकार नहीं करती। वह एक कठिन और जानलेवा प्रक्रिया से गुजरती है। लिंग परिवर्तन की प्रक्रिया में लगभग पाँच साल का वक्त लगता है। डॉ॰ अनिर्बान, डॉ॰ मनोज खन्ना और डॉ॰ मृण्मयी नंदी की देख-रेख में वह दैहिक रूप से पुरुष से स्त्री बन पाती है।

अपने जीवन में सोमनाथ के कई उद्देश्य हैं। स्त्री के रूप में वह अपने जीवन में वह सब पाना चाहता है, जीवन में जो एक मनुष्य के लिए आवश्यक है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बावजूद वह स्त्री के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देता है। स्त्री के रूप में अपने लिए वह एक परिवार की कल्पना करता है। वह एक सुखद पारिवारिक जीवन चाहता है, जिसमें उसकी भूमिका एक स्त्री की हो। इस सपने के सहभागी के रूप में वह कइयों की हवस का शिकार बनता है। अपने आकर्षक व्यक्तित्व और रूप के कारण उसके जीवन में अनगिन व्यक्तियों का प्रवेश होता है। पुरुष मान उसकी ओर रूमादास, कृष्णा, सुपर्ण जैसी कई लड़कियाँ आकर्षित होती हैं तो सोमनाथ स्वयं को स्त्री मान पुरुषों की ओर इसलिए भागता है, ताकि उसकी प्रेम-प्यास बुझ सके। उसके जीवन-संघर्ष के केंद्र में लिंग की बड़ी भूमिका है। जिस लिंग के रूप में वह अपने जीवन की सार्थकता चाहता है, उसके लिए उसे अनेक बार न केवल छला जाता है, बल्कि बार-बार अपमानित भी होना पड़ता है। असल में वह अपने लिए प्रेम की तलाश करता है, जो जीवनपर्यंत उसे मिल नहीं पाता।

आत्मकथा में इस दर्द की अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है–'प्रेम मेरे जीवन की सबसे बड़ी छलना रही, पर फिर भी मैं कभी प्रेम या प्रेम करने से नहीं हारी।'[14] शारीरिक-संबंधों के बारे में उसकी बेबाकी देखी जा सकती है–'कॉलेज के पूरे समय के दौरान, बहुत से लड़के मेरे दीवाने थे। वे मुझे अपने साथ गंगा के किनारे एकांत स्थानों पर ले जाते, ताकि मेरे साथ सेक्स और मौज-मस्ती कर सकें।'[15] यौन-संबंधों से सोमनाथ उर्फ मानोबी को कोई परहेज नहीं है, बल्कि वह तो ऐसे स्थाई संबंध चाहती है जो उसकी आत्मा को उन्नत बना सकें।

मानोबी के जीवन में सब आते हैं-स्त्री, पुरुष और ट्रांसजेंडर। सबके जीवन को वह करीब से देखती है और अपने जीवन की एक नयी राह की तलाश में आगे बढ़ती है। जहाँ अन्य साथी केवल और केवल शारीरिक संतुष्टि के लिए यौन संबंधों को तरजीह देते हैं, वहीं मानोबी प्रेम की खोज में यौन संबंधों का सहारा लेती है। अपने जीवन में वह अन्य ट्रांसजेंडरों की तरह भीख माँगकर गुजारा नहीं करना चाहती, बल्कि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह जीवनभर संघर्षरत रहती है। वह उन कार्यों को हेय मानती है, आजीविका के लिए अन्य ट्रांसजेंडर जिन्हें अपनाते हैं–'ट्रांसजेंडर लोग अपनी आजीविका के लिए जो-जो काम करते हैं, मैं उन सभी का समर्थन नहीं करती, पर मैं अपने इस तथाकथित भद्र समाज के पाखंड को भी नहीं सह सकती।'[16]

अपनी लैंगिक भिन्नता के कारण अवसाद मानोबी के जीवन में हर वक्त उपस्थित रहता है। उसकी विशेषता यही है कि वह उस अवसाद को अधिक देर तक गले नहीं लगाती। हारकर न ही वह जॉली की तरह अपना लिंग काटने का उतावलापन दिखाती और न ही वह आत्महत्या के रास्ते पर खुद को धकेलती है। अपने अवसाद से निकलने के लिए वह तुरंत कोई नया रास्ता ढूँढ लेती है। यही सकारात्मकता उसे जीवन में शीर्ष तक पहुँचाती है। शिक्षा का रास्ता उसे वह सब देता है, जिसकी वह हकदार होती है। भले ही कॉलेज शिक्षक बनने की राह उसके लिए कभी आसान नहीं रही। स्त्रैण गुणों के कारण मानोबी उर्फ सोमनाथ बंद्योपाध्याय पर कसी जाने वाली फब्तियाँ उसे अक्सर विचलित करती थी। ऐसे वक्त में विवेकानंद सतवार्षिकी कॉलेज, झाड़ग्राम के प्रिंसीपल जैसे व्यक्ति उसे मानो प्रेरणा देने आते हैं। एक ट्रांसजेंडर के आने से कॉलेज के उन शिक्षकों को समस्या थी जो केवल लिंग को ही महत्त्व देते हैं। विमुक्त करने वाली शिक्षा भी कितनी रूढ़ियों में फँसी रहती है, मानोबी के इस लिखे से बखूबी जाना जा सकता है–'सूर्य और चंद्रेश ने अन्य टीचर्स को भी यकीन दिला दिया था कि मैं बिगड़ी हुई और पथभ्रष्ट हूँ और उन सबको मिलकर मुझे कॉलेज से निकलवा देना चाहिए। नीच हिजड़े को कॉलेज में पढ़ाने नहीं दिया जा सकता। उसे एक ही स्टाफ-रूम, शौचालय और अन्य सुविधाओं को प्रयोग में लाने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। आरंभ में उन्हें लगा कि अगर उन्होंने मेरी हालत पस्त कर दी तो मैं अपने आप ही मैदान छोड़ दूँगी, पर जब उन्हें पता चला कि इतनी सरलता से हार मानने वालों में से नहीं थी, तो वे मिलकर, मौका मिलते ही मुझ पर धावा बोलने लगे। ...वे मुझे एकांत में देखते ही घेर लेते, मेरे बाल और कपड़े नोचते और कहते कि वे देखना चाहते हैं कि मेरे बाल असली हैं या मैंने नकली बालों की विग लगा रखी है। एक बार, उनमें से दो लोगों ने मुझे दीवार से सटाकर खड़ा कर दिया। वे मुझे टोहकर यह देखना चाहते थे कि मेरे कपड़ों के नीचे क्या था। वे मुझे देखकर फुफकारे और इस दौरान मुझे अपना मुँह बंद रखने की चेतावनी दी। उन्होंने मेरी छातियों के निप्पल इतनी जोर से दबाए कि मेरी कराह निकल गई–'हिजड़े, अपनी जुबान बंद रख। ज्यादा चतुराई मत झाड़। हम अभी पता कर लेंगे कि तेरी सही औकात क्या है। हम तेरी पतलून उतारकर अभी असलियत पता कर लेंगे।

अपनी टाँगें खोलकर खड़ा हो, जरा तेरा साइज तो देखें'–चंद्रेश ने कहा।'[17]

मानोबी एक संवेदनशील प्रकृति की मनुष्य है। उसके पास ऐसे अनुभवों की कमी नहीं है, जब संवेदनाओं के कारण उसे अपमानित किया गया हो। एक छात्रा के लिए कॉलेज प्रशासन के कार्यालय से सैनेटरी पैड माँगना उसे बहुत भारी पड़ जाता है। कॉलेज के दूसरे टीचर्स द्वारा इन बातों को बहुत तूल दिया जाता है। मानोबी इससे बहुत बड़े संकट में फँस जाती है। एक षड्यंत्र उसके विरुद्ध इसलिए किया जाता है कि अपने से इतर लिंग वाले को बेहतर कार्य करता देख पुरुषों को फूटी आँख नहीं सुहाता। वे उसे खूब तंग करते हैं, बावजूद इसके मानोबी नौकरी से त्यागपत्र देना स्वीकार नहीं करती। इसके लिए उसके पास पर्याप्त कारण थे। इस प्रकरण को वह इस तरह से लिखती हैं–'यह मामला पश्चिम बंगाल कॉलेज एंड यूनिवर्सिटी टीचर्स एसोसिएशन तक पहुँचा, पर भगवान मेरे साथ था। मेरे खिलाफ लगाए गए झूठे अभियोग टिक नहीं सके। पर, मैं इतनी निराश हो गई थी कि कैंपस छोड़कर नैहाटी लौट आई। मैं सोच रही थी कि क्या मुझे अपने कैरियर को भुलाकर यह नौकरी छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि अब मेरी मानसिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। दो बातें ऐसी थीं जिन्होंने मुझे नौकरी से त्यागपत्र देने से रोका। पहली, मेरे माता-पिता के चेहरे के असहाय भाव, जिन्हें अब भी लगता था कि अपने ट्रांसजेंडर अस्तित्व के बावजूद, उनकी संतान किसी तरह उनके पालन-पोषण के लिए धनार्जन करती रहेगी। मैं उनकी उम्मीदों पर पानी कैसे फेर सकती थी? दूसरे, मेरे कॉलेज के प्रिंसीपल ने कहा कि मुझे तत्काल काम पर वापस आ जाना चाहिए। मैंने उन्हें लिखा कि मुझे उस जगह अपनी जान का खतरा है। पर, उनका आग्रह था कि ऐसा भय केवल मेरी कल्पना की उपज है। मैं उसी चिंतित अवस्था में वापस कॉलेज पहुँची, नहीं जानती थी कि आने वाले समय ने मेरे लिए क्या तय कर रखा है।'[18]

कॉलेज में अध्यापन के दौरान सहकर्मियों के व्यवहार से दुखी रहने वाली मानोबी के लिए संतुष्टि की बात यह थी कि विद्यार्थी उसका बहुत सम्मान करते थे। मानोबी के अनुसार–'मेरे छात्र मनोयोग से मेरी सारी बातें सुनते और मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य होता कि उनमें से कुछ अपने पाठ्यक्रम की तुलना, कक्षा में लिए गए नोट्स से करने लगे और मेरे पास अपनी जिरह के साथ लौटते। मैं निश्चिंत थी कि कम-से-कम मैंने इस मोर्चे पर तो मात नहीं खाई थी। मेरी कोशिशें रंग ला रही थीं। मेरे छात्रों में से एक, परितोष महतो, मेरी कक्षा का निर्धन परंतु मेधावी छात्र था, उसने यूनिवर्सिटी की परीक्षा में प्रथम स्थान पाकर सबको दंग कर दिया। वह एक अच्छा लेखक था और मैंने उसे विशेष रूप से ट्यूशन दी। मैं चाहती थी कि वह कुछ बनकर सामने आए, सच्ची, जब उसने यूनिवर्सिटी में, अपने बैच में टॉप किया तो मैं भी प्रसन्नता मिश्रित आश्चर्य से भर उठी। यह एक ऐसे लड़के की ओर से उल्लेखनीय कदम था जो दिन में दो बार पेट भरकर अन्न का जुगाड़ नहीं कर पाता था और एक स्कूल में टीचरी का सपना पाले हुए था। अचानक सबकी नजरें पारितोष और उस टीचर पर आ टिकीं, जिसने उस असंभव से काम को सफलता में बदल दिया था। यहाँ तक कि कॉलेज के अन्य टीचर भी कुछ समय के लिए चुप लगा गए, हालाँकि मेरी पीठ पीछे साजिशों का दौर जारी था।'[19]

आत्म-संघर्ष मानोबी के जीवन का एक बड़ा पहलू है। कदम-कदम पर उसका संघर्ष देखा जा सकता है। अपने लिए वह एक ऐसा सुखद जीवन चाहती है, जहाँ उसकी भावनाएँ और वह स्वयं सहजता के साथ रह सकें। अपने जीवन के खालीपन को वह किसी और के साथ से भरना चाहती है। इसके लिए उसके जीवन में कई लोग आते हैं जो अपने-अपने हिसाब से उसके साथ

समय बिताकर चले जाते हैं। समरजित जैसे कई लोग मानोबी के जीवन में एक दु:स्वप्न की तरह आते हैं। जिस अरिंदम के साथ वह अपना घर बसाने का सपना देखती है, समरजित उसे पूरा ही नहीं होने देना चाहता। मानोबी को भी यह बहुत बाद में पता चलता है कि जिससे वह बेइंतहा प्रेम करती है, वह तो अपने बहनोई समरजित के चंगुल में फँसा हुआ है। समरजित मानोबी से संबंध बनाना चाहता है, मानोबी के मना करने पर वह उसे अपने जाल में फँसाने के लिए अपने सीधे-सादे साले अरिंदम को मानोबी के पास भेजता है। मानोबी का पहले यौन शोषण करने और फिर उसे सार्वजनिक तौर पर अपमानित करने की साजिश वह बुनता है। ऐसे लोग मानोबी के जीवन में एक धब्बे की तरह आते हैं। मानोबी तब भी संघर्ष करती है और अंत तक हार नहीं मानती। सार्वजनिक अपमान और मानसिक यातना के भँवर में वह डटकर हाथ-पाँव चलाती है। यह उसका भोलापन ही है कि बहुत जल्दी वह किसी और पर विश्वास कर लेती है। जीवन के सुख-दुख में चूँकि उसे भी किसी और का साथ चाहिए होता है। अपने जीवन की गाड़ी चलाने के लिए जितने रिश्ते वह बनाती है, धोखा खाने पर उससे अधिक को अलविदा भी कहती है। नए रिश्तों के जुड़ने और टूटने का दुख मानोबी को अधिक सहन करना पड़ता है। सुजातो भद्र, वकील जोयमाल्याबागची, प्रो॰ कल्याणी शंकर घटक, प्रो॰ रंबीन बंद्योपाध्याय, डॉ॰ मनोज खन्ना, डॉ॰ अनिर्बान, डॉ॰ मृण्मयी जैसे कितने ही लोग आकर उसे हिम्मत देने का काम करते हैं।

स्त्री होने पर माँ का रिश्ता पाना भी मानोबी के लिए उसके जीवन की एक बड़ी इच्छा होती है। चिकित्सा से वक्ष और योनि का निर्माण तो हो जाता है, पुरुष देह में लेकिन कोख की निर्मिति कैसे हो, देबाशीष का मिलना मानोबी को यह सुख भी प्रदान कर देता है। पुत्र गोद लेने के कारण मानोबी के जीवन में वात्सल्य का रंग भर देता है–'हम एक साथ बाजार जाते, सब्जियाँ खरीदते। अपनी पसंद से माछ और माँस खरीदकर लाते। मैं खाना तैयार करते हुए, देबा को सब्जियाँ काटना, छीलना सिखाती। धीरे-धीरे, वह भी खाना पकाने में मेरी मदद करने लगा। झाड़ग्राम आने के बाद पहली बार मैं और देबा बहुत अच्छी तरह खाना खा रहे थे। वह अच्छे खाने का शौकीन था, पर परिवार की निर्धनता ने कभी माछ और माँस नहीं खाने दिया। जब भी खाने बैठता तो बेचारे के चेहरे पर छलकती प्रसन्नता देख मेरा कलेजा दो टूक हो जाता। धीरे-धीरे उसकी देह भरने लगी और वह पहले की तरह कुपोषित नहीं दिखता था। देबा शारीरिक रूप से चुस्त था। उसे तैरना, पेड़ों पर चढ़ना, आम चुराना, मुर्गियों का पीछा करना और पड़ौसियों को चौंकाना खूब आता था और मुझे अक्सर आस-पास से उसकी शरारतों के उलाहने सुनने को मिलते। पर मन ही मन मैं खुद को बहुत संतुष्ट महसूस करती थी जैसे मैया यशोदा को लगता होगा, हालाँकि मेरा 'माखनचोर' कन्हैया उम्र में बहुत बड़ा था।'[20] मानोबी देबाशीष पर न केवल माँ का प्यार लुटाती है, बल्कि वह उसे पढ़ा-लिखाकर रोजगार दिलाने में भी मदद करती है।

अपने संघर्ष में मानोबी केवल खुद को ही लेकर नहीं चलती। वह औरों के लिए भी बहुत कुछ करती है। ट्रांसजेंडरों की समस्याओं और अधिकारों पर केंद्रित वह भारत की पहली ट्रांसजेंडर पत्रिका 'अबोमानोब' का प्रकाशन भी करती है। पीएच॰डी॰ तक की शिक्षा उसके जीवन में न केवल आत्मविश्वास भरती है, बल्कि उन ट्रांसजेंडरों को भी एक प्रेरणा देती है जो अपने जीवन को बोझ से अधिक कुछ नहीं मानते। अन्य ट्रांसजेंडर जहाँ ब्याह-शादी या गली-नुक्कड़ों पर ताली बजाकर बधाई माँग रहे होते हैं, मानोबी अपने सामने बैठे विद्यार्थियों का भविष्य बुन रही होती है। कितने ही हमलों से बचने के बाद भी वह आगे इसलिए बढ़ती है क्योंकि उसके भीतर की आग

उसे हमेशा जिलाए रखती है। अनेक बाधाओं और मान-अपमान के द्वंद्वों से गुजरती हुई मानोबी उस पद तक पहुँचती हैं, जहाँ तक पहुँचना एक ट्रांसजेंडर के लिए बहुत ही दुर्लभ है।

सारांशत: कहा जा सकता है कि समाज की हकीकतों के परदे खोलती आत्मकथा 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' में सोमनाथ से मानोबी बने एक ट्रांसजेंडर का आत्मसंघर्ष अभिव्यक्त होता है। लैंगिक भेदभाव के चलते उसे बार-बार सार्वजनिक तौर पर अपमानित किया जाता है। बावजूद इसके मानोबी जीवन में हार नहीं मानती। बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के संघर्षों में वह स्वयं को झोंकती ही नहीं, अंतत: जीतकर भी दिखाती है। उसका आत्मसंघर्ष ही उसे इस प्रकार से ऊर्जा और हिम्मत प्रदान करता है कि जीने के लिए वह अन्य ट्रांसजेंडरों से अलग रास्ता चुनती है। कॉलेज शिक्षक से कॉलेज प्रिंसीपल तक बनना उसके अटूट संघर्ष का ही प्रतिफलन है।

संदर्भ

1. मानोबी बंद्योपाध्याय एवं झिमली मुखर्जी पांडे, पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन, अनुवाद-रचना भोला 'यामिनी', राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, संस्करण 2018, भूमिका से
2. वही, पृ॰ 14
3. वही, पृ॰ 16
4. वही, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 36
6. वही, पृ॰ 17
7. वही, पृ॰ 24
8. वही, पृ॰ 35
9. वही, पृ॰ 36
10. वही, पृ॰ 54
11. वही, पृ॰ 39
12. वही, पृ॰ 97
13. वही, पृ॰ 97
14. वही, पृ॰ 23
15. वही, पृ॰ 46
16. वही, पृ॰ 75
17. वही, पृ॰ 84-85
18. वही, पृ॰ 95-96
19. वही, पृ॰ 87
20. वही, पृ॰ 150-151

Mob. 9992885959
amitmanoj2018@gmail.com

रमेशचंद्र शाह के उपन्यासों में सामाजिक चेतना

अनिता मीणा (शोधार्थी)
डॉ॰ रेणु वर्मा (सह-आचार्य, हिंदी)
राजकीय महाविद्यालय टोंक (राजस्थान)

एक श्रेष्ठ उपन्यासकार की रचनाओं में सामाजिक चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। रचनाकार वर्तमान युग के सामाजिक चित्र को उकेरने के लिए अतीत की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर चलता है। रमेशचंद्र शाह एक ऐसे ही उपन्यासकर हैं जिनका बहुआयामी व्यक्तित्व सामाजिक चेतना से संबंध रखता है और विशिष्ट साहित्य-सृजन से ताल्लुक रखता है। साहित्य मानव संस्कृति का एक अभिन्न अंग रहा है इसलिए साहित्य सामाजिक चेतना का भी एक अनिवार्य तत्त्व है। रमेशचंद्र शाह के उपन्यासों में 'सामाजिक चेतना' शब्द समाविष्ट है इसलिए हमें सर्वप्रथम 'समाज' और 'चेतना' शब्द को समझना चाहिए। 'समाज' शब्द का प्रयोग जन-समुदाय के लिए किया जाता है; जिसमें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। समाज को हम समूह, सभा, दल आदि का पर्याय कहते हैं तथा अँग्रेजी में सोसाइटी (SOCIETY) नाम से भी संबोधित किया जाता है। डॉ॰ संपूर्णानंद जी अपनी पुस्तक 'समाजवाद' में समाज को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि 'जिसमें लोग मिलकर एक साथ, एक गति से चलें, वही समाज है। तात्पर्य है कि उन लोगों की जो समाज का अंग हो, परिस्थिति एक-सी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक-से हों वही समाज कहलाता है।'[1]

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' लिखते हैं कि 'समाज से अभिप्राय है वह परिवृत्ति जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार का अपनापन महसूस करे। वह मानव समाज का एक अंश भी हो सकता है। मानव समाज की परिधि बाहर बढ़कर पशु-पक्षियों को भी घेर सकती है। बल्कि चरमावस्था मानव समाज को छोड़कर पशु-पक्षियों और पेड़-पत्तों तक भी जा सकती है। समाज की इयत्ता अंततोगत्वा समाजत्व की भावना पर ही आश्रित है।'[2]

'चेतना' शब्द का अर्थ ज्ञानमूलक मनोवृत्ति, बुद्धि, समझ, विचारना से है। इस प्रकार सामाजिक चेतना से तात्पर्य है–समाज से संबंधित चेतना, समझबोध, प्रज्ञा, ज्ञान, चिंतन, विचार-विमर्श, जागरूकता एवं संवेदनशीलता। डॉ॰ रामविलास शर्मा अपने एक लेख में लिखते हैं कि 'चेतना मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण है। इसलिए वास्तविक विचार केवल चिंतन द्वारा अपने भीतर से उत्पन्न नहीं किए जा सकते। विचार के लिए मानव-चेतना और बाह्य जगत का संपर्क आवश्यक होता है। इस कारण ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। अपने व्यवहार से मनुष्य अपना ज्ञान समृद्ध करता है।'[3]

साहित्य का संबंध एक तरफ तो समाज से जुड़ा हुआ होता है, वहीं दूसरी ओर चेतना का संबंध रचनाकार से जुड़ा होता है। डॉ॰ अमरसिंह ज॰ लोधा ने 'सामाजिक चेतना' को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'सामान्यत: सामाजिक चेतना में हम किसी देश एवं काल-विशेष से संबंधित

मानव-समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृति समझते हैं। यह प्रतिक्रियात्मक भी हो सकती है। जनजीवन में लक्षित यह जागृति या सामाजिक चेतना तत्कालीन जीवन में उत्पन्न अप्रत्याशित गतिरोध एवं गतिशीलता से उत्पन्न हो सकती है। इसके पीछे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ प्रेरणात्मक हो सकती हैं।[4] इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक चेतना समाज में उपस्थित सभी अंतर्द्वंद्वों और समस्याओं का इलाज नहीं है बल्कि समाज में व्याप्त बुराइयों के प्रति सजग और सचेत बनाने का प्रयास है। रमेशचंद्र शाह ने अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज व संस्कृति को चित्रित किया है वह अपनी रचनाओं के माध्यम से नए मूल्यों की स्थापना कर समाज को नई दिशा देना चाहते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज में फैली उन बुराइयों और समस्याओं का समाधान खोजने की एक ईमानदार कोशिश की है; जो कि समाज को एक नई दिशा प्रदान करती है। उनके लेखन में दृष्टिगोचर होने वाली सतर्कता और सजगता ही उन्हें वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर उन्होंने गहनता से विचार किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक चेतना के विविध रूपों का चित्रण किया है।

साहित्यकार सामाजिक जीवन की समस्याओं को अपने साहित्य के माध्यम से चित्रित करते हुए; उसके समाधान के लिए अपना विचारात्मक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। वह अपनी लेखनी के माध्यम से सामाजिक चेतना को विकसित करता है। रमेशचंद्र शाह को सामाजिक चेतना की दृष्टि मिलने के कारण ही उनका परिवेश और सजग सिरजनहार का चिंतन है। शाह जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से ही सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति दी है। अपने समाज और समय की समस्याओं, चुनौतियों, विसंगतियों, अंतर्विरोधों, प्रश्नाकुलताओं, विद्रूपताओं, यंत्रणाओं और आधुनिक समाज की जटिलताओं को व्यक्त करने के लिए उपन्यास से समर्थ और उपयुक्त माध्यम कोई दूसरा नहीं है। उपन्यास बदलते सामाजिक संबंधों की गतिविधियों और मानव चेतना की एकाग्रता-समग्रता को व्यक्त करने वाला एक सशक्त माध्यम बनता जा रहा है। उन्होंने अपने उपन्यासों में जातिगत भेदभाव, सांप्रदायिकता, दलित वर्ग में आई चेतना, आधुनिक पीढ़ी की मानसिकता, नैतिक पतन, मूल्य हीनता, नारी चेतना, नारी शिक्षा, शैक्षिक चेतना, प्राचीन रीति-रिवाजों एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, राजनीतिक समस्याएँ, पारिवारिक जीवन के बनते-बिगड़ते संबंध और देश के भविष्य को लेकर चिंता आदि विषयों पर सामाजिक चेतना के विविध आयाम प्रस्तुत किए हैं।

रमेशचंद्र शाह अँग्रेजी के प्रोफेसर हैं लेकिन उन्होंने अपना अधिकतर लेखन कार्य हिंदी में किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय भाषाओं पर चिंता व्यक्त की है। पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण के चलते भारतीय भाषाओं का अस्तित्व खतरे में नजर आ रहा है। वर्तमान समय में माता-पिता अपने बच्चों को अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा दिलवाते हैं। चाहे उसे मातृभाषा आए या न आए; लेकिन अँग्रेजी भाषा आनी चाहिए। वे शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान न देकर स्कूलों की चमक-दमक पर ज्यादा ध्यान देते हैं जो बहुत चिंतन का विषय है। अँग्रेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय समाज पर इस तरह पड़ गया है; जिसका चित्रण करते हुए एक पिता पुत्र से कहता है-'पता नहीं तुम्हारी माँ को इंग्लिश मीडियम का इतना क्रेज क्यों है। खुद तो बेगम साहिब हिंदी स्कूल की पैदाइश हैं। मैं तो तुम्हारी माँ से शिकायत कर रहा था कि कैसे यह तुम्हारे बड़े भाई को अँग्रेजी स्कूल में दाखिला दिलवाने पर अड़ी हुई थी और कैसे मैंने उससे पार पाया?'[5] रमेशचंद्र शाह का मानना है कि बालक-बालिकाओं की प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में ही होनी चाहिए; क्योंकि वह बालक के परिवेश की भाषा होने के कारण सीखना आसान हो जाता है। वे मानते हैं कि समाज को

अपनी जबान यानी स्थानीय भाषा मातृभाषा में जानो। समाज की समग्र गतिविधियों को अपनी भाषा में ही समझा जा सकता है। यही अपनी भाषा की विशिष्टता है। शाह अपने उपन्यास 'किसका गुलाम' में लिखते हैं–'इसे फुर्सत भी है? एक दिन यों ही हँसी-हँसी में कहा, तेरा लखनऊ क्या है? उस विश्वविद्यालय के सामने जिसमें में डी॰लिट् भुगत के आया हूँ, तो नाराज हो गया कहने लगा–तुम्हीं को मुबारक हो। तब से मैंने भी बोलना छोड़ दिया। एक दिन ऐसे ही इसकी किताबें पलट रहा था। देखा सभी तो अँग्रेजी में हैं। मन में आया कहूँ, अरे अपने समाज को उसकी अपनी जबान में तो जानो पहले। तब न समाज शास्त्र बनेगा? यह किताबें घोट के क्या होगा।'[6]

वहीं दूसरी ओर रमेशचंद्र शाह ने अँग्रेजी भाषा को समय के साथ-साथ आवश्यक भी माना है। उनका मानना है कि हम यदि समय के साथ अँग्रेजी का उपयोग नहीं करेंगे तो पिछड़ जाएँगे। अँग्रेजी का प्रयोग इसीलिए आवश्यक है कि बहुत सारे स्थानों पर इसके बिना काम चलाना मुश्किल है। जिसका चित्रण उन्होंने अपने उपन्यास 'गोबर गणेश' में किया है–'जिस दिन विनायक की पहली अँग्रेजी चिट्ठी का जवाब सेठ के यहाँ से आया, मथुरा काका की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। अँग्रेजी का महत्त्व विनायक भी खूब समझने लगा।'[7] रमेशचंद्र शाह ने हिंदी भाषा की दुर्गति पर चिंता व्यक्त की है कि भारत के लोग हिंदी भाषा के महत्त्व को नहीं समझ रहे हैं और अँग्रेजी भाषा को अपनी हिंदी भाषा से ज्यादा महत्त्व दे रहे हैं। वे कहते हैं–सक्सेना तकदीर का सिकंदर था, विनायक में साल भर के अंदर कुछ नहीं तो एक दर्जन कहानियाँ और कई लेख लिख डाले थे; पर उनमें से किसी के भी छपने की नौबत नहीं आई थी। वह राष्ट्रभाषा की हर पत्रिका की दहलीज पर सिर पटक चुका था। ऐसे में उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब सक्सेना का पहला और आखिरी लेख जो उसने अपनी जिंदगी में लिखा होगा। 'अंधविश्वासों की वैज्ञानिकता' एक प्रसिद्ध अँग्रेजी अखबार के संडे सप्लीमेंट में छप गया। इतना ही नहीं उसके बाद उसी लेख का हिंदी अनुवाद विनायक से ही कराके सक्सेना एक प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका के संपादक को सौंप आया और वह भी प्रेस में छप गया।'[8] रमेशचंद्र शाह पाठकों को समझाना चाहते हैं कि विदेशी भाषाओं को अपनाओ लेकिन अपनी भाषाओं का तिरस्कार करके नहीं। अगर नींव ही कमजोर होगी तो उस पर मजबूत इमारत कैसे खड़ी हो सकती है।

वर्तमान समय में नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में संघर्ष दिखाई देता है। 'कमबख्त इस मोड़ पर' उपन्यास इस संघर्ष का जीवंत एवं प्रमाणिक दस्तावेज है। उन्होंने नई पीढ़ी व पुरानी पीढ़ी के इस संघर्ष को बहुत करीब से देखा और समझा है। उनका मानना है कि समाज में परिवर्तन आवश्यक है लेकिन जीवन मूल्यों को ताक पर रखकर नहीं। उनके ज्यादातर उपन्यासों में संवेदना और संस्कारों का द्वंद्व नजर आता है। आज की नई पीढ़ी अपने संस्कारों को भूलती जा रही है जिसके लिए वह अपने आत्मीय की भावना व संवेदना को ठेस पहुँचाने से भी नहीं चूकती है।

भारत में ही नहीं संपूर्ण विश्व में आतंकवाद एक ऐसी ज्वलंत समस्या बन चुकी है जिसका प्रकोप दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। धरती का स्वर्ग माने जाने वाला कश्मीर जो भारत का अभिन्न हिस्सा माना जाता है वह अब आतंकवाद का अड्डा बन चुका है। रमेशचंद्र शाह ने 'आखिरी दिन' उपन्यास में आतंकवाद की समस्या, वहाँ के लोगों की कुंठा और मनोदशा, कश्मीरी पंडितों के विस्थापन की समस्या आदि समस्याओं को बड़ी गंभीरतापूर्वक उठाया है। वे लिखते हैं–'आतंकवाद! आतंकवाद! हर जगह आतंकवाद! बस में, रेल में, हवाई जहाज में, सिनेमाघर में, कश्मीर में, श्रीलंका में, आसाम में, अहमदाबाद में, उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम कहाँ नहीं है आतंकवाद!

आतंकवाद हर जगह अपने पैर पसारे है।'[9] रमेशचंद्र शाह ने उपन्यास के चरित्र इंद्रजीत मल्होत्रा की मन:स्थिति के माध्यम से पाठकों को यह समझाना चाहा है कि जो व्यक्ति आतंकवादियों की चपेट में आ जाता है उसकी क्या मनोदशा होती है। उनके साथ किस तरह का सुलूक किया जाता है। वर्तमान समय में हम देख रहे हैं, कश्मीर को लेकर आए दिन भारत और पाकिस्तान में झगड़े होते रहते हैं और इस लड़ाई में कश्मीर के निर्दोष लोग पिस रहे हैं। सबसे अधिक प्रभाव युवा पीढ़ी पर पड़ रहा है। आतंकवाद के रास्ते पर चलने के कारण युवाओं का भविष्य पूर्णत: बर्बाद हो रहा है। जिन्हें गुमराह करके इस ओर धकेल दिया जाता है जो मजबूरी में आतंकवाद का रास्ता अपना लेते हैं। रमेशचंद्र शाह लिखते हैं–वह ग्रेजुएट है। फर्स्ट क्लास था उसका एम०कॉम० में। फिर भी ढंग की नौकरी नहीं मिली। वह भेदभाव वाली बात उनसे यों ही नहीं कही थी, खुद भुगता हुआ है। कड़वी हकीकत है यह यहाँ की। इसीलिए इतना रोष है उसके मन में सरकार के प्रति। सेंटर की नौकरियों में वह कहता है, एक भी कश्मीरी नहीं घुस सकता। पूरी किलेबंदी करके रखी है लोगों ने।'[10] रमेशचंद्र शाह ने आतंकवादियों की मनोदशा को भी समझाने प्रयास किया है और लोगों को समझाना चाहते हैं कि आतंकवाद या लड़ाई-झगड़ा किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। यह मसले आपसी बातचीत व प्रेमभाव से भी सुलझाए जा सकते हैं।

भारत को आजाद हुए लगभग 75 साल हो गए और देश 'आजादी का अमृत महोत्सव' मना रहा है। इन 75 सालों में देश ने अनेक क्षेत्रों में विकास की ऊँचाइयों को छुआ; लेकिन कुछ समस्याएँ आज भी विशेषत: गाँवों में ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं उन्हीं में से एक जाति-पाति की समस्या है। यह समस्या समाज में एक कुरीति के समान आज भी विद्यमान है। इस गंभीर समस्या को डॉ० शाह ने अपने दो उपन्यासों 'किस्सा गुलाम' और 'गोबर गणेश' में उठाया है। 'किसका गुलाम' उपन्यास में तो दलितों की स्थिति का यथार्थ चित्रण किया गया है। जिसमें जातिगत-भेदभाव, दलितों की उपेक्षा, मन:स्थिति को मार्मिक ढंग से अंकित किया गया है। लेखक ने कुंदन नामक पात्र के माध्यम से यह बताया है कि हमारे समाज में जातिगत भेदभाव के कारण एक बच्चा बचपन से ही हीनभावना का शिकार हो जाता है और यह बात उसके जहन में इस प्रकार बैठ जाती है कि वह आजीवन इस हीनभावना से जूझता रहता है। रमेशचंद्र शाह कुंदन के माध्यम से अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं–'मेरे भीतर जाने कब से दो-दो सच्चाईयाँ एक-दूसरे के विरोध में अड़ी हुई हैं और मुझे आगे नहीं बढ़ने देतीं। एक तो यह कि मैं गुलाम हूँ और दूसरी है कि मैं परम स्वतंत्र हूँ। दोनों ही मुझे बुनियादी अनुभूतियाँ लगती रहती हैं। मैं सबसे स्वतंत्र होना चाहता हूँ, परिवार से, मोहल्ले से, कस्बे से, जाति से, समाज से, देश से, दीन-दुनिया से, अपने-आपसे।'[11] रमेशचंद्र शाह ने जातिवाद की समस्या को उठाया है। जो एक तरफ निराशा की ओर संकेत करती है तो दूसरी ओर आशा के किरण भी साथ-साथ देती है कि अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही है। भेदभाव की भावना अब समाज में कम होती जा रही है। समाज अब शिक्षित हो रहा है और उसकी सोच में भी परिवर्तन आता जा रहा है। इस सामाजिक समानता का एक बड़ा कारण भारतीय संविधान द्वारा प्रदान किया गया अनिवार्य शिक्षा का अधिकार व आरक्षण है। जिसका चित्रण रमेशचंद्र शाह ने 'विनायक' उपन्यास में किया है। विनायक नामक चरित्र नायक कहता है–'क्या यही एक घटना एक साथ आशा-निराशा दोनों पैदा नहीं करती मन में, कि एक ओर तो देखो अपना देश किस कदर तरक्की कर रहा है। प्रजातंत्र कैसे फल-फूल रहा है। जहाँ विनायक जैसे गोबर गणेश ही नहीं, नरैण सरीखे निहायत निरीह और दबे-कुचले लोग भी अपनी स्थिति में ऐसा बदलाव ला सकते हैं, तो दूसरी और

इतने सारे गड्ढे दिखते है। आत्म-विस्मृति और अपनों की ही बेकद्री और उदासीनता के जिन्हें पाटे बिना यह देश और यह समाज कभी भी जुट नहीं हो सकता।'[12] ये पंक्तियाँ पाठक को सोचने को मजबूर कर देती हैं।

सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्थाओं के कारण रमेशचंद्र शाह का अंत:करण बुरी तरह से छलनी पड़ा है जिनकी सम्यक अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। देश की व्यवस्था का संचालन पूर्णत: राजनेताओं के हाथों में नजर आ रहा है। इस गंदी राजनीतिक व्यवस्था के प्रति रमेशचंद्र शाह लोगों को सचेत करते हैं और ऐसी व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन लाना चाहते हैं। लेखक का मानना है कि राजनीति में ईमानदार पढ़े-लिखे परमहित की भावना से ओतप्रोत अच्छे लोगों को आना चाहिए। जो नि:स्वार्थ भाव से देश की सेवा करें। वे 'किस्सा गुलाम' उपन्यास में लिखते हैं–'देश को आज ऐसे ही नि:स्वार्थ सेवकों की जरूरत है। हमारे जैसे फालतू लोग वहाँ छँट के भी पहुँच जाए, तो देश को क्या मिलेगा? अरे ऐसे-ऐसे महात्मा लोग भी कन्नी काटने लगे तो फिर हो गया कबाड़ा। फिर तो कचरा किस्म के लोग ही हम पर हुकूमत छाँटेंगे। भ्रष्टाचार फैलेगा, राजनीति घटिया और गंदे लोगों का पेशा बनके रह जाएगी।'[13] ऐसे गंदे राजनेता जो अपनी स्वार्थसिद्धि में ही लगे रहते है। ऐसे लोगों के कारण लोगों का मन निराश और हताश हो गया है कि सरकार बदलती रहती है; लेकिन व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आता है। इसीलिए कोई भी सरकार सत्ता में आए हमें कोई मतलब नहीं। लोगों की इसी सोच को व्यक्त करते हुए, रमेशचंद्र शाह लिखते हैं–'हमारे यहाँ जो 'कोऊ नृप होय हमें का हानि' वाली मानसिकता चली आ रही है। यह सोच बेहद खतरनाक साबित हो रही है। हम अभी से चुनाव के प्रति गंभीर होना नहीं सीखेंगे तो एक दिन ऐसा आएगा जब समाज के सबसे असामाजिक तत्त्व ही देश के विधायक और मंत्री बनेंगे तब यही राजनीति आपको कोढ़ की तरह, कैंसर की तरह खा जाएगी। आपकी संस्कृति और समाज को लील जाएगी।'[14]

रमेशचंद्र शाह ने अपने उपन्यास 'गोबर गणेश', 'किसका गुलाम', 'कमबख्त इस मोड़ पर', 'सफेद परदे पर' और 'असबाब-ए-विरानी' में पारिवारिक संबंधों की मार्मिक ढंग से पड़ताल की है और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। आज न केवल परिवारों का अस्तित्व खतरे में पड़ रहा है; बल्कि व्यक्ति का संपूर्ण जीवन असुरक्षित बनता जा रहा है। नई और पुरानी पीढ़ी के बीच मतभेद बढ़ रहा है, पिता-पुत्र के संबंधों में तनाव बढ़ रहा है, दांपत्य जीवन में टकराव पैदा हो रही है, सांस्कृतिक मूल्यों में गिरावट आ रही है, धनासक्ति के कारण व्यक्ति के पास परिवार और समाज के लिए समय की कमी हो गई है, परिवार की कमी को इलेक्ट्रॉनिक संसाधन पूरा कर रहे हैं। संवेदनहीनता का दौर तेजी से बढ़ रहा है। पारिवारिक ढाँचे में परिवर्तन हो रहा है। इन सभी पारिवारिक टकराहटों का मुख्य कारण रमेशचंद्र शाह वैचारिक मतभेद को मानते हैं। दूसरा कारण यह भी दिखाई देता है कि लोगों की पारिवारिक संबंधों के प्रति सजगता धीरे-धीरे कम हो रही है; जो कि एक चिंतनीय विषय है। संबंधों की टकराहट का कारण एक-दूसरे की भावनाओं को न समझना है। कुंदन कहता है–एलिस दिन-पर-दिन रूखी और चिड़चिड़ी होती जा रही है। यह चिड़चिड़ापन भी नहीं है, निपट क्रूरता है। इसमें भी चिंताजनक बात यह है कि वह दिनों-दिन थोथरी होती जा रही है। उसका प्यार भी अब तभी जागता है जब वह मुझे चोट पहुँचाने में सफल हो जाती है। तभी उसकी भावनाओं में भी हरकत होती है। उसी दिन वह मुझसे मेरी औरत की तरह पेश आती है। फिर हफ्तों हमारे बीच एक बर्फ की सील पड़ी रहती है।'[15]

पिता-पुत्र के संबंधों में आई गिरावट को रमेशचंद्र शाह ने इन पंक्तियों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है–'श्रीमान जब मुझे उनके गुजरने की खबर मिली तब मुझे क्या करना चाहिए था? क्या उनके सबसे बड़े लड़के की तरह मुझे उनका अंतिम संस्कार अपने हाथों से नहीं करना था? नहीं जनाब नहीं। मैं नहीं गया तो नहीं गया। अब आप जरूर पूछेंगे क्या बात हुई–आखिर क्यों नहीं गए तुम? मैं क्यों जाता श्रीमान? जब जीते-जी मेरा उनका साथ नहीं निभा तो मरने के बाद मुझे साथ का स्वांग रचने की क्या पड़ी थी।'[16]

भारत में बेरोजगारी की समस्या एक गंभीर और जटिल समस्या है। विकासशील में अल्पविकसित देशों में यह समस्या अधिक विस्फोटक होती है। भारत में गरीबी की तरह बेरोजगारी एक अभिशाप बनती जा रही है जिसके कारण लाखों युवा अपनी डिग्रियाँ लेकर सड़कों पर मारे-मारे फिर रहे हैं। रोजगार की कमी के कारण इन युवाओं को बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ होने के बावजूद आर्थिक संकट के चलते छोटी-सी गैरसरकारी नौकरी से ही संतुष्ट होना पड़ता है। देश में हुए तकनीकी विकास, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तन का युवाओं पर प्रभाव पड़ा। उपभोक्तावादी संस्कृति, मुक्त व्यापार, नीति शिक्षा के विस्तार, बढ़ती जनसंख्या और नष्ट होते परंपरागत उद्योग-धंधों व कृषि के घटते उत्पादन के कारण देश में बेरोजगार युवाओं की फौज तैयार हो गई है। देश की अर्थनीति और राजनीति बेकारी का सटीक समाधान नहीं निकाल पा रही है और बेरोजगारी बढ़ती ही जा रही है। रमेशचंद्र शाह ने जगन काका, विनायक आदि पात्रों के माध्यम से पाठकों को समझाने की कोशिश की है।

भारत में सरकारी व गैरसरकारी संस्थाओं की हालत बहुत ही खस्ता है जो संस्थाएँ मानव कल्याण के उद्देश्य से बनाई गई थीं वही आज आमजन का शोषण करते नजर आ रही हैं। बहुत सारी एनजीओ विदेशी अनुदान के ऊपर चलती हैं। इसलिए वह समाज कल्याण के लिए उतनी तत्पर नजर नहीं आती हैं। बहुत सारी संस्थाएँ बिना आर्थिक सहायता के नाकामयाब होती जा रही हैं। इस पर चिंता व्यक्त करते हुए रमेशचंद्र शाह अपने उपन्यास 'सफेद परदे पर' में लिखते हैं–'बेशक मैंने मुस्कुराते हुए कहा–'इससे मुझे कब इनकार है मुझे इस देश में चल रही एनजीओ की गतिविधियों पर जरा भी भरोसा नहीं। एक तो उनमें से कई देश को तोड़ने का काम कर रही हैं, जोड़ने का नहीं और दूसरे वे विदेशी अनुदानों पर निर्भर हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, तीन चौथाई से भी ज्यादा एनजीओ इस अभागे देश में भिखमंगी पर चल रही हैं। भिखमंगी पर...पर और ...माफ कीजिएगा...देशद्रोही पर...।'[17]आज गाँवों से शहरों की पलायनवृत्ति बढ़ती ही जा रही है, जो कि बहुत सारी गंभीर समस्याओं को जन्म दे रही है। युवा पीढ़ी रोजगार की तलाश में, अच्छी सुख-सुविधाओं के लिए, अच्छी व उच्च शिक्षा के लिए, गाँवों में उद्योग-धंधों की कमी के कारण, शहरों की ओर पलायन कर रही है। ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के आर्थिक स्तर में अंतर होने के साथ-साथ, उनके रहन-सहन और विचारधारा में भी अंतर परिलक्षित होता है। इस कारण युवा शहर की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इसके अलावा रमेशचंद्र शाह ने गाँव के अस्तित्व पर भी चिंता व्यक्त की है कि धीरे-धीरे गाँवों का भी अब शहरीकरण होता जा रहा है। गाँवों और शहरों का अंतर अब समाप्त होता जा रहा है। पहले जैसी स्वच्छंदता, जो व्यक्ति गाँव में महसूस करता था वह अब नहीं महसूस होती है।

सृष्टि को आगे बढ़ाने का कार्य नारी करती है; पर किसी भी समाज की धुरी पुरुष और महिला दोनों पर टिकी होती है। पुरुष नारी के बिना और नारी पुरुष के बिना अधूरे हैं। इसीलिए

मानव सृष्टि के विकास में दोनों का समान महत्त्व है परंतु भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है। जिसमें नारी को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता; जितना की पुरुष को दिया जाता है। आज हम 21वीं सदी में जी रहे हैं लेकिन नारी की स्थिति में जितना सुधार होना चाहिए था, उतना अभी तक नहीं हो सका है। महिलाओं को आज भी आजादी से अपनी बात रखने का अधिकार नहीं है। समाज आज भी नारी की भावना को समझने में असमर्थ है। 'गोबर गणेश' उपन्यास की सरोज कहती है–जब तक मैं चुप रही, तब तक मैं इसे प्रिय थी, जिस दिन मैंने इसके स्वाभिमान के साथ-साथ इसकी बुद्धि को टटोलना चाहा, उसी दिन मेरे प्रति इसका लगाव खत्म हो गया। उसी दिन इसने मुझे बता दिया कि तुम्हारी जगह यह है। क्या फर्क है? मुझमें और इसके उन मजदूरों में सिवाय इसके कि वे खेतों में काम करते हैं और मैं इसके घर में।'[18]

वहीं दूसरी ओर रमेशचंद्र शाह ने स्त्री चेतना को मालती, शकुंतला जैसे चरित्रों के माध्यम से दिखाया है कि भारतीय नारियों का जीवन जीने का तरीका अब बदल गया है, वह अब जीवन जीने के लिए पुरुषों पर निर्भर नहीं हैं। अब वे आत्मसम्मान के साथ अपना जीवन जीने की हिम्मत रखती हैं। अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गई हैं। शकुंतला उन नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो पुरुष द्वारा ठुकराए जाने पर कमजोर पड़कर बैठती नहीं हैं; बल्कि स्वाभिमानपूर्वक जीना चाहती हैं। आज की महिलाएँ अधिक बुद्धिजीवी हो गई हैं जो अपना निर्णय स्वयं लेती हैं। डॉ॰ शाह ने नारी को बहुत ऊँचा दर्जा दिया है। उन्होंनेअपने उपन्यासों में नारी शोषण का जमकर विरोध किया है और नारी को पुरुषों के साथ मिलकर अनेक क्षेत्रों में वैचारिक पृष्ठभूमि अदा करते हुए दिखाया है। इस प्रकार डॉ॰ शाह के उपन्यासों में नारी के कमजोर व सशक्त, दोनों रूपों को सामने लाया गया है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था एवं सरकारी स्कूलों की दयनीय दशा पर भी रमेशचंद्र शाह ने चिंता व्यक्त की है। सरकारी स्कूलों में मूलभूत आवश्यकताएँ पानी, शौचालय, शिक्षक, बिजली फर्नीचर और भवन आदि की कमी के कारण भी विद्यालय बंद होने के कगार पर हैं। स्कूलों की इसी बदहाली के कारण शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। डॉ॰ शाह अपने उपन्यास 'किस्सा गुलाम' में लिखते हैं–यहाँ पढ़ाई ही क्या होती होगी! नाना ने जैसे कुंदन के मन की बात भाप ली है। न बिल्डिंग, नहीं स्टाफ, वही गंगादत्त, वही नंदावल्लभ, वही जौन मास्टर और वही डिक्की! ...खाली इंटर खोल देने से क्या इंटर की पढ़ाई हो जाती है? कोई नया मास्टर रक्खा है?'[19] सरकारी स्कूलों की इसी बदहाली और सुख-सुविधाओं के अभाव के कारण माता-पिता अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में पढ़ने नहीं भेजते और प्राइवेट स्कूल में भेजने को मजबूर हो जाते हैं।

निष्कर्ष–परिवर्तन प्रकृति का नियम है। युग परिवर्तन के साथ सामाजिक चेतना में परिवर्तन होना निश्चित है। परिवर्तन का यही सच हमें समकालीन साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ॰ रमेशचंद्र शाह का साहित्य भी समकालीन समाज और व्यक्ति के अंतर्मन को गहराई से मुखरित करता है। इनका रचना-संसार वैविध्यपूर्ण है। उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग एवं क्षेत्र पर अपनी लेखनी चलाई है। उनकी औपन्यासिक कृतियों को पढ़ते समय पाठक उसमें पूर्णत: डूब-सा जाता है और वह परिवेश उसे अपना-सा लगने लगता है। रमेशचंद्र शाह ने समाज का तुलनात्मक रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है जो पाठक को सोचने के लिए मजबूर कर देता है कि सच जैसा हम सोचते हैं, देखते हैं, समझते हैं या मानते हैं, उससे भिन्न भी हो सकता है। लेखक समाज के प्रश्नों को अपनी रचनाओं में उठाया ही नहीं है बल्कि उनका पूर्ण समाधान भी प्रस्तुत किया है।

संदर्भ

1. डॉ॰ संपूर्णानंद, समाजवाद, पृ॰ 19
2. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', 'अज्ञेय' सर्जन और संदर्भ, पृ॰ 17
3. कुँवरपाल सिंह, साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, रामविलास शर्मा का लेख-यथार्थ जगत और साहित्य, पृ॰ 69
4. डॉ॰ अमरसिंह लोंधा, प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ॰ 1
5. रमेशचंद्र शाह, कमबख्त इस मोड़ पर, पृ॰ 39
6. रमेशचंद्र शाह, किस्सा गुलाम, पृ॰ 181
7. रमेशचंद्र शाह, गोबर गणेश, पृ॰ 147
8. वही, पृ॰ 216
9. रमेशचंद्र शाह, आखिरी दिन, पृ॰ 47
10. वही, पृ॰ 74
11. रमेशचंद्र शाह, किस्सा गुलाम, पृ॰ 172
12. रमेशचंद्र शाह, विनायक, पृ॰ 204
13. रमेशचंद्र शाह, किस्सा गुलाम, पृ॰ 117
14. वही, पृ॰ 131
15. वही, पृ॰ 198
16. वही, पृ॰ 15
17. रमेशचंद्र शाह, सफेद परदे पर, पृ॰ 42
18. रमेशचंद्र शाह, गोबर गणेश, पृ॰ 298
19. रमेशचंद्र शाह, किस्सा गुलाम, पृ॰ 157

Kendriya Vidyalaya NIT Silchar,
NIT Campus Silchar (Assam) -788010
Mob.8851230187
1983anitameena@gmail.com

'रेत-समाधि' उपन्यास में पर्यावरण चेतना

बबीता, शोधार्थी, हिंदी विभाग
डॉ॰ निशा शर्मा, शोध निदेशक, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

संपूर्ण ब्रह्मांड या जगत जिस वातावरण से घिरा हुआ है उसे पर्यावरण कहते हैं। संपूर्ण जीवजगत एक विशेष प्रकार के आवरण से आवर्त है जो स्वयं इससे प्रभावित होकर संचालित होता है। प्रकृति में विद्यमान सभी अजैविक और जैविक तत्त्व मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। पर्यावरण के अंतर्गत यह तत्त्व–आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, ऋतुएँ, तालाब, वनस्पति, जीव-जंतु, ग्रह-नक्षत्र, दिशाएँ अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड ही इसमें सम्मिलित है। 'प्रकृति पर हमारी निर्भरता इतनी अधिक है कि पृथ्वी के पर्यावरणीय संसाधनों की रक्षा किए बिना हम जीवित नहीं रह सकते। इसीलिए अधिकांश संस्कृतियाँ पर्यावरण को 'प्रकृति माँ' कहती हैं और अधिकांश परंपरागत समाज जानते हैं कि प्रकृति का सम्मान करना उनकी अपनी जीविका की रक्षा के लिए कितना आवश्यक है। इससे ऐसे अनेक सांस्कृतिक कार्यकलाप विकसित हुए हैं, जिन्होंने परंपरागत समाजों को उनके प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में सहायता दी है।'[1]

पर्यावरण शब्द दो शब्दों का संयोग है परि और आवरण, जिसका अर्थ है चारों ओर से घिरा हुआ या चारों तरफ का वातावरण। अँग्रेजी में इसे 'इन्वायरमेंट' शब्द से चिह्नित किया गया है, जो प्रकृति के सभी तत्त्वों को समाहित किए हुए है। आस्तिक मनुष्य प्रकृति को ईश्वर की अनुपम निधि मानते हैं। यह प्रकृति ही है जो समृद्ध करना भी जानती है और विनाश करना भी।

'जीव की अनुक्रियाओं को पर्यावरणीय परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं और जीव भी उन्हें प्रभावित करता है। अत: जीव और पर्यावरण में परस्पर अंत:क्रिया बनी रहती है। पर्यावरण में समाविष्ट विभिन्न अजैविक एवं जैविक दिशाएँ परस्पर अंत:क्रिया करते हुए समग्र रूप में जीव पर प्रभाव डालती हैं।'[2] प्रकृति के बिना मानव का अस्तित्व सदैव खतरे में है न ही हम वायु के बिना प्राणवान रह सकते हैं न ही जल के बिना जीवन संभव है। मानव सभ्यता का विकास इन्हीं नदियों, वनों-जंगलों से शुरू होता है। 'प्रकृति से मानव समाज का संबंध सभ्यता के आरंभ से ही रहा है। मानव सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ प्रकृति के संरक्षण में ही पुष्पित, पल्लवित और विकसित हुई हैं। प्रकृति ने मनुष्य का पोषण एवं संवर्द्धन किया है और बदले में मानव ने प्रकृति का संरक्षण एवं सम्मान किया है। मानव एवं पर्यावरण का घनिष्ठ संबंध रहा है।'[3]

गीतांजलिश्री ने अपने उपन्यास 'रेत समाधि' में पर्यावरण चेतना की एक निरंतर चलने वाली शृंखला प्रस्तुत की है। लेखिका का यह उपन्यास शहरी जीवन से संबंधित है, इसलिए शहरों में जो पर्यावरण की समस्याएँ एवं जटिलताएँ हैं उन सबकी तरफ लेखिका ने गंभीरता से दृष्टिपात किया है। पर्यावरणीय शहरी परिदृश्य की पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हुए गीतांजलिश्री लिखती हैं–'बड़े शहरों में घर छोटे होने लगे। लेकिन वहाँ भी, जहाँ इमारत अब पेड़ थे और सूखे ढेले फूल, अफसरों के घर मरुभूमि में नखलिस्तान थे। गुलदाउदी ही गुलदाउदी।'[4]

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों में जो पार्टी करने का चलन उत्पन्न हो गया है, उससे उत्पन्न प्रदूषण को यहाँ पर गीतांजलिश्री ने इस प्रकार व्यक्त किया है–'गंभीर वहाँ से उठ लिया। उजाड़ते लोगों की उजड़ी दुनिया फिर से हर तरफ दिखने लगी। बियर, केन और प्लास्टिक थैलियों से पीड़ित रेत, गोरों द्वारा छेंकी हुई धरती, थुलथुले हिंदुस्तानी नकलची बंदर, प्रकृति को रुलाता अपने को संगीत समझता शोर, हँसते-चीखते स्टुपिड लोग, हँसो, कह रहे हैं, है कुछ आपके चलाई इस देश में कि हँसे, भुन-भुनभुन गंभीर भुनभुनाता कमरे में लौट गया।'[5] लोग जहाँ भी घूमने जाते हैं वहाँ गंदगी फैलाकर लौट आते हैं। जो हमारी प्रकृति के लिए खतरा उत्पन्न करता है। न जाने कितनी गंभीर बीमारियों को हम आमंत्रित करते हैं। पर्यावरण को स्वच्छ करके स्वास्थ्य के प्रति संचेतना आवश्यक है। अस्सी वर्षीय वृद्धा जो उपन्यास में चंदा व चंद्रप्रभा नाम से वर्णित है, उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वृद्धा का पुत्र जो एक अधिकारी है। अपने रिटायरमेंट की पार्टी देने के बाद सबको एलोवेरा के पौधे बाँट रहा है। एलोवेरा का पौधा स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है। आयुर्वेद में तो इसे बहुत ही गुणकारी कहा गया है। व्यक्ति के स्वास्थ्य और सुंदरता में एलोवेरा के पौधे का बहुत अधिक योगदान है और यह पौधा अक्सर सभी भारतीय घरों में गमलों में लगा हुआ मिल जाता है। एलोवेरा के पौधे की विशेषता है–'अल्प जल से भी जो जीवित रहती है तथा शीतलता पहुँचाती है। एलोवेरा (घीकुआर) मल को भेदन करने वाली, शीतल तथा मधुर रसयुक्त, नेत्रों के लिए हितकर, रसायन, बल कारक, कफ, ज्वर ग्रंथि, अग्निदाह, विस्फोटक, पित्त, रक्त विकार और चर्म रोगों का नाश करने वाली है।'[6] इतने अधिक गुणों से भरपूर एलोवेरा का पौधा बाँटना प्रकृति चेतना को दर्शाता है। 'जाने से पहले सब अपना-अपना एलोवेरा प्लांट ले जाएँ।'[7] बड़े को यह भी चिंता है कि अब उसको यह सरकारी बँगला छोड़ना पड़ेगा और उसके लगाए पौधे कहाँ जाएँगे क्योंकि फ्लैट में जगह बहुत कम होती है–'गुलदाउदी कहाँ रखेंगे बालकनी छोटी-छोटी।'[8]

'रेत समाधि' उपन्यास में प्रदूषण की समस्या को भी उठाया गया है। बड़े के रिटायरमेंट की भव्य पार्टी के बाद की जो स्थिति है वह लगभग सभी मनोरंजनात्मक पार्टियों के बाद होती है–'सब पहुँचे थे, सबने रंगरेलियाँ मनाईं। कूड़े में फिंके कुल्हड, पत्तल ऐसे ऊँचे पहाड़ बनके खड़े हो गए कि हमसे बढ़कर कौन है और उनकी शान में नगरपालिका ने कई दिनों तक उन्हें हटाने की गुस्ताखी नहीं की। घास पत्ते तिनके अलग सुरसुराते रहे जैसे नाच-गाने की किरचें उनमें फँसी अभी भी चमक रही हों।'[9] कूड़े के बने पहाड़ लगभग हर शहर में आसानी से दिखाई दे जाते हैं। जिसका निस्तारण करना सरकार व सामाजिक संस्थाओं के लिए भी संभव नहीं हो पाता है इसलिए कूड़े से गैस, खाद इत्यादि का विकल्प भी तलाशा जा रहा है। गीतांजलिश्री ने सिर्फ प्रदूषण और गंदगी की तरफ ही पाठक का ध्यान नहीं खींचा है बल्कि प्रकृति को सजाने-सँवारने वाले पशु-पक्षियों के आपसी संवाद से उपन्यास को जीवंत कर दिया है। फूल-पत्ते, वनस्पतियाँ, तरह-तरह के पक्षियों, वनों-जंगलों, ढलानों, सुबह-शाम की मौसमी बयार इत्यादि प्राकृतिक उपादानों से यह सृष्टि समृद्ध है–'जंगल पहाड़ी ढलानों पर बिछे हुए थे और उनमें फलते-फूलते वनस्पति के यों नाम थे–ओक बीच पोपलर पाइन चेस्टनटलाइम। पेड़ों पर पंछियों का बसेरा था और गोरियों के संग साथ का साँझ और सवेरा था। चिंहचुह से वन गुलजार था और सबका सबसे लाग भरा राम सलाम था।'[10]

कोई विरला ही मनुष्य होगा जिसे प्रकृति के विभिन्न रूपों से प्यार न हो। पक्षियों का चहचहाना, उनकी बोली, उनके मीठे गीतों से सुबह की सुनहरी धूप किसको अपनी ओर आकर्षित नही करती। यूं तो लेखिका ने बहुत ही सुंदर ढंग से प्रकृति को उपन्यास में सजाया है किंतु हम

सबकी प्यारी गौरैया का वर्णन करने में तो जैसे आत्मीय संबंधों की पराकाष्ठा पर पहुँच गई है– 'उन्हीं में एक गौरैया खास प्यारी और सबकी दुलारी हो गई। सूरज तो उस पर ऐसा रिझा की कभी एक लड़ी गिरा के उस पर झूलाता, कभी सुनहली फुहार में भिगाता, और कभी बस चमक चमक के उससे चुहल करता। इतनी चुहल करता, इतना उस पर मेहरबान होता कि वोललछौंह परों की परी हो गई। क्योंकि जो प्रेम की गलबहियाँ लेगा उसका रंग प्यारी पे घुल जाएगा। खैर, अब गौरैया और इतराती फिरती और पेड़ तो बड़े थे, वात्सल्य से उस पर छांही फेरते और बेतरह निडर वो उनकी शाखाओं पर फुदकती जाती तो उनके पत्तों पर भी ललाई दौड़ जाती।'[11]

प्रकृति के सौंदर्य को देखकर प्राणियों के मन उत्साह से भर जाते हैं। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में रचनाकारों ने अपने प्रकृति प्रेम को दर्शाने में कमी नहीं की है। स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रकृति के सान्निध्य में रहने की बात ऋषि, योगी, तपस्वी, वैद्य इत्यादि सभी करते हैं। जब मन अच्छा न हो तो कुछ भी नहीं सुहाता। पेड़-पौधों की परवरिश बिल्कुल नन्हे-नन्हे बच्चों की तरह करनी होती है। यह बात अम्मा बखूबी जानती हैं। पत्तियों और पौधों को नुकसान न पहुँचे इसके लिए वह सजग रहती है। 80 वर्षीय वृद्धा जो इस समय पति की मृत्यु के बाद खटिया पर है लेकिन पहले किस तरह प्रकृति से जुड़ी थी–सारी झाड़ियाँ चुप खड़ी थीं क्योंकि हवा का एक जर्रा भी नहीं था कि उन पर पड़े। बिस्तर-लगी बनने से पहले अम्मा माली से तमाम तकरार करतीं कि किस पौधे को कितने पानी में डुबोये। अम्मा पाइप अपने हाथों में ले लेती कि उन पत्तों को नहलाना पड़ता है पर इनमें सिर्फ जड़ों के पास पानी छोड़ो, ऊपर से डालोगे तो पत्तियाँ टूट जाएँगी एकदम मुन्निया हैं।'[12]

प्रकृतिप्रेमी जानबूझकर कभी भी प्रकृति को हानि नहीं पहुँचा सकते। यदि अनजाने में भी उनसे कोई गलती हो जाती है तो उन्हें पछतावे से आत्मग्लानि सहनी पड़ती है। 'रेत समाधि' उपन्यास में कथा निवेदिका अपने बचपन को याद करती हुई एक चिड़िया का वर्णन किस प्रकार से करती है–'बेचारी, छोटी सी, बस हाथ बढ़ाओ, आ जाएगी उसमें, छोटी-सी चिड़िया जैसी, जो बड़े ने अँधेरे में पकड़ ली बचपन में। नहीं...नहीं...मैं नहीं पकडूँगी, मैं भागी, पर बड़े खिड़खिड़ करते हुए मेरा हाथ खोल के उसमें चिड़िया रख देते हैं। चिड़िया की फड़फड़ मेरे दिल सी, जो बैठने लगता है और वह मेरे हाथ में मर जाती है और न मैं गिरा पा रही हूँ, और न थाम सकती हूँ, मर गई मार दिया किसने मारा, कभी इससे उबर पाएँगे, नहीं न...।'[13]

प्रकृति रंग रूप से किसका मन सम्मोहन से नहीं भर जाता। जब हम प्रकृति का विस्तार देखते हैं तो आसमानी नीला रंग, खेतों की हरियाली, समुद्री हरे रंग की अपनी पहुँच क्षितिज के छोर तक दिखती है। गीतांजलिश्री अपने फिलॉस्फर अंदाज मैं कहती हैं कि दुनिया में केवल दो ही रंगों का महत्त्व है–नीला और हरा। 'सत्य और कला के सौंदर्य में दो रंगों का घोर महत्त्व–नीला और हरा। पूरा आसमान, पूरी वनस्पति इन्हीं से ऑक्सीजन आती है, इन्हीं से गिरह खुलती है।'[14]

प्रकृति को जीवन से जोड़कर चलने में जो आनंद है वह स्वर्ग से भी बढ़कर है। प्रकृति का संरक्षण अति आवश्यक है। प्रदूषण को दूर करने में प्रकृति का योगदान अतुलनीय है इसलिए सभी मनुष्यों से अपेक्षा की जाती है कि वह अधिक से अधिक पेड़ लगाएँ। जिससे प्राणवायु की कमी न हो। कोरोनाकाल के समय में भी ऑक्सीजन की कमी से उत्पन्न भयावह स्थिति हम सबने देखी है। इस उपन्यास में वृद्धा माँ जो अपनी बेटी के घर रहने के लिए जाती है; लेकिन बेटी के घर पेड़ पौधे नहीं हैं। माँ का पेड़-पौधे के बिना मन नहीं लगता और माँ उसकी बालकनी में पेड़-पौधे लगाने को कहती है–'यहाँ पौधे होने चाहिए। जब मुझे, बेटी ने उंह की, यात्राओं पे निकलना पड़ता

है तो देखेगा कौन? तो देखेगा कौन माँ ने भी कहा। दोनों हँसे और एक माली तय हो गया जिसके संग माँ मिट्टी में हाथ डालती है और कोई बात नहीं, बेटी सोचती है, उन्हें खुश होने दो, जो वो चाहे करें, यहाँ बड़े के नियम, भाभी की माँगें, अफसरों के चोचले नहीं होने, ...बनाओ बालकनी पर गार्डन। आए दिन एक और पौधा उठाकर एक और गमले में चढ़ता।'[15]

प्रकृति के सान्निध्य में तन-मन दोनों प्रफुल्लित रहते हैं। कुछ फूल-पौधे, पत्तियाँ, वृक्ष के रंग आँखों को सुकून देते हैं तो कुछ अपने खट्टे-मीठे स्वाद से क्षुधा को तृप्त करते हैं। मौसमी फल और सब्जियाँ, फूलों की बागवानी उस पर चिड़ियाँ का चमकना, फुदकना संजीवनी का काम करता है।

'सुबह-सुबह जब माँ बालकनी पर चाय पीती है काली चिड़िया लंबी सीटी मारती है।...देखो अम्मा गमले में मिट्टी गोड़ती है। सुनो चिड़िया उतार-चढ़ाव वाली सीटी-धुन सुना रही है। कोपलें फूट रही हैं।...हर फल का अपना मौसम होता है। सावन भादो में जामुन टप-टप गिरते हैं। ग्रीष्म में आम फटे पड़ते हैं। शिशिर में हरे हरे अमरूद पर हरे-हरे तोते डट जाते हैं। ...इस खिड़की पे नीम। इस पर पीपल। कल सुबह यहाँ शाहबुलबुल बैठा था।'[16]

वृक्ष मानव के लिए प्राणवायु का निर्माण करते हैं और मानव की अधिकांश आवश्यकताएँ वृक्षों से पूरी हो जाती हैं। मानव पेड़ों से बहुत अधिक प्रेम भी करता है। पेड़-पौधों से जहाँ अनेक लाभ हैं वहीं पर उनकी उचित देखभाल रखरखाव भी करना होता है। तो समय भी लगेगा। जब तक कोई वृक्ष का पौधा छोटा होता है उसकी पत्तियाँ कम झड़ती हैं लेकिन बड़ा होने के साथ-साथ उसकी पत्तियाँ, फूल सब जगह झरने लगते हैं। वहाँ की सफाई भी आवश्यक हो जाती है। वह भी तब जब हम बड़े पेड़ों को अपने आसपास लगा देते हैं लेकिन एक समय के बाद में पेड़ हमारे लिए परेशानी उत्पन्न करने लगते हैं। उपन्यास में एक स्थान पर लेखिका जिक्र करती हैं कि हम जितने स्नेह से एक पेड़ को बड़ा करते हैं उसे काटने में भी हम कोई गुरेज नहीं करते। व्यंग के तौर पर उनका यह कटाक्ष प्रकृति को नुकसान पहुँचाने वाले लोगों पर है-'एक थे जिन्हें पेड़ बहुत पसंद थे और वो उसी की बखानतें रहते कि कैसे उगता है, खिलता है, लहलहाता है और कैसे तो वे सुबह-शाम उससे बात करते हैं और इसीलिए उन्होंने अकेलापन तो जाना ही नहीं। सेम्हल खुश हो गया और उनके आसपास टप-टप टपकने लगा। बड़े-बड़े फूल उसके पट-पट गिरने लगे। गाड़ी उनकी नीचे खड़ी और उसके इर्द-गिर्द पक्का ड्राइववे। मार सफाई का जंजाल खड़ा हो गया। कौन अब आव देखे या ताव, बस कटवा डाला पेड़ उन्होंने जिसे वो जी-जान से चाहते और जिसकी कहते न अघाते।'[17] इस तरह भौतिक दिखावे और शानो शौकत में बाधा न हो ऐसे मनोविकारों के कारण एक पेड़ का अंत हो गया। लेखिका ने उस हकीम के नीम का वर्णन भी किया है जो कई गंभीर रोगों में लाभकारी होता है। जिसके घर के आस-पास नीम के पेड़ होते हैं उसके फूलों और फलों की एक कसैली महक से वातावरण भर जाता है-'बरसात का मौसम चरम पर होगा तो यहाँ से नीम के भीने फूलों की खुशबू आएगी। फिर निमौड़ियाँ लटकेगीं। जो पककर पट-पट गिरती हैं जैसे पत्तों में छिपे जीव-जंतु शरारत से निशाना साध नीचे चलने वालों की खोपड़ियों पर गेंद मारते हों। धरती पर पड़ते ही निमौड़ियाँ, बिना किसी के कुचले जाने पर भी फट जाती और उनमें से मीठी-कड़वी महक उठती।'[18]

जैसे-जैसे शहरीकरण और औद्योगीकरण बढ़ रहा है जमीन की कमी भी महसूस हो रही है। शहर के सिमटे हुए घरों के आसपास पक्की सड़कें, नालियाँ, पोल, लाइट के खंभे, पानी व बिजली, गैस इत्यादि की पाइप लाइन के जाल ही मिलते हैं। यदि व्यक्ति कुछ हरियाली बनाना चाहे तो बालकनी

में गमलों का ही सहारा होता है। बेटी के घर का सुरम्य वातावरण प्रकृति से ही है। माँ के प्रकृति प्रेम से वहाँ की सोसाइटी में रहने वाले लोगों को भी प्रकृति के प्रति सचेत करके प्रभावित किया है।

'माँ ने बालकनी पर बगिया बना दी है। ...पड़ोसी किसी पौधे की डंडिया लेने कि इसे बस मिट्टी में खोस दो, उग आता है और ऐसे महीन पत्तों और लाल दानों से लद जाता है माँ ने बताया। ...और तो और साल-दर-साल जो झगड़ा होता था कि पेड़ काटने हैं वह झगड़ा भी सोसाइटी वालों ने माँ से नहीं करा। जिस शहर में पार्क के मतलब कार पार्क हो चले हैं वहाँ इतने फूल पत्ते हरीविभा देखकर माँ रीझ गई।'[19]

अम्मा जी को पेड़ों से बहुत प्रेम है। पेड़ों का काटना उन्हें तनिक भी अच्छा नहीं लगता। अपनी बेटी के घर जाने पर वह आसपास के पेड़ों पर भी नजर रखने लगती है। वह माली से लोगों द्वारा पेड़ को कटवाने का कारण पूछती है–'पेड़ की डालियाँ काटने को माली को मना कर दिया। वो हँसने लगा माता जी आपकी सुन लेंगे, बहन जी तो लड़ती रहती हैं फिर भी कटवा देते हैं। अरे मगर पेड़ों से क्या बैर, माँ हैरान हुई। क्या जाने माताजी। कहते हैं जीव-जंतु घुसते हैं। कीड़ा कॉकरोच और उसके पीछे मकड़ियाँ। उनके पीछे छिपकली। और गिलहरी चूहे पंछी। जो पेड़ों पर चढ़के देख लेते हैं अंदर मेज पर रसीले फल रखे हैं। बिल्ली उनकी टोह में घुस आती है। बंदर लालची है ही और साँप तो सदियों से रेंगते हैं। चोर भी समझ जाते हैं और पेड़ों के रास्ते चोरियाँ करते हैं।'[20]

भारतीय संस्कृति में किंवदंतियों और कथाओं के अनुसार कौवे को निकृष्ट पक्षी माना जाता है जबकि कौवा हमारी प्रकृति को स्वच्छ करने का काम करता है। श्राद्ध में यह मान्यता है कि कौवे को अन्न खिलाना चाहिए इससे पितरों की आत्मा को शांति पहुँचती है। हिंदी साहित्य में रामायण जैसे महान ग्रंथ की कथा का वर्णन कौवे के द्वारा किया गया है। तुलसीदास ने संपूर्ण रामायण के सार को उत्तरकांड में 'कागभुसुंडि गरुड़ संवाद' कौवे के द्वारा कहलवा दिया है। पंचतंत्र और जातक कथाओं में भी पशु-पक्षियों के वार्तालाप का सौंदर्य मिलता है। प्रेममार्गी धारा के कवि जायसी ने भी पद्मावत में हीरामन तोते का वर्णन वाकपटुता के साथ किया है। हिंदी साहित्य में अनेक प्रसंग इस तरह से मिल जाएँगे जिनमें पशु-पक्षियों को मनुष्य की तरह चर्चा करते दिखाया गया है। कौवा सर्वसुलभ पक्षी है। घरों की मुंडेर पर बिना बुलाए मेहमान की तरह बैठा रहता है और काँव-काँव करते हुए अपनी उपस्थिति देता रहता है। नागार्जुन ने भी अपनी कविता अकाल और उसके बाद में इसका वर्णन किया है–'कौवे ने खुजलाई पाखें कई दिनों के बाद। कौवों के झुंड को देखकर 80 वर्षीय महिला उनसे चुहलबाजी करती है और उसमें उनका प्यार, दुलार, गुस्सा सब दिखाई पड़ता है।' 'वो कोवों को सुना रही थी, खतरनाक स्वर में, जब उनका गोल एकदम से उसके पेड़-पौधों के ऊपर काँव-काँव करता उड़ा। यह क्या हुड़दंग तरीका है, उसने फटकारा? शोर किस बात का? नदीदों, पूरी टोली हम पर टूट पड़ी, क्या सोचते हो कुछ निवाला फेंकूँगी? कभ्भी नहीं।'[21]

माँ को यह भी चिंता है कि ये पौधों को हानि पहुँचा सकते हैं वह उनको ऐसे फटकारती है जैसे किसी अपराधी को पुलिस आँखें दिखाती हो–'और देखो मेरे पौधों का बाल भी बाँका हुआ तो आँखें निकाल लूँगी, इस छड़ी को यों घुमाकर, और खाद बनाकर इन्हें खिला दूँगी। और तुम, बड़े शाणे बन रहे हो, छड़ी खूब मटक के उठी, मुझे आँख दिखाते हो? आओ आओ, उसने ललकारा, पट्टा पहनाकर पालतू कुत्ता बना लूँगी। अपनी बात पर उसकी भरपूर हँसी छूटी कि कौवा है तू कि कुत्ता कहीं का? ऐसी कुत्ता फजीति करूँगी।'[22]

भारत में अधिकांश सार्वजनिक स्थलों पर पेशाब तथा पान की पीक से पूरे वातावरण को

गंदा करते हुए सभी ने देखा है। उपन्यास में भी इसी तरह के प्रदूषण का जिक्र इस प्रकार से है–'जब गाड़ी रुकी और वो शख्स उतरा और कौवा मजलिस के सामने की कच्ची सड़क, जो ग्रीन बेल्ट से लगी थी, उस पर खड़ा हो गया। पैंट की जिप खोली और प्रदूषण में इजाफा किया।'[23]

इस प्रकार मनुष्य के द्वारा प्रदूषण फैलाने पर कौवे की प्रतिक्रिया–'ए ऐ अबे, जवान कौवा उठ बैठा जैसे मारेगा। कौन यहाँ आया, गंदा करने, काँव-काँव? हम कूड़े से खाना बीनकर अलग कर देते हैं तो हमें कूड़ा-पसंद कचरा-पसंद समझ रहे हो?'[24]

पर्यावरण संरक्षण के प्रति कौवों की जागरूकता मानव पर करारा व्यंग्य है। वे मानव को सूचित करते हैं कि संपूर्ण पृथ्वी उनका घर है और वे उस को स्वच्छ रखने के लिए प्रतिक्षण तत्पर हैं–'ऐ, काँव-काँव, अपने घरों को मैला करो, हमारे में क्यों घुसे हो, गंदगी बजबजाने? हमारा घर तो ब्रह्मांड है और प्रकृति, जिसके नाश पे ये बेपंख कौम अपने घर खड़ी कर रही है। खुदकुशी का शौक चर्राया है तो करें पर हमें क्यों उसमें घसीटते हैं? हम कहाँ जाएँगे जब हमारा आसमान और हमारे दरख्त धराशाई कर डालेंगे ये।'[25]

कौवे क्रोध में आकर वृद्धा को भी खरी-खोटी सुना देते हैं। कौवों का कहना है कि प्रदूषण आप लोग फैलाते हैं, गंदगी आप लोग फैलाते हैं, हम नहीं फैलाते। देखिए कौवों का व्यंग्यपूर्ण कथन–'हमारी जगह हड़पके और बुड्ढी हमें हड़का रही है कि उसके गमलों पे बीट न करें जबकि दुनियाभर में बीट फैलाने की आदत आपकी है, हमारी नहीं, हर चीज को बीट बना देना भी आपका हुनर है। इस तरह धमका के कौवे उड़ गए। वन विभाग में।'[26] कौवा, चिड़िया, गिलहरी, चुहिया, साँप, बिच्छू, कॉकरोच, गोरैया, चींटी, हिरण, हाथी, कुत्ता, धूप-छाँव, हवा, बारिश, रेत, सब-कुछ से यह उपन्यास परिपूर्ण है। रेत समाधि में गीतांजलिश्री कौवों की चर्चा में पर्यावरण की सुरक्षा, पर्यावरण प्रदूषण की समस्या, स्त्री-पुरुष की समानता, सामाजिक उपदेश का वर्णन प्रभावशाली ढंग से करती हैं। उपन्यास में कौवों के संवाद को पढ़कर पंचतंत्र की कहानियाँ याद आ जाती हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास प्रकृति के अत्यंत निकट है। पर्यावरण के सभी तत्त्व इस उपन्यास में उपस्थित हैं। यह उपन्यास पर्यावरण के प्रति मनुष्य को सचेत करते हुए पर्यावरण प्रदूषण फैलाने और आजकल जो कूड़े के पर्वत बन रहे हैं उनके प्रति, मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? बताता है क्योंकि मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो प्रकृति को सबसे अधिक हानि पहुँचा रहा है तथा पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, जीव-जंतु को मानव अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए नष्ट करता जा रहा है। गीतांजलिश्री का यह उपन्यास प्रकृति और पर्यावरण संबंधी विभिन्न पहलुओं पर ध्यान आकर्षित करता है। जो आधुनिक समय के प्रकृति प्रेमियों एवं पर्यावरण विदों की विभिन्न विचार गोष्ठियों में व्यक्त होने वाली समस्याओं, चिंताओं को अपनी कथ्य शैली में उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक एवं प्रतिकात्मक भाषा में बेबाकी से कहा गया है। वन, जंगल, पेड़-पौधे, पक्षी, पशु इत्यादि प्राकृतिक उपादानों के बिना पृथ्वी और मानव जीवन सौंदर्यहीन हैं।

संदर्भ

1. इराक भरूचा, पर्यावरण अध्ययन, ओरियंट ब्लैक स्वान प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 2
2. पर्यावरण और प्रदूषण, रघुवंशी अरुण एवं चंद्रलेखा, हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ॰ 1
3. प्रज्ञा, पर्यावरण विशेषांक, काशीहिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अंक 55, भाग 2, वर्ष 2009-10
4. गीतांजलिश्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 26
5. वही, पृ॰ 39

6. प्रो॰ कृष्णचंद चुनकर (संपादक), भाव प्रकाश निघंटू, चौखंभा भारती अकादमी, वाराणसी, पृ॰ 404
7. गीतांजलिश्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 63
8. वही, पृ॰ 63
9. वही, पृ॰ 66
10. वही, पृ॰ 70
11. वही, पृ॰ 70,71
12. वही, पृ॰ 102
13. वही, पृ॰ 108
14. वही, पृ॰ 124
15. वही, पृ॰ 132
16. वही, पृ॰ 142–143
17. वही, पृ॰ 156
18. वही, पृ॰ 165
19. वही, पृ॰ 167
20. वही, पृ॰ 167
21. वही, पृ॰ 180
22. वही, पृ॰ 180
23. वही, पृ॰ 182
24. वही, पृ॰ 182
25. वही, पृ॰ 183
26. वही, पृ॰ 184

द्वारा डॉ॰ अनिल कुमार
ग्राम व पोस्ट-सराय, ज्वालापुर
जिला-हरिद्वार (उत्तराखंड) 24 9404
मो॰ 9410561966
aryababita59@gmail.com

सत्ता और संस्कृति का अंतर्संबंध
'अधबुनी रस्सी : एक परिकथा' उपन्यास के संदर्भ में

डॉ॰ आशीष, सहायक प्राध्यापक
संत क्लारेट महाविद्यालय, बैंगलोर

किसी भी देश की संस्कृति उसकी आत्मा है, उसकी पहचान है और उसका संरक्षण करना सरकार का दायित्व है। साथ ही सरकार का मूल कर्त्तव्य समाज को गति देना भी है। चूँकि उस देश की सरकार का निर्माण वहाँ की आम जनता के माध्यम से होता है, इसलिए समाज की सारी गतिविधियाँ सरकार द्वारा ही निर्धारित होती हैं। प्रफुल्ल कोलख्यान ने अपनी पुस्तक 'साहित्य, समाज और जनतंत्र' में इस ओर संकेत किया है–'सत्ता का असली मौलिक स्रोत तो समाज होता है जहाँ सत्ता निरंतर निर्मित और सृजित होती रहती है।'[1] वहीं, जब सत्ताधारी स्वार्थ हेतु संस्कृति में हस्तक्षेप कर सामाजिक संरचना एवं व्यवस्थाओं को अपने अनुसार ढालते हैं, तब संस्कृति की अस्मिता एवं उसके मूल तत्त्व क्षीण होने लगते हैं।

जो भी कार्य मनुष्य, समाज और राष्ट्र के लिए उचित और मंगलकारी हो उसे 'संस्कृति' कहते हैं। इसमें जब धर्म की बात आती है, तब भी संस्कृति का यही पक्ष लागू होता है। संस्कृति एक प्रकार से मनुष्य, समाज और राष्ट्र के अंतर्गत वह तत्त्व है जो मूल्यहीनता, अनैतिक आचरण, विचार और कार्यों का परिष्कार करती है। संस्कृति को स्वतंत्र रूप से देखने की आवश्यकता है, न कि संकुचित रूप में। जब संस्कृति और सत्ता के स्वरूप की बात होती है, तब सत्ताधारी संस्कृति के मूल तत्त्वों का अपने निजी स्वार्थ हेतु उपयोग करते हैं। वे अपनी सत्ता का इस्तेमाल कर उसमें हस्तक्षेप भी करते हैं और उसको परिवर्तित कर समाज में प्रेषित करने का भी कार्य करते हैं। इसलिए जब-जब सत्ता बदलती है, तब-तब संस्कृति भी बदलती है। जब यह सांस्कृतिक बदलाव होता है, तब उस समाज के स्वरूप में भी बदलाव देखने को मिलता है।

साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह पाया है। साहित्य के माध्यम से समाज में पनपी विसंगतियाँ तो उजागर होती ही हैं, साथ ही वह आम जनमानस को सचेत भी करता है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति कुमार्ग पर चल कर समाज को क्षति पहुँचाने का कार्य करता है, तो तद्जनित प्रभावों से व्यक्ति एवं समाज पर क्या परिणाम होगा इसकी चिंता एवं चिंतन साहित्य के माध्यम से देखने को मिलता है। कथासाहित्य एवं कथेतर साहित्य के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों को उजागर किया गया। इस प्रकार साहित्य सामाजिक उत्पाद के रूप में सशक्त माध्यम बना। स्वतंत्रता के बाद सत्ता द्वारा जिस प्रकार आम जनमानस का मोहभंग हुआ, उसका विहंगम वर्णन उपन्यासों के माध्यम से भी देखने को मिलता है।

समय के साथ-साथ अनेक साहित्यकारों ने अपनी लेखनी जनमानस से हटाकर एक वर्ग विशेष अर्थात् सत्ता को अभिभूत करने के लिए उठाई। सत्तासीन वर्ग की प्रशंसा करना तथा सत्ता से ख्याति प्राप्त करने के लिए लेखन कार्य करना उनकी दिनचर्या का अंग बनता गया। इसके

 ISSN 0975-735X

विपरीत कुछ साहित्यकार ऐसे भी हुए, जिन्होंने सत्ता की घोर आलोचना की, परंतु अंत में उनसे समझौता भी कर लिया। उदाहरणस्वरूप बाबा नागार्जुन भी एक समय तक काँग्रेस के समर्थक रहे। इसी प्रकार समकालीन समय में वीरेन डंगवाल ने अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से पाठकों की विश्वसनीयता अर्जित की। उन्होंने जनवादी कवि गोपीचंद का खुलकर विरोध भी किया, परंतु विश्वसनीयता तब डगमगा गई, जब उन्हें उन्हीं के हाथों से साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यद्यपि वे अपनी रचनाओं के माध्यम से बेबाक होकर सत्ताधारी वर्ग की आलोचना करते हैं, तथापि अंततः सत्ता से ही पद्मश्री पुरस्कार ग्रहण करते हैं।

इसी क्रम में धर्म की दृष्टि से देखा जाए तो कई विद्वान धर्म को संस्कृति का अभिन्न अंग मानते हैं, तो कई अलग-अलग धाराएँ मानते हैं। कई विद्वानों ने इसको परिभाषित करने का प्रयास भी किया है, किंतु धर्म और संस्कृति अपने आप में इतने व्यापक हैं कि इनको शब्दों में बाँधना कठिन-सा प्रतीत होता है। इस संदर्भ में विष्णु प्रभाकर का विचार चिंतनीय है। वे लिखते हैं कि 'धर्म की भाषा निरंतर खोज है, संस्कृति की भाषा सतत आचरण है। कोई भी धर्म आचरणहीन व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता और आचरण की प्राप्ति कर्मकांड और आडंबरों से नहीं होती है, जीवन का धर्म पालन करने से होती है। विश्वास और आचरण साथ-साथ ही चल सकते हैं। यही संस्कृति है जो अज्ञात की खोज को भी उपयोगी बना देती है।'[2]

प्रसंगोचित उल्लेखनीय है कि धर्मगुरु अपनी सत्ता का सहारा लेकर धर्म की परिभाषा अपने अनुसार गढ़ते हैं। वे धर्म के संदर्भ में कहते हैं कि यह सबके लिए है, किंतु वे उसे अपने तक ही सीमित करके रखते हैं। इसमें सबसे बड़ा योगदान उनके पद का है और उससे मिलने वाली शक्ति का। 'शक्ति' के संदर्भ में श्यामाचारण दुबे अपनी पुस्तक 'परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति' में लिखते हैं–'जिसके हाथ में शक्ति आ गई है, उसने उसका उपयोग 'स्व' के लिए ही किया। बेशक कभी-कभी वह 'स्व' काफी व्यापक रहा है, पर 'सब' वह काफी नहीं था।'[3] धर्म के नाम पर आम जनता जल्दी ही मोहित हो जाती है। वह बिना तर्क किए उनसे जुड़ जाती है। उचित-अनुचित, सही-गलत में अंतर किए बिना वे उनकी सारी बातों को उचित ही मानते हैं। अतः एक प्रकार से जनता से मिला यह समर्थन सत्ता-प्राप्ति में अप्रत्यक्ष सहमति को दर्शाता है।

सत्ता और संस्कृति के अंतर्संबंध को लेकर प्रायः असमंजस की स्थिति साहित्यिकों में दिखाई देती है। यद्यपि अनेकानेक साहित्य-चिंतकों ने इस संबंध को तार्किक दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास भी किया है। प्रस्तुत अध्याय में इस दृष्टि एवं बोध को दृष्टिगत रखते हुए आलोच्य विषय का विवेचन किया गया है। कथासाहित्य के विषय-संबंधी अनेकानेक पहलुओं में सत्ता का पहलू प्रायः शोधपरक चिंतन के दायरे से बाहर ही रहा है। क्रिस्टोफर कॉडवेल ने 'विभ्रम और यथार्थ' में साहित्य को समाज का उत्पाद मान कर इस ओर संकेत किया है कि समाज में जो कुछ विद्यमान है, दृश्य-अदृश्य है, वह साहित्य की परिधि से बाहर नहीं हो सकता। अतः सत्ता और संस्कृति भी साहित्य के दायरे से बाहर नहीं हो सकते। प्रस्तुत अध्याय में शोध की दृष्टि से चयनित उपन्यासों में वर्णित सत्ता एवं संस्कृति के संबंध एवं स्वरूप को देखने-खोजने का उपक्रम किया गया है।

सच्चिदानंद चतुर्वेदी कृत 'अधबुनी रस्सी : एक परिकथा' उपन्यास सत्ता, समाज एवं संस्कृति के अनेक रूपों को दिखाता है। इस उपन्यास के माध्यम से समाज में पनपी धर्मांधता, वर्ग-भेद, ऊँच-नीच, राजनीतिक षड्यंत्र, अस्मिता पर प्रहार, मूल्यहीनता, सांस्कृतिक विघटन देखने को मिलते हैं। इस उपन्यास में 1975 में लगे आपातकाल के प्रभाव का भी वर्णन किया गया है।

तत्कालीन सरकार ने अपने वर्चस्व का उपयोग कर निरंकुशता का परिचय दिया। सरकार ने तमाम व्यवस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप कर उसको अपने नियंत्रण में लिया और लोकतंत्र को समाप्त कर राजतंत्र का परिचय दिया।

प्रस्तुत उपन्यास में डमरूआ नामक एक गाँव का वर्णन किया गया है। यह गाँव दो भागों में विभाजित है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह दो टोले में विभाजित है। एक उच्च वर्ग है जिसे बमनन टोला कहा जाता है, तो दूसरा निम्नवर्ग जिसे पूरब टोला कहा जाता है। गाँव में बमनन टोला का वर्चस्व कायम है और पूरब टोला उसके अधीन रहकर अपना कार्य करता है अथवा अपना जीवन निर्वाह करता है। बमनन टोला सरकारी तंत्रों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करता रहता है और तमाम सुविधाओं को स्वार्थ हेतु केवल अपने टोले तक ही सीमित रखना चाहता है।

डमरूआ गाँव में जब सरपंच हेतु चुनाव की घोषणा होती है और इस संदर्भ में पूरब टोला से ही किसी व्यक्ति को सरपंच बनने का निर्देश मिलता है। जो बमनन टोला कई वर्षों से सरपंच पद पर कायम था, उसे अपने हाथ से सत्ता जाती हुई दिखाई देती है। यह तो सिद्ध है कि जब-जब सत्ता बदलती है, तब-तब संस्कृति भी बदलती है। सरपंच जब पूरब टोला से ही चुना जाएगा तो यह तय था कि बमनन टोला को भी उन्हीं के आदेशों का पालन करना होगा। सत्ता द्वारा यहाँ सत्ता का परिवर्तन किया जा रहा था। गाँव में चुनाव के माध्यम से पूरब टोला को मौका दिया जा रहा था, ताकि समाज में समानता की स्थापना हो सके।

समाज में सत्ता का हस्तक्षेप केवल नकारात्मक रूप में ही नहीं होता है, अपितु सकारात्मक रूप में भी होता है। सरकार द्वारा घोषणा तो हो गई, किंतु निम्नवर्ग सुप्तावस्था में था, केवल बमनन टोला सजग था। डमरूआ में चुनाव के दौरान जब बदलाव की महत्त्वाकांक्षा जागी तो पूरब टोला निष्क्रिय रूप में ही रहा। जिस तरह बमनन टोला यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि आगामी दस वर्ष के लिए पूरब टोला से ही कोई प्रधान बनेगा, उसी तरह पूरब टोला के लोग भी इस वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। वे बमनन टोला की सत्ता के अधीन रहना ही अपनी नियति मान चुके थे–'छज्जू ने समझाया-देख! ग्राम-पंचायत के चुनाव होने वाले हैं। इस बार के चुनावों में पूरब टोला का ही कोई प्रधान बन सकता है। हम लोग तुझे प्रधान बनाना चाहते हैं। अब बात आई समझ में कि उतारूँ जूता?' हाँ मालिक! समझा, मैं और प्रधान, आपने भी खूब कही। प्रधान आप लोग ही अच्छे लगते हैं। नाली का कीड़ा नाली में ही अच्छा रहता है। मुझे नाली से मत निकालिए।'[4]

पूरब टोला को बमनन टोला की सत्ता ही स्वीकार हुई। सरकार एक ओर समानता लाने का प्रयास कर रही थी, वहीं पूरब टोला इसे स्वीकार नहीं करना चाह रहा था। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें प्रमुख है–शिक्षा। शिक्षा के अभाव में वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं हैं–'सरकार को भी यह क्या पागलपन सवार हो गया है। आप सबके आगे एक छोटा आदमी प्रधान? कैसा लगेगा? पूरा डमरूआ हँसेगा। मैं नहीं बनूँगा, मुझे जाने दीजिए, किसुन ने उठने के लिए अपनी लाठी सँभाल ली। चैतु ने भी अपनी लाठी सँभाल ली।'[5] किसुन की बुद्धि यदि कुशाग्र होती तो वह न तो छज्जू के दबाव में आता और न ही चुनाव लड़ने से पीछे हटता। वह स्वयं अपने दम पर चुनाव लड़ता और गाँव एवं पूरब टोला का प्रतिनिधित्व करता।

चुनाव के दौरान भी पूरब टोला के अधिकतर निवासी अपने अधिकारों के प्रति सजग दिखाई नहीं देते। वे चुनाव को केवल खेल समझते हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि चुनावी दलों द्वारा उनके वोट का इस्तेमाल किया गया। वोट के बदले नोट की प्रथा भी जोरों दिखाई देती

है–'तुमने केवल दो, मैंने पूरे पाँच वोट दिए थे, वह भी मुफ्त में। दो जनसंघ को, दो काँग्रेस को, और एक में मैंने बेईमानी नहीं की थी, सब खातों में मुहर मार दी थी। मेरे लिए सब पार्टी बराबर।'[6]

गाँव के निवासी अपने मतदान को लेकर ही गंभीर नहीं हैं। उसने एक नहीं पाँच-पाँच वोट दिए और यह संभव हुआ केवल और केवल चुनाव अधिकारी और गाँव के प्रभुत्वशाली लोगों की बदौलत। अपने लिए, अपने समाज के लिए क्या सही और क्या गलत है। मतदान के समय मतदाता स्वतंत्र होता है और वह अपने निर्णय के अनुसार मत दे सकता है। वहीं, जब व्यक्ति किसी के प्रभाव अथवा लोभ के कारण मतदान करता है, तब वह लोकतंत्र को कमजोर करता है। साथ ही अपने आपसे, अपने अधिकारों से, अपने कर्त्तव्यों से, अपने समाज से भी छल करता है एवं उन बुद्धिजीवियों के साथ भी छल करता है, जो समाज में बदलाव लाने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं।

बमनन टोला ने अपनी सत्ता को बचाए और बनाए रखने के लिए पूरब टोला के सदस्यों का सहारा लिया। किसुन जो पूरब टोला से है उसे छज्जू ने समर्थन दिया, उसका सारा खर्चा उठाया और जब वह विजयी हुआ तो उसे अपने अधीन रख मानसिक गुलाम बनाए रखा। किसुन सरपंच तो बना परंतु अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता छज्जू के हाथ में रही। उपन्यास के माध्यम से स्पष्ट होता है कि सत्ता द्वारा सत्ता में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि सामाजिक सत्ता के अंतर्गत भी कई व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। डमरूआ गाँव में चकबंदी से बचने के लिए बमनन टोला के निवासी चाहते हैं कि वे प्रक्रिया आरंभ होने से पहले ही चकबंदी अधिकारी से बातचीत कर अपने हिस्से की जमीन को सुरक्षित कर लें।

काशी चौबे नामक व्यक्ति चकबंदी से पहले सी॰ओ॰ से कुछ लेन-देन कर खेत की जमीन को अपने पास ही रखना चाहते हैं। जिसके लिए वह अपने सुपुत्र से पाँच सौ रुपए की माँग करते हैं। उनका पुत्र जो स्वयं सरकारी अधिकारी है, इसका विरोध करता है और समझाता है कि ऐसा करना सत्ता का दुरुपयोग कर प्रजातंत्र को कमजोर करना है। काशी अंततः इस बात से सहमत हो जाते हैं और गाँव के अन्य लोगों की तरह समान रूप से चकबंदी का हिस्सा बनने को तैयार हो जाते हैं–'मैंने निर्णय लिया है कि अपने चकों के लिए सी॰ओ॰ के साथ कोई अनुचित लेन-देन नहीं करूँगा, इसलिए अब तुम्हें मेरे पास पैसे भेजने की आवश्यकता नहीं है। मैं अपनी आगामी पीढ़ियों की जीविका के साधन की नींव अन्याय पर नहीं रखना चाहता।'[7]

काशी का निर्णय कई मायनों में समाज को एक नई दिशा दिखाने वाला है और उन लोगों में भी चेतना का स्वास फूँकता है, जो सत्ता से दबे होने के कारण शोषित हैं। काशी समाज में समानता का भाव प्रदर्शित करते हैं। एक पिता का पुत्र से और पुत्र का पिता से संबंध और समाजोपयोगी विचार-विमर्श यहाँ देखा सकता है। काशी चौबे चाहते तो अपने पद का दुरुपयोग कर सकते थे, किंतु ऐसा न कर उन्होंने वंचितों के साथ न्याय और समानता का भाव प्रदर्शित किया।

लेखक ने उपन्यास के माध्यम से 1975 के आपातकाल को लेकर भी सत्ता की निरंकुशता एवं व्यवस्था में हस्तक्षेप को दिखाया है। आपातकाल के दौरान लोगों से उनके अधिकारों को छीन लिए गए थे। सत्ता जिसका कार्यसमाज में जन, समाज एवं संस्कृति और उनमें निहित मूल्यों के निर्वाहन हेतु कदम उठाना था, तब वह अपने स्वार्थ एवं मूल्यहीनता पर उतर आई थी।

उपन्यास में किसुन, बंगालिन ताई एवं डमरूआ गाँव के सदस्यों के माध्यम से इसे सशक्त रूप से दिखाया है। आपातकाल के दौरान किसुन को गिरफ्तार कर लिया जाता है। किसुन यही कहता रह जाता है कि उसे आपातकाल के बारे में कुछ नहीं पता। उसकी बात को दरकिनार कर

उस पर देश की आंतरिक सुरक्षा को खतरे में डालने का आरोप लगाया जाता है। उसे गिरफ्तार कर कार्यवाही की जाती है और उसका एक पैर तोड़ दिया जाता है। तत्कालीन सत्ताधारी अपने वर्चस्व में सेंध लगते देख अपने प्रतिद्वंद्वी और विरोधी दल के नेताओं को पकड़-पकड़कर जेल में डाल रहे थे–'आपातकाल लागू होते ही आंतरिक सुरक्षा कानून के तहत राजनीतिक विरोधियों की गिरफ्तारी की गई। इनमें जयप्रकाश नारायण, जॉर्ज फर्नांडीज और अटलबिहारी वाजपेयी भी शामिल थे।'[8] इस दौरान इंदिरा सरकार निरंकुश हो चली थी।

सरकार ने प्रशासन के तमाम तंत्रों में हस्तक्षेप कर उसे अपने अनुरूप चलाया। तमाम अधिकारियों को निर्देश दिया गया कि वे सरकार के द्वारा जारी निर्देशों का ही पालन करेंगे। किसुन पर जो आरोप लगाए गए वह इसी का परिणाम था, उससे जबरन झूठ बुलवाया गया और उस पर कार्यवाही की गई। इतना ही नहीं किसुन का साथ बंगालिन ताई ने दिया तो उन्हें भी पीटा गया। यह वही जनता थी, जिन्हें स्वर्णिम सपने दिखाकर उनसे वोट लिया गया था।

सत्ता की निरंकुशता इस तरह प्रत्येक स्तर पर देखी गई, जब वह अपनी स्वार्थ सिद्धि की पूर्ति हेतु किसी भी हद तक गुजर गई। समाज एवं संस्कृति के वास्तविक मूल्यों को दरकिनार कर अपनी निजी धारणा को संस्कृति का नाम देकर समाज में थोपने का प्रयास किया गया, जिससे भारतीय शासन प्रणाली प्रजातंत्र से राजतंत्र में तब्दील होती दिखाई दी। केवल एक ही शासक और बाकी उसकी प्रजा।

कर्मेंदु शिशिर अपनी पुस्तक 'नवजागरण और संस्कृति' में लिखते हैं–'राजनीति ने भारतीय समाज को इतना लहूलुहान कर दिया है कि समकालीन समय के और भविष्य के भयावह खतरों के विरुद्ध भारतीय समाज की प्रतिरोध की शक्ति ही क्षीण होने लगी है, दूसरे तमाम खतरों के एहसास की गुंजाइश तक नहीं रखी जा रही।'[9]

उपन्यास के माध्यम से समाज में मूल्यहीनता, सत्ता का निर्बाध हस्तक्षेप जिसमें उसका सकारात्मक पक्ष भी सम्मिलित है एवं सत्ता की निरंकुशता देखी जा सकती है। सामाजिक संरचना के अंतर्गत जाति-व्यवस्था भी सुचारू रूप से जारी रहती है। जिसमें उच्च वर्ग अपनी सत्ता का उपयोग कर निम्नवर्ग का शोषण करता हुआ दिखाई देता है। साथ ही, यह भी उजागर होता है कि निम्नवर्ग अपने अधिकारों के प्रति सजग नहीं है। जबकि, उसे अपने समाज के प्रति सचेत होकर परिवर्तन लाने का मौका मिल रहा था। अत: इससे स्पष्ट होता है कि अपने अधिकारों के प्रति सचेत रहना आवश्यक है, तभी वे समाज में बदलाव ला सकते हैं। यह आवश्यक है कि समाज में जब भी ऐसे अवसर मिलें तो उसका भरपूरी से लाभ उठाया जाए ताकि समाज में कुछ सकारात्मक बदलाव आ सके।

इसके अतिरिक्त उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के अधिकतर निवासियों में जाति-व्यवस्था को समाप्त करने को लेकर कोई सजगता दिखाई नहीं देती है। गाँव में चकबंदी अधिकारी के प्रवेश के बाद बमनन टोला में निराशा छा जाती है, क्योंकि वह निम्नवर्ग से आया हुआ व्यक्ति है। चकबंदी अधिकारी केशरवानी का सहायक और ड्राइवर तिवारी अपनी जाति को छोड़ काम को तरजीह देता है, जिसे ग्रामीणवासी स्वीकार नहीं कर पाते। तिवारी और गणेश चौबे दोनों उच्चवर्ग से संबंध रखते हैं और दोनों के माध्यम से ही समाज में बदलाव की महत्त्वाकांक्षा देखी जा सकती है।

जो उच्च वर्ग शीर्ष पर कायम है वह इस व्यवस्था को बनाए रखना चाहता है, ताकि उसकी सत्ता बरकरार रहे। इसलिए वह संस्कृति और संस्कार में हस्तक्षेप कर, उसे अपने अनुसार व्याख्यायित करता है। उस प्रथा को यथावत् बनाए रख उसे संस्कृति एवं संस्कार से जोड़ दिया जाता

है। यह सही है कि कुछ संस्कार आज भी यथावत् जीवित है परंतु समय के साथ जब परिवर्तन होता है तो समाज में प्रचलित संस्कार और संस्कृति में भी परिवर्तन हो जाता है। परंतु अधिकतर ग्रामीण परिवेश में जाति को लेकर हर छोटी से छोटी क्रियाओं में संकुचित मानसिकता का परिचय मिलता है। जैसे कहाँ बैठना हैं कहाँ नहीं, क्या खाना है और क्या नहीं, किसको किसमें भोजन परोसना है अथवा नहीं, किंतु वहीं जब ग्रामीण परिवेश से निकला कोई व्यक्ति शहर या परिवेश बदलता है तो अपना व्यवहार भी बदलता है।

उदाहरणस्वरूप–'डमरुआ के परिवेश की तुलना कानपुर के महानगरीय परिवेश से नहीं की जा सकती। परिवेश का व्यक्ति की मानसिकता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। गाँव का बड़े से बड़ा पंडित कानपुर के होटलों में बैठकर भोजन कर लेता है बिना यह जाँच-पड़ताल किए कि भोजन बनाने वाला कौन है, परोसने वाला कौन है? बर्तन ठीक से धोए गए हैं कि नहीं? गाँव लौटते ही उस पंडित पर डमरुआ का परिवेश हावी हो जाता है। उसे अपने ही लोगों के साथ बैठकर भोजन करने में आपत्ति होने लगती है।'[10] गाँव का व्यक्ति बाहर जाते ही बदले हुए स्वरूप में दिखाई देता है, परंतु वापस गाँव आकर सामाजिक कुरीति को संस्कृति का हिस्सा मानने लगता है। यदि संस्कृति के तत्त्वों की खोज करें तो उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जब उसने समानता का परिचय देते हुए बिना भेदभाव के भोजन किया। भेदभाव समाज में मनुष्यता को छिन लेती है और जब किसी से उसकी मनुष्यत्व ही छिन लिया जाएगा तो सामाजिक मूल्यों का भी हनन होगा।

समाज में जब मानवमूल्यों की बात होती है, तब उसकी अवधारणा समानता से आरंभ होती है और इसके लिए मनुष्यता को सर्वोपरि माना जाता है। किंतु समाज में अधिकतर इसके विपरीत परिस्थितियाँ ही देखी जाती हैं। जब मनुष्य को धर्म, जाति, समुदाय या वर्ग विशेष में बाँट कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। कई लोग विशेष रूप से मनुष्यों को जाति के परिप्रेक्ष्य से देखते हैं। जातिगत आधार पर मनुष्य को परखना अधिकतर ग्रामीण परिवेश में ही देखने को मिलता है। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें से मुख्य कारण है लोगों में चेतना या जागरूकता की कमी।

संदर्भ

1. प्रफुल्लकोलख्यान, साहित्य, समाज और जनतंत्र, पृ॰ 34
2. विष्णु प्रभाकर, जन, समाज और संस्कृति : एक समग्र दृष्टि, पृ॰ 34
3. वही, पृ॰ 78
4. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, अधबुनी रस्सी : एक परिकथा, पृ॰ 236
5. वही, पृ॰ 236
6. वही, पृ॰ 256
7. वही, पृ॰ 88
8. आपातकाल, भारतीय लोकतंत्र का काला अध्याय-25 जून 1975, विश्व संवाद केंद्र https://www.vskgujarat.com
9. कर्मेंदु शिशिर, नवजागरण और संस्कृति, पृ॰ 37
10. सच्चिदानंद चतुर्वेदी, अधबुनी रस्सी : एक परिकथा, पृ॰ 32

St. Claret College, 5th Cross Road
MES Ring Road, Jalahalli, Bangalore
Mob. 9958232816
ashish@claretcollege.edu.in

हिंदी फिल्मों का विमर्शोन्मुख परिदृश्य

डॉ॰ भाऊसाहेब नवनाथ नवले, अध्यक्ष, हिंदी विभाग
लोकनेते डॉ॰ बालासाहेब विखे पाटील (पद्मभूषण उपाधि से सम्मानित)
प्रवरा ग्रामीण शिक्षण संस्था, कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय,
सात्रल, तहसील-राहुरी, जिला-अहमदनगर

हिंदी साहित्य ही नहीं अपितु वैश्विक साहित्य में भी अन्यान्य विमर्श केंद्रीय पहल पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत: हिंदी का विमर्शोन्मुख परिदृश्य काफी चर्चित रहा है। हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं के साथ-साथ हिंदी फिल्मों ने भी स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, सांप्रदायिक विमर्श, किसान विमर्श, बाल विमर्श तथा पर्यावरण विमर्श को भी व्यापक धरातल पर पर्दे पर उतारा है, जो हिंदी फिल्मों की सकारात्मक पहल तथा महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। यहाँ उल्लेखनीय तथा विचारणीय है कि विमर्शोन्मुख परिदृश्य को अत्यधिक समृद्ध बनाने में हिंदी फिल्मों का अवदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा।

पूरे विश्व में हिंदी सिनेमा की अपनी अलग पहचान है इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हिंदी सिनेमा ने भारतवर्ष को वैश्विक धरातल पर अपनी विशिष्ट पहचान दी है। भारत की सांस्कृतिक विरासत को दूर-दराज तक अर्थात देश-विदेश के कोने-कोने तक ले जाने में हिंदी फिल्मों की अहम भूमिका रही है। जहाँ तक बात है हम हिंदी फिल्मों को मात्र मनोरंजन के साधन के रूप में स्वीकारते आए हैं लेकिन हिंदी फिल्मों ने मात्र हमारा मनोरंजन ही नहीं किया बल्कि राष्ट्रीय एकता हो, सौहार्द हो या सामासिक संस्कृति का उद्घाटन हो, ज्ञान-विज्ञान हो, शैक्षिक प्रसार हो या एक-दूसरे के प्रति आपसी सद्भाव क्यों न हो, अवश्य उजागर किया है। वैसे देखा जाए तो आजादी के बाद हजारों की तादाद में फिल्में आई हैं। यह फिल्में किसी-न-किसी उद्देश्य एवं लक्ष्य को लेकर दर्शकों के दिलो-दिमाग में पहुँची है। हिंदी फिल्मों की सोद्देश्यता एवं बहुआयामी प्रतिबद्धता के कारण वह आरंभ से लेकर आज तक दर्शकों के बीच अपनी विशिष्ट जगह बनाए हुए है, इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा। प्रस्तुत आलेख में मैंने प्रातिनिधिक रूप में हिंदी फिल्मों के विमर्शोन्मुख, सामाजिक एवं प्रेरणात्मक पक्ष को केंद्र में रखा है।

दलित विमर्श

वर्तमान केंद्रीय विमर्शों में दलित विमर्श की पहल महत्त्वपूर्ण माननी होगी। सामाजिक, छुआछूत तथा अस्पृश्यता पर भी हिंदी फिल्मों ने प्रहार कर अपनी पहचान बनाई है। कृष्णदत्त पालीवाल का मानना है कि 'दलित साहित्य की मूल प्रवृत्ति है विद्रोह और आक्रोश।'[1] स्पष्ट है कि दलित साहित्य अन्याय के खिलाफ आवाज का साहित्य है। 'अछूत कन्या' नामक फिल्म जो अस्पृश्यता पर प्रहार करती है। एक ओर सामाजिक भेदाभेद की पोल खोलती है तो दूसरी ओर 'नया रास्ता' जैसी फिल्म दलितोद्धार की बात करती है जिसमें परिवर्तन की नींव रखी है। यहाँ दलितों को उनके न्याय के लिए लड़ने की बात आती है अर्थात् उनके उद्धार की बात आती है। 'अछूत कन्या'

 ISSN 0975-735X

जैसी फिल्म ने दलितोद्धार की व्यापक पहल की हुई दृष्टिगोचर होती है। इस फिल्म ने तत्कालीन अत्यधिक मात्रा में व्याप्त गंभीर समस्या अस्पृश्यता पर प्रहार किया। यह वह फिल्म थी जो आजादी के दस साल पहले बनी थी। सामजिक समरसता की पहल को केंद्र में रखकर फिल्म निर्देशक ने फिल्मांकन किया है। यह वह समय था जब दलितों के साथ मानवीयता का व्यवहार नहीं होता था। लेकिन इस फिल्म में एक अछूत दुखिया को गेटकीपर की नौकरी दी जाती है। अछूत कन्या फिल्म में देविका रानी से शादी करने वाला उद्धारक नायक ब्राह्मण है। अर्थात् इस फिल्म में ऊँची जाति के युवक अर्थात् अशोक कुमार और नीचली जाति की युवती अर्थात् देविका रानी के प्रेम संबंधों का उद्घाटन हुआ है।

खालिद अख्तर जी के निर्देशन में 1970 में बनी फिल्म 'नया रास्ता' में दलित विमर्श के स्वर मुखरित होते हैं। इस फिल्म का चंदर एक आपराधिक वकील के रूप में अपना सफल केरियर छोड़कर अपने पैतृक गाँव लौटता है। लेकिन उसे वहाँ जातिवाद तथा भेदाभेद की नीति का शिकार होना पड़ता है। इसी फिल्म का यह गीत 'पोंछ कर अश्क अपनी आँखों से मुस्कराओं तो कोई बात बने, सर झुकाने से कुछ नहीं होता सर उठाओ तो कोई बात बने।'[2] कहना गलत न होगा कि यहाँ सही अर्थों में दलितों की दबी-कुचली मानसिकता एवं आवाज को व्यापक फलक पर अभिव्यक्ति का मंच मिला। मराठी फिल्मों में फैंड्री, सैराट, जैत रे जैत के साथ पंजाबी तथा तमिल फिल्मों में भी दलित विमर्श की पहल दृष्टिगत होती है।

सार्थक दास गुप्ता द्वारा निर्देशित '200 हल्ला' फिल्म अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण दस्तक है। जिसका कथानक 2004 में महाराष्ट्र के नागपुर में हुई ऐतिहासिक घटना पर है जहाँ 200 महिलाओं ने वहाँ के हत्यारे और बलात्कारी गुंडों को अदालत के सामने मौत के घाट उतार दिया था। निश्चित ही दलित विमर्श को उजागर करने की यह अच्छी पहल है। वास्तव में मराठी में दलित विमर्श को केंद्र में रखकर अत्यधिक फिल्में बनी हैं। तुलना में हिंदी में यह संख्या कम दिखाई देती है। हम मराठी की 'मसान', 'धड़क', 'आर्टिकल-15' आदि फिल्मों में भी दलित कथानक अर्थात् पृष्ठभूमि को व्यापक मात्रा में पाते हैं।

किसान विमर्श

वास्तव में भारतवर्ष की नींव कृषि आधारित है। किसान अर्थात् कृषक जीवन की त्रासदी से हर कोई परिचित है। बेमौसम बारिश हो, अकाल हो, बाढ़ हो या परिवारिक हालात क्यों न हो किसानों को अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यहाँ तक कि किसानों को आत्महत्या का शिकार भी होना पड़ता हैं। प्रेमचंद से लेकर संजीव तक के प्रतिबद्ध रचनाकारों ने किसान जीवन की त्रासदी को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है। साथ ही किसानों के दर्द को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने में हिंदी फिल्मों ने अपनी पहचान बनाई है इस सच्चाई को स्वीकार करना पड़ेगा।

सन् 1953 में बिमल रॉय द्वारा निर्देशित 'दो बीघा जमीन' में भारतीय किसान की समस्याओं का वास्तविक अंकन हुआ है। भारतीय किसानों के दर्द का लेखा-जोखा इस फिल्म में अंकित हुआ है। किसान बहुआयामी शोषण का शिकार हैं। पूरी फिल्म का कथानक 'दो बीघा जमीन' से जुड़ा हुआ है, जो जमीन किसान के लिए अपने जी-जान से प्यारी है। अलावा इसके प्रेमचंद की 'दो बैलों की कथा' पर आधारित बलराज साहनी द्वारा निर्देशित 'हीरा मोती' में भी किसान समस्या का चित्रण किया गया है। इसी क्रम में हम 1957 में प्रदर्शित महबूब खान की फिल्म 'मदर इंडिया' की

शुरुआत भी श्यामू और राधा के कर्ज के चक्रव्यूह में फँसने से होती है। इस दशक की 'लगान' फिल्म में भी किसानों के दर्द एवं पीड़ा का अंकन हुआ है। चंपानेर का भुवन एक आदर्श युवक है जो राजा के खिलाफ लगान का खुलकर विरोध करता है और इसके माध्यम से एक अच्छी पहल होती है। इसी सिलसिले में हम 1967 में मनोज कुमार की 'उपकार' फिल्म या 1976 में प्रदर्शित श्याम बेनेगल की 'मंथन' फिल्म या 2017 में प्रदर्शित 'कड़वी हवा' के साथ-साथ अनुषा रिजवी की 'पीपली लाइव' या पुनीत सीरा के निर्देशन में प्रदर्शित 2009 की 'किसान' फिल्म भी क्यों न हो, यह सारी फिल्में किसानों के दर्द एवं पारिवारिक स्थिति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए समय एवं समाज को सोचने के लिए बाध्य अवश्य करती हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन फिल्मों तथा साहित्य में किसानों के विमर्श के बावजूद वर्तमान में किसानों के जीवन में क्या बदलाव आया है? यह बात सोचने के लिए मजबूर करती है जिस पर व्यापक पहल होना जरूरी है।

पर्यावरण विमर्श

वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण प्रदूषण की गंभीर समस्या ने सारे विश्व को सोचने के लिए बाध्य किया है। पर्यावरण को बचाने की दृष्टि से मात्र भारतवर्ष ही नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर भी व्यापक स्तर पर प्रयास हो रहे हैं। क्योंकि बढ़ती आबादी और सिकुड़ते संसाधन यह सारी बातें सोचने के लिए बाध्य कर रही हैं। डॉ॰ उषा नायर का कहना है–'हम इस सच्चाई से रूबरू हो चुके हैं कि भोगवादी संस्कृति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य जल और जमीन के प्रति कसाइयों जैसा व्यवहार कर रहा है।'[3] कहा जा सकता है कि वर्तमान भौतिक आवश्यकताओं ने ही मनुष्य को जल एवं जमीन से अलग किया है। जहाँ तक हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में पर्याप्त मात्रा में नहीं लेकिन कम मात्रा में क्यों न हो पर्यावरण संवर्द्धन एवं प्रदूषण समस्या पर व्यापक पहल हुई है, वहाँ दूसरी ओर हिंदी फिल्मों की पर्यावरणीय प्रतिबद्धता का परिचय भी हम पाते हैं। सन् 1972 में प्रदर्शित 'शोर' प्रदूषण समस्या पर आधारित फिल्म थी। 'रोटी कपड़ा और मकान' भी हमारी महत्त्वपूर्ण जीवन की आवश्यकता की ओर शासन तथा आमजन को आकर्षित करती है। कहना सही होगा कि पर्यावरणीय सुरक्षा एवं प्रदूषण समस्या पर दृश्य माध्यम हो या श्रव्य माध्यम हो या मुद्रित माध्यम हो, किसी-न-किसी बहाने व्यापक पहल होना आवश्यक लगता है। वस्तुतः परिस्थितिय संकट को अर्थात् जल, जंगल और जमीन से कटे समाज को जोड़ने का काम भी हिंदी फिल्मों ने किया है। यशपाल शर्मा की 'वनरक्षक' भी जल जंगल और जमीन की आहट सुनकर प्रदर्शित हुई। जिसमें एक फॉरेस्ट गार्ड रक्षक की कहानी है, जिसकी आपबीती है। जो वास्तव में धरती माँ से प्यार करता है। ग्लोबल वार्मिंग की समस्या का उद्घाटन इस फिल्म के माध्यम से हुआ है और प्रकृति का दोहन और संरक्षण इस बात पर यह फिल्म दर्शकों तक पहुँचती है। रजत सिंह का कहना है, 'आज के समय में जब पर्यावरण पर पूरी दुनिया में बहस छिड़ी है, 17 वर्षीय 'ग्रेटा थनबर्ग' पर्यावरण संरक्षण के लिए सबसे अपील कर रही हैं, वैसे समय में ऐसी फिल्म का बनना अपने आपमें ही इसकी महत्ता को साबित करता है।'[4] कहना सही होगा की ग्लोबल वार्मिंग की समस्या का इस फिल्म के माध्यम से हुआ उद्घाटन समय की दस्तक कही जा सकती है।

डॉ॰ अदम मुल्ला अली का कहना है–'इस फिल्म में वृक्षों के कटने से हिमाचल प्रदेश की जलवायु में हो रहे बदलावों को एक वनरक्षक महसूस करता है और प्रकृति के संरक्षण के लिए आखिरी साँस तक लड़ता है।'[5] स्पष्ट है कि इस फिल्म का वनरक्षक पहाड़ तथा जंगलों का होता दोहन एवं आग की समस्या से जंगल तथा पहाड़ों को अर्थात् प्रकृति को बचाने के लिए प्रयासरत

है। वनरक्षक अर्थात् चिरंजीलाल जंगल की रक्षा को अपना कर्त्तव्य तथा धर्म समझता है।

विद्या बालन की फिल्म 'शेरनी' भी पर्यावरण संवर्द्धन एवं संरक्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। इस फिल्म में विद्या बालन ने फॉरेस्ट ऑफिसर की भूमिका अदा की है। फिल्म की पूरी कहानी डी॰एफ॰ओ॰ (विद्या बालन) के इर्द-गिर्द घूमती है। एक शेरनी जो कई गाँव वालों को मार चुकी है। कुछ लोग उस शेरनी को पकड़कर मारने के लिए उतारू हैं लेकिन डी॰एफ॰ओ॰ (विद्या बालन) की कोशिश है कि उस शेरनी को पकड़कर नेशनल पार्क में छोड़ दिया जाए। अर्थात् इस फिल्म में बाघों की सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पहल दिखाई देती है। शिकारी तथा नेताओं की साजिशों को यह फिल्म उजागर करती है।

नारी विमर्श

नारी विमर्श की अभिव्यक्ति के लिए हिंदी साहित्य की कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक तथा आत्मकथा जैसी विधाएँ प्रतिबद्ध दिखाई देती हैं। इन साहित्यिक विधाओं में स्त्री विभिन्न रूपों में चित्रित हुई है। नारी विमर्श में बारे में डॉ॰ सुखविंदर कौर बाठ का कहना है–'यह ऐसा विमर्श है जो नारी जीवन के छुए-अनछुए पीड़ा जगत के उद्घाटन के अवसर उपलब्ध करता है।'[6] स्पष्ट है कि स्त्री अर्थात् नारी विमर्श नारी की पहचान, उसकी स्वतंत्रता एवं उसे व्यक्ति के रूप में स्थापित करने में है। स्त्री विमर्श की पहल हिंदी सिनेमा में बहुत पहले से होती दिखाई देती है। हिंदी सिनेमा ने स्त्री विमर्श को अपना अविभाज्य अंग माना है। दिशा, तर्पण बवंडर इश्किया हीरोइन, फैशन, चमेली, मातृभूमि आदि फिल्मों ने स्त्री विमर्श की पुरजोर हिमायत की हुई दिखाई देती है भारतीय सिनेमा में स्त्री अन्यान्यरूपों में चित्रित दिखाई देती है। हिंदी फिल्मों में जहाँ स्त्री का नख से शिख तक वर्णन मिलता है, वहाँ उसके अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना, पारिवारिक दायित्व, रिश्ते-नाते तथा कामकाजी रूप का भी उद्घाटन हुआ है।हिंदी फिल्मों की लोकप्रियता का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष भी नारी ही कही जा सकती है।

स्त्री के साहसी रूप के वर्णन की अभिव्यक्ति हम 'शेरनी' फिल्म में भी देख सकते हैं। नारी विमर्श केंद्रित फिल्मों में हम फिजा, चाँदनी बार, दामिनी, बेंडिटक्वीन, फायर, जख्म, अस्तित्व, क्या कहना तथा जुबेदा आदि का उल्लेख कर सकते हैं। 'क्या कहना' फिल्म में कुँवारी माँ तथा लिव इन रिलेशन में रह रही स्त्री को परदे पर प्रदर्शित किया गया है। हम 'मैरी कौम' फिल्म को आम नारियों के लिए प्रेरणादायी एवं आदर्श फिल्म मान सकते हैं। रतन सिन्हा द्वारा निर्देशित 'शादी में जरूर आना' फिल्म अपने अनूठे रूप में प्रदर्शित होती है। इस फिल्म की आरती शादी के समय विवाह मंडप से भाग जाती है। इसका मूल कारण उसका कैरियर बन जाता है। 'बेंडिटक्वीन' फिल्म फूलनदेवी के जीवन पर आधारित है, जो स्त्री जीवन की दर्दनाक कहानी प्रस्तुत करती है। फूलन देवी मात्र फिल्म तक सीमित नहीं रहती कई स्त्रियों के जीवन का प्रकाश बन जाती है और व्यवस्था को सोचने के लिए बाध्य करती है। मधुर भंडारकर निर्देशित 'चाँदनी बार' की कहानी मुमताज नाम की लड़की पर आधारित है, जो सांप्रदायिक दंगों तथा अपनी माता-पिता के मृत्यु के बाद मुंबई आने के लिए मजबूर होती है। मजबूरन उसे एक बियरबार में नर्तक बनना पड़ता है। गौरी शिंदे निर्देशित 'इंग्लिश-विंग्लिश' फिल्म शशि नामक ऐसी महिला की कहानी है जो एक गृहिणी है। वह भाषा की दिक्कत के कारण अपने आपको व्यक्त नहीं कर पाती। उसकी बेटी, अपनी माँ को इंग्लिश न आने के कारण स्वयं को शर्मिंदा महसूस करती है। स्पष्ट है कि हिंदी फिल्मों ने स्त्री जीवन के बहुआयामी पक्ष की पहल की है।

सांप्रदायिक विमर्श

सांप्रदायिक विमर्श केंद्रित फिल्मों में हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर आजादी का संघर्ष जोरों पर था तो दूसरी ओर अँग्रेजों की कूटनीति सांप्रदायिक जहर फैला रही थी। ऐसी संक्रमणकालीन परिस्थिति में 'पड़ोसी' जैसी फिल्म का प्रदर्शित होना अपने आपमें महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। यह वह फिल्म थी जिसमें भाईचारा एवं एकता को बढ़ावा देकर आमजन में एक-दूसरे के प्रति विश्वास तथा सद्भाव के बीज बोने का कार्य किया गया। हम लंबे अंतराल के बाद 'गदर' फिल्म का भी जिक्र कर सकते हैं जिस फिल्म में देश विभाजन की त्रासदी का यथार्थ चित्रांकन हुआ है। परिणामस्वरूप हिंदू मुसलमान के बीच जो खाई थी वह खाई सच्चाइयों से परिचित होने पर निश्चित ही कम हुई और भाईचारे की भावना को बढ़ावा मिला। केसरी, शेरशाह, एल॰ओ॰सी॰ जैसी फिल्मों में सांप्रदायिक विमर्श को उद्घाटित कर भाईचारा एवं राष्ट्रीयता की पर्याप्त हिमायत की हुई दिखाई देती है।

बाल विमर्श

हिंदी में विभिन्न विधाओं में बालसाहित्य का वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। हिंदी फिल्मों ने बाल विमर्श के प्रति भी अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया है। हिंदी फिल्मों ने बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें मूल्य शिक्षा एवं उनके बहुआयामी विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अपेक्षा की दृष्टि से बालकों को केंद्र में रखकर कम फिल्में बनी हैं। बच्चों को केंद्र में रखकर बनाई गई सत्येन बोस की फिल्म 'जागृति' अपने-आपमें सफल फिल्म रही है। 'तारे जमीन पर' बच्चों के साथ-साथ उनके अभिभावकों की दृष्टि से अनन्य साधारण महत्त्व रखती है। इसमें हर बच्चे के खास होने पर बल दिया गया है। नील माधव पंडा की फिल्म 'आई एम कलाम' जो भारत के पूर्व राष्टपति ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम के बचपन से लेकर बड़े बनने तक के प्रेरणादायी सफर को उजागर करती है। 'हम पंछी एक डाल के', चेतन आनंद की फिल्म 'आखिरी खत', तारे जमीन पर, चिल्लर पार्टी, उड़ान, निल बटे सन्नाटा, स्टेनली का डिब्बा, मकड़ी, इकबाल तथा तहान आदि फिल्मों ने बाल विमर्श की पुरजोर हिमायत की हुई दृष्टिगोचर होती है। यह फिल्में बच्चों की दृष्टि से ही नहीं अभिभावकों की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रखती हैं।

आदिवासी विमर्श

वस्तुत: हिंदी फिल्मों में आदिवासी विमर्श की शुरुआत काफी देर से दिखाई देती है। मृणाल सेन द्वारा 1976 में निर्देशित फिल्म 'मृगया' में पहली बार आदिवासी विमर्श अर्थात् आदिवासियों की समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है। एक आदिवासी को 10 रुपए कर्ज के बदले में महाजन को ब्याज के साथ 32 रुपए देने को न होने के कारण वह उसकी जवान बेटी को भेजने की बात करता है। गोविंद निहलानी की 'आक्रोश' फिल्म में आदिवासियों के बहुआयामी शोषण की दास्तान कही जा सकती है। अशोक शरण निर्देशित 'उलगुलान एक क्रांति', जगमोहन मूंदड़ा की 'कमला', प्रकाश झा की ' चक्रव्यूह' तथा अमित मसूरकर की 'न्यूटन' आदि फिल्मों में आदिवासियों का चित्रण हुआ है। लेकिन इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता कि फिल्मों में चित्रित आदिवासियों को मात्र अंधविश्वासी, शराबी, आइटम गीतों में पत्ते लपेटे, अज्ञानी, जंगली रूपों में ही दिखाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि आदिवासियों को उनकी वास्तविकताओं के साथ चित्रित किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

उक्त विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदी फिल्मों का विमर्शोन्मुख परिदृश्य व्यापक परिलक्षित होता है। हिंदी साहित्यिक विमर्शों के उद्घाटन में हिंदी फिल्मों की प्रतिबद्धता को स्वीकार करना पड़ेगा। निश्चित ही हिंदी फिल्मों का दर्शक समुदाय अत्यधिक मात्रा में रहा है। स्वाभाविक रूप से दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, बाल विमर्श, आदिवासी विमर्श, सांप्रदायिक विमर्श, किसान विमर्श तथा पर्यावरण विमर्श को हिंदी फिल्मों के माध्यम से व्यापक मंच मिला है। आदिवासी विमर्श की बात करें तो कहा जा सकता है कि हिंदी फिल्मों में आदिवासियों को उनकी वास्तविकताओं के साथ अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, न कि मात्र फिल्म व्यवसाय की दृष्टि से।

संदर्भ

1. कृष्णदत्त पालीवाल, दलित साहित्य बुनियादी सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 61
2. दिलचस्प: हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, सं॰ 2011, पृ॰ 73
3. सं॰ डॉ॰ उषानायर, परिस्थितिक संकट और समकालीन रचनाकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 7
4. https://www.jagranAcom/entertainment/web-series-review-yashpal-sharma
5. https://www.drmullaadamaliAcom/2021/10/MovieReview-html
6. सं॰ प्रो॰ श्रीराम शर्मा, समकालीन हिंदी साहित्य : विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन, सं॰ 2009, पृ॰ 90

Mob. 9922807085
bhausahebnavale83@gmail.com

संतसंप्रदाय में गुरु परंपरा

दर्शना, शोधार्थी
एम॰ए॰ (हिंदी) जे॰आर॰एफ॰

जब से सृष्टि का निर्माण हुआ है मानव को ज्ञान की प्राप्ति हुई है। यद्यपि यह आकलन करना कि सृष्टि क्रम में ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया कहाँ से आरंभ हुई, बहुत ही कठिन है परंतु भारतीय वैदिक साहित्य जिसे संसार का आदि ग्रंथ माना जाता है, के अनुसार देवी अनुकंपा एवं ऋषियों मनीषियों और तत्त्वान्वेषी मनुष्यों द्वारा जिस दिव्यवाणी को निस्सृत किया गया वह वाणी ही मानव सृष्टि के लिए ज्ञानस्वरूप में ज्ञान परंपरा में मानव समाज के लिए अवतरित हुई, इस प्रकार उस दिव्य वाणी के प्रणेता को ही गुरु का रूप दिया गया। परिणामस्वरूप इन्हीं ज्ञानदायिनी वाणियों से ही 'गुरु' परंपरा चल पड़ी जिसमें ज्ञान का सृजन करने वाले को गुरु अर्जन करने वाले को 'शिष्य' कहा जाने लगा।

भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा में देता है तथा कालांतर में वही शिष्य गुरु के रूप में दूसरों को शिक्षा देता है, इस प्रकार यह परंपरा सनातन की सभी धाराओं में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों जैसे अध्यात्म, संगीत, कला, वेदाध्ययन, वास्तु आदि में प्रवाहित होती रहती है।

संत संप्रदाय एक परिचय—संत संप्रदाय का अर्थ है ऐसा धार्मिक साहित्य जो निर्गुण संतों द्वारा रचा गया है जिसमें अनेक संत जैसे—रामानंद-राघवानंद, तुलसीदास-नरहरिदास, वल्लभाचार्य-विष्णुस्वामी, गोरखनाथ-मत्स्येंद्रनाथ, सूरदास-वल्लभाचार्य, मीराबाई-रैदास, विद्यापति-हरि मिश्र आदि ऐसे युग्मक हैं जिन्होंने गुरु-शिष्य परंपरा का विकास करने में अपना-अपना अहम योगदान दिया है।

'संत संप्रदाय विश्व संप्रदाय है और उसका धर्म विश्वधर्म है। इस विश्वधर्म का मूलाधार है—हृदय की पवित्रता। पवित्रता सम्मत स्वाभाविक और सात्विक आचरण ने ही यहाँ धर्म का बहुत रूप ग्रहण किया है। समस्त वासनाओं, इच्छाओं एवं द्वेषों से रहित हृदय की निस्सीम सीमाओं में विशाल धर्म का प्रवेश और समावेश संभव है। यह सब सदगुरु की कृपा से ही संभव है। संत संप्रदाय में गुरु को ब्रह्मा से भी महान मना गया है।'[1]

संत संप्रदाय के प्रथम संत महाराष्ट्र के नामदेव हैं। जिन्होंने संत परंपरा तथा गुरु परंपरा को अग्रसर करने में मुख्य भूमिका निभाई। संत शिरोमणि नामदेव जी का जन्म 26 अक्टूबर 1270 को 'पंढरपुर' मराठवाड़ा, महाराष्ट्र के शिंपी परिवार में हुआ था जो भगवान विट्ठल का परम भक्त था। विट्ठलोपासना का यह संप्रदाय 'वारकरी संप्रदाय' कहलाया, जिसके संस्थापक संत श्री नामदेव जी थे।

गुरु-शिष्य परंपरा में नामदेव जी के मुख्य शिष्य संत जनाबाई, संत विष्णुस्वामी, संत परिसा भागवत, संत चोखामेला, त्रिलोचन आदि इस परंपरा को शोभायमान कर रहे हैं। संत नामदेव अपनी उच्च कोटि की आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए ही विख्यात हुए तथा वे मानते थे कि आत्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है और परमात्मा की बनाई हुई इस सृष्टि की सेवा करना ही सच्ची पूजा

 ISSN 0975-735X

है। इस प्रकार सभी संत कविओं ने प्रियतम् परमात्मा की प्राप्ति के लिए सद्गुरु को सच्चा हितैषी माना है एवं सभी संत कवियों का मानना है कि प्रियतम परमात्मा की प्राप्ति तभी होती है जब गुरु की कृपा होती है।

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो बताय।[2]

जब किसी मनुष्य को अपने पद पर अग्रसर होना होता है तो उस समय एक ऐसे पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होती है, जो पहले उस पथ पर जा चुका हो तथा पथ की सुख-सुविधा और कठिनाइयों से पूर्णतः परिचित हो। ब्रह्म साक्षात्कार के लिए गुरु की चरण धूली का स्पर्श अनिवार्य माना गया है। संत संप्रदाय में गुरु के अनेक रूप माने गए हैं, जैसे–दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु, गुरु सार रूप में, प्रेरणास्रोत के रूप में सद्गुरु की महिमा व कृपा का गुणगान किया गया है। ऐसे ही गुरु शिष्य-परंपरा को अग्रसर करते हुए हम संत संप्रदाय के मुख्य गुरु शिष्य का वर्णन कर रहे हैं।

संत श्री रामानुजाचार्य–संत संप्रदाय को अग्रसर करने वाले संतों में रामानुजाचार्य जी का नाम बहुत ही सम्मान के साथ लिया जाता है। राघवानंद जी के गुरु यादवप्रकाश तथा काँचीपूर्ण जी के शिष्य रामानुज का जन्म 1017 ई॰ में हुआ था। बचपन में इन्होंने यादवप्रकाश गुरु से वेदों की शिक्षा ग्रहण करते हुए शिक्षा गुरु यादवप्रकाश जी को स्वीकार किया परंतु आगे चलकर आलवंदार यमुनाचार्य जी के प्रधान शिष्य बने परंतु भाग्यवश उनसे दीक्षा गृहण करने से पहले ही यमुनाचार्य जी भगवान के चरणों में हमेशा के लिए लीन हो गए। तत्पश्चात रामानुजाचार्य ने यमुनाचार्य जी के शिष्य काँचीपूर्ण जी से दीक्षा ग्रहण की तथा अपना संपूर्ण जीवन सद्गुरु जी के चरणों में समर्पित कर दिया।

'संत कबीर ने सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए कहा है कि सच्चा गुरु वही है जो व्यक्ति को अंतर में आत्मदर्शन करा दे व अंतर में ही गुरु के दर्शन करा दे।

घर में घर दिखलाय दे, सो गुय संत सुजान
पंच शब्द धुनकार धुन, बाजे गगन निसान।[3]

संत राघवानंद जी–संत संप्रदाय में गुरु मार्ग प्रदर्शक, भ्रम निवारक तथा रहस्यानुभूति का ज्ञाता है। राघवानंद जी रामानंद के गुरु तथा रामानुचार्य के शिष्य रहे 'सिद्धांत पंचमात्रा' इनकी मुख्य कृति रही है।

'भक्तमाल में नामादास जी ने गुरु राघवानंद को ही रामानंद का गुरु माना है। इन गुरु राघवानंद की एक हिंदी रचना 'सिद्धांत पंचमात्रा' प्राप्त हुई, जो काशी विद्यापीठ से प्रकाशित और डॉ॰ पीतांबरदत्त बड़थ्वाल द्वारा संपादित 'योग प्रवाह' नाम पुस्तक में संग्रहीत है।'[4]

संत रामानंद जी–तत्कालीन साधनामूलक कठोर दक्षिण के आचार्यों के शास्त्र-सम्मत धार्मिक सिद्धांत के प्रतिकूल अध्यात्म के मार्ग को धर्म-जाति, वर्ग-लिंग आदि से मुक्त रखते हुए सबके हित के लिए उत्तर भारत में भक्ति के सिद्धांत को प्रचारित करने वाले स्वामी रामानंद जी का जन्म माघ कृष्ण पक्ष सप्तमी संवत् 1356 को प्रयाग में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में माना जाता है। इन्होंने 'रामानंदी संप्रदाय' जिसे 'वैरागी संप्रदाय' भी कहा जाता है, का प्रचलन किया तथा ऐसा माना जाता है कि उत्तरी भारत में भक्ति की लहर रामानंद जी ही लेकर आए थे। इनके बारे में कहा भी गया है–'द्रविड़ भक्ति उपजौ, लायो रामानंद।'

संत रामानंद जी ने गुरु राघवानंद जी से शिक्षा ग्रहण की तथा नाभादास की भक्तमाल के

अनुसार इन्होंने 12 शिष्यों को अपने ज्ञान का उपदेश दिया जिनका नाम इस प्रकार से है–अनंतानंद, कबीर, सुखानंद, सुरसरानंद, पदमावती, नरहर्यानंद, पीपा, भवानंद, रैदास, धन्ना, सेन, सुरसुरी।

रामानंद बड़े उदारचेता और मनस्वी थे, उन्होंने सामाजिक हीनता और असमर्थता की भावना को समूल नष्ट कर साधना का ऐसा भव्य एवं विशाल मंदिर निर्मित किया जिसके द्वार सबके लिए उन्मुक्त थे। रामानंद की हिंदी रचनाओं में उनका प्रगतिशील, आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। अपने गुरु राघवानंद से प्राप्त भक्ति और ज्ञान की पृष्ठभूमि में उन्होंने रामावत संप्रदाय का प्रवर्तन किया।'[5]

कबीर दास–संत कवि कबीरदास जी का जन्म 1398 ई॰ में काशी के लहरतारा तालाब के पास एक विधवा ब्राह्मणी से माना जाता है। इनका पालन-पोषण एक जुलाहा दंपति के द्वारा किया गया और इन्होंने दो गुरुओं से दीक्षा ग्रहण की, इनके हिंदु गुरु रामानंद और मुस्लिम गुरु शेख तकी थे। कबीरदास की मुख्य रचनाएँ–साखी, शब्द और रमैनी हैं, इनकी रचनाओं का संकलन इनके शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नाम से किया।

'भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में कबीरदास ऐसे महान् विचारक एवं प्रतिभाशाली महाकवि हैं, जिन्होंने शताब्दियों की सीमा का उल्लंघन कर दीर्घकाल तक भारतीय जनता का पथ आलोकित किया और सच्चे अर्थों में जन-जीवन का नायकत्व किया।'[6]

भक्तिकालीन सभी संतों में कबीर की वाणी सबसे अधिक सशक्त एवं सक्षम है। कबीर ने तत्कालीन धर्म साधनाओं, उपासना पद्धतियों द्वारा गहन अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किए है।

'कबीर की साधना में 'गुरु' को अत्याधिक महत्त्व तथा सम्मान दिया है। इनकी दृष्टि में 'गुरु गोबिन्द' से भी बढ़कर है–

हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु ऊँठे नहिं ठौर।[7]

कहकर कबीर ने गुरु को सबसे बड़ा आश्रय स्थान माना है, जो ईश्वर के रूठने पर भी भक्त की रक्षा करता है। परंतु गुरु भी उच्च कोटि का होना चाहिए और वह ज्ञान का भंडार होना चहिए जिससे वह अपने शिष्य के लिए पथ-प्रदर्शक का कर्त्तव्य पूर्ण रूप से पूरा कर सके।

रैदास–ज्ञान-प्राप्ति के लिए सभी संत कवियों ने गुरु की महता स्वीकार की है गुरु सैद्धांतिक ज्ञान के साथ प्रयोगात्मक ज्ञान का भी धनी होता है, जिससे वह अपने शिष्य के जीवन को पूर्ण रूप से आलोकित कर सके। ऐसे ही संत कवियों में रैदास जी का नाम लिया जाता है। ये भी कबीर के समकालीन एवं रामानंद जी के शिष्य थे। इन्होंने मीराबाई के गुरु रहकर उनके लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। सच्चा गुरु वही होता हो जो अपने शिष्य के अहम् भाव को मिटाकर उसे सच्चे ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। कबीरदास ने लिखा भी है–

सतगुरु मारया बाण भरि घरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघाड़े लागिया, गई दवा सूँ फूटि।[8]

गुरु नानकदेव–सिख धर्म के संस्थापक और सिखों के पहले गुरु नानकदेव का जन्म 1469 ई॰ में पंजाब (पाकिस्तान) के तलवंडी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता कल्याण उर्फ मेहता कालू जी और माता तृप्तादेवी तथा बहन नानकी से इन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला। 16 वर्ष की आयु में इनका विवाह सुलखनी देवी से हुआ। तत्पश्चात इनके दो पुत्र हुए, पुत्र श्रीचंद ने 'उदासी संप्रदाय' का प्रवर्तन किया तथा गुरु शिष्य परंपरा का विकास किया। गुरु नानकदेव जी ने अपने जीवन में बहुत सी तीर्थयात्राएँ कीं। इन यात्राओं के दौरान सबको उपदेश देते और सामाजिक

कुरीतियों के खिलाफ जागरूक करते थे।

नानक देव के अनुसार ईश्वर कृपा से तत्त्व दर्शन तो हो जाता है किंतु अनुभव की अभिव्यक्ति सदैव नहीं हो पाती। यथा–

आपे जागे आपे देई, आखहि किस भि केई केई,
जिसने बखसे सिफति सालहा, नानक पातिसाहि पातिसाहु।[9]

गुरु नानकदेव ने अनेक पदों की रचना की जो 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित है। जपुजी, आसा दी वार, रहिरास, सोहिला आदि इनकी मुख्य रचनाएँ हैं। कुछ अन्य सिख गुरुओं ने भी संतकाव्य के द्वारा गुरु-शिष्य परंपरा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यथा–गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोबिन्द, गुरु हरिराय, गुरु हरकिशन, गुरु तेगबहादुर और सिखों के दसवें गुरु गोबिन्द सिंह।

गुरु जम्मनाथ–संत संप्रदाय में अहम भूमिका अदा करने वाले गुरु जम्मनाथ का जन्म 1451 ई॰ में राजस्थान के पीपासर गाँव में माना जाता है। जनश्रुति के अनुसार उन्होंने 34 वर्ष की आयु तक एक भी शब्द उच्चरित नहीं किया और चमत्कारिक प्रदर्शन के कारण इनका नाम जम्म जी पड़ा। इन्होंने गुरु गोरखनाथ जी से दीक्षा ग्रहण की और 'बिश्नुई संप्रदाय' की स्थापना की। गुरु शिष्य परंपरा को अग्रसर करते हुए इन्होंने चार मुख्य शिष्यों को दीक्षा प्रदान की है–हावली पावजी, लोहा पागल तथा दतनाथ मालदेव। इनकी रचनाओं में निरंजन की उपासना गुरु महिमा, गगन मंडल पंचपुरुष एवं जन्म-मरण से मुक्ति का बारंबार उल्लेख हुआ है।

हरिदास निरंजनी–संत संप्रदाय में भक्त कवि शास्त्रीय संगीतकार तथा कृष्णोपासक रखी संप्रदाय के प्रवर्तक हरिदास निरंजनी जी का जन्म 1478 ई॰ में हुआ था। ऐसा माना जाता है कि ये अपने समय के महान संगीतज्ञों में से एक थे तथा अकबर के दरबारी कवि तानसेन भी यदा-कदा इनका संगीत सुनने आया करते थे तथा उन्होंने हरिदास जी को अपना दीक्षा गुरु भी स्वीकार किया। निरंजनी संप्रदाय का मूल स्रोत नाथ पंथ है तथा साधना क्षेत्र में इस पंथ को नाथ पंथ एवं संत मत के बीच की कड़ी माना जाता है।

निरंजनी जी को भाया और लौकिक बंधनों के प्रति अरुचि है तथा मोक्ष लाभ ही उनका अभीष्ट है–

गुणग्राही गोविन्द गुण गावा, भजि-मजि राम परम पद पावा।[10]

संत सींगा जी–निमाड़ के अवतार संत सिंगा जी का जन्म 1519 ई॰ में बड़वानी जिले के खजूरी ग्राम में ग्वाला परिवार में हुआ था। गुरु की भक्ति करना प्रत्येक शिष्य का स्वभाव होता है, परंतु गुरु की आज्ञा पर जीवित समाधी लेना विरला ही शिष्य कर सकता है। ऐसे ही सींगा जी अपने गुरु मनरंग स्वामी की आज्ञा से जीवित समाधी लेकर अमर हो गए और निमाड़ की धरती को अपने भक्तिभाव से पावन कर दिया। एक बार सींगा जी के गुरु मनरंगा स्वामी एक भजन गा रहे थे–

समुझि ले और मनाभाई, अंत न होय कोय अपना
यही माया के फंदे में, तर आन मुलाणा।[11]

इन पंक्तियों में संसार की निस्सारता, उनके हृदय में प्रत्यक्ष रूप से अंकित हो गई और उन्होंने मनरंगीर को अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकार कर लिया।

दादूदयाल–संत संप्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले संत दादूदयाल का जन्म 1544 ई॰ में अहमदाबाद में हुआ था। दादूदयाल का व्यक्तित्व कबीर से प्रभावित था, जिससे उनके काव्य में

धर्म सुधारक, समाज सुधारक तथा रहस्यवादी प्रवृत्ति पाई जाती है। कबीर को ही उन्होंने पथ-प्रदर्शक माना है और दादू पंथ का प्रवर्तन करते हुए चार मुख्य तथा 52 पट्ट शिष्यों को अपने उपदेशों द्वारा प्रभावित किया। इनके शिष्यों संतदास और जगन्नाथ ने इनकी रचनाओं का संकलन 'हरड़ेवाणी' तथा रज्जब ने 'अंगवधू' शीर्षक से किया।

'दादूदयाल का सत्संग स्थल 'अलख दरीबा' नाम से प्रसिद्ध हुआ क्रमशः ब्रह्म संप्रदाय रूप रेखा ग्रहण करने लगा। भविष्य में यही परब्रह्म संप्रदाय के रूप में प्रख्यात हुआ और कालांतर में इसी को 'दादू पंथ' संज्ञा प्राप्त हुई। दादू के जीवनकाल में यह पंथ बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके अंतर्गत रज्जब, सुंदरदास, प्रागदास, जनगोपाल, जगजीवन, प्रभृति प्रसिद्ध साधकों का आविर्भाव हुआ।'[12]

संत मलूकदास–संत संप्रदाय में गुरु परंपरा को अग्रसर करने वाले संतों में एक नाम संत मलूकदास जी का भी लिया जाता है। इनका जन्म 1574 ई॰ में उस समय हुआ जब भारत में अकबर के साम्राज्य का दीपक हिंदुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था। मलूकदास बचपन से ही अत्यंत उदार और कोमल हृदय के थे, इनके प्रथम गुरु पुरुषोत्तम थे परंतु बाद में इन्होंने मुरारिस्वामी से दीक्षा ग्रहण की जिनके विषय में इन्होंने स्वयं भी कहा है–'मुझे मुरारि जी सतगुरु मिल गए जिन्होंने मेरे ऊपर विश्वास की छाप लगा दी।'

सुंदरदास–संत दादूदयाल के शिष्य सुंदरदास का जन्म 1596 ई॰ में धोंसा के परमानंद खंडेलवाल के यहाँ हुआ था। छः वर्ष की आयु में ही उन्होंने दादूदयाल को दीक्षा गुरु स्वीकार कर ग्यारह वर्ष की अवस्था में संत जगजीवन और संत रज्जब के साथ काशी की यात्रा की, तदंतर फतेहपुर में किसी गुफा में निवास कर बारह वर्ष तक योगसाधना की तथा भ्रमण करते हुए वे अन्य संत कवि दादू के सिद्धांतों का प्रचार करते थे।

संत संप्रदाय में उपर्युक्त संतों के अतिरिक्त भी अनेक संत कवि हुए हैं, जिन्होंने गुरु-शिष्य परंपरा के विकास में अपना-अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनमें धर्मदास, बाबा लाल, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी, पीपा, सेन, धन्ना, अगंद तथा कुछ सिक्ख समुदाय से संबंध रखने वाले गुरु शेख फरीद, भीषण, वीरभान आदि उल्लेखनीय है। संत धर्मदास कबीर के मुख्य शिष्य हैं और कबीर की मृत्यु के अनंतर उनकी गद्दी का उत्तराधिकार भी इन्हीं को मिला। संत रज्जब की गणना दादूदयाल के मुख्य शिष्यों में की जाती है। इनका पूरा नाम रज्जब अली खाँ था। गुरु के प्रति इनकी अनन्य श्रद्धा थी। इन्होंने दादूदयाल की रचनाओं का संकलन 'अंगवधू' नाम से किया। इनकी विचारधारा का अनुमान निम्नलिखित साखियों से हो जाता है–

बारी बुद्धि माहै उदै, सफरी सबद समान।
इस प्रकार वाणी विविध समुझे साधु सुजान।
निर्मल पीछे प्रेम रस, पल-पल पोस पोषै प्राण।
जन रज्जब छाक्या रहे, साधू संत सुजान।[13]

निष्कर्ष–हमारा देश विश्व गुरु रहा है इसी कारण हमारे देश में प्राचीनकाल से गुरु को विशेष महत्त्व दिया जाता है। गुरु अपना संपूर्ण ज्ञान शिष्य को सौंप देते हैं और शिष्य को भूत, वर्तमान और भविष्य से अवगत करवाते हैं गीता में भी कहा गया है कि जीवन को सुंदर बनाना निष्काम और निर्दोष करना ही सबसे बड़ी विद्या है तथा इस विद्या का ज्ञान देने वाला ही सद्गुरु कहलाता है। ऐसे ही भारत में अनेक महान संतों ने जन्म लिया और दुनिया को अपने सुविचारों द्वारा

बड़ी ही सीख दी है। संत कवियों के मतानुसार संसार रूप भवसागर को पार करने में गुरु ही सहायक होता है। संत कबीरदास ने बड़े ही अनूठे तरीके से गुरु की महिमा का वर्णन किया है–

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत कियो उपकार,
लोचन अनँत उघाड़िया अनँत दिखावणहार।[14]

इस प्रकार संत संप्रदाय में उपर्युक्त सभी संत कवियों ने अपने योगदान द्वारा गुरु-शिष्य परंपरा को विकसित किया और अपने ज्ञान के प्रकाश द्वारा संपूर्ण संसार को आलोकित किया।

संदर्भ

1. डॉ॰ नगेंद्र (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 140
2. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पृ॰ 85
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हजारीप्रसाद ग्रंथावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 318
4. डॉ॰ नगेंद्र (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ॰ 142
5. वही, पृ॰ 143
6. प्रो॰ ए॰वी॰एस॰एस॰ नारायण राजू, कबीर के दृष्टिकोण में गुरु, पूर्णकुंभ, साहित्यिक मासिक पत्रिका, मई 2002
7. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, इंडियन प्रेस लि॰, पृ॰ 2
8. डॉ॰ नगेंद्र (संपादक), हिंदी साहित्य का इतिहास नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ॰ 147
9. वही, पृ॰ 146
10. वही
11. वही
12. वही, पृ॰ 151
13. वही, पृ॰ 155
14. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, इंडियन प्रैस लि॰, पृ॰ 1

H.No. 7/16, Kaluram Building
Thandi Sadak, Near Girls ITI,
Hisar 125001
Mob. 8607796221
darshnajakhar1991@gmail.com

परशुराम शुक्ल एवं विनोदचंद्र पांडेय का सामाजिक और सांस्कृतिक तुलनात्मक अनुशीलन

इंदरसिंह कदम, शोधार्थी, हिंदी
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म०प्र०)

बालसाहित्य का अर्थ स्वत: प्रकट होता है जो साहित्य बालमन के लिए उपयोगी हो या बच्चों के मानसिक बौद्धिक नैतिक और सबसे बढ़कर मनोरंजनात्मक ढंग से पोषण करता हो, बाल साहित्य है। हिंदी साहित्य के वरिष्ठ बाल साहित्यकार, डॉ० परशुराम शुक्ल एवं विनोदचंद्र पांडेय से हम सब भली-भाँति परिचित हैं। आप दोनों ने बालसाहित्य में सामाजिक, पर्यावरण, धार्मिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अधिकार पूर्वक लेखनी चलाई है। बचपन मानव जीवन का आधार-स्तंभ है जिस पर संपूर्ण जीवन का ढाँचा स्थित है जिस परिवेश में बचपन पलता-बढ़ता है और जो कुछ वह देखता है, परखता है, पढ़ता है, समझता है वह सभी कुछ उसके नाजुक अस्तित्व को गहराई से प्रभावित करता है उसका संपूर्ण व्यक्तित्व कितना सुदृढ़, कमजोर, कुंठित और संतुलित है यह बालसाहित्य पर निर्भर करता है। इसी से बालमन की कल्पनाशक्ति का उचित पोषण और इच्छाओं की सृष्टि होती है तथा बच्चे को स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ कुछ सीखने व समझने की बुद्धि भी मिलती है। साहित्य की अनेक परिभाषाएँ लिखी जा सकती हैं और लिखी भी गई हैं। बालसाहित्य भी इससे अछूता नहीं है। बालसाहित्य बच्चों के लिए एक अच्छा मार्गदर्शक होता है। बच्चों की दुनिया सर्वथा अलग होती है। उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वच्छंद मन होता है।

डॉ० परशुराम शुक्ल–बालसाहित्य के केंद्र में बच्चा या बच्चे की रुचि का कोई विषय हो जिसमें अत्यंत सरल, सहज और प्रचलित शब्दों का उपयोग किया जाता है तथा वाक्य छोटे-छोटे होते हैं।

विनोदचंद्र पांडेय–बालसाहित्य की समीक्षा पक्ष दुर्बल है इस ओर बाल साहित्यकारों को ध्यान देने की आवश्यकता है।

शुक्ल जी का जन्म 6 जून 1947 को कानपुर जिले के सैबसू ग्राम में हुआ था। उनका बचपन कानपुर में लाड़-प्यार के साथ बीता। उनकी संपूर्ण शिक्षा कानपुर में ही हुई। डॉ० शुक्ल जी, आजीविका के लिए कहीं ज्यादा मारे-मारे नहीं फिरे। शुक्ल जी संपन्न परिवार से तो थे ही इसी के 1971 में काइस्ट चर्च कालेज में समाजशास्त्र विभाग के विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। अस्थाई नौकरी के बाद वे पारिवारिक बंधन में 12 मई 1979 को बँध गए। डॉ० शुक्ल ने समय के महत्त्व को हमेशा समझा। समय को सर्वोपरि रखकर डॉ० परशुराम शुक्ल ने हमेशा जीवन को जिया है। साहित्य सृजन के बारे में बात करें तो हमारा कुछ घंटों का समय भी कम पड़ सकता है। आप एक उच्चकोटि के बाल साहित्यकार हैं जिस पर आपने न जाने कितना परिश्रम किया है। आपने बाल साहित्य की प्राय: सभी विधाओं पर कुछ-न-कुछ लिखा है–बाल कहानी, शिशुगीत, बाल

 ISSN 0975-735X

एकांकी, ज्ञान-विज्ञान संबंधी आलेख और जीव-जंतुओं से संबंधित आलेख, बाल धारावाहिक लिखे। आपने हिंदी बालसाहित्य को भारत में ही नहीं विश्वपटल पर भी उजागर किया है। डॉ॰ शुक्ल जैसे महान साहित्यकार के सामने बड़ा-से-बड़ा पुरस्कार और सम्मान छोटा ही नजर आता है। वह एक ऐसे हस्ताक्षर हैं जिनकी समूचे हिंदी साहित्य जगत में अपनी अलग पहचान है।

हिंदी बाल कविता के स्तंभ श्री विनोदचंद्र पांडेय का वंश काफी समृद्ध और बड़ा है। उनका बचपन एक भरे-पूरे परिवार में आनंदपूर्वक व्यतीत हुआ है। उनका जन्म 16 नवंबर 1940 ई॰ को ग्राम पंडरी (अमेठी) उ॰प्र॰ में हुआ। आपके पिता-माता का नाम विजयपाल पांडेय और सरला पांडेय था। आपकी शिक्षा प्रारंभ में सुल्तानपुर से शुरू हुई जो एम॰ए॰ इलाहाबाद विश्वविद्यालय तक चलकर आगे भी बढ़ी। डॉ॰ पांडेय ने अपनी आजीविका के साथ समाज सेवा को सर्वोपरि मानते हुए अनेक प्रशासनिक पदों पर रहकर राष्ट्र की सेवा की। वैवाहिक जीवन के लिए उनकी बड़ी प्रचलित कहावत थी कि 'अपने पैरों पर खड़े हो जाएँ, तब शादी विवाह किया जाए'। जैसे ही वे पुरातत्त्व विभाग में प्रवक्ता बने वैसे ही उनके सांसारिक जीवन का वह क्षण आया और सुमित्रा पांडेय के साथ 25 फरवरी 1963 को शादी कर ली। डॉ॰ पांडेय जी हिंदी काव्य जगत के एक सिद्ध-समर्थ एवं राष्ट्रीय स्तर के सुविख्यात रचनाकार थे। उन्होंने बच्चों के सर्वांगींण विकास और मनोरंजन के लिए जो लेखन किया वह उनके साहित्य को ऊँचा मुकाम प्रदान करता है। आप बाल साहित्य संस्थान के अध्यक्ष, बाल कविता वार्षिक पत्रिका के संपादक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थानों द्वारा अभिनंदन एवं सम्मानित हुए। डॉ॰ पांडेय जी का फरवरी 2019 को देहावसान हो गया और वह पंचतत्त्व में विलीन हो गए।

डॉ॰ परशुराम शुक्ल के बारे में पढ़ने एवं अन्य साहित्य को देखने पर ऐसा महसूस होता है कि डॉ॰ शुक्ल की रचनाधर्मिता विस्तृत है, व्यापक है और यह गुण आपके चिंतनशील विचारवान विद्वान होने की निशानी और कहानी बताते हैं। आज समय के विपरीत प्रवहमान परिस्थितियों में सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास चल रहा है। बालसाहित्य बच्चों को नई दिशा प्रदान करता है तथा समाज के प्रति समर्थ भाव पैदा करता है। आपने हजारों रचनाओं का सृजन कर बालकों एक भरपूर बालसाहित्य कोष दिया है। बालपन में सामाजिक नैतिक मूल्यों का विकास भरने वाली रचनाओं से सुसज्जित कृति 'उठो सवेरे' डॉ॰ परशुराम शुक्ल की उत्तम कृति है जिसमें बोधगम्य रचनाएँ हैं—प्रार्थना, उठो सबेरे, विद्यालय पुस्तक महिमा, मच्छर भाई, बंदर मामा, तिरंगा उक्त सभी रचनाएँ बच्चों को मनोरंजन की दुनिया की सैर तो कराती ही है सत्यतापूर्ण उप विषयों का ज्ञान भी कराती है उन नियमों का महत्त्व बताती है। उदाहरण देखिए—

करो पुस्तकों का सम्मान
इनमें भरा हुआ है ज्ञान
सबसे अच्छी मित्र पुस्तकें
अपने मन में रखना ध्यान
इनकी महिमा बड़ी निराली
ये करती स्वयं कल्याण।

वर्तमान समय में मोबाइल के बढ़ते चलन से दुनिया में पुस्तकों का महत्त्व कम होता जा रहा है। बच्चों को पढ़ने में रुचि नहीं रही है तब यह कविता अधिक प्रासंगिक और समयानुकूल प्रतीत होती है।

विनोद जी की अभिरुचि किशोरावस्था में ही प्रकट हो चुकी थी। आपने निरंतर साहित्य साधना कर एक मुकम्मल स्थान प्राप्त किया है। विनोद जी ने कितने महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतकाव्यों एवं बाल-काव्यों का सृजन किया। ऐसे महाकवि की रचनाधर्मिता को हिंदी साहित्य जगत सदैव स्मरण रखेगा। विनोद जी की 'अमर कहानी त्याग की' एक सुंदर कृति है जिसमें त्याग और प्रतिज्ञा से पूर्ण काव्य मानव समाज को त्याग और संवेदनशीलता का पाठ सिखाता है, यथा–

सुनो ध्यान से राजा शिव की, तुमको कथा सुनाएँ
उनकी दान वीरता का गुण, मुक्त कंठ से गाएँ
पुत्र सम्मान प्रज्ञा में अपनी, सदा उन्होंने जाना
शरणागत की रक्षा के हित, धर्म निरंतर माना।
देवों ने भी सुनी किसी से, उनकी कीर्ति कहानी।
लेने की अतएव परीक्षा, स्वयं इंद्र ने ठानी।

यह कृति बालमन में ही नहीं अपितु समाज के बीच संदेश प्रसारित करती है कि मानव जीवन पाकर मनुष्य को किस प्रकार अपनी कीर्ति, यश और मानवीय गुणों को जीवित रखना है इस कृति में राजा शिव के त्याग की महान गाथा को काव्य रूप में प्रेषित किया है जो बालमन के त्याग की भावना और अपने वचन अपनी कर्त्तव्य निष्ठा को पूर्णत: निभाने का संदेश है।

समाज–समाज संपूर्ण प्रकृति में समाया है समाज में सारा प्राणी जगत और सजीव निर्जीव संपूर्ण सभी समाज है। यहाँ डॉ॰ शुक्ल एवं पांडेय के बालसाहित्य का सामाजिक अध्ययन करने के लिए हम समाज की परिभाषा, अर्थ आदि भौगौलिक जानकारी को रेखांकित करें। इसका मूल उद्देश्य है कि कवियों ने अपने साहित्य में सामाजिक पहलुओं को समाज के तमाम पक्षों से परिचित कराया है। कोई भी बच्चा सामाजिक दायित्व, कर्त्तव्यों, समाज में व्यरित असमानता, कदाचार, सदाचार और नैतिक बिंदुओं को भी समाज से सीखता है। स्वस्थ्य बाल मनोरंजन, नैतिक शिक्षा, सामाजिक चेतना का विकास, शिक्षा के क्षेत्र में वृद्धि, नारी शिक्षा पर बल, पिछड़े वर्ग के विकास का प्रयास, धार्मिक आडंबरों भ्रष्टाचार का विरोध, व्यक्तिवादी और भौतिकवादी विचारवाद आदि बिंदुओं को लेकर डॉ॰ शुक्ल जी एवं विनोद जी ने बालमन तक पहुँचने का सफल प्रयास किया है।

जैसा कि यह सर्वविदित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अरस्तु का यह कथन सत्य है लेकिन समाज में प्रकृति का संपूर्ण चित्र समाया हुआ है। जिसमें प्राणी, सजीव, निर्जीव सभी वस्तुएँ शामिल हैं। लेकिन अन्य प्राणियों या वस्तुओं की भाँति सभी अचेतन नहीं हैं, कुछ चेतन भी हैं। समाज में चेतना की परम आवश्यकता भी है। यदि समाज में चेतना नहीं होगी तो वह मृत समान माना जाएगा। अचेतन अवस्था समाज में प्राण नहीं फूँक सकती। वस्तुत: बच्चों के सामाजीकरण के लिए उनमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए बालकथाएँ एवं बालसाहित्य सर्वोत्तम माध्यम है। अपने सामाजिक, सांस्कृतिक आध्यात्मिक, शिष्टाचार, आदर्शों के बीच बच्चों के भीतर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित करने में बालसाहित्य ही समर्थ है। डॉ॰ शुक्ल एवं विनोद जी द्वारा दृष्टांत प्रस्तुत हैं–

बच्चो, सुनो हमारी बात/ एक दो नहीं पूरी सात
कभी न बोलो कोई झूठ/ आपस मत रखना फूट
बस्ता लेकर पढ़ने जाना/ नहीं किसी को कभी सताना
मिलकर खेलो अच्छे खेल/ खेल करते जग में मेल

काम सदा अच्छे ही करना/ बुरे काम से हरदम डरना
बनना है यदि तुम्हें महान/ इन बातों को रखना ध्यान

प्रस्तुत पक्तियों के माध्यम से कवि ने सामाजिक जीवन के लिए सात बातों को महत्त्वपूर्ण माना है जिन्हें जानकर बच्चा समाज के प्रति अग्रसर होगा।

कविता 'मेल जोल से रहना सीखो' दृष्टांत प्रस्तुत हुआ है–

सुनो बालको एक कहानी/ नगरी थी वह बड़ी पुरानी
अंधा वहाँ एक रहता था/ लँगड़ा एक दुख सहता था
नदी किनारे वह नगरी थी/ जिससे रहती हरी भरी थी
पानी की थी सुविधा भारी/ खुश रहते थे सब नर–नारी

कवि विनोदचंद्र पांडेय ने समाजवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त करते रहने में ही सबका कल्याण बताया है। समूचे समाज को अपना परिवार मानकर चलने से आपस में भाईचारा और एकता की वृद्धि होती है जिससे देश का विकास होता है।

संस्कृति–यदि हमें किसी भी राष्ट्र की प्रगति एवं प्रागैतिहासिकता के विषय में जानना हो तो सर्वप्रथम वहाँ की संस्कृति का अध्ययन करना होगा। कोई भी राष्ट्र अपनी संपदा और अपनी संस्कृति के कारण ही सदैव जीवित रहता है। वह अपनी संस्कृति के कारण ही समूचे जगत में पहचाना जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है जिसे लगभग 5000 वर्ष पुरानी माना जाता है। यहाँ की संस्कृति समूचे विश्व में प्रसिद्ध होकर एक मान संस्कृति के रूप में स्थान रखती है। सर्वप्रथम 'अनेकता में एकता' इसकी प्रमुख पहचान है जिसका अभिप्राय है कि भारत एक ऐसा विविधतापूर्ण देश है जहाँ विभिन्न धर्म, समुदाय, जाति तथा वर्ग के लोग रहते हैं। इन लोगों की भाषा, परंपराएँ, रीति–रिवाज आदि अलग–अलग होते हुए भी सभी लोग यहाँ सुख–शांति से एक साथ निवास कर देश के विकास में अपना योगदान देते हैं। यहाँ के निवासी सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से भी मौलिक रूप से स्वतंत्र है, जिसके कारण ही भारतीय संस्कृति पूरे जगत में लोकप्रिय है। धर्मों की विविधता में एकता के मजबूत संबंधों का यहाँ अस्तित्व है। विनोदचंद्र पांडेय एवं परशुराम शुक्ल ने अपनी काव्य रचनाओं के माध्यम से बच्चों को अपनी संस्कृति को समझने का संदेश दिया है–

पानी पानीदार बहुत है, पानी को पहचानो।
पानी से खेती लहराती
धरती हरी–भरी हो जाती
पंचतत्त्व में सबसे बढ़कर
तुम पानी को मानो।
पानी पानीदार बहुत है, पानी को पहचानो।
पानी सबकी प्यास बुझाता
जीव जगत का जीवनदाता
जब तक पानी धरती है,
तब तक जीवन जानो
पानी पानीदार बहुत है, पानी को पहचानो।
पानी की बर्बादी रोको

इसके लिए सभी को टोको
बचत करोगे बूँद-बूँद की
अपने मन में ठानो
पानी पानीदार बहुत है, पानी को पहचानो।

प्रस्तुत पंक्तियों से बच्चों में पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक एवं समर्पण का बीजांकुर करने का सदप्रयास पूरी लगन से किया है। इस बावत वनों की अंधाधुंध कटाई, बढ़ता बाजारवाद से पर्यावरण संरक्षण को सीधी क्षति पहुँच रही है।

आधुनिक तकनीकी और बढ़ते प्रौद्यौगिकीकरण के कारण आज समूचा संसार एक मुट्ठी में कैद नजर आता है। आज मानव एक स्थान पर बैठे-बैठे ही समूचे विश्व की खबर एवं वहाँ की संस्कृति, जो हमारे लिए अपसंस्कृति का विषय बनती है के बारे में जानकारी ले सकता है। यह एक कटु सत्य है कि विदेशी संस्कृति एवं वहाँ के रहन-सहन से हमारा देश का वातावरण भी कुप्रभावित हुआ है।

दूर हुआ अँग्रेजी शासन, फिर भी हम आजाद नहीं है।
भारत के सब भारतवासी, खुशियों से आबाद नहीं है।
सत्य, अहिंसा, सदाचार की, होली जलती आज देश में।
और दीवाली मना रहे हैं, भ्रष्टाचारी कुटिल वेश में।
नेता, अफसर भ्रष्ट हो गए जीवनभर के शोषण करते।
टैक्स, टैक्स औ' टैक्स लगाकर, अपनी मोटी जेबें भरते।
आता जब जब मौसम चुनाव का, वोट माँगने दौड़े आते।
और वोट की खातिर नेता, खूनी दंगे भी करवाते।
अपने पैरों पड़ी बेड़ियाँ, आज काटकर इन्हें हटाओ।
आगे बढ़कर उन्हें मिटाओ-आगे बढ़कर उन्हें मिटाओ।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में वृद्धि से व्यथित कवि शुक्ल ने अपनी कविता स्वराष्ट्र में अँग्रेजों के यहाँ से चले जाने के बाद भी देश को असहयोग, कदाचार एवं भेदभाव जैसी मानसिकता की जंजीरों में जकड़े हुए समग्र समाज को मानो लताड़ लगाई है।

निष्कर्ष–इस प्रकार उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर कविद्वय परशुराम शुक्ल एवं विनोदचंद्र पांडेय के बालसाहित्य का सामाजिक और सांस्कृतिक तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात यह सरलता से कहा जा सकता है कि बच्चों को अपने देश का समाज, संस्कृति सभ्यता से अवगत कराने के उद्देश्य से रचित काव्य रचना सफलतापूर्वक ग्राह्य रही है और आगे भी रहेगी। बालकों को उचित शिक्षा देते हुए, उनकी मानसिकता का विस्तार करते हुए, समूचे विश्व को एक कुटुंब मानकर सेवा एवं मानवता के मार्ग पर चलना ही परम धर्म बताया है। ऐसी विकसित खुली और ऊँची सोच से बच्चे अपने बाल्यकाल से ही बिना किसी जाति धर्म देश संस्कृति को ऊँचा-नीचा या अच्छा-बुरा न मानते हुए सर्वमंगल की कामना में आगे बढ़ते जाएँगे जिससे वे अपने दृष्टिकोण को विस्तारित कर समाज या देश की परिधि से ऊपर उठकर विश्व कल्याण के प्रयास में संलग्न एवं तत्पर हो सकेंगे, ताकि बड़े होकर वे क्षेत्रवाद जैसी संकीर्ण मानसिकता से ग्रसित न हों और संपूर्ण विश्व में सुख शांति की स्थापना के लिए सदैव ही प्रयासरत रह सकें।

आज के आधुनिक दौर में जब विदेशी संस्कृति संचार साधनों के कारण हमारे देश की

संस्कृति पर हमला कर रही है, तब ऐसे दुष्कर समय में बाल साहित्यकारों द्वारा संस्कृति संरक्षण एवं सभ्यता, शिष्टाचार हितैषी कविताएँ सृजित करके अपना नैतिक एवं सृजन धर्म बखूबी निभाया है। आस्था और विश्वास के मार्ग पर बाल्यकाल से ही यदि बच्चे सीख लें तो उनका आत्मविश्वास चरम पर होगा, जो उनके सुखद भविष्य के लिए फलदायी सिद्ध होगा। पर्यावरण संरक्षण एक मझली आवश्यकता है, जिसके विषयक बच्चों को अवगत कराना अत्यंत आवश्यक है। पर्यावरण संरक्षण पर अनेक कविताएँ लिखकर बच्चों को इस हेतु जागरूक किया है। इन कवियों द्वारा देश की प्राकृतिक संपदा का जीवंत चित्रण सरल भाषा में करके बालसाहित्य को कृतार्थ किया गया है। इस अवसरवादी युग में मानव मशीनों के बीच रहते-रहते मशीनी हो गया है। उसकी संवेदनाएँ मृत होती जा रही हैं। ऐसे में बच्चों में मानवीय मूल्यों के प्रति सजग कराना बाल कवियों की प्राथमिकता है। बच्चों में क्रमशः वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कराते रहना भी सामयिक है अन्यथा हमारे देश के बच्चे अन्य प्रतियोगी देशों की तुलना में अत्यंत पिछड़ जाएँगे। विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए दोनों कवियों—परशुराम शुक्ल एवं विनोदचंद्र पांडेय ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं बालहितकारी रचनाओं का सृजन करके बालसाहित्य जगत को कृतार्थ किया है।

संदर्भ

1. हिंदी बाल कविता में प्रकृति वन्यजीव एवं पर्यावरण एक अनुशीलन शोध प्रबंध, डॉ॰ करनसिंह अहिरवार, शोध अध्ययन केंद्र शास॰ स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दतिया (म॰प्र॰)
2. बालसाहित्य समीक्षा, जून 2007 वर्ष 30 अंक-8, डॉ॰ परशुराम शुक्ल विशेषांक, संपादन महेश सक्सेना, राजेंद्र प्रिंटर्स, कानपुर, पृ॰ 5
3. विनोदचंद्र पांडेय अभिनंदन ग्रंथ, संपादक डॉ॰ दिनेश अवस्थी, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, पृ॰ 336
4. डॉ॰ परशुराम शुक्ल, उठो सवेरे, पृ॰ 4
5. डॉ॰ विनोदचंद्र पांडेय, अमर कहानी त्याग की
6. डॉ॰ वात्सयान, समाज शास्त्र के सिद्धांत, प्रकाशक-केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, पृ॰ 3
7. डॉ॰ शिरोमणि सिंह पंथ, हिंदी बाल कविता में सामाजिक सांस्कृतिक चेतना, आशा प्रकाशन, कानपुर (उ॰प्र॰), पृ॰ 160
8. विनोदचंद्र पांडेय, कथा कहानी की कविताएँ, वेदांत पब्लिकेशन, लखनऊ, पृ॰ 14
9. विनोदचंद्र पांडेय, गीत बाल-बच्चों के, वेदांत पब्लिकेशन लखनऊ, पृ॰ 34
10. परशुराम शुक्ल, तिरंगा, पृ॰ 15

Mob. 8827188320
indarsinghkadam@gmail.com

यशपाल के उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में अभिव्यक्त सामाजिक चिंतन

डॉ॰ कविता मीणा, सहायक आचार्य, हिंदी
राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा (राज॰)

सामाजिक चेतना से संपन्न हिंदी के ख्यातनाम साहित्यकार यशपाल मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने सामाजिक व्यवस्था की जर्जरता, असंगतियों, विकृतियों व खोखलेपन का यथार्थवादी चित्रण अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया। प्रेमचंदोत्तर युग के इस साहित्यकार ने परतंत्र भारत के सामाजिक-सांप्रदायिक दंगों से लेकर देश विभाजन की त्रासदी से जुड़े राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों का खुलकर विश्लेषण अपने उपन्यासों में किया। यशपाल सामाजिक रूढ़ियों तथा पुरातनपंथी विचारों का विरोध करने वाले कथाकार थे। उन्होंने 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड', 'देशद्रोही', ' झूठा सच', 'मेरी तेरी उसकी बात' जैसे राजनीतिक-सामाजिक उपन्यासों में देश विभाजन की त्रासदी, द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों, स्वतंत्रता आंदोलनों के यथार्थ स्वरूप के साथ- साथ, पराधीन भारत की सामाजिक एवं सांप्रदायिक समस्याओं, असंगतियों, विषमताओं, संकटों को अभिव्यक्त किया है। इन कृतियों में युग जीवन का संघर्ष प्रस्तुत हुआ है। मिल-मालिकों का संघर्ष, शोषितों की दयनीय स्थिति, हिंदू-मुस्लिमों के संप्रदायगत दंगों, परंपरागत रूढ़ियों, जाति व्यवस्था और नारी शोषण से जुड़े विविध आयामों का चित्रण उपन्यासों में हुआ है। यशपाल का अपनी कृतियों के सृजन के पीछे प्रमुख उद्देश्य समाज में परिवर्तन लाना रहा था। अगर हम बात करें यशपाल के सामाजिक चिंतन की तो कृति को समाज से जोड़ने की दृष्टि से यह साहित्यकार मुंशी प्रेमचंद जी के उत्तराधिकारी के रूप में नजर आते हैं। साम्यवादी विचारधारा के समर्थक होने के कारण यशपाल का सामाजिक व्यवस्था के प्रति अलग दृष्टिकोण रहा। वे एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का शोषण न हो। शायद यही कारण रहा होगा कि यशपाल ने लगभग अपने सभी उपन्यासों में समाज से जुड़े विविध पहलुओं पर अपने विचार प्रस्तुत किए। वे किसी कृति अथवा कला की पूर्णता को समाज से जोड़कर देखते थे। उन्होंने कहा भी है कि 'कला कोकला के लिए निर्लिप्त क्षेत्र में ही सीमित न रखकर मैं उसे भावों या विचारों का वाहक बनाने की चेष्टा क्यों करता हूँ? ...क्योंकि जीवन में मेरी साध केवल व्यक्तिगत जीवनयापन नहीं बल्कि सामाजिक जीवन की पूर्णता है। इसलिए कला से संबंध जोड़कर भी मैं कला को केवल व्यक्तिगत संतोष के लिए नहीं समझ सकता। कला का उद्देश्य है–जीवन में पूर्णता का यत्न। बजाय इसके कि कला का यत्न बहककर पैंतरे बदलकर शांत हो जाए। क्या यह अधिक अच्छा नहीं कि वह समाज के लिए आधार प्रस्तुत करे?'[1] यशपाल ने अपने समय के समाज को जिया, भोगा और उस पर चिंतन-मनन किया यही कारण है कि सामाजिक नवनिर्माण एवं सामाजिक परिवर्तन लाने की दृष्टि से यशपाल के विचार आज भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। यशपाल के सामाजिक विचार आधुनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण थे। भारतीय समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों

 ISSN 0975-735X

में यशपाल की कृतियों ने जनजागृति का प्रकाश फैलाने का कार्य किया था।

सामाजिक चिंतन की दृष्टि से अगर हम उनके उपन्यास ' मेरी तेरी उसकी बात' को देंखे तो स्पष्ट परिलिक्षत होता है कि 'भारत छोड़ो आंदोलन', द्वितीय विश्वयुद्ध, कम्युनिस्टवाद से जुड़े राजनीतिक विचारों के साथ-साथ उक्त उपन्यास में समाज में वर्ग, वर्ण, धर्म से संबंधित संप्रदायगत टकराहट, परंपरागत रूढ़ियाँ, जातिगत बंधन, छुआछूत, नारी शोषण, अनमेल विवाह, विधवा समस्या, वेश्या समस्या, परदा प्रथा से जुड़े विविध आयामों पर यशपाल ने अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि सन् 1942 का 'भारत छोड़ो' आंदोलन है। सन् 1976 में साहित्य अकादमी से सम्मानित उक्त उपन्यास में यशपाल ने परतंत्रकालीन भारतीय समाज की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। इसमें सामाजिक चेतना के अनेक आयाम विविध प्रसंगों के द्वारा उद्घाटित किए गए हैं।

स्वतंत्र भारत ही नहीं परतंत्र भारतीय समाज भी सांप्रदायिकता की भावना से मुक्त नहीं था। उस समय भी हिंदू, मुस्लिम, ईसाई धर्म के लोग अपने-अपने धर्मों की श्रेष्ठता साबित करते हुए दिखाई देते हैं। तत्कालीन समाज में व्याप्त सांप्रदायिक भेदभाव को उपन्याय में आई निम्न पंक्तियों से समझा जा सकता है–'रेलवे स्टेशनों पर हिंदू पानी और मुसलमान पानी अलग होता। उसी तरह खाने-पीने की दूसरी चीजों की भी हिंदू-मुसलमान दुकानें पृथक-पृथक। अँग्रेज सरकार जनता की सांप्रदायिक भावना के प्रति विशेष कृपालु थी। ...उन लोगों को आपत्ति थी: नल में चमड़ा लगी टोंटी से पानी पिया तो मशक का पानी पिया 'मशक का पानी पिया तो मुसलमान का पानी पिया।'[2] पराधीनकाल के सामाजिक परिवेश में हिंदू तथा मुसलमानों के बीच धर्म अथवा संप्रदाय का यह संघर्ष निरंतर चल रहा था जिसका राजनीतिक क्षेत्र में परिणाम रहा मुस्लिम लीग का निर्माण। पाकिस्तान की माँग सांप्रदायिकता के आधार पर देश के बँटवारे की माँग थी। यशपाल ने तत्कालीन युग की इस सांप्रदायिक एवं धार्मिक कट्टरता की समस्या का चित्रण उपन्यास में किया हैं–'कुछ मुस्लिम जवान, खासकर संदिग्ध कारोबारों से संबद्ध लोग, सीना फुलाकर चलते और धौंस देते: आने दो मौका देख लेंगे सालों को। हिंदुस्तान की हुकूमत अँग्रेज ने मुसलमान से ली है और मुसलमान को ही लौटाएगा। साले दाल पीने वाले बनिए-बक्काल हुकूमत क्या जानें! हम अपने दीनी रिवाज के मुताबिक ईदुज्जुहा पर बछिया-बछड़े की कुर्बानी क्यों नहीं दे सकते? देख लेंगे, किसकी हिम्मत है हमें रोकने की और मस्जिदों के सामने बाजा बजाने की।'[3] इतना ही नहीं उस समय व्यक्ति के राजनीतिक विचार भी मजहब से प्रभावित थे। युगीन परिवेश की धार्मिक कट्टरता को उपन्यास में आए पात्र गफूर के विचारों के माध्यम से यशपाल ने व्यक्त किया है। 'आज हम पाकिस्तान की माँग के लिए मजबूर हैं और उसे लेकर रहेंगे। अक्लियत पर अक्सरियत की हुकूमत को डेमोक्रैसी नहीं कहा जा सकता। डेमाक्रैसी हो सकती है मुसाबात से। काँग्रेस और मुसलमानों को हुकूमत में आबादी की बिना पर नहीं, कौमियत और मजहब की बिना पर बराबर हकूक और हिस्सा होना जरूरी।'[4] ऐसे संप्रदायगत भेदभावों के कारण ही हमारा देश ब्रिटिश शासकों का गुलाम बना रहा। ऐसी सांप्रदायिकता को यशपाल समाज के लिए अभिशाप मानते थे। यही कारण था कि उन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या पर कड़ा प्रहार अपने उपन्यासों में किया। दूसरे धर्मों के प्रति घृणा की भावना समाज में द्वेष का वातावरण उत्पन्न करती है अत: यह संकीर्ण सांप्रदायिकता की भावना समाज व देश के लिए अहितकारी है।

परतंत्र भारतीय समाज में जातिगत बंधनों की जकड़न भी हिंदू-मुस्लिम संप्रदायगत टकराहट

की भाँति विद्यमान थी। समाज में जाति के नाम ऊँच-नीच का भेदभाव किया जाता था। भारतीय समाज में सदैव ही उच्च जाति के लोगों द्वारा समाज में निम्न समझी जाने वाली जाति के लोगों को अस्पृश्य माना जाता रहा है। यशपाल ने समाज में मौजूद इस सामाजिक अस्पृश्यता की समस्या का चित्रण किया। उक्त उपन्यास में भी इस जातिगत संकीर्ण मानसिकता का चित्रण अनेक जगह हुआ है। ब्राह्मणों, राजपूतों जैसे उच्च जाति के लोगों द्वारा डूमणे जाति के लोगों के साथ किए जाने वाले अस्पृश्य व्यवहार का चित्रण करते हुए उपन्याकार ने लिखा–'कड़ी गर्मी में भी गाँव के ब्राह्मण-राजपूत पुरुष-स्त्री गागर-घड़ा लेकर पानी के लिए या जानवरों को पानी पिलाने के लिए बावड़ी पर जाते तो उनके नहाने, घड़ा धोने से पानी नीचे गढ़े में भर जाता। दयालु ब्राह्मण-राजपूत यों भी दो घड़े पानी बाहर उड़ेल देते कि डूमणों की बावड़ी में जल हो जाए। गरमी में ऐसा भी हो जाता कि डूमणे-डूमणी पानी के लिए जाते, गढ़ा सूखा देख प्रतीक्षा में बैठे रहते–मालिक लोग आएँ, बावड़ी से पानी उनके गढ़े में बहे तो पानी मिले।'[5] इसी तरह उपन्यास में गौरी बुआ भी उषा को ईसाई धर्म की होने के कारण उसके साथ अस्पृश्य व्यवहार करती है। दूसरी ओर डूमण जाति का बारह-चौदह की उम्र का बालक चीतु जब मेले से पीतल की थाली खरीदकर लाता है तो ब्राह्मण जैसे ऊँची जाति के लोगों के द्वारा डूमणों की झोपड़ियों में आग लगा दी जाती है। उपन्यास में आए इन प्रसंगों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि दलितों के प्रति सवर्णों द्वारा अमानवीय व्यवहार समाज में किया जाता था। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण यशपाल के हृदय में शोषित एवं पीड़ित वर्ग के प्रति अपार सहानुभूति थी। वे शोषितों की स्थिति में बदलाव लाने के समर्थक थे। उन्होंने शोषितों की स्थिति सुधारने के लिए अस्पृश्यता, तथा जातिगत भेदभाव जैसी सामाजिक बुराइयाँ जो समाज को खोखला कर रही हैं उनका विरोध किया। उस समय ऐसी जातिगत बुराइयों को दूर करने की आवश्यकता यशपाल के सामाजिक परिवेश में भी थी और आज भी है।

यशपाल ने युगीन परिवेश के संप्रदायगत भेद तथा जातिगत भेद को समझकर जनजागृति लाने के उद्देश्य से उपन्यास की नायिका उषा जो कि ईसाई लड़की है उसका हिंदू धर्म के लड़के डॉ॰ अमरनाथ सेठ से प्रेम विवाह करवाया। उस समय के समाज में दो धर्मों के बीच विवाह संबंध कोई सामान्य बात नहीं थी लेकिन यशपाल ऐसी परंपरागत रूढ़ियों में परिवर्तन लाने के पक्ष में थे। उपन्यास में अपने विचारों के माध्यम से यशपाल ने प्राचीन खोखली मान्यताओं और विचारधाराओं का विरोध किया तथा नवीन मान्यताओं की स्थापना की। अंतर्जातीय या दो धर्मों के लोगों का विवाह उस समय के समाज में आसान नहीं था। लोगों की मानसिकता पर धर्म एवं जाति के संस्कार के नियम व उससे संबंधित रूढ़ियाँ हावी थी। उपन्यास में उषा के पिता धर्मानंद पंडित क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ाते हैं, समझदार हैं, उषा को उच्च शिक्षा दिलाने के पक्ष में भी हैं लेकिन उषा और अमर के विवाह के लिए सहमत नहीं होते। धर्म व बिरादरी के विरुद्ध जाने का साहस उनमें नहीं होता। जबकि पंडित धर्मानंद के पूर्वज हिंदू ही थे लेकिन उनके पिता देवदत्त ने हिंदू धर्म छोड़कर ईसाई धर्म को अपनाया था तो धर्मानंद पंडित ईसाई बने। हिंदू समाज के विषय में उनके विचार रूढ़िग्रस्त नजर आते हैं। उनका मानना था कि 'हिंदू व्यक्ति उदार सदाशय हो सकता है, परंतु हिंदू समाज नहीं। उस समाज में ईसाई या भिन्न बिरादरी की लड़की बहू बनकर सम्मान का स्थान नहीं पा सकती। यह हिंदू समाज के संस्कारों के विरुद्ध है।'[6] अमरनाथ सेठ के पिता रतनलाल सेठ भी इस विवाह के पक्ष में नहीं होते। इस विवाह को वे अपने कुल पर कंलक की तरह मानते हैं। हरि भैया के समझाने पर वे कहते हैं–'यह कौन सत्य-न्याय कि तुम किसी के कुल-बंस में कलंक

लगा दो। अमर से कह दो साफ, हमारे जीते जी यह नहीं होने का। यह करना है तो पहले हमें भैंसाकुंड (मरघट) पहुँचा दे। ईसाइन ब्याह कर बेजात हो जाएगा तो हमारी मिट्टी को हाथ नहीं लगा सकता।'[7] यशपाल ने रूढ़िवादी विचारधारा तथा ऐसी जीर्ण रूढ़ियों से उत्पन्न व्याधियों का विद्रोह किया। उपन्यास की नायिका उषा को विचारों में स्वतंत्र और आधुनिक स्त्री के रूप में प्रस्तुत कर लेखक ने उसे समाज की रूढ़िवादिता का विद्रोह करते हुए दिखाया है। वह अपने जीवन का हर फैसला खुद लेती है। अमर से विवाह का फैसला भी वह स्वयं करती है।

उक्त उपन्यास में सांप्रदायिकता ,जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता जैसी सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त यशपाल ने समाज में युगीन परिवेश में मौजूद बेकारी की समस्या, अनमेल विवाह, दहेज की समस्या, बिगड़ते दांपत्य संबंधों की समस्याओं को भी उद्घाटित किया। उपन्यास में रजा और गेती के माध्यम से दांपत्य संबंधों की जटिलताओं को प्रस्तुत किया गया है।

इस उपन्यास में नारी शोषण एवं नारी चेतना से जुड़े विविध आयामों को भी अभिव्यक्त किया गया है। नारी जीवन का संघर्ष, नारी समानता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता से जुड़ी विविध छवियाँ उपन्यास में दिखाई देती हैं। पराधीन भारतीय समाज में स्त्री को पुरुष के समकक्ष अधिकार व सम्मान की अधिकारिणी के रूप नहीं देखा जाता था और पूर्णरूपेण शायद वर्तमान समाज में भी नहीं। स्त्री जीवन की सफलता और सार्थकता पुरुष की मानसिकता के अनुरूप ढल जाने में थी। नारी का जीवन सामाजिक मान्यताओं एवं व्यवस्थाओं के जाल में जकड़ा हुआ था। घर-गृहस्थी के कामकाज करते हुए जीवन बिताना ही नारी जीवन की सभ्यता थी। दांपत्य संबंधों को सँभालने की जिम्मेदारी सिर्फ स्त्री की मानी जाती थी। पति की मृत्यु हो जाने का दोषी भी औरत को ही माना जाता था। विधवा स्त्रियों के जीवन की जटिलताओं एवं संघर्षों को यशपाल ने गंगा बुआ, गौरी, उषा जैसे चरित्रों के द्वारा दर्शाया है। कम उम्र में विधवा हो जाने पर गौरी को जिन समस्याओं, उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है वह भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विधवा स्त्री के जीवन की सच्चाई को उद्घाटित करता है। विधवा गौरी की दयनीय दशा को लेखक ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–'ससुराल में बेचारी की बहुत दुर्गत। घर भर की झाड़ू बुहारे, कुएँ से पानी खींचे, उपले थापे, आँगन लीपे, चौका बर्तन, छाँटना-कूटना, सब ये करे। ऊपर से गाली-गुफ्तार–डायन है, ससुर को खा गई, मर्द को खा गई।'[8] यशपाल विधवा स्त्री के जीवन में जुड़ी परंपरागत सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन करना चाहते थे। वे विधवाओं की दुर्दशा पर चिंता व्यक्त करते हैं तथा कम उम्र में विधवा हुई स्त्री के पुनर्विवाह के पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। इसलिए उपन्यास में वे गौरी और उषा के पुनर्विवाह का जिक्र भी करवाते हैं।

भारतीय समाज में अगर सबसे अधिक घृणा की दृष्टि से अगर किसी को देखा जाता है तो वह वेश्या स्त्री है। जिस पीड़ा, अन्याय, अत्याचार, अपमान को एक वेश्या के द्वारा भोगा जाता है, जितने कष्ट उसे झेलने पड़ते हैं उसकी ओर संवेदना रखने की बजाय कुछ लोग उन्हें घृणा का पात्र समझते हैं। वेश्यावृत्ति को अपनाने के पीछे एक स्त्री की कोई न कोई मजबूरी होती है लेकिन उनकी विवशता और मनोव्यथा को लोग समझते नहीं हैं। पुरुष एक वेश्या के साथ शारीरिक संबंध अवश्य बना लेता है लेकिन उससे कोई सामाजिक रिश्ता नहीं रखना चाहता। उपन्यास के अंतर्गत रतनलाल सेठ इंशा नामक मुस्लिम तवायफ के साथ शारीरिक संबंध बनाता है, उससें इश्क भी करता है, इंशा से उसके एक बेटी भी हो जाती है लेकिन पत्नी के रूप में स्वीकार करने का साहस उसमें नहीं होता। समाज से बहिष्कृत होने के डर के कारण वह इंशा को पत्नी के रूप में नहीं अपना

पाता–'सेठ रतनलाल को धर्म-विश्वास, स्वर्ग-नरक की चिंता नहीं हुई, परंतु समाज-संसार में त्याज्य बन जाने का विचार सह्य नहीं था।'[9] यशपाल ने इस उपन्यास में पर्दा प्रथा की समस्या का भी चित्रण किया है। पर्दा प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज के अनेक परिवारों में आज भी है। आज भी अनेक परिवारों में परदा करना नारी के लिए आदर्श माना जाता है। मर्यादा एवं परंपरा के नाम पर स्त्री स्वतंत्रता के हनन का यह एक अनोखा तरीका है।

यशपाल ने उस समय की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में जी रही नारी जीवन के संघर्षों का चित्रण तो किया है लेकिन उपन्यासकार नारी के ऐसे शोषित जीवन में बदलाव चाहते थे। उनका नारी-संबंधी दृष्टिकोण प्रगतिशील रहा है। यही कारण था कि उन्होंने अपने उपन्यास की नायिका को स्वतंत्र विचारों वाली आत्मनिर्भर महिला के रूप में प्रस्तुत किया है। वह परंपरागत ढाँचे को तोड़ती हुई स्त्री के रूप में दिखाई देती है। उषा की सगाई निर्मल पंत नामक एक उच्च अधिकारी के साथ होती है लेकिन जब उषा के एक्सीडेंट हो जाने की वजह से ससुराल पक्ष के लोग सगाई तोड़ देते हैं तो उषा उदास अवश्य होती है लेकिन वह आम लड़की की तरह टूटती नहीं है। वह अपने भाग्य को नहीं कोसती। वह कहती है–'बहुत अच्छा हुआ।' उषा की आँखें क्रोध में गुलाबी, 'अगर शादी के बाद ऐसी दुर्घटना हो जाती!' थैंक गॉड घटना महिने भर पहले हो गई।' मैं उनके लिए फटी जूती की तरह बेकार हो जाती।'[10] उषा का सामाजिक रूढ़िवादिता के विरुद्ध दूसरे धर्म के युवक अमरनाथ से विवाह करना एक स्त्री का सबसे बड़ा क्रांतिकारी कदम उपन्यासकार ने दर्शाया है। उषा के माध्यम से यशपाल ने अंतर्जातीय विवाह का समर्थन कर अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया है। इतना ही नहीं उषा को उपन्यासकार ने पारिवारिक-सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ती एक विधवा स्त्री के रूप भी प्रस्तुत किया है। पति अमरनाथ की मृत्यु के पश्चात वह अपने बेटे के पैतृक संपति में अधिकार के लिए लड़ती है, पुरानी प्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह कर वह घर से बाहर निकलकर देश सेवा के कार्यों में सक्रिय भूमिका भी निभाती है। उषा जो कम्युनिस्ट विचारों की महिला है वह पुरुषों की ही भाँति अलग-अलग स्थानों पर जाकर देश की स्वतंत्रता से जुड़े अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट करती है। वह स्त्री पर लादे गए अनावश्यक बंधनों का भी विरोध करती है।

अंतत: कहा जा सकता है यशपाल ने अपने समय तथा समाज पर बहुत चिंतन-मनन कर अपनी कृतियों का सृजन किया है। 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास में यशपाल ने जिन सामाजिक समस्याओं, पुरानी परंपराओं पर अपना चिंतन व्यक्त किया किया है उनमें बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जो वर्तमान भारतीय समाज में विद्यमान हैं। समाज में संप्रदाय, जाति, वर्ण के नाम पर आज भी भेदभाव हो रहा है, समाज अलग-अलग वर्गों में बँटा हुआ है। धार्मिक संकीर्णताओं की बेड़ियों में देश का विकास जकड़ा हुआ है। संप्रदागत टकराहट व दंगे-फसाद समाज में हो रहे हैं। परंपरागत रूढ़िग्रस्त मानसिकता के लोग आज भी समाज के विकास के मार्ग को अवरूद्ध कर रहे हैं। समाज में गरीबों व दलितों का आज भी शोषण हो रहा है। स्त्री शोषण के विविध रूप आज भी परिलक्षित होते हैं। पुरुष के समकक्ष आज भी स्त्री को उसके परिवार में सम्मान व अधिकार प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि सामाजिक चेतना की दृष्टि से कथाकार यशपाल के विचार आज भी प्रासंगिक नजर आते हैं। यशपाल के प्रगतिशील विचारों के माध्यम से समाज में समता एवं विभिन्न वर्गों में संतुलन स्थापित किया जा सकता है। यशपाल के स्त्री-विषयक आधुनिक दृष्टिकोण एवं विचारों के द्वारा महिलाओं की स्थिति में सुधार लाकर उनको अधिक सशक्त बनाया जा सकता है।

मध्यवर्गीय व्यक्ति की रूढ़िग्रस्त मानसिकता में बदलाव लाया जा सकता है। शोषितों तथा वंचितों के प्रति संवेदनात्मक दृष्टि विकसित करने, सामाजिक सुधार व परिवर्तन लाने की दृष्टि से यशपाल का 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास एवं यशपाल के विचार दोनों आज भी प्रासंगिक लगते हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ सुदर्शन मल्होत्रा, यशपाल के उपन्यासों का मूल्यांकन, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973, पृ॰ 197-98
2. यशपाल, मेरी तेरी उसकी बात, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2014, पृ॰ 51
3. वही, पृ॰ 455
4. वही, पृ॰ 455
5. वही, पृ॰ 128
6. वही, पृ॰ 264
7. वही, पृ॰ 271
8. वही, पृ॰ 68
9. वही, पृ॰ 18
10. वही, पृ॰ 172

H.No. 77 Gopal vihar II,
Police line Baran Road
Kota 324001 (Raj.)
Mob. 9351915922
drkavitameena17@gmail.com

आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और हिंदी उपन्यास

डॉ॰ भगवान गव्हाडे, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
डॉ॰ बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महा॰)

दुनिया के लगभग सभी देशों में आदिवासियों का अस्तित्व देखने को मिलता है। धरती का यह आदि निवासी समुदाय जीवन जीने के मूलभूत सुख-सुविधाओं से भी कोसों दूर दिखाई देता है। प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर अल्प आवश्यताओं की पूर्ति करते हुए भी वह वन्य हिंस्र जानवरों से संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है। साहित्य, समाजशास्त्र और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जिस वर्तमान युग को हम उत्तर आधुनिक से भी आगे का युग कहकर परिभाषित कर रहे हैं, ऐसे विकास बनाम विनाशकाल में हम जी रहे हैं। वहीं पर यह आदिवासी समुदाय उसी आदिम अवस्था में जीने के लिए मजबूर हैं। जिन जंगलों, पहाड़ों और गिरी कंदराओं में वह जीवनयापन करता है, उस जमीन को उपनिवेशवादी पूँजीपतियों को वहाँ की सरकारें साँठ-गाँठ करके बेच देती हैं। परिणामत: आदिवासियों को अपनी ही भूमि से विस्थापित होना पड़ता है। कभी मिट्टी के मोल-भाव से उनकी जमीनें खरीदी जाती हैं, तो कभी उन्हें अपनी ही भूमि से जबरन खदेड़ दिया जाता है। विरोध करने पर इन्हीं आदिवासियों को नक्सलवादी या माओवादी घोषित किया जाता है। जीवन जीने की इसी जद्दोजहद के चलते वह शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। आदिवासी विकास की योजनाओं का सारा बजट राजनेता लोग हजम करते हैं। जिसके कारण अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़ि-परंपराओं के अंधकार में डूबना पड़ता है। यह बात गौरतलब है कि कुछ देशों के आदिवासी समुदाय शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर अपने मनुष्य होने की पहचान को साबित कर रहे हैं। उनमें हमारे भारत देश के आदिवासियों का नाम बड़े गौरव से लिया जा सकता है, क्योंकि उनकी पहली पीढ़ी आज पढ़-लिखकर साहित्य सृजन भी कर रही है। मुख्य रूप से कविता, कहानी तथा उपन्यास आदि विधाओं में आदिवासी साहित्यकार लेखन कार्य करते हुए विमर्श खड़ा करने की ताकत रखते हैं। मुख्यधारा के समीक्षकों और आलोचकों ने अपने परंपरागत दृष्टिकोण को बाजू में रखकर नए मानदंड स्थापित कर उसकी अलग व्याख्या करनी होगी।

विश्व साहित्य के इतिहास में सबसे प्राचीन और विकसित साहित्य की परंपरा में आदिवासी समुदाय द्वारा रचित मौखिक-वाचिक परंपरा का नाम बड़े ही गौरव के साथ लिया जा सकता है। इसी वाचिक परंपरा में अनेक ज्ञान, विज्ञान, कृषि और स्वास्थ से संबंधित संपन्न कोश प्राप्त हो सकते हैं। जिसके आधार पर हम दुनिया को सभी दृष्टिकाणों से समृद्ध कर सकते हैं। आज जिस विनाशकारी विकास का महल हमारे सामने खड़ा किया जा रहा है, वह भविष्य का श्मशान घाट ही कहा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति एक विशिष्ट सीमा तक ही इस विनाश को सहन कर सकती है, उसकी सहनशीलता का अंत देखना नहीं चाहिए। आदिवासी साहित्यकारों ने ऐसे ही मौलिक विषयों को केंद्र में रखकर साहित्य कृतियों का सृजन किया है। परंतु दुर्भाग्य देखिए कि भारतीय दलित साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य को भी मुख्यधारा के साहित्यकारों, आलोचकों और पाठकों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के पूँजीपति चालक-

 ISSN 0975-735X

मालक और संपादकों ने भी इसे जानबूझकर अनदेखा कर वंचित-उपेक्षित ही रखना पसंद किया है। अपनी वर्णवादी रूग्ण मानसिकता के कारण कई आदिवासी रचनाकारों की रचनाएँ अस्वीकृत कर उनकी प्रतिभा को हमेशा के लिए खत्म करने का भरसक प्रयास किया है। ऐसी अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक प्रतिभा को जीवित रखकर अनेक मौलिक रचनाओं का निर्माण किया है। उन रचनाकारों ने रामदयाल मुंडा, मंगलसिंह मुंडा, वाहरू सोनवणे, रोज केरकेट्टा, हरिराम मीणा, वंदना टेटे, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, भुजंग मेश्राम, प्यारा केरकेट्टा, केदारप्रसाद मीणा, सरिता बड़ाईक आदि का नाम सम्मान के साथ लिया जा सकता है। कुछ गैर-आदिवासी लेखकों ने भी आदिवासी जीवन पर बहुत मौलिक रचनाएँ लिखी हैं। उनमें प्रमुख रूप से संजीव, भगवानदास मोरवाल, महाश्वेता देवी, रणेंद्र, तेजिंदर, राकेशकुमार सिंह, रमणिका गुप्ता, राजीव रंजन प्रसाद, महुआ माजी आदि का नाम लिया जा सकता है।

आदिवासियों के अस्तित्व का सवाल : विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत देश में आदिवासी समुदाय को सर्वाधिक अन्याय, अत्याचार और उपेक्षितों का जीवन जीना पड़ा है। इस बात के लिए हमारे देश के प्राचीन धर्मग्रंथ अधिक जिम्मेदार दिखाई देते हैं। क्योंकि इन्हीं धर्मग्रंथों में आदिवासियों को असुर, दैत्य, दानव, राक्षस, असभ्य, बनमाणूस और नरभक्षी कहकर प्रताड़ित किया गया। बल्कि यह कहना अधिक संयुक्तिक होगा कि आदिवासियों को मनुष्य होने का दर्जा ही नहीं दिया गया। जिस देश में कुत्ते-बिल्लियों, चूहें-छिपकलियों, कछुओं-मछलियों, गायों-सूअरों तक को देवी-देवता मानकर उनकी पूजा-अर्चना की जाती रही है, उनका आदर-सम्मान किया जाता रहा है। लेकिन उसी देश में हाड़-माँस के दयाशील, शांति प्रिय, शर्मीले, मेहनतकश और प्रकृतिप्रेमी संवेदनशील इंसान को कभी मनुष्य होने का अधिकार नहीं दिया गया। उसके मनुष्य होने की उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया गया। अच्छा हुआ कि यह आदिवासी समुदाय वर्णव्यवस्था की उतरन का हिस्सा नहीं है, वरना उसकी दशा-दुर्दशा क्या से क्या होती, यह तो वर्णभेदियों का ईश्वर ही जाने? जीवन जीने की सभी मूलभूत सुख-सुविधाओं से उपेक्षित-वंचित आदिवासियों के पास किसी भी प्रकार के आधुनिक साधन न होने के कारण वह अपने जल, जंगल और जमीन की रक्षा करते-करते अपनी हस्ती बनाम नस्ल को जीवित रखने के लिए संघर्षरत हैं। उनके प्राकृतिक संसाधनों पर सरकार और पूँजीवादी उद्योगपतियों ने जबरन कब्जा कर उसे विस्थापित किया है। जहाँ आदिवासी समुदाय का निवास होता है, वह इलाके प्रकृति और पर्यावरण के साथ-साथ अकूत खनिज संपदा के विशाल भंडारण कहलाते हैं। इसलिए दलालों, ठेकेदारों, राजनेताओं और उद्योगपतियों की वहशी नजरों में यह इलाके मुनाफा कमाने के केंद्र स्थान कहलाते हैं। ऐसे इलाकों पर कब्जा कर अपनी संपत्ति में विश्व की प्रथम सूची में शामिल करने की होड़ में भारत के अनेक उद्योगपति घराने शामिल दिखाई देते हैं।

आदिवासी अस्मितामूलक उपन्यास : उपन्यासकार रणेंद्र कृत 'ग्लोबल गाँव के देवता' एक ऐसा उपन्यास हैं, जिसमें भारत के, विशेष रूप से झारखंड के आदिवासी समुदाय के अपने स्वतंत्र जीवन, अस्तित्व, आत्मसम्मान और पहचान की रक्षा के लिए लिखा गया है। उपन्यासकार रणेंद्र जी अत्यंत रोचक ढंग से उपन्यास के प्रमुख पात्र शिक्षक के माध्यम से बताते हैं कि 'असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दाँत-वाँत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे, लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। ...

अट्ठाइस-तीस की उम्र का खूब गोरा-चिट्टा आदमी। सफेद धोती और क्रीम कलर का पोलिस्टर का कुर्ता पहने था।'[1] इस बात से अंदाजा लगाया जा सकता है कि आधुनिक और उत्तर आधुनिककाल में भी हमारे तथाकथित उच्चशिक्षित लागों की राय असुर नाम की जनजाति के प्रति कितनी दकियानूसी और घिनौनी दृष्टि है। अस्तित्व का सवाल यहाँ पर पैदा होता है, जब मनुष्य होने का हक भी हमसे छीना जाता है। इसी अपमान, उपेक्षा और कुदृष्टि का शिकार सदियों से आदिवासी समुदाय होता आ रहा है। आदिवासी समुदाय के लोग भारतीय संविधान में दिए गए मूलभूत अधिकारों के कारण पढ़-लिखकर कम-से-कम अभिव्यक्त तो हो रहे हैं, वरना न जाने और कितनी पीढ़ियाँ अशिक्षा, अज्ञान, रूढ़ि-परंपरा, दैववाद और भाग्यवाद के काल के गाल में समाहित होकर विनष्ट होतीं? भला हो उन संविधान निर्माताओं का जिन्होंने मानवतावादी दृष्टिकोण से आदिवासियों को मनुष्य होने का हक प्रदान किया, उसके अस्तित्व की पहचान करवाई गई।

भारतीय स्वाधीनता के बाद जब हर किसी को लिखने, पढ़ने और अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त हुआ, तो साहित्य क्षेत्र में क्रमशः नारी विमर्श, दलित विमर्श के पश्चात आदिवासी विमर्श का उदय हुआ। अपनी प्राकृतिक पहचान के साथ-साथ कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाते हुए आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी अस्मिता को भी रेखांकित करना चाहा है। वर्चस्ववादी संस्कृति के मिथकों-प्रतीकों के अलावा हमारे अपने भी कुछ मौलिक पहचान के सूत्र हैं, उस ओर ध्यान आकर्षित किया है। आर्य-अनार्य, उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, वनवासी-मूल निवासी आदि अनेक समस्याओं से जूझते हुए अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बचाए रखने में आदिवासी समुदाय संघर्षरत है। इन्हीं समस्याओं पर 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक मैनेजर पांडेय ने कहा है कि 'आदिवासी समुदायों पर उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार का एक काम आदिवासियों के यथार्थ को समग्रता के साथ समझना है, तो दूसरा काम उनके बारे में प्रचलित और प्रसारित मिथकों के प्रभाव से मुक्त होकर आदिवासियों के जीवन के सही इतिहास को व्यक्त करना है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' के लेखक रणेंद्र ने ये दोनों काम किए है।'[2]

यह बात सर्वविदित है कि आदिवासी समुदाय की मुख्यधारा के समाज में कोई एहमियत नहीं है। उसकी दृष्टि में यह आदिम समुदाय महज एक जंगली प्राणी है, जो अर्थहीन, भूमिहीन, शब्दहीन, संस्कृतिविहीन और पहचान विहीन है। हालाँकि आदिवासियों के पास जिस पुरानी सभ्यता का समृद्ध विशाल भंडार है वह किसी और जाति-समुदाय के पास नहीं है।

आदिवासी समुदाय की अपनी एक स्वतंत्र जीवन पद्धति है, जो विश्व के प्रगतिशील आधुनिक कहे जानेवाले सभ्य समाज में नहीं है। आदिवासी स्त्रियों को अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता है, जो बहुत पुरानी स्वस्थ परंपरा है जिसे आधुनिक समाज प्रेम विवाह कहता है। आदिवासी समुदाय के वरिष्ठ कथाकार मंगलसिंह मुंडा ने अपने उपन्यास 'छैला संदु' में छैला और बूंदी के प्रेम-प्रसंग के माध्यम से मुंडा समाज की खूबियों, परंपराओं और रीति-रिवाजों का प्रामाणिक चित्रण पेश किया है। इस उपन्यास के बारे में आलोचक डॉ॰ श्रीनिवासदास शर्मा ने कहा है कि 'उपन्यासकार का उद्देश्य किसी के प्रति वैमनस्य दिखाना नहीं है। उसने मुंडा समाज में प्रचलित लोगों की स्मृतियों में जीवित अत्यंत प्राचीनकाल से चली आ रही मौखिक कहानी को व्यवस्थित रूप दिया है। अभावग्रस्त होते हुए अपमान झेलते हुए छैला संदु गाँव के ठाकुर की बेटी बूंदी के प्रति अपने वास्तविक प्रेम का परिचय देकर प्रेमिका की गरिमा की रक्षा करता है। बूंदी के प्रति उसका प्रेम निस्वार्थ है। अपने उच्च मानवीय गुणों के बल पर ही वह महानायक और देवत्व

का दर्जा प्राप्त करता है।'[3] अपनी सादगी, ईमानदारी और सच्ची निष्ठा के कारण वह कथानायक सभी के दिलों में आदर और सम्मान प्राप्त करता है। निस्वार्थ प्रेम और आत्मसमर्पण की यह एकमात्र मिसाल है।

भगवानदास मोरवाल के उपन्यासों में दलित-आदिवासी समुदाय की पीड़ा को देखा जा सकता है। हरियाणा-मेवात की साझा संस्कृति के चित्रण में पिछडे-वंचित समाज की आर्थिक-सामाजिक स्थिति को रेखांकित करने में उनका कोई सानी नहीं है। उनके 'काला पहाड़' उपन्यास में दलित, मुस्लिम तथा आदिवासी समाज के प्रश्नों को उकेरा गया है। बेरोजगारी, भुखमारी के कारण निरंतर हो रहे पलायन और विस्थापन के दर्द को लेखक ने बखूबी चित्रित किया है। 'काला पहाड़' की समीक्षा करते हुए डॉ॰ विजयबहादुर सिंह लिखते हैं कि 'ऐसे मुश्किल समय में सलेमी ऐसी देशभक्त, देशप्रेमी है, बल्कि यह कहिए इस देश के मूलनिवासी आखरी उम्मीद हैं, वह भी नहीं रही, तो ऐसे समय में क्या करें।'[4] अपनी मातृभूमि से विस्थापित होने का दर्द जिस प्रकार देश विभाजन के समय हिंदू-मुस्लिम दोनों समुदाय को सहना पड़ा है, वैसा दर्द-सदियों से आदिवासी समुदाय सहता रहा है। यह पलायन या विस्थापन अपनी मर्जी से नहीं बल्कि जबरन किया जाता रहा है। आदिवासी सभ्यता और अस्मिता को बचाए रखने के लिए इस प्रकार के विस्थापन पर ठोस उपाय की आवश्यकता है।

आदिवासी क्षेत्रों में प्राकृतिक विशाल भंडारण मौजूद है। जिन पहाड़ी इलाकों में अपार खनिज संपदा मौजूद हैं, उस क्षेत्र पर लालची उद्योगपतियों की बुरी नजरें पड़ी हुई हैं। वे सरकार से हाथ मिलाकर आदिवासी क्षेत्रों पर जबरन कब्जा करते हैं। प्राकृतिक खनिज संपदा का अपार दोहन करते हैं, उनका वैयक्तिक लाभ होता है लेकिन नाम दिया जाता है विकास के मॉडल का। यह दोहरा चरित्र है हमारे पूँजीपति और सरकार का। विकास के नाम पर चल रहे इन उद्योगों ने आदिवासी जनता को विस्थापन, बेदखली, प्रदूषण और विकिरण से उत्पन्न महामारियों का सामना करना पड़ा है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में लेखिका महुआ माजी ने बढ़ते विकिरण, प्रदूषण, उत्खनन और उससे निर्मित विस्थापन से जूझते आदिवासियों की करुण गाथा कही है। इस संदर्भ में आदिवासी प्रश्नों की प्रसिद्ध बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी का कहना है कि 'आदिवासियों को लेकर शोध, संवेदना और प्रेम के साथ लिखी गई पुस्तक है, इस पुस्तक को हर स्कूल और कॉलेज तक जाना चाहिए। वह आदिवासियों पर लिखा गया सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास है।'[5]

आदिवासी समुदाय प्रकृति पूजक होता है। वह पेड़-पौधों झरनों-नदियों तथा जंगल-पहाड़ को अत्यधिक महत्त्व देता है। आदिवासी लोग इन्हें अपना देवता मानकर पूजते हैं। किसी भी स्थिति में जंगलों को बर्बाद नहीं होना देना चाहते हैं। इन जंगलों की उपस्थिति को ही आदिवासी समुदाय अपना अस्तित्व मानता है क्योंकि जंगलों के कट जाने से उनका जीवन खतरे में आता है, इसलिए आदिवासियों ने अनेक विद्रोह किए हैं। राजीव रंजन प्रसाद कृत 'आमचो बस्तर' उपन्यास में इस समस्या पर विस्तार से लिखा गया है। उपन्यास के पात्र झाडा-सिरहा एवं लोकनाथ के बीच नई कानून व्यवस्था को लेकर बातचीत होती है। झाडा-सिरहा लोकनाथ से कहता है-'राजा से क्या बात करनी है? जंगल का नया कानून बदलना पड़ेगा। जंगल हमारा है, गोरे अफसर लोग जंगल से हमारे लोगों को भगाते हैं। वो बोलते हैं कि जंगल को बचाना है। बाद में खुद आरा मशीन लगा के जंगल काटते हैं।'[6] यदि इन्हीं जंगलों की सूखी लकड़ियों को आदिवासी तोड़ते हैं तो अपराधी कहलाते हैं। अपने जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए हथियार उठाते हैं, तो नक्सलवादी माओवादी कहलाते हैं। विकास का विरोधी कहा जाता है। इतिहासकारों ने आदिवासियों के महानायकों और क्रांतिवीरों के बलिदान को

कभी अपनी पक्षपात करनेवाली किताबों में जगह नहीं दी। लेकिन ब्रिटिश लायब्रेरियों में आज भी गेजैटियर दस्तावेज मौजूद हैं, उनमें आदिवासी वीरों का स्वर्णिम इतिहास आज भी दर्ज है।

'धुणी तपे तीर' उपन्यास में हरिराम मीणा ने निहत्थे आदिवासी लोगों पर हुए अन्याय का पर्दाफाश किया है। यह उपन्यास बीसवीं सदी के आरंभ में डूंगरपुर, बाँसवाडा एवं उदयपुर के भील आदिवासियों के विद्रोह को केंद्र में रखकर लिखा गया है। ब्रिटिश सरकार और भारत की देशी रियासतें आपसी गठजोड़ के सहारे गलत नीतियों के माध्यम से आदिवासी समुदाय का शोषण करने में व्यस्त थी। आदिवासी समुदाय को जाग्रत करने का कार्य गोविंद गुरु कर रहे थे। इस कारण आदिवासी समुदाय अँग्रेजों और देशी-रियासतों का विरोध कर रहे थे। जिसे भीलों का उत्पात मात्र कहा गया है। सच्चाई कुछ और ही थी–'जब गोविंद गुरु आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार के विरोध में आवाज उठाते हैं, तो उनको राजद्रोही कहा जाता है। उनके द्वारा भीलों में फैले अंधविश्वास और कुरीतियों के खिलाफ उन्हें जाग्रत करना भी उन्हें (प्रशासकों को) नागवार गुजरता है। भीलों के जागृति अभियान को राजाओं ने अपने पर हमला माना। कथित (राजा) महारावल डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और उदयपुर पर ब्रिटिश फौज से हमला करवाकर हजारों आदिवासियों को बेरहमी से गाजर मूली की तरह कटवा देते हैं, जिसमें 1500 आदिवासी मौत की नींद सुला दिए जाते हैं।'[7] सामंती व्यवस्था के खिलाफ ऐसे अनेक नायकों ने विद्रोह किया है जिनकी शहादतें, इबादतें इतिहास में आज भी दर्ज हैं। 'धुणी तपे तीर' उपन्यास का राजनीतिक पक्ष आदिवासी आस्था और उनके विद्रोह से जुड़ा हुआ है। यह आदिवासी समुदाय की अस्मिता और संघर्ष का जीवंत दस्तावेज है।

निष्कर्ष रूप में भारत का आदिवासी समुदाय सदियों से बहिरागत आक्रमणकारियों से संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है। भारतीय क्रांतिकारी आंदोलनों में सर्वाधिक आदिवासी लोग शहीद हुए हैं, लेकिन उनके नामोल्लेख इतिहासकारों ने जान-बूझकर नहीं किए। जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए अनेक आदिवासियों ने अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। वनोपज पर निर्भर रहनेवाला आदिवासी समुदाय देश की सरकारों और उद्योगपतियों की आँखों का काँटा है। हिंदी उपन्यासों में इस बात के पुख्ता सबूत मौजूद हैं। आदिवासी जीवन पर लिखे हुए उपन्यासों में मुख्य रूप से उन प्रश्नों को उठाया है, जिन पर अभी तक प्रकाश नहीं डाला गया था। एक अर्द्धनग्न मनुष्य के रूप में देखकर उसकी तस्वीर बनाकर दीवारों पर टाँगने तक ही उसका अस्तित्व था। इस दृश्य को हिंदी के आदिवासी लेखकों ने बदल डाला है।

संदर्भ

1. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2011, पृ॰ 8
2. रवींद्र कालिया (संपादक), नया ज्ञानोदय, नई दिल्ली, अंक-85, मार्च, 2013, पृ॰ 13
3. प्रो॰ बी॰के॰ कलासवा, हिंदी के आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, मयूर प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 262
4. वही, पृ॰ 134
5. महुआ माजी, मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, आवरण से
6. राजीव रंजनप्रसाद, आमचो बस्तर, यश प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ॰ 172
7. रमेशचंद्र मीणा, उपन्यासों में आदिवासी भारत, अलख प्रकाशन, जयपुर, सं॰ 2014, पृ॰ 54

Mob. 9511849810
bhagwangavhade632@gmail.com

वैदिक साहित्य में प्रकृति पूजा एवं पर्यावरण

(ऋग्वेद के विशेष संदर्भ में)

प्रो॰ ए॰वी॰ कौर, इतिहास विभाग
चौ॰ चरण सिंह विश्वविद्यालय, परिसर, मेरठ
खुशबू रानी, शोधछात्रा, इतिहास विभाग
चौ॰ चरण सिंह विश्वविद्यालय, परिसर, मेरठ

आज पर्यावरण के सरंक्षण को लेकर संपूर्ण विश्व चिंतित है इसका मूल कारण यह है कि इसके असंतुलन से नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। वैदिककाल में ऋषि प्रकृति के साथ अपने संबंध को लेकर जागरूक थे, वे इसका दोहन न कर पोषण और संरक्षण करते थे जिससे जीवन खुशहाल रहता था। हमारे पूर्वजों ने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों जैसे–वायु, अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, जल व पेड़-पौधों की देवताओं के रूप में सहस्रों वर्ष तक पूजा अर्चना कर प्राकृतिक स्रोतों की रक्षा की है। उनका माना था कि यही प्राकृतिक संसाधन रूपी देवता हमारे सम्मान व प्रेम के आकांक्षी बनकर हमसे अपने जीवन की याचना करते हैं जिससे कि वे भविष्य में भी हमारी संतति की सेवा कर सकें। प्रारंभ में हम उन प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे जिससे हमारा लाभ या नुकसान होता था जैसे–नागपंचमी, वट, तुलसी पूजा आदि। इस संदर्भ में डॉ॰ राजबली पांडेय का कथन सही प्रतीत होता है–'वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक देव शक्तियों को अपने ही जीवन के चश्में से देखा था।'[1]

उद्देश्य–हमारा प्राचीन वैदिक साहित्य पर्यावरण साहित्य के रूप में परिलक्षित होता था। हमारी संस्कृति की धरोहर 'त्याग की भावना' एवं 'प्राकृतिक शक्तियों की उपासना' हमें पर्यावरण का बोध कराती है प्रस्तुत शोध पत्र में ऋग्वेद में प्रकृति पूजा के माध्यम से पर्यावरण चेतना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है ताकि हम आज भी अपने ऋषियों के द्वारा दिए गए पर्यावरण ज्ञान को अपनाकर अपनी धरती को स्वच्छ व सुरक्षित रख सकें।

पर्यावरण–आज प्रकृति की पूजा को सभी महत्त्वपूर्ण मानते हैं प्रकृति पूजा अपने मूल अर्थ में पर्यावरण पूजा है। पर्यावरण शब्द का अर्थ है–परि–चारों ओर, आवरण-ढका हुआ। जो चारों ओर से घेरकर व्यवस्थित करे, अवस्थित करे, उसे पर्यावरण कहते हैं। पर्यावरण अपने आपमें प्रकृति से उत्पन्न सभी तत्त्वों–आकाश, सूर्य, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एक तरह से संपूर्ण ब्रह्मांड समाहित किए हुए है। अर्थात् किसी भी वस्तु या प्राणी को जो भी वस्तु चारों ओर से ढके हुए है वह उसका पर्यावरण कहलाता है सभी जीवित वस्तुएँ अपने पर्यावरण से प्रभावित होती हैं तथा स्वयं उसे प्रभावित करती हैं।[2] हमारे प्राकृतिक पर्यावरण के मुख्य अंग हैं–वायु, जल, सूर्य, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, पेड़-पौधे आदि।

ऋग्वेद का परिचय–ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रंथ है। चारों वेद में ऋग्वेद का स्थान अत्यंत गौरवपूर्ण है। भारतीय दृष्टि में ऋग्वेद संहिता को 'अभ्यर्हितत्त्व पूज्यनीता'

के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद से ही अन्य 3 वेदों की रचना हुई है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद है। ऋग्वेद भारत का ही नहीं बल्कि दुनिया का प्रथम ग्रंथ और धर्मग्रंथ है। यूनेस्को ने ऋग्वेद की 1800 से 1500 ई॰पू॰ की लगभग 30 पाडुलिपियों को सांस्कृतिक धरोहरों की सूची में शामिल किया है।[3]

ऋग्वेद–ऋक या ऋच का अर्थ है–स्तुतिपरक मंत्र। जिन मंत्रों के द्वारा देवों की स्तुति की जाती है उन्हें ऋक (ऋचा) कहते हैं। ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुति वाले मंत्र हैं इन मंत्रों के उच्चारण के द्वारा देवताओं का आह्वान किया जाता है। ऐसी ऋचाओं के समूह को ऋग्वेद संहिता कहते हैं। ऋग्वेद के रचनाकाल में काफी मतभेद है। आधुनिक देशी व विदेशी विद्वान अलग–अलग आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल 600ई॰पू॰ से 1300ई॰पू॰ तक मानते हैं। आकार की दृष्टि में यह चारों वेदों से बड़ा है, इसमें 10 मंडल, 1028 सूक्त तथा 10580 मंत्र समाहित हैं। ऋग्वेद को दो भाग में विभाजित किया है–अष्टक विभाजन व मंडल विभाजन। मंडल विभाजन नवीन, उपयुक्त तथा अध्ययन की दृष्टि से सरल व वैज्ञानिक माना जाता है। ऋग्वेद की कई शाखाएँ थीं जिनमें शाकल, वाष्कल, अश्वलायन शाखायन व मांडूकायन प्रमुख है किंतु आज केवल शाकल शाखा ही मिलती है।[4]

ऋग्वेद में जल पूजा–'जल ही जीवन है' यह उक्ति आज विश्वभर में प्रचलित है। जल पर्यावरण व मानव के जीवन का महत्त्वपूर्ण घटक है। जल तत्त्व के बिना न तो मानव की जीवन संभव है और न ही पशु–पक्षी व पेड़–पौधों का ही अस्तित्व है। जल की न्यूनता व अधिकता दोनों ही मानव जीवन के अस्तित्व को परेशान करती हैं इसलिए हमारे वैदिक ऋषियों ने जल के महत्त्व को जानकर उसकी पूजा करनी प्रारंभ की। ऋग्वेद में जल के प्रमुख देवता–मित्र, आपो: व वरुण देव को माना गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त कुआँ स्नानागार देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल में जल को पूजनीय व सम्मानीय स्थान था।[5]

ऋग्वेद में ऋषि जल को अत्याधिक महत्त्व देते थे, वे जल और मनुष्य के बीच के संबंध को माता एवं पुत्र के रूप में देखते है[6]–

अम्बों यन्त्यहवभिर्जामयों अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पय:।।

अर्थात् जल एक उत्तम माता है क्योंकि इससे पर्यावरण का निर्माण ही नहीं पालन भी होता है जल माता के रूप में है तो इसे कौन हानि पहुँचा सकता है। ऋग्वेद में जल में अमृतोपम गुणों को स्वीकारते हुए उसके औषधीय गुण का विस्तृत वर्णन मिलता है साथ ही जल की प्राप्ति के लिए हवन में आहुतियाँ देने का भी वर्णन मिलता है।[7] ऋग्वेद में कहा गया है कि नदियों के जल जिसे हम और हमारी गाय पीती है उस जल को प्रदूषण से मुक्त रखने का उपाय केवल यज्ञ है यज्ञ ही जल को प्रदूषण से मुक्त व वायु को सुगंध प्रदान करता है। ऋग्वेद में जल को जीवनरक्षक औषधियों के रूप में स्वीकार कर, चिरजीवी रहकर सूर्यदेव के दर्शन की प्रार्थना की गई है।[8]

ऋग्वेद के 3 मंडल के 33 सूक्त के निम्नलिखित मंत्र में भी जल संरक्षण के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है–

उद्व ऊर्मि: शक्या हनवायो योक्त्रणि मुञ्चत।
मा दुष्कृतौ व्येन साध्न्यो शूनमारताम।।

अर्थात् विपाट् और शुतुद्री नदियों को पार करने की इच्छा से इस मंत्र में ऋषि विश्वामित्र

ने उनसे प्रार्थना की है कि हे नदियो! तुम लोगों के ऐश्वर्या को बढ़ाती रहो और स्वयं भी वेग से बहती रहो, प्रवाह युक्त तुम्हारी लहरें यज्ञ-स्तंभ से टकराती रहें अर्थात् तुम्हारे किनारे सदा यज्ञ व सदा अच्छी खेती होती रहे। तुम अहन्या (दिशा-रहित) रहो, अर्थात् नदी के जल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि जल का दुरुपयोग ही नदियों की हिंसा है। मंत्र में संदर्भ है कि जल के समुचित उपयोग में जल समृद्धि निहित है। जल ही हमारे जीवन का आधार है और यदि जल ही सुरक्षित नहीं है तो हमारे कल के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। मानव के शरीर में 70% जल की उपस्थिति जल के महत्त्व को बढ़ा देती है इसलिए ऋषि ने मंत्र के द्वारा जल को स्वच्छ व सुरक्षित रखने का ज्ञान हमें दिया है।

ऋग्वेद में वायु पूजा–जल ही वायु के निर्माण में सहायक होता है वायु प्रकृति का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। यह वायु ही है जो दूर से भी प्राणदायक तत्त्वों को अपने साथ हमारे लिए लाती है। वायु के अभाव में न तो पर्यावरण की कल्पना की जा सकती है और न ही मानव जीवन की। प्राण वायु द्वारा ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया संभव होती है ऋग्वेद में इसके लिए 'विश्व-भेषज्ञ' शब्द का प्रयोग होता है। ऋषियों ने वायु, वात एवं मरूत नाम से अंतरिक्ष देवता के रूप में वायु की पूजा की है। ऋग्वेद के 10 मंडल के 137 सूक्त के 3 मंत्र में वायु को विश्व भेषज्ञ कहकर उससे दूषित वायु को दूर कर शुद्ध भेषज्ञ-वात (medicated air) प्रवाहित करने की कामना की है–

आ वात वाहि भेषज्ञ....विश्व भेषज्ञों देवाना दूत ईयसे।

प्रदूषण मुक्त वायु औषधि व दीर्ध जीवन प्रदायिनी अमृत रूप-माता, पिता, भाई एवं मित्र होती है। वैदिक ऋषियों को यह भली-भाँति ज्ञात था कि शुद्ध वायु हृदय के लिए शांतिदायक एवं सुखदायक तथा आयुवर्द्धक है।[9]

ऋग्वेद में वायु के दो रूप बताए हैं–शुद्ध व अशुद्ध वायु।[10] अर्थात् आक्सीजन एवं कार्बन डाइ आक्साइड। शुद्ध वायु अरोग्य व बल प्रदान करती है और अशुद्ध वायु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज इस तथ्य से अवगत थे कि हवा में कई प्रकार के गैसों का मिश्रण है, जिनके अलग-अलग गुण व अवगुण है इनमें ही प्राण वायु भी है जो जीवन के लिए अति आवश्यक है। वायु सभी प्राकृतिक शक्तियों में सर्वापरि है आज के युग में भी चिकित्सक हदय एवं यक्ष्मा आदि रोगों से मुक्ति के लिए प्रातः एवं सायं शुद्ध वायु का सेवन एवं विशेष रूप प्रातः भ्रमण की सलाह देते है। रोगियों को इसलिए सेनेटोरियम में जाने एवं वहाँ निवास करने की सलाह दी जाती है जहाँ वे वृक्षों, वनस्पतियों और लताओं की छाँव में शुद्ध एवं स्वच्छ वायु भेषज्ञ वात का सेवन करते हुए स्वास्थ्य लाभ कर सके। लेकिन वर्तमान समय सब कुछ विपरीत हो रहा है covid-19 के कारण व यातायात के साधन के प्रदूषण के कारण सामान्य जीवन में साँस लेना दुर्लभ होता जा रहा है।

ऋग्वेद में अग्नि पूजा–वैदिक दृष्टि में अग्नि का सर्वोच्च स्थान है ऋग्वेद का सर्वप्रथम मंत्र में ही अग्नि की स्तुति की गई है और उन्हें यज्ञ का तेजस्वी पुरोहित बताया गया है। पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद में अग्नि के लिए 200 सूक्त कहे गए हैं। अग्नि का प्रमुख स्थान इसलिए भी है क्योंकि सभी देवों के उद्देश्य से गई पूजा अग्नि में घी डालकर ही जाती है। पर्यावरण की दृष्टि में अग्निहोत्र के माध्यम से प्रदूषण का निवारण किया जा सकता है। यज्ञ की प्रक्रियानुसार अग्नि में घी, हवन-सामग्री एवं अन्य जो पदार्थ आहुति के रूप में डाले जाते हैं वे सभी वायु, जल, पृथ्वी एवं समस्त वातावरण की शुद्धि करने वाले हैं इसलिए

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त में कहा गया है–

ऊँ अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम होतारं रत्नधातमम्।

अर्थात् मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ जो हमारे पुरोहित है अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान में अग्रणी है उस अग्नि को यज्ञ का देवता कहते हैं, वही ऋत्विज्ञ है जो स्वर्ण आदि रत्नों को धारण करने वाला है। यही अग्नि पृथिवी आदि के साथ अनेक दोषों से अलग होकर अच्छे-अच्छे पदार्थों को प्राप्त होकर लाभकारी होता है।

मानव जीवन और विज्ञान की दृष्टि से अग्नि सबसे बहुमूल्य और आवश्यक पदार्थ है। अग्नि से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा (Energy) से संसार का सभी काम चलते हैं। ऋग्वेद में अग्नि को ऊर्जा का सम्राट[11] कहा है। अथर्वा ऋषि जिनका ऋग्वेद में 15 बार उल्लेख हुआ है उन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया है और बताया है कि अग्नि कैसे उत्पन्न जाती है–ऋग्वेद में बताया गया है कि दो पत्थरों की रगड़ो से भी अग्नि उत्पन्न होती है। अमेरिका की विज्ञान परिषद के अध्यक्ष प्रो॰ हर्बल ने स्वीकार किया है कि सृष्टि के आदि में जिसने अग्नि जलाने उसे सुरिक्षत और उपयोग में लाने का आविष्कार किया उसका मस्तिष्क आज के परमाणु वैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक सक्षम रहा होगा।[12]

ऋग्वेद में सूर्य पूजा–हमारे वैदिक ऋषियों ने सूर्य देवता को आकाश में अग्नि का प्रतीक माना है और अग्नि के समान ही सूर्य की स्तुति की है। सूर्य को समस्त विश्व की आत्मा कहा गया है[13] सूर्यदेव के लिए ऋग्वेद में 10 सूक्त हैं इन सूक्तों में सूर्य का प्राकृतिक स्वरूप उभरकर सामने आता है। वैदिककाल में सूर्य की पूजा विभिन्न नामों से होती थी। आदित्य, रोहित, सविता, पूषण, विष्णु आदि नाम सूर्य के मिलते हैं।[14] सूर्य भी पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सूर्य के प्रकाश के बिना किसी प्रकार के वातावरण में रहना बहुत मुश्किल है। हमारे ऋषि इस बात को जानते थे कि सूर्य के बिना और उसके किरणों के अभाव में जीवन का कोई महत्त्व नहीं है अत: हमें सूर्य की पूजा कर उसको सुरक्षित रखना चाहिए ताकि हम भी इस संसार में जीवित रह सकें। ऋग्वेद में सूर्य को सभी प्रकार के प्रदूषण को नष्ट करने वाला बताया गया है।[15] सूर्य की किरणों को पर्यावरण का शोधक और दूषित तत्त्वों का नाशक कहा गया हैं। ऋग्वेद में उगते हुए तथा आकाश में चढ़ते हुए सूर्य को हृदय रोग एवं प्रदूषण का विनाशक कहा गया है।[16] पर्यावरण दृष्टिकोण से सूर्य के लिए ऋग्वेद कहा कि तमेव पृथिवी पंचमानवा। येभ्यो ज्योति अमृत मार्येभ्या उचन्तसूर्यो रश्मिभिरातनेतिं। जब सूर्य उदित होता है तो अपनी किरणों में भरे हुए अमृत को विश्व में फैला देता है। सूर्य की ज्योति अंधकार में पनपने वाले कीटाणुओं को नष्ट कर देती है, ठंडक को भगाती है और ऊष्णता का संचार करके प्राणियों को प्राणवान बना देती है। ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त में सूर्य को कई प्रकारों के विष और प्रदूषण को नष्ट करने वाला बताया गया है।[17]

ऋग्वेद में पृथ्वी की पूजा–ऋग्वेद में द्युलोक को पिता तथा पृथ्वी लोक को माता कहा गया है। अंतरिक्ष लोक इनके द्वारा उत्पन्न है अत: पुत्र के समान है[18] पिता, माता, पुत्र के पारिवारिक संबंधों से मुक्त तीनों लोक द्युलोक, भूलोक, अंतरिक्ष लोक जैवमंडल के प्रमुख घटक हैं जिसमें में एक भी क्षति संपूर्ण जैवमंडल के संतुलन को बिगाड़ देती है और किसी एक का संवर्द्धन उस संतुलन को मजबूत कर देता है। इन्हीं तीनों लोकों के संतुलन को बनाए रखने के लिए वेदों में यत्र-तत्र पर्यावरिणक संदेश दिया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि प्रकृति का अतिक्रमण तो देवताओं को निषिद्ध है, फिर मानव की बात ही क्या है[19] पृथ्वी ही एक मात्र ऐसा स्थान है, जिसने

सभी जीवों का पालन-पोषण एवं संरक्षण किया है। माता के रूप में पृथ्वी, पिता के रूप में आकाश और पुत्र के रूप में अंतरिक्ष की वैदिक साहित्य की परिकल्पना पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन की अति संवेदन एवं दायित्व पूर्ण सोच है। ऋग्वेद में कहा गया है कि नदी, खानों, समुद्रों तथा पर्वतों से हम उतना ही ग्रहण करें जो हमारे लिए पर्याप्त और सुखकारी हो। क्योंकि यदि इसके विपरीत आचरण किया गया तो पृथ्वी कापने लगती है[20] अत: मनुष्य का कर्त्तव्य है कि द्युलोक और भूलोक का संरक्षण करे, क्योंकि वह पुत्र और द्यावा पृथ्वी रूपा माता-पिता के प्रति उसका कर्त्तव्य है।[21] ऋग्वेद में सतर्क किया है कि पृथिवी माता की क्रोध दृष्टि हम पर न हो। पृथिवी यदि प्रदूषण द्वारा रुष्ट हो जाएगी तो प्राकृतिक आपदाएँ प्रारंभ हो जाएँगी। जैसे-अकाल, ऊर्जा के स्रोतों का नाश, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि।[22]

ऋग्वेद में वृक्ष व वनस्पति पूजा-ऋग्वेद के ऋषि केवल पंच भूतों के महत्त्व से ही अवगत नहीं थे, अपितु वे औषधियों तथा पादप के गुणों से भी पूर्णत: जानकारी रखते थे, एक मंत्र में ऋषि औषधियों से फलों एवं फलों से लदे रहने कामना करता है।[23] वृक्षों के प्रति श्रद्धा भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रही है। वृक्ष व वनस्पति की पूजा समाज में दो रूपों में प्रचलित थी- पहला वृक्ष को उनके प्राकृतिक रूप में पूजना व दूसरा वृक्ष को प्रतीकात्मक रूप में पूजना। अर्थात् वृक्ष पर किसी देवी तथा देवता का निवास मानकर या उससे संबद्ध मानकर उसकी पूजा करना।[24] ऋग्वेद के मंत्र में उल्लेख मिलता है औषधि हमारी माता है और उनकी रक्षा के लिए अश्व, गाय, वस्त्र और यहाँ तक स्वयं को भी समर्पण कर देना चाहिए।[25] ऋषि ने औषधियों के चार भेद किए हैं-'अश्ववती, सोमवती, ऊर्जामती, उदोजस। किसी विशेष रोग से मुक्ति-हेतु इन चारों ही प्रकार की औषधियों से प्रार्थना की गई है।'[26]

ऋग्वेद का आदेश है कि वृक्ष को लगाओ और इनकी सुरक्षा करो क्योंकि ये जल की स्रोतों की रक्षा करते हैं।[27] चूँकि वृक्ष प्रदूषण को नष्ट करते हैं इसलिए उन्हें न काटो। वृक्षों का महत्त्व वर्णित करने के साथ ही ऋग्वेद वृक्षों को लगाने की ओर भी संकेत करता है और उनके रक्षण एवं पोषण को बताता है[28]-

वनस्पति वन आस्थापयध्व नि षू दधिध्वम् अखनन्त उत्सम।

ऋग्वेद में पीपल, पृश्निपर्णी, श्यामा, लाक्षा इत्यादि अनेक वनस्पति का उल्लेख मिलता है, जो कार्यचिकित्सा में प्रयुक्त होती है इसमें पीपल को आज भी देवरूप में पूजित किया गया है। वनस्पति की पोषक एवं वर्धक वायु ही है।

अग्र पिबा मधूना सुंत वायो दिविप्टिक। त्वं हि पूर्वया असिं।

अर्थात् हे वायु, वनस्पतियों को सोमपान कर पर्यावरण में संतुलन कायम कर।[29]

ऋग्वेद में वनस्पति और वृक्षों को न काटने की परामर्श है पर हानिकारक घास (स्वास्थ्य के लिए हानिकारक) को काटने की सलाह दी गई है।[30]

ऋग्वेद में वृक्ष और वनस्पति के लिए 'वार्नन' शब्द आया है।[31] और कहा गया है कि वृक्षों का रोपण करें, इनकी सुरक्षा करें। ये जल के स्रोतों की रक्षा करते हैं। ऋग्वेद के ही अरण्यानी (10-16) में नाना प्रकार की औषधियों तथा वनों के गुणों एवं उपयोगिता का उल्लेख प्राप्त होता है। वन की देवी को 'अरण्यानी' कहा गया है। उन्होंने छह मंत्र में अरण्यानी की स्तुति की है। इन मंत्रों में ऋषि के पर्यावरण के प्रति उत्कृष्ट मनोभाव को देखा जा सकता है। वह घोषित करता है जब तक कोई अन्य 'अरण्यानी' पर आक्रमण कर हानि नहीं पहुँचाता है तब तक वह किसी को

कष्ट नहीं पहुचाती है। वनोषधि सूक्त में औषधियों को भी दिव्य दृष्टि से प्रशासित किया गया है। औषधियों को माताएँ एवं देवियाँ बताया गया है एवं सोम को उनका राजा। औषधियाँ निश्चित रूप से वृक्षों एवं वनस्पतियों से प्राप्त होती हैं। इसलिए वैदिककाल में वृक्षों एवं वनस्पतियों के महत्त्व का बहुशः विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त कतिपय संदर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि पर्यावरण के प्रति जागरूक थे। यद्यपि उस समय आज के समय का वायु, जल, शोर-शराबा इत्यादि से जनित प्रदूषण नहीं था। जिससे उसकी रोकथाम के उपाय बताए गए हों तथापि हमें मंत्रों, प्राकृतिक संतुलन, वृक्षादि के संरक्षण, जल वायु इत्यादि की पवित्रता तथा मानव के प्रकृति के साथ संबंध के ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनका आश्रय ग्रहण कर वर्तमान समस्याओं से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। अंत में ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को उद्धृत किया जा रहा है, जिसमें वायु नदी, औषधियों, द्योलोक, वनस्पतियों, सूर्य इत्यादि सभी प्राकृतिक उपादानों से सर्वत्र माधुर्य बिखरने की प्रार्थना की गई है[32]–

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः संतवोपधी।।
मधु ऋमुतोबसो मधुमत्यार्थिव रजः। मधु धौरस्तु नः पिता।।
मधु वनस्पति मुधमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।

आज पर्यावरण में संभवत इतना प्रदूषणः नहीं होता, यदि हमने वैदिक ऋषि के इस निर्देश का पालन किया होता 'शतहस्त समाहर, सहस्त्र हस्त संकिर' अर्थात् 100 हाथों से लो लेकिन हजारों हाथों से दान भी करो। हमने प्रकृति से बहुत कुछ लिया है लेकिन उसे दिया कुछ भी नहीं। आज हमें पुनः ऋषियों की वाणी पर मनन और चिंतन करने की आवश्यकता है।[33]

संदर्भ

1. डॉ॰ राजबली पांडेय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1950, पृ॰ 182
2. इंदु सिंह, पर्यावरण चेतना, आविष्कार प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ॰ 19
3. डॉ॰ भवानीलाल भारतीय, ऋग्वेद एक सरल परिचय, विजयकुमार गोविंदराम हासानंद, दिल्ली, 2017, पृ॰ 5
4. डॉ॰ गंगासहाय शर्मा, ऋग्वेद संहिता, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, 2016, पृ॰ 6
5. विमल मोहिनी श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक वारणासी, 2002, पृ॰ 114
6. पं॰ श्रीराम आचार्य, ऋग्वेद संहिता, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ॰प्र॰), 2005, प्रथम मंडल, सूक्त 23, श्लोक 16
7. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मंडल, सूक्त 23, श्लोक 19
8. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मंडल, सूक्त 23, श्लोक 20
9. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 186, श्लोक 1
10. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 137 श्लोक 2
11. ऋग्वेद संहिता, तृतीय मंडल, सूक्त 10, श्लोक 1
12. पं॰ श्रीराम आचार्य, भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व, अखंड ज्योति संस्थान मथुरा, द्वितीय संस्करण-1998, पृ॰ 2.60
13. वी॰सी॰ श्रीवास्तव, सन वर्शिप इन एशियंट इंडिया, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ॰ 26
14. सूर्यकांत, वैदिक धर्म एवं दर्शन, बनारस, 1963, पृ॰ 25
15. डॉ॰ गंगासहाय शर्मा, ऋग्वेद संहिता, नवम मंडल, सूक्त 191, श्लोक 1

16. श्रीवास्तव, ऋग्वेद संहिता, प्रथम मंडल, सूक्त 50, श्लोक 11
17. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मंडल, सूक्त 191, श्लोक 1 से 16
18. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 121, श्लोक 5
19. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 17, श्लोक 17
20. ऋग्वेद संहिता, अष्टम मंडल, सूक्त 20 श्लोक 25
21. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 17, श्लोक 17
22. ऋग्वेद संहिता, पंचम मंडल, सूक्त 43, श्लोक 15
23. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 97, श्लोक 3
24. डॉ॰ प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2016, पृ॰ 27
25. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 97, श्लोक 14
26. डॉ॰ नंदिता सिंघवी, वेदों में पादप परिस्थितिकी, ऋचा पब्लिशर्स, बीकानेर, 2019, पृ॰ 154
27. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मण्डल, सूक्त 08, श्लोक 11
28. ऋग्वेद संहिता, दशम मण्डल, सूक्त 101, श्लोक 11
29. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ॰ 45
30. ऋग्वेद संहिता, दशम मंडल, सूक्त 97, श्लोक 14
31. ऋग्वेद संहिता, सप्तम मंडल, सूक्त 04, श्लोक 05
32. ऋग्वेद संहिता, प्रथम मंडल, सूक्त 9, श्लोक 6-8
33. प्रो॰ सुषमा कुलश्रेष्ठ, संस्कृत साहित्य में पर्यावरण, ईस्टन बुक लार्क्स, दिल्ली, 2011, पृ॰ 53

खुशबू रानी
सी लाइन- 271 **महेंद्रपुरी,**
मोदीनगर (गाजियाबाद) उ॰प्र॰ 201201
मो॰ 9027500418

विस्थापन की त्रासदी 'छाको की वापसी' उपन्यास के संदर्भ में

लक्ष्मीप्रिया बालकृष्णन, शोधार्थी
श्री शंकराचार्य विश्वविद्यालय, कालड़ी (केरल)

ऐतिहासिक वास्तविकता कोई मामूली बात नहीं है। इसकी कई परतें होती हैं, आपस में जुड़ी होती हैं। इसे कई अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखा और व्याख्यायित किया जा सकता है। ऐतिहासिक वास्तविकताओं को व्यक्त करने में साहित्य और कला महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों को देखने और जाँचने के लिए साहित्य का एक अलग दृष्टिकोण है। साहित्य ने हमेशा अपनी रचनात्मकता के माध्यम से ऐतिहासिक सत्यों को प्रकट किया है। साहित्य और इतिहास साथ-साथ चलते हैं। विभाजन से संबंधित साहित्यिक कृतियों में विभाजन की ज्वलंत ऐतिहासिक वास्तविकताओं पर चर्चा की गई है। हमारे सभी क्षेत्र विभाजन के प्रभाव से खंडित हो गए हैं। दोनों देशों के लेखकों द्वारा निभाई गई भूमिका उन्हें बहाल करने और घावों को भरने के लिए छोटी नहीं है। वे सभी भाषाओं में विभाजन से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर लिखते हैं। यह कहा जा सकता है कि भारत-पाकिस्तान के इतिहास को बाहरी और आंतरिक दोनों तरह से एक विशाल लेकिन जटिल घटना के रूप में देखने में उपन्यासों का बहुत बड़ा योगदान है। उपन्यास में विभाजन से संबंधित राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक पहलुओं को शामिल किया गया है। विभाजन के ऐतिहासिक सत्य को लोगों तक पहुँचाने में साहित्यकारों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत का विभाजन विश्व इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। विश्व इतिहास में ऐसी घटनाओं के कई उदाहरण नहीं हैं। सदियों से एक साथ रहने वाले लोग अपने धर्म के आधार पर एक-दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं और इस वजह से एक अखंड राष्ट्र विभाजित हो जाता है।

भारतीय उपमहाद्वीप का विभाजन लोगों के जीवन को बड़े पैमाने पर बाधित करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली था। दोनों देशों के लोगों को कई अकल्पनीय परिणाम भुगतने पड़े। इतिहास ने विभाजन की त्रासदी से पीड़ित पीढ़ियों के दुखद अनुभवों को दर्ज किया है। 'विभाजन की त्रासदी से लिपटे पीढ़ियों के मर्मांतक अनुभव इतिहास का एक और रुख पेश कर सकते हैं—डरे-सहमे लाखों लोगों का अपनी जड़ों से टूटकर दूसरी तरफ प्रस्थान, उनकी टूटन और अलगाव, उनकी विसंगत और विद्रूप स्थितियाँ इतिहास पर अपने ढंग की टिप्पणियाँ हैं। इतिहास का एक ऐसा रुख जो किसी पैटर्न में ढला हुआ नहीं है। यहाँ आम आदमी इतिहास की धुरी बना हुआ है—जूझता, तड़पता, उठता-गिरता, एक पल जीता दूसरे पल मरता, सभ्यतामूलक और आचरणगत असंगतियों और अंतर्विरोधों का शिकार, गहरी करुणा और उदासी में लिपटा हुआ, अपने सपनों और आकांक्षाओं और मानवीयता को तार-तार होते देखता। यहाँ इतिहास सिक्के बंद हो ही नहीं सकता।'[1] संवैधानिक रूप से यह निर्णय भूमि वितरण के किसी एक मुद्दे तक ही सीमित नहीं था, बल्कि विभाजन के दूरगामी परिणामों ने दोनों देशों को हर तरह से प्रभावित किया। विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों में सांप्रदायिक दंगों, भीषण हत्याओं, नरसंहारों, बलात्कारों, अमानवीय कृत्यों और विस्थापन की विकट स्थिति के बेशुमार और विनाशकारी परिणाम हुए। देश के विभाजन के बाद की सबसे

 ISSN 0975-735X

आक्रामक समस्या विस्थापन है। दोनों देशों से लाखों लोगों का पलायन हुआ है। पलायन के आतंक ने दोनों देशों में मानव जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया। 'विभाजन सिर्फ सीमा रेखाओं से बचने से नहीं हुआ, इसका अन्य बड़ा सच था—लोगों का बड़ी संख्या में विस्थापन। बहुत बड़ी संख्या में लोग बेघर हो गए थे, उनका वजूद, उनकी पहचान रातों-रात बदल गई, अब वे शरणार्थी बन गए। सच यह है कि हाल में विश्व की बड़ी घटनाओं में शरणार्थियों की समस्या और राष्ट्र का अमानवीय रूप अपने चरम रूप में सामने आया है।'[2] विभाजन के कारण बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हुए। बड़ी संख्या में लोग बेघर हो गए, उनका अस्तित्व, उनकी पहचान रातों-रात गायब हो गई, वे शरणार्थी बन गए। विभाजन के बाद विस्थापन ने कई लोगों को अपने देश से भागने के लिए मजबूर किया। इतिहास में पहले कभी इतने बड़े पैमाने पर लोगों का पलायन नहीं हुआ है। कई लोगों ने अपने परिवार के सदस्यों को खो दिया है और अपनी सारी संपत्ति के नुकसान के साथ सीमा पार से भागना पड़ा है। जो अपनी ही जमीन से उखड़ गए थे, उनकी छत की छाया छिन गई। वे अपने अंधकारमय भविष्य के आगे बेबस खड़े रहे। धर्म के आधार पर खींची गई विभाजन रेखा के आगे लोग खफा थे। आंतरिक और बाहरी संघर्ष की इस स्थिति में लोग उन जगहों पर भाग गए जहाँ उन्होंने खुद को सुरक्षित महसूस किया। 'सड़क पर शरणार्थियों का एक सैलाब बहता हुआ दिखाई दे रहा था। अपने-अपने घरों से उजड़े और दूरदराज के गाँवों-शहरों से चले आ रहे हिंदू-सिख शरणार्थी, जो अपने बच्चों और इक्का-दुक्का सामान के साथ भारत की तरफ बढ़े चले जा रहे थे—थके-टूटे, परेशान और लाचार। उनके फटे हुए कपड़े, रिसते घाव और सामान के नाम पर इक्का-दुक्का गठरियाँ उनके पलायन के दर्द की कहानी सुना रहे थे। वे 'दंगों' के शिकार नहीं थे—यह शब्द उनकी यातना को अभिव्यक्त करने के लिए नाकाफी था। वे उस मानवीय नरसंहार के शिकार थे, जो दोनों समुदायों पर एक जनून की तरह हावी हो चुका था।'[3] विभाजन के बाद लोगों को उनकी जमीन से जबरन बेदखल करने का कोई स्पष्ट कारण नहीं है। बल्कि यह विस्थापन लोगों की विभिन्न धार्मिक पहचानों के कारण हुआ।

विस्थापन मूल रूप से सबसे गंभीर मानवीय समस्या है। यह एक भयावह स्थिति का दूसरा नाम है। विस्थापन लोगों को उनकी ही जमीन से उखाड़कर दूसरी जगह फेंकना है। सब-कुछ खोकर दूसरी जगह पलायन की स्थिति बहुत दर्दनाक होती है। इस आक्रामक वास्तविकता का दर्द लोगों को जीवनभर शारीरिक और मानसिक रूप से परेशान करता है। विस्थापित लोग हमेशा के लिए अपनी जमीन से, अपने बड़ों की प्यारी छाया से, अपने घरों की सुरक्षा से, अपने सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अलग हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए घर केवल निर्जीव वस्तुओं से बनी एक भौतिक सुविधा नहीं है, बल्कि यह उनकी भलाई के, आत्मविश्वास का प्रतीक है। उन्हें उस देश से जबरन बेदखल कर दिया जाता है, जहाँ इंसान सदियों से रह रहे हैं। वे जिस जमीन पर रहते हैं, उस जमीन उनसे छीन ली जाती है। विस्थापन का आतंक उनके अस्तित्व में असुरक्षा पैदा करता है। जबरन विस्थापन के कारण मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध एक नए वातावरण में एक नए स्थान पर रहने की निंदा की जाती है। अपरिचित परिवेश और असहनीय विकट परिस्थितियाँ उन्हें अकेलेपन और भय का शिकार बनाती हैं। यह उनके जीवन की जैविक पहचान और विशेषताओं को जबरन उनसे दूर करने का कारण बनता है। उन्हें अपना शेष जीवन बेदखली की दहशत में गुजारना पड़ता है। विस्थापन जीवन को बुरी तरह प्रभावित करता है। यह सब अपने-आपमें जीवन में उनकी प्रगति में बाधा डालता है और उन्हें असुरक्षित बनाता है। बेदखली की आंतरिक

पीड़ा के कारण लोगों को विस्थापन का शिकार होना पड़ता है।

विस्थापन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य अपनी ही जमीन से बेदखल होने की स्थिति है। अपनी ही जमीन से बेदखल किए गए लोगों को उनके सभी अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। बदी उज्जमाँ की 'छाको की वापसी' एक उपन्यास है जो बेदखली के ज्वलंत मुद्दों को सार्थक रूप से प्रस्तुत करता है। उपन्यास का मुख्य पात्र छाको विभाजन के दौरान राजनीतिक निर्णय का शिकार है। छाको अपने घर की वित्तीय स्थिति में सुधार करने के लिए पाकिस्तान जाता है। छाको अपनी जमीन खो रहा है क्योंकि वह विभाजन के फैसले के समय पाकिस्तान में रह रहा था। वह भारत लौटने के लिए लेखक की मदद चाहता है, लेकिन कानून और अदालत उसे वापस पाकिस्तान भेजने का फैसला करती है। कानून के इस फैसले के बारे में लेखक भी कुछ नहीं कर सकता। इस अमानवीय निर्णय से छाको का मानसिक संतुलन टूट गया है। वह रोया और कहा–'छाको एकाएक जैसे चौंककर कहता है–जेहल दे दे चाहे फाँसी, हम तो छोड़ के न जबई अपन घरवा।'[4] छाको के लिए, उसकी मिट्टी भारत थी। उपन्यासकार उस भूमि से विमुख होने की पीड़ा और दहशत को व्यक्त करता है।

विभाजन के बाद राष्ट्रों की सीमाएँ बदल रही हैं। पाकिस्तान में, छाको अपनी जन्मभूमि की यादों के माध्यम से यात्रा करते हैं। उनका जीवन अपनी जन्मभूमि पर लौटने की आशा से प्रेरित होता है। अदालत उन लोगों की आखिरी उम्मीद है जो अपनी जन्मभूमि पर लौटने की लालसा रखते हैं। छाको जैसे कई हैं जो अदालतों के फैसलों में फँस गए हैं। लेकिन कानून उनकी बेबस आवाजों को सुनने को तैयार नहीं है। कानून के सामने भावनाओं का कोई स्थान नहीं है। कानून उन्हें पाकिस्तानी नागरिक के रूप में मान्यता देता है। इसलिए उन्हें वापस पाकिस्तान जाना होगा। यह अत्यंत हृदय विदारक दृश्य है। लेखक के शब्दों में–'मैंने छाको का पासपोर्ट देखा है। अब्दुश्शकूर वल्द महम्दु खलीफा पाकिस्तान का नागरिक है। मैंने कानून का गहरा अध्ययन किया है। कानून की इज्जत, मेरी रग-रग में बसी हुई है। क्या यह बात मैं नहीं जानता कि कानून का जज्बात से कोई ताल्लुक नहीं है? पर न जाने क्यों मेरे दिमाग ने, जैसे काम करना बंद कर दिया है। कानून की मोटी-मोटी किताबें, जैसे छाको के आँसुओं में डूबती जा रही हैं और मैं रूह की गहराई में, कहीं शिद्दत से महसूस कर रहा हूँ कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है, जहाँ की हर चीज उसके लिए अजनबी है।'[5] अपनी ही जमीन से उखड़े जाने का दर्द सिर्फ इसलिए नहीं जाता कि विस्थापित लोगों को दूसरे देश में भौतिक सुविधाओं का निर्माण कराया गया है। विस्थापन का दर्दनाक आतंक भौतिक नहीं है, बल्कि इसका मुख्य पहलू आंतरिक है। विस्थापित आम लोगों को विभाजन के राजनीतिक या ऐतिहासिक महत्त्व की जानकारी नहीं थी। उनका विभाजन से कोई संबंध नहीं था। उन्होंने विस्थापन की त्रासदी नए राज्य की स्थापना के साथ कोई प्रगति नहीं की।

भारतीय मुसलमानों के पूरे अस्तित्व को नष्ट करने के लिए विभाजन का निर्णय काफी मजबूत था। यह उनके जीवन के हर पहलू में एक प्रश्नचिह्न के रूप में खड़ा था। भारतीय मुसलमानों को यह तय करना था कि भारत में काम करना है या पाकिस्तान में। यह सवाल उन्हें मानसिक रूप से परेशान कर रहा था। एक ओर ये लोग नवनिर्मित राज्य के प्रति आकर्षित थे, दूसरी ओर उनकी पहचान की भावना और अपनी मिट्टी के प्रति प्रेम ने उन्हें विस्थापित होने के लिए अनिच्छुक बना दिया–'ना बाबू हम तो ना जा सके हैं, कहीं इस घर को छोड़कर। इस घर से तो हमारा जनाजा ही निकलिए। हम तो कहे हैं तुम लोग भी मत जाओ। काहे का डर! क्या यहाँ का

खुदा दूसरा है और वहाँ का दूसरा?'[6] ये कथन मातृभूमि के प्रति लगाव को व्यक्त करते हैं। जब छोटी अम्मा अपने परिवार के साथ पाकिस्तान भाग गई, तब भी अम्मा ने अपना देश छोड़ने से इंकार कर दिया। नए राष्ट्र निर्माण के पीछे सबसे बड़ा वादा था अल्पसंख्यकों की आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा। जैसा कि उपन्यास में है, कई लोगों का दृढ़ विश्वास है कि वे एक नया राष्ट्र बनाकर हिंदू बहुसंख्यक नीति से छुटकारा पा सकते हैं। हबीब बाई की तरह बहुत से लोग सुखी और सुरक्षित भविष्य का सपना देखते हैं और पलायन का रास्ता अपनाते हैं। लोग पाकिस्तान प्रवास को अपने सपनों को पूरा करने के तरीके के रूप में देखते हैं। लोग अपने उज्ज्वल भविष्य का सपना देखते हुए वहाँ जाने का फैसला कर रहे हैं। इस तरह हबीब भाई उपन्यास में अपनी आशाओं को साझा करते हैं। उनका कहना है–'आप जैसे गद्दरों के लिए यकीनन पाकिस्तान एक खयाली और नकली जन्नत हो सकती है, लेकिन सच्चे मुसलमानों के लिए वह एक जीती-जागती हकीकत है। वह उनके ख्वाबों और हौसलों की जमीन है। वहाँ वह हिंदुओं के जुल्म से हमेशा-हमेशा के लिए आजाद हो सकेंगे।'[7] राजनीतिक दलों के झूठे वादों पर विश्वास करके बहुत से लोग पाकिस्तान की भूमि पर आकर बस जाते हैं। लेकिन इस प्रवास के बाद भी शरणार्थी अपनी जमीन नहीं भूल सकते। आम लोगों ने पाकिस्तान को अपने सपनों को पूरा करने वाले देश के रूप में देखा। लेकिन पाकिस्तान में प्रवास करने के बाद, इन लोगों को शरणार्थियों के रूप में वहाँ एक द्वितीय श्रेणी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। हबीब भाई जैसे कई लोग जो बड़ी उम्मीदों के साथ पाकिस्तान आए थे, इस स्थिति से निराश थे। पलायन की भयानक यात्रा और पुनर्वास के बाद हुई त्रासदियों ने आम लोगों के मन में बहुत परेशानी पैदा कर दी। हबीब भाई कहता है–'बंगालियों में जरा भी कौम मुहब्बत नहीं है। इनका रवैया पाकिस्तान को बहुत नुकसान पहुँच रहा है। कितने अफसोस की बात है कि ढाके में बंगाली और बिहारी मुसलमानों का दंगा हुआ है। बहुत से लोग मारे गए हैं। क्या तुमने कभी सुना था कि मुसलमान इस तरह एक-दूसरे का खून बहाएँगे? हिंदू-मुस्लिम दंगे तो होते रहते थे, लेकिन मुसलमानों का भी आपस में दंगा हो सकता है, यह मैंने कभी नहीं सोचा था।'[8] हबीब भाई जैसे कई लोग जो बड़ी उम्मीदों के साथ पाकिस्तान आए थे, इस स्थिति से निराश थे। विभाजन के बाद भारत में रहने वाले अल्पसंख्यकों को पाकिस्तान में प्रवास करने का आदेश मिलता है। दोनों देशों के उखड़े हुए लोग चैन से नहीं सो सके। ऐसे लोग विभाजन के कारण अपनी जड़ों से कटे सिर पर छत के बिना पीड़ित हैं। लेखक के शब्दों में–'पूरा प्लेटफार्म और स्टेशन के बाहर का मैदान, शरणार्थियों से भरा हुआ था। धूप और भूख से झुलसे हुए चेहरे! अपनी जमीन से उखड़े हुए इंसानों का एक समुद्र मेरे सामने फैला हुआ था। कभी इनमें से हरेक व्यक्ति एक इकाई रहा होगा। उसकी अपनी एक जमीन रही होगी। एक छोटा-मोटा घर रहा होगा। इन सबसे जुड़ी एक परंपरा रही होगी। और अब इनमें से कोई भी एक विशिष्ट इकाई नहीं है। हरेक व्यक्ति एक बहुत बड़ी भीड़ का हिस्सा है, जिसकी अपनी कोई अलग पहचान नहीं है। जानवरों के झुंड की तरह, सब एक-दूसरे में इस तरह मिल गए हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।'[9] पलायन करने वाले लोग सिर रखने के लिए जगह की तलाश में हैं। पलायन के शिकार लोगों ने अपनी जमीन, घर और परंपराएँ खो दी हैं और प्रत्येक व्यक्ति बहुत बड़ी भीड़ का हिस्सा बन गया है।

संक्षेप में, कहा जाता है कि विस्थापित लोगों को अपने पुराने जीवन को पीछे छोड़ना पड़ा और एक नए सांस्कृतिक वातावरण को अपनाना पड़ा। आम लोगों को नए वातावरण के अनुकूल होने के लिए मजबूर होना पड़ा। कई लोग अपने पुराने देश में लौटना चाहते थे। सांप्रदायिक दंगों के

डर से आम लोगों को भागना पड़ा। उखड़े हुए लोग चैन से सो भी नहीं पा रहे थे। अपनी ही मिट्टी से उखड़ जाना प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु है। पलायन की भयानक यात्रा और पुनर्वास के बाद हुई त्रासदियों ने आम लोगों के मन में बहुत परेशानी पैदा कर दी। उपन्यासकार सटीक योजनाओं के अभाव में एक नए राष्ट्र के निर्माण के नुकसान की ओर इशारा करता है।

संदर्भ

1. नरेंद्र मोहन, विभाजन की त्रासदी भारतीय कथा दृष्टि, पृ॰ 27-28
2. समयांतर, अगस्त, 2017
3. कुलदीप नैयर, एक जिंदगी काफी नहीं, पृ॰ 24
4. बदी उज्जमाँ, छाको की वापसी, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 1985, पृ॰ 158
5. वही, पृ॰ 147
6. वही, पृ॰ 20
7. वही, पृ॰ 112
8. वही, पृ॰ 111
9. वही, पृ॰ 125-126

Lekshmipriya Balakrishnan
Muringoor House Kootar
P.O. koottar , Dist. Idukki 685552 (Kerala)
Mob.9744591371
lekshmipriyamb93@gmail.com

ISSN 0975-735X

काशीनाथ सिंह की कहानियों में आंचलिकता

प्रीति पांडेय, शोधार्थी
डॉ॰ राकेश कुमार तिवारी
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर (छ॰ग॰)

'आंचलिकता' शब्द अंचल में 'इक' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ है–'अंचल संबंधी'। 'अंचल' शब्द संज्ञा से विशेषण बन गया है। हिंदी साहित्य-जगत में 'अंचल' से अभिप्राय– किसी ऐसे जनपद या क्षेत्र विशेष का नाम, जिसके अपने रीति-रिवाज, अपने सुख-दु:ख के तरीके, अपनी जीवन-प्रणाली, अपनी परंपराएँ, अपने पर्व-त्यौहारों की अपनी मान्यताएँ होती हैं, जिनमें वह गतिशील रहता है। अर्थात् किसी क्षेत्र विशेष की अपनी विशिष्टता को अंचल कहा जाता है। यह अंचल एक देहात हो सकता है या भीड़भाड़ वाले शहर का मुहल्ला या फिर इन सबसे दूर सघन वन में व्याप्त एक कस्बा भी हो सकता है। हमारे देश के विभिन्न अंचल ही हमारी संस्कृति का प्रतीक है।

साहित्य में जब हम आंचलिक शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वह किसी क्षेत्र या जनपद विशेष के समग्र जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। शंभूनाथ के अनुसार–'आंचलिकता किसी जनपद विशेष की निजी विशेषताओं अथवा पृथक यथार्थ के बीच से नहीं उभरती। यह जितनी रचनात्मकता से ग्रहण की जाएगी, उतनी ही वास्तविक जन-संलग्नता से सार्वजनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करेगी। संस्कृति की क्रांतिकारी चेतना को ये अंचल ही विकसित कर सकते हैं तथा सामाजिक-आर्थिक द्वंद्वों की यथार्थ अभिव्यक्ति भी इन्हीं के माधयम से सही रूपों में हो सकती है।'[1] किसी अंचल विशेष में पाई जाने वाली संस्कृति वहाँ की परिस्थितियों का परिणाम होती है।

समकालीन कथाकारों ने अपनी आंचलिक कहानियों में गाँव की जटिल संवेदनाओं को आधार बनाकर ग्रामीण परिवेश के यथार्थ को साहित्य के माधयम से प्रस्तुत किया है। 'जिसमें किसी अंचल, जनपद अथवा क्षेत्र विशेष के जन-जीवन का वैविधयपूर्ण चित्रण प्राप्त होता है। इन कहानियों में किसी अंचल विशेष के जन-जीवन, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार, जीवन-संघर्ष, सामाजिक स्थिति आदि का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार आंचलिक कहानी अंचल विशेष की संस्कृति को भी यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान करती है।'[2] समकालीन कथाकार काशीनाथसिंह ने अपनी कहानियों में ग्राम्य-चेतना की अंत:धारा को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने ग्रामीण अंचल की जीवन-शैली के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक रूपों को नवीन भाव-बोध के साथ यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। चूँकि उनका बचपन ग्रामीण परिवेश में बीता और लगातार ग्राम्य-जीवन से जुड़े रहने के कारण उन्होंने अपने कथा-लेखन में ग्रामीण परिवेश एवं ग्रामांचल के यथार्थ को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया है। अर्थात् आंचलिकता उनके कथासाहित्य का स्वाभाविक तत्त्व है।

उनकी आंचलिक कहानियों में 'मंगलगाथा', 'कहानी सरायमोहन की', 'बैल', 'जंगलजातकम्', 'सदी का सबसे बड़ा आदमी', 'सूचना', 'तीन कालकथा', 'चोट', 'चायघर में मृत्यु' आदि उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में तत्कालीन ग्राम्य-जीवन की अनेक समस्याओं एवं विद्रूपताओं का यथार्थ चित्रण मिलता है। बचपन से लेकर आज तक लगातार ग्राम्य-जीवन से जुड़े रहने के कारण वे ग्रामीण परिवेश

में व्याप्त जातिगत भेदभाव, पारिवारिक टूटन, ग्रामीण टटपूँजियों की खोखली राजनीति, आपसी रिश्तों में दरार, बेरोजगारी, अवसरवादिता, दरिद्रता और भुखमरी जैसी समस्याओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सिद्धस्थ जनवादी कथाकार हैं। इस संबंध में श्रीराम वर्मा कहते हैं– 'उनकी कहानियाँ किसी एक खाने में नहीं बँधती, क्योंकि वे उस मनुष्य की कथाएँ हैं जो गाँव में है तो कस्बे में है तो.. मजबूर है, अपनी जगह से हट गया है, सांसत में है, शोषित-पीड़ित है, स्थिति परिवर्तन से द्वंद्वग्रस्त है। कभी मोहग्रस्त, कभी बेबस और अमानवीय हो जाने के लिए बेचारगी से भरा, सुरक्षा के लिए चिंतित और आचरण में अंतर्विरोधी।'[3] शायद इसीलिए काशीनाथसिंह की कहानियों के जीवंत पात्र जातिवादी, सामंतवादी, पूँजीवादी और प्रदूषित राजनीति से विद्रोह करते नजर आते हैं।

काशीनाथ सिंह की बहुचर्चित कहानी 'कहानी सरायमोहन की' में ग्राम्य-जीवन के उच्च एवं निम्नवर्ग के पुराने संस्कारों और बदलते जीवन-मूल्यों की समस्या का यथार्थ चित्रांकन है। इस कहानी के प्रमुख तीनों पात्र अलग-अलग जाति के हैं। पहला ठाकुर, दूसरा ब्राह्मण और तीसरा चमार जाति का है। ब्राह्मण और ठाकुर अवसरवादी चरित्र के द्योतक हैं। प्रस्तुत कहानी के माध्यम से लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि समाज की सामंती प्रवृत्तियाँ किस कदर हावी होती जा रही हैं– 'बाबू साहब के बेटे और बहू के द्वारा बनाई बात और उस विवशता में घर छोड़कर हारे हुए योद्धा के समान चले जाना, किंतु फिर भी समाज में अपने बड़प्पन और उच्च जाति का अहं कायम रखने की विवशता, भूख में पंडित, ठाकुर और चमार सब एक हो जाना, किंतु भूख समाप्त होते ही फिर अपने जातीय बड़प्पन का ढोंग ये सब कहानी के बहुआयामी संदर्भ हैं, जो बदले हुए ग्रामीण-समाज को पूरी प्रामाणिकता से प्रस्तुत करते हैं।'[4] इस प्रकार लेखक ने इस कहानी के माध्यम से स्पष्ट किया है कि ग्रामीण अंचलों में अपने को उच्चवर्गीय कहने वाला व्यक्ति अवसरवादी चेतना के साथ शूद्रों की भाँति कार्य करने में भी कोई संकोच नहीं करता है।

इसी प्रकार 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' कहानी में कथाकार ने गाँवों में सामंतों के द्वारा हो रहे अनैतिक अत्याचारों, भूख और गरीबी से बेबस एवं लाचार लोगों की व्यथा का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। गाँव के लोग भूख और वस्त्र के अभाव में सामंती प्रवृत्तियों के पोषक पात्र शौक साहब के थूक की पीक अपने ऊपर लेने को बेबस हैं। 'एक बूढ़े की कहानी' ग्रामीण जनजीवन की संकुचित मानसिकता को उजागर करती है। साथ ही गाँव में नारी-सुरक्षा और अपने ही परिवार के द्वारा हो रहे शोषण जैसी समस्या का यथार्थ चित्रांकन है। प्रस्तुत कहानी में गाँव के एक घर में अपने ही पिता के द्वारा पाँच साल की मासूम बच्ची के साथ किए गए बलात्कार जैसी घटना का हृदय विदारक वर्णन है, विडंबना यह है कि उसी गाँव के दो युवक इस आपराधिक घटना का समर्थन करते हुए कहते हैं–

जिंदगी करेगी गुलजार।
कभी-न-कभी जाने बहार।
कब तक रहेगी फरार...।[5]

जिस ग्रामीण-समाज में नारी-बंधन के तमाम नियम बनाए जाते हैं, वहीं बालिकाओं की सुरक्षा पर सवाल उठाती यह कहानी हृदय को झकझोर देती है।

ग्रामीण अंचल में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच की भावना का यथार्थ प्रस्तुत करती 'चोट' कहानी में लेखक ने दर्शाया है कि समय और परिस्थिति के बदलने के पश्चात् भी कट्टर मानसिकता नहीं बदलती है। इस कहानी के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए वीरेंद्रमोहन कहते हैं–

'भारतीय गाँव आज भी जातियों के शिकंजे से मुक्त नहीं हुए हैं, जहाँ एक पिछड़ी जाति का आदमी ऊँची जाति के आगे खाट पर नहीं बैठ सकता और एक नीची जाति वाले बुजुर्ग को ऊँची जाति के बच्चे की भी पायलगी करनी पड़ती है, या एक हट्टे-कट्टे पिछड़ी जाति के जवान को एक सींकिया सवर्ण डाँट-पीट देता है, तो उसके हाथ-पाँव ढीले पड़ जाते हैं, उलटकर जवाब नहीं दे सकता है।'[6] कहानी में संचासिंह ठाकुर जाति का और निकाम गड़रिया जाति का प्रतिधित्व करते हैं। गाँव से शहर आने के बाद भी दोनों की संकीर्ण जातिवादी मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आता।

काशीनाथ सिंह की कहानियों में आंचलिकता और उनका आंचलिक-बोध इस मायने में दूसरों से अलग है कि उनकी कहानियों में एक ओर ग्रामीण संस्कृति का वर्णन है, तो दूसरी ओर पुराने संस्कारों का आधुनिकता के प्रभाव से बदलती स्थिति का चित्रण है। रचनाकार ने ग्रामीण अंचल की सभ्यता और संस्कृति को अपनी रचनाओं में सूक्ष्म घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ग्रामीण जीवन के रहन-सहन, बोली-भाषा, वर्ण-व्यवस्था, मुहावरे, अतिथि सत्कार, गरीबी एवं भुखमरी की समस्या, जाति-पाँति एवं शादी-ब्याह का मूर्त रूप आदि तमाम विसंगतियों से ग्रसित ग्राम्य-सभ्यता का चारित्रिक विश्लेषण 'मंगलगाथा', 'लुप्त होती हुई नस्ल', 'वर चाहिए तो इधर आइए', और 'बायोस्कोप का लल्ला' आदि कहानियों में उजागर किया है।

'मंगलगाथा' कहानी में जीवन के प्रत्येक पड़ाव में घटित होनेवाली आस-पास की घटनाओं को विषय बनाकर ग्रामीण-जीवन की समस्याओं का लोक-आख्यान प्रस्तुत किया गया है। काशीनाथ सिंह लिखते हैं कि गाँवों के अनुसार-'गेहूँ के सिर्फ दो उपयोग थे-शादी-ब्याह और श्राद्ध। उसके बारे में कहा जाता था कि ये ब्राह्मण देवता हैं, चमार के घर नहीं जाएँगे। ...सब्जी तो तब बनती जब कोई मेहमान आता था। उन दिनों घर की जो मालकिन होती थी 'घी' और 'गोरस' उसके अधिकार में होता था। शादी के लिए आने वाले लोग सबसे पहले यही देखते कि उसके दरवाजे गाय या भैंस है या नहीं? ...अब तुम्हारी हैसियत कितने भर सोने की है?'[7] इस प्रकार से ग्रामीण अंचलों में व्याप्त संस्कृति एवं उनके अपने बनाए गए मानकों का यथार्थ चित्रण 'मंगलगाथा' कहानी में देखा जा सकता है।

काशीनाथ सिंह की आंचलिक कहानियाँ केवल ग्रामीण-परिवेश तक ही सीमित नहीं है, बल्कि शहरी अंचल के विशिष्ट भू-भाग का यथार्थ विश्लेषण भी प्रस्तुत करती हैं। उनकी आंचलिक कहानियों विशेषताओं का समर्थन करते हुए सोमनाथ कौल कहते हैं-'आंचलिक कहानियों का 'कैनवास' ग्रामांचल तक ही सीमित नहीं किया गया है, बल्कि इसके साथ-साथ नगरों एवं कस्बों की सशक्त आंचलिक कहानियाँ भी लिखी गई हैं। इन कहानियों में नागरिक जीवन की संश्लिष्टता, भयावहता, ऊल-जलूलपन, नगरों में चल रही आर्थिक गुटबंदी, संकीर्ण स्वार्थों की कशमकश, व्यक्ति की मानसिक समस्याएँ, वर्ग-विशेष की वृत्तियाँ, उनकी भाषा, मुहावरे तथा अन्य अनेक विषय आंचलिकता के रंग में प्रस्तुत किए गए हैं।'[8] अर्थात् आंचलिक कहानियों में कथाकार किसी भी गाँव, क्षेत्र या जनपद विशेष को चुनकर कहानियों की रचना कर सकता है, जैसा कि काशीनाथ सिंह ने किया है।

शहरी क्षेत्रों में किस प्रकार आधुनिक नगरीय जीवन संक्रमण का शिकार होता जा रहा है, उसे रचनाकार ने 'लंका बांके चारि दुआरा' में दर्शाते हुए कहते हैं-'बैंक लूटिए यू॰पी॰ या बिहार में, अपहरण कीजिए यू॰पी॰ या बिहार में, आ जाइए बनारस और चैन की साँस लीजिए। हमेशा के लिए निश्चिंत हो जाइए बाल भी बाँका नहीं होगा आपका। ऐसे-ऐसे ईंट, पत्थर और गलियों के

चंबल और बीहड़ पड़े हैं बनारस में कि इनके आगे पानी भरे भिंड-मुरैना और कश्मीर की घाटियाँ।'[9] बड़े-बड़े गुंडे, बदमाशों ने बनारस शहर में अधयात्म का सहारा लेकर बाबाओं का वेश धारण कर अपना अड्डा जमा लिया है, क्योंकि बनारस शहर की सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी है। शहरी अंचलों में बढ़ती अराजकता को लेखक ने इस कहानी में व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार 'सूचना' कहानी में लेखक ने बनारस शहर के श्मशान घाट के रूप में प्रसिद्ध दशाश्वमेघ घाट के रोड एवं वहाँ की आंचलिकता का वर्णन करते हुए लिखा है–'अपनी आँखों देखिए वह आलम जो सड़क की दोनों पटरियों पर घुटनों तक डूबा हुआ चौमुहानी तक ठचककर फैला है। लोग सज-धजकर दुकानों में खड़े हैं और उनके बीच उस पार से इस पार हँसी-मजाक, छींटाकशी, फिसलना-गिरना, पानी फेंकना, तैरना, छपाके और झिझरी खेलना और भी जाने क्या-क्या चल रहा है। शहर की सारी आबादी बाढ़ देखने के लिए दुकानों, चबूतरों, खिड़कियों और छतों पर खड़ी हो आई है। लोग डोंगियों पर चीखते-चिल्लाते और गाते-बजाते इधर-से-उधर आ-जा रहे हैं। यह एक जश्न है महोदय, एक जश्न है जो किसी-किसी साल बड़ी मुश्किल से मयस्सर हुआ करता है, लिहाजा नाचो-गाओ, खुशियाँ मनाओ, मनाइए कि यह दिन रोज-रोज आए।'[10] काशीनाथसिंह ने इस कहानी में दशाश्वमेघ घाट के बहाने शहरी अंचल की आधुनिक विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए वहाँ के स्थानीय लोगों की मानसिकता को भी उजागर किया है। लेखक का मानना है कि शहरी अंचलों में जब अकाल, बाढ़ और कई अन्य प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति उत्पन्न होती है, तो उसे वे संकट न समझकर उन परिस्थितियों का लुत्फ उठाते हैं।

शहरी अंचल में मध्यमवर्गीय जीवन जीने वाले लोगों की मनोदशा का यथार्थ चित्रण लेखक ने 'कविता की नई तारीख' में किया है। प्रस्तुत कहानी का प्रमुख पात्र एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि वह घर में रिश्ते-नातेदारों के आने के नाम से ही डर कर व्याकुल हो जाता है। वह सोचता है–'यदि कोई मेहमान आए रेलगाड़ी से, तो वापसी के लिए आरक्षण करवाएगा ही, ...भविष्य का यह निश्चय दिमाग को राहत और सकून देता है, लेकिन अपनी फिएट गाड़ी यह दिमाग को ही नहीं भविष्य को भी अंधकारपूर्ण बनाए रखती है।...हम सोचते-अँधेरे में आँखें मिचमिचाते और नींद का सपना देखते और बिस्तर पर पड़े-पड़े सोचा करते कि हे प्रभो, हमारे पिछले दिन कब लौटेंगे।'[11] बहुत हद तक आर्थिक स्थिति भी शहरी मध्यमवर्गीय जीवन की चिंता का कारण बन जाती है, जिसके चलते नाते-रिश्ते सब बेमाने हो जाते हैं।

काशीनाथ सिंह ने ग्रामीण एवं शहरी अंचल दोनों के जीवन को न केवल निकट से देखा है, बल्कि जिया भी है। इसीलिए ग्रामीण एवं शहरी परिवेश का यथार्थ वर्णन उनके साहित्य में सजीवता के साथ दृष्टिगोचर होता है। रचनाकार की कई कहानियों में जीयनपुर एवं उसके आस-पास के ग्रामीण अंचलों की कथा है, तो कुछ कहानियों में शहरी अंचल की विशेषताओं का चित्रण है। काशीनाथ सिंह ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही परिवेश के साथ बड़ी आत्मीयता से जुड़े हुए हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में ग्रामीण-जीवन की समस्याओं का चित्रण अत्यंत गहराई से किया है, तो वहीं शहरी जीवन की जटिलताओं, स्वार्थलिप्सा तथा यांत्रिकता से ओत-प्रोत विकृत मानसिकता का उद्‌घाटन भी किया है।

संदर्भ

1. साक्षात्कार, 12 जून-अगस्त, 1979, लेख-कविता और आंचलिकता, पृ॰ 96
2. नारायण तिवारी, हिंदी कहानी में प्रकृति चित्रण, अमर प्रकाशन, मथुरा, संस्करण, 2005, पृ॰ 173

3. मनीष दुबे, (संपा॰), काशी पर कहन, मीरा पब्लिकेशंस, इलाहाबाद, संस्करण, 2000, पृ॰ 327
4. अशोक भाटिया, समकालीन हिंदी कहानी का इतिहास, भावना प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2012, पृ॰ 53
5. काशीनाथ सिंह, कहानी उपाख्यान, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2003, पृ॰ 82
6. वीरेंद्र मोहन, समकालीन कहानी : परंपरा और परिवर्तन, मेघा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृ॰ 91
7. काशीनाथ सिंह, कहानी उपाख्यान, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2003, पृ॰ 319
8. सोमनाथ कौल, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : विकास एवं मूल्यांकन, आर्याना पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989, पृ॰ 45
9. काशीनाथ सिंह, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, मदरसा रोड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ॰ 121
10. काशीनाथ सिंह, कहानी उपाख्यान, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2003, पृ॰ 146
11. वही, पृ॰ 359

कृष्णा आटा चक्की, डगनिया मोड़,
रायपुर (छ॰ग॰) 492013
मो॰ 9131071726
pritipandey301187@gmail.com

भोजपुरी कविता में देश तथा राष्ट्र

डॉ॰ ममता पांडेय

भोजपुरी कविताओं में कवियों ने राष्ट्र तथा तत्कालीन वातावरण का सजीव वर्णन किया है। इस समय के कवियों ने जो भी रचनाएँ कीं, वे बहुत ही सशक्त थीं। बाबू रघुवीरनारायण उस समय एक सुप्रसिद्ध कवि हैं। उनकी 'बटोहिया' कविता ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। यह प्रसिद्ध भोजपुरी कविता 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में दक्षिण अफ्रीका, मारीशस और ट्रिनिडाड में बसे प्रवासी भारतीयों में अत्यंत लोकप्रिय हो गई थी।

रघुवीरनारायण की 'बटोहिया' को डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय ने अपने समस्त साहित्य में सबसे अधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण माना है। डॉ॰ उपाध्याय ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'यदि मैं विदेशी होता और भोजपुरी समझ रहा होता तो अकेले 'बटोहिया' को पढ़कर मैं भारत भूमि को देखने के लिए अपना सब-कुछ बेचकर निकल पड़ता।'

डॉ॰ उपाध्याय का यह कथन इस कविता की शक्ति और सामर्थ्य की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है। इस कविता में अनेक ऐसी पंक्तियाँ और स्थल हैं जो हृदय को स्पर्श करने के साथ ही अपनी ध्वनियों से पूरे भाव को व्यक्त करने में समर्थ हैं। इस भोजपुरी रचना में देश और अपनी मिट्टी के प्रति अपूर्व लगाव व्यक्त हुआ है।

भोजपुरी की एक मुख्य विशेषता उसका लयबद्ध होना है और लययुक्त भाषा का संबंध सामूहिक भावना से है। भोजपुरी जिले के लोगों में एक भीतरी लगाव पाया जाता है। जिससे उनकी भाषा में एक अजीब लोच मिलता है। भोजपुरी रचना में इसी कारण एक गहरी करुणा, तड़प, तरलता कोमलता मिलती है। जैसे–'बटोहिया' और 'विदेशिया' अपनी मार्मिकता के कारण किसी भी सहृदय पर अमिट छाप छोड़ने में सक्षम हैं।

प्राचीन समय में निर्गुण संतों के घुमक्कड़ी प्रकृति और रमता स्वभाव के कारण उनकी रचनाओं में अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्द घुल-मिल गए हैं। जैसे–दूध में कितना भी पानी मिला दिया जाए, उसे दूध ही कहा जाएगा पानी नहीं। उसी तरह दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से भोजपुरी के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा नहीं कही जाएगी।

जब देश और राष्ट्र की बात हो रही हो, तो वहाँ पर देश की स्वाधीनता और संस्कृति पर आनेवाले किसी संकट पर भी दृष्टि डालना जरूरी हो जाता है। हमारे भोजपुरी क्षेत्र के लोगों ने कलम और तलवार में तलवार पकड़ना जरूरी समझा। कलम उन लोगों की शोभा बढ़ाने लगी, जिनमें तलवार पकड़ने की इच्छा या ताकत नहीं थी। संकट के रामय कलम घिसी जाए या तलवार के धार से संकट भगाया जाए। इस बात पर विचार करना बहुत जरूरी है लेकिन देखा जाए तो आज भी पुलिस और सेना में जितने भोजपुरी-भाषी लोग हैं उतने दूसरे नहीं।

भोजपुरी कविता में इस बात को विशेष रूप से दर्शाया गया है कि हमारे क्षेत्र ने पहले देश को देखा बाकी सब-कुछ को राष्ट्र के बाद। देश पर जब भी संकट आया तो भोजपुरी कवियों ने अपनी कलम की ताकत से देश की जनता को जगाया। अपने देश की रक्षा की। कवि स्व॰

 ISSN 0975-735X

रामविचार पांडेय जी ने राष्ट्र की जनता को जगाने के लिए एक जागरण गीत की रचना की। वे कहते हैं–'हे भोजपुरवासियों अब तो उठ जाओ, पूर्व दिशा में सूरज अपनी लालिमा के साथ दिखलाई पड़ रहा है। दुश्मनों ने हम पर आक्रमण कर दिया है। हमारे देश में तो कुँवरसिंह की तलवार ने काली का रूप धारण किया था, वह तलवार आज कहाँ है।'

भोजपुरी कविता में जब राष्ट्र और देश की बात की जाती है तो वहाँ समाज सबसे पहले आता है और समाज का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से ज्यादा देश की फिक्र करता है। भोजपुरी कविता में जब देश की बात आती है तो अनेक कवियों की रचनाएँ याद आ जाती हैं। जिन रचनाओं को पढ़ते ही तन में नव-स्फूर्ति आ जाती है, शरीर रोमांचित हो जाता है, नव-स्पंदन का एहसास होता है।

देश की कविता सिर्फ वही नहीं होती जिसमें सीधे-सीधे देश या देश की बात आई हो। आप ही बताइए क्या कबीर की कविताओं में देश की चिंता नहीं है जब वे पाखंड के पहाड़ को तोड़ना चाहते हैं। देश की रागिनी उन सभी कविताओं में उमड़ती है जिनमें अपना गाँव, घर, नदी-नाले, पेड़-पौधे, पक्षी, स्त्री-पुरुष, हँसी-खुशी, प्रेम-भाव, दुख-दर्द आदि शामिल हों। यदि देश पर आधारित कविताओं को विस्तृत रूप में नहीं भी लिया जाए, सिर्फ उसी मतलब में बाँधा जाए जिनमें आम तौर पर देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना को लिया जाता है। यह रूप भी भोजपुरी कविताओं भरा-पूरा पाया जाता है। यह भोजपुरी कविताएँ सिर्फ लिखित साहित्य में ही नहीं वाचिक साहित्य में भी मिलती हैं। इन कविताओं में होरी गीत के शृंगार के साथ वीर भाव को भी जोड़ दिया गया है–

बाबू कुँअर सिंह तेगवा बहादुर, बँगला में उड़ेला अबीर,
हरे लला, बँगला में उड़ेला अबीर

देश-राग की ये कविताएँ भोजपुरी में सिर्फ कागज तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि हृदय से कंठ तक हैं।

सन् 57 के स्वतंत्रता संग्राम ने जैसे हिंदी व अन्य भाषाओं को वैसे ही भोजपुरी कवियों को भी उत्साह से भर दिया। इस संग्राम के एक तरह से सूत्रधार थे मंगल पांडेय। और इनके नायकत्व को पहचानकर लोगों से पहचान कराने वाले थे कवि प्रसिद्ध नारायण सिंह जी, जिन्होंने अपना विद्रोह कविता में व्यक्त किया–

सन सत्तावन के रारि भइलि
वीरन के वीर पुकार भइलि
बलिया के मंगल पाण्डे के
बलिवेदी से ललकार भइलि।

सन् 57 के शूरवीर जब चले तो उसकी गूँज दूर तक गई। इस पहले संग्राम को अँग्रेजों ने अपनी दमन नीति से दबा तो दिया बल्कि हुआ कुछ ऐसा कि आजादी एक चेतना व संकल्प के रूप में आम भारतवासी के मन मे पलने-बढ़ने लगी। आगे चलकर आजादी की लड़ाई के कई रूप दिखाई देने लगे, कई तरह के मोर्चे दिखे–गांधी जी और भगत सिंह के नेतृत्व में बलिदान का एक नया इतिहास रचा जाने लगा। इस तरह से अँग्रेजों की बेचैनी बढ़ने लगी और उन्होंने तरह-तरह हथकंडे अपनाने शुरू कर दिए। कभी अँग्रेजों ने दमन का चरम रूप दिखलाया तो कभी सुधार संशोधन की आड़ में इस संग्राम की आँच मद्धिम करने की कोशिश की। अँग्रेजों ने भारत में

जाति-धर्म के भेद को बढ़ाने में कोई कोर-कसर न छोड़ी।

ऐसे कठिन समय में भोजपुरी कविता ने आम जनता के बीच एकता की अपील के साथ-साथ आत्मबलिदान को एक गौरव के रूप में स्थापित करने की पुरजोर कोशिश की। इस कोशिश का एक सुंदर उदाहरण सरकार हरिहर सिंह और रमाकांत द्विवेदी 'रमता' की कविताओं में देखने को मिलता है। सरदार हरिहर सिंह जी की कविता का उदाहरण–

चलु भइया चलु आजु, सभे जने हिली मिली

देश के लिए देश के विकास के लिए आजादी को जन-जन तक पहुँचाने की नियत से जो एकता की अपील की गई वह भोजपुरी कविता में अतीत की चीज नहीं है, वर्तमान के लिए है। जब भी शासन निरंकुश हुआ है, आजादी के बाद, भोजपुरी कविता ने अपनी एकता-अपील के दायित्व से मुँह नहीं मोड़ा है। यदि इसका उदाहरण सिर्फ एक कवि में ढूँढा जाए तो वे 'रमता जी' सर्वश्रेष्ठ उदाहरण होंगे–

काहे फरके फरके बानी, रउरो आई जी
हमार सुनी, कुछ अपनो सुनाई जी

यह एकता-अपील इसलिए जरूरी है कि लोकतंत्र और जनकल्याणकारी राज्य आज तक यहाँ संभव नहीं हो पाया है।

भोजपुरी कविता ने अपने समय व समाज के नायक को जानने-पहचानने व गुणगान करने में कमी नहीं की है। लोकभाषा की अपनी एक अलग पहचान है। भोजपुरी कविता अपने राष्ट्रनायकों को याद करने के साथ-साथ अपने गाँव, और जाति-धर्म के नायकों को भी याद करती है। भोजपुरी कविता के माध्यम से उन अनगिनत लोगों को याद करते हैं जिन्होंने आजादी की लड़ाई में अपना यथासंभव सहयोग दिया।

कवि रमाकांत द्विवेदी 'रमता जी' एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने अँग्रेजी शासन से साधे-सीधे लोहा लिया। गांधीजी के राजनीति के प्रभाव में 'रमता जी' स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल हुए और जेल गए। उन्होंने राष्ट्र को समर्पित कविताओं और गीतों की रचना की। चरखा और खद्दर उस समय की राजनीति के एक मूल्य के रूप में था। चरखा और खद्दर अँग्रेजों के विरोध का एक कारगर रूप था। अँग्रेज भारत की आर्थिक व सांस्कृतिक स्थिति को खोखला कर रहे थे। भोजपुरी कविता के माध्यम से इस असलियत को आम जनता के सामने लाने का प्रयास किया गया–

घरे-घरे चरखा चलइहे भारतवासिया
जुलुमी फिरंगिया के भगइहें भारतवासिया।

डॉ॰ रामविचार पांडेय की कविता 'जागरण गीत' बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें पांडेय जी ने अँग्रेजों को देश से भगाने के लिए देशवासियों को प्रेरित किया है। जैसाकि हमने उपर्युक्त भूमिका में इस बात का जिक्र किया है कि कुँवर सिंह की वह तलवार कहाँ है जिसने दुश्मनों के छक्के छुड़ा दिए थे। आज भी उसी कुँवर सिंह और उनकी तलवार की देश को आवश्यकता है।

ऊ भोजपुरी के नवरतन कहाँ
विद्या के ओझसन जतन कहाँ
जागे देखे सोचे डटि के
केहू के अइसन पतन कहाँ?
ऊ कुँवर सिंह तरुवारि अरे, कहवाँ बैरन के काली बा।

कवि देशवासियों से प्रश्न करता है कि हे देशवासियो! क्या तुम बता सकते हो कि कुँवर सिंह की वह तलवार कहाँ है जो दुश्मनों के लिए काली स्वरूप थी आज भी देश को उसी काली की आवश्यकता है जिसकी चमक को देखते ही दुश्मनों के छक्के छूट जाएँ।

कवि कहता है कि भोजपुर के वे नवरतन कहाँ हैं जिन पर भोजपुर वासियों को गर्व था। यहाँ भोजपुर में विद्या की ज्योति कहाँ है जिसने इस भोजपुर को अपनी ज्योति से प्रकाशित कर दिया था। इसलिए हे देशवासियों तुम जागो, देखो, सोचो और विचार करो कि यहाँ न वह नवरत्न ही रह गए और न ही विद्या की ज्योति। और देखो कि इस देश का कितना पतन हुआ है कि यहाँ कुछ रह ही नहीं गया है।

अब कवि उस समय की बात कर रहा है जब अँग्रेज हमारे देश को छोड़कर चले गए हैं और देशवासी अपनी खुशी को अनेक तरीकों से व्यक्त कर रहे हैं। अब आरा, छपरा, देवरिया, बलिया सभी जा चुके हैं। यदि कोई भूला-भटका भी हो तो उसको भी जगाने का प्रयास किया जा रहा है। कवि कहता है कि गाजीपुर के ज्ञानियों को भी जाग जाना चाहिए। अब पूरब में लाली दिखाई पड़ रही है अर्थात् स्वतंत्रता का सूर्य उदय हो रहा है और परतंत्रता का सूर्यास्त। इसलिए हे भोजपुरवासियो अब तुम्हें उठ जाना चाहिए। आजमगढ़ के गाँव-गाँव में भूली हुई कहानी को याद करके लोगों को जगाने का प्रयास किया जा रहा है–

भारत के अब सुभ दिन आइल, भागल अँग्रेज कुचाली बा।
आरा, छपरा, बलिया जागऽ
चंपारन, देवरिया जागऽ
भूलल भटकल छूटल छटकल
जे जे होखे अरिया जागऽ

संदर्भ

1. दस्तावेज-66 सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी शीर्षक-जागरण गीत, कवि रामविचार पांडेय, पृ० 68
2. समकालीन भोजपुरी साहित्य, अंक 22, सं० डॉ० अरुणेश नीरन आरेख, भोजपुरी कविता में देश-राग का हिंदी रूपांतर, ब्रिजेन्द्र पांडेय, पृ० 53-55
3. दस्तावेज-66, सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, शीर्षक जागरन गीत, कवि रामविचार पांडेय, पृ० 68
4. दस्तावेज-66, सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, शीर्षक जागरन गीत, कवि रामविचार पांडेय, पृ० 68, 69
5. समकालीन भोजपुरी साहित्य, अंक 16, कविता अंक, सं० डॉ० अरुणेश नीरज, शीर्षक-केकहऽ तेहार बा; सभ केहू तेहार बा, कविवर रामविचार पांडेय, पृ० 14

Dr. Mamta Pandey
D-77 krishna vihar ,
NTPC Darri, distt korba 495450
Mob. 7587342600
mamtamishra1812@gmail.com

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की बाल कविता : बालमन के सरगम की मनोरम चित्रशाला

'भालूदादा चले काल में' और 'खेल खेलना बहुत जरूरी' के परिप्रेक्ष्य में

प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया, डी॰लिट्॰

बालक स्वयं एक कविता है। बाल कविता में बालक का रागात्मक संबंध प्रकृति के साथ, पशु-पक्षियों के साथ, फूलों के साथ और समस्त सृष्टि के साथ स्थापित होना चाहिए। बाल कविता बालकों को बौद्धिक, संवेगात्मक एवं अनुरंजनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। बालमन एक मन:स्थिति विशेष का नाम है, जिसमें कल्पना और जिज्ञासा की वृत्तियाँ सर्वाधिक प्रबल रहती हैं। बालक अत्यंत भाग्यशाली है, क्योंकि वह जानना चाहता है, कल्पना करना चाहता है और करता है। कल्पना जीवन को स्वप्न देती है और जिज्ञासा इन स्वप्नों को अर्थ देती है। जहाँ स्वप्न हैं और उनके अर्थ हैं वही सार्थक रचना है तथा वही सार्थक जीवन है। मनोवैज्ञानिकों ने बाल अवस्थाओं को क्रमश: शैशवास्था (5-6 वर्ष), बाल्यवास्था (5-6 वर्ष से 12-13 वर्ष) और किशोरावस्था (12-13 वर्ष से 18-19 वर्ष) में विभाजित किया है। वस्तुत: पाँच से तेरह वर्ष के बालकों के लिए लिखी जाने वाली कविता को 'बाल कविता' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की सद्य: प्रकाशित काव्यकृति 'भालू दादा चले कार में' शिशुगीत संग्रह है, जिसमें तीस शिशुगीत संगृहीत हैं—चाऊमाऊ, बेचारा चूहा, कालू भैंसा, बिल्लू दादा, चूहे राजा, बंदरमामा, रंग-बिरंगी तितली, सुंदर चिड़िया, नकलची भालू, बंदर जी, शेरू दादा, बिल्ली बोली, बच्चा बोला, दीवाली आई, बंदर करता नाच, बंदर दादा, टिल्लू-बिल्लू, लेपटॉप, चूहा, शब्द, काम करें, डोली में चुहिया, भालू दादा, शेरू, चींटी को हो गया जुकाम, मेरा मुन्ना, मेरी गुड़िया, घंटा बजता, लड़ते क्यों, नहीं लड़ाई है अच्छी। गिरिराजशरण अग्रवाल शिशुगीत के शास्त्र को भलीभाँति समझते हैं। शिशु का स्वस्थ मनोरंजन डॉ॰ अग्रवाल के शिशुगीतों का प्राणतत्त्व है। वह स्वस्थ मनोरंजन के साथ नैतिक शिक्षा का पाठ पढ़ाते हैं। धूप, हवा, चिड़िया, चूहा, तितली, बिल्ली, बंदर, भालू आदि की उपस्थिति बच्चों को गुदगुदाती है।

आज स्थिति यह है कि बच्चे की तोतली बोली का आनंद लेने की शायद किसी के पास फुरसत नहीं है। बच्चों की नटखट शरारतें, क्रीड़ा कौतुक और जिद-तुक मिजाजी देखने को भी संभवत: किसी के पास समय नहीं है। नौकरी पेशा माता-पिता की अतिव्यस्तता के चलते संपन्न परिवार का बच्चा अकेलेपन के संत्रास से जूझ रहा है। सच, थोड़ी-सी हरियाली, अपने हिस्से का आसमान, तितलियों की उड़ान और खुशियों से भरा जहान पा लेना बचपन का आधार है, पर उसे मिल कहाँ पाता है? हाँ, सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट के चलते आज जो कुछ इन्हें मिल रहा है, वह भी गंभीर चिंतन का विषय है। टेक्नोलॉजी की वह अनोखी दुनिया हर दिन मनोरंजन के आसेवी जाल बाजार में फेंक रही है। टेलीविजन और डिजिटल मनोरंजन के साधनों ने वयस्कों तक को सम्मोहन जाल में बाँधा है फिर बच्चों की क्या बिसात है? हम लोग ही बच्चों को बाजार पर ज्यादा

 ISSN 0975-735X

निर्भर बना रहे हैं। बच्चा जब कोई प्रशंसनीय कार्य करता है, तो उसे प्रोत्साहित करने के लिए होटल अथवा मॉल ले जाते हैं।

पाँच से बारह-तेरह वर्ष की आयु ऐसी होती है, जिसमें पड़ी आदतें पूरे जीवन साथ निभाती हैं। फिर बच्चों को प्रोत्साहित करने के लिए हम अच्छी पुस्तकें क्यों नहीं देते? गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपनी बाल कविता में टेक्नोलॉजी की वर्तमान जादुई दुनिया को खुली आँखों से न सिर्फ देखा है, बल्कि उनके अच्छे-बुरे प्रभावों को भी चित्रित किया है। प्रोद्योगिकी की इस अनोखी दुनिया में और भी ढेरों चमत्कारिक वस्तुएँ हैं। उन्हें देखकर आज के बाल की मानसिकता में गहरा बदलाव आया है। बच्चा अब सिर्फ भौतिकता के आकर्षण में बँध गया है और उनका निश्छल शैशव पता नहीं कहाँ लुप्त हो गया है? सूचना प्रौद्योगिकी और तकनीकी कौशल के इस विस्फोट ने बच्चों की सोच को ही बदल दिया है। अब उसके पास तितलियों के पीछे भागने की फुरसत नहीं रही। 'रंग-बिरंगी तितली' शिशुगीत में गिरिराजशरण अग्रवाल ने तितली के क्रिया-कलापों को चित्रित करके शिशुओं को आकर्षित करने का सफल प्रयत्न किया है–

कितनी रंग-बिरंगी तितली
मेरे मन को भाती तितली
पहले एक फूल को चुनती
फिर दूजे पर जाती तितली
जी करता है इसे पकड़ लूँ
छूते ही उड़ जाती तितली
मेरी क्यारी के फूलों पर
रोज-रोज मँडराती तितली।[1]

शिशुओं के कौतूहल के विषय बदल गए हैं। गिरिराजशरण अग्रवाल को भालू पसंद है। उनके भालू दादा कार का आनंद लेते हैं और आनंद ही आनंद में कवि अग्रवाल सजग-सचेत रहने की सीख भी देते चलते हैं–

भालू दादा चले कार में
बैठ गए थे आगे
बैल्ट बाँधना भूल गए थे
रुकी कार तब जागे
चौराहे पर खड़ा सिपाही
बोला-बाहर आओ
नियम तोड़ते हो ट्रैफिक का
लाइसेंस दिखलाओ
जुर्माने की बात सुनी तो
भूले जी घबराए
याद रखेंगे इस घटना को
बुद्धू जी घर आए।[2]

गिरिराजरण अग्रवाल ने चूहा, बिल्ली, तितली, चिड़िया, दीवाली आदि परंपरागत विषयों पर रोचक शिशुगीतों को रचा है। अपने शिशुगीतों में शिशुओं का भरपूर मनोरंजन और ज्ञानवर्धन करने

के साथ-साथ जीवनमूल्यों से अवगत कराया।

परिवर्तन की लहर ने बच्चों को ही नहीं बड़ों को भी ऐसा बिगाड़ा है कि उनके स्वभाव और आदतों में बड़ा बदलाव आ गया है। आज की इस भयावह जिंदगी में शुद्ध हवा की ताजगी दूर तक फैली हरियाली और मिट्टी की सौंधी सुवास को खोज पाना बड़ा दुश्वार हो गया है। लेकिन गिरिराजशरण अग्रवाल चिड़िया के माध्यम से सहज जीवन जीने को प्रेरित करते हैं। नन्हीं सी सुंदर चिड़िया से बच्चे की सिर्फ इतनी सी विनय है–

सुंदर चिड़िया, छोटी चिड़िया
दाना चुगती प्यारी चिड़िया
डाल-डाल पर फुदक रही है
मन को भाती नन्ही चिड़िया
रंग-बिरंगे पंखों वाली
अद्‌भुत और निराली चिड़िया
टुक-टुक, टुक-टुक बोल रही है
रुकती कब मतवाली चिड़िया
कल मेरे आँगन में आना
रानी, राजदुलारी चिड़िया।[3]

व्यावसायिकता की दौड़ जब सर्वनाशी हो जाती है, तो ध्वनि, वायु और जल प्रदूषण की घातक स्थितियाँ खुद-ब-खुद उत्पन्न हो जाती हैं। डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की सूक्ष्म दृष्टि से कुछ भी अनदेखा नहीं रहा है। न बालमन, न बाल संसार और न बच्चों की अस्मिता पर मँडराता संकट। आज बाल मन पर कुछ बनने पर इतना अधिक दबाव है कि बालक का मासूम हृदय कराह उठता है। विकास के नाम पर पार्कों को दरकिनार करके कंक्रीट का मकड़जाल बुना जा रहा है। एक-एक करके सभी पार्क विकास की भेंट चढ़ते जा रहे हैं। सवाल है क्या कोई सुबह की ताजी हवा में वर्जिश करने के फायदे दे सकता है? पर पैसे की खातिर जब सब कुछ खत्म होता जा रहा है, तो गिरिराजशरण अग्रवाल के शिशुगीत कुहासे में आशा की उजली किरण लेकर फूटते हैं। वैश्वीकरण के खतरों से वह विचलित नहीं होते। उनकी यही आशावादिता बच्चों को निराशा के अंध-गह्वर से बाहर निकालती है।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की काव्य-रचना 'खेल खेलना बहुत जरूरी' बालकविता-संग्रह है जिसमें कविश्री अग्रवाल ने कोरोनाकाल के बंद समय के स्वानुभवों को बच्चों के मनोभावों के साथ सम्यक् रूप से आत्मसात करते हुए सैंतालीस बाल कविताओं को संकलित किया है–हम भारत की शान, बच्चो समझो अपनी शान, हम भारत के वीर, मास्क लगाना बहुत जरूरी, चूहे जी की शैतानी, आक्सीमीटर, आक्सीजन, एंबुलेंस, धूप खिली भई, हवा चली, चिड़िया, प्यारी चिड़िया, मतवाली तितली, पेड़, सर्दी बहुत सताती, मेरे नानू, बिल्ली बोली, जादूगर, मेरी बहना, क्यों करते खटपट, बिजली रानी, चाचाजी, दिवाली, दीवाली आई, मेरी पुस्तक, खाली सड़क, तोता-तोती, बुद्ध, क्यों लड़ते हैं देश, कुत्ते भाई, टिल्लू बिल्लू, बिल्ली बोली, बच्चा बोला, माँ की सीख, जंक फूड, खेल खेलना बहुत जरूरी, खाना खाना बहुत जरूरी, आलस, बुरी बात है, चीनी कड़वी, सर्दी का पहरा, प्यारी नानी, दादी, टाबर टोली, शेख चिल्ली, बिल्ली, प्रार्थना, यदि मैं फिर बच्चा बन जाऊँ। बच्चों के प्रति कवि के आत्मीयभावों के अभिदर्शन सहज ही हो जाते हैं।

आपाधापी, भागदौड़, बॉस की डाँट फटकार, ऑफिस से छुट्टी पाने की अभिलाषा, मायावी जीवन से ऊबकर फिर से बच्चा बन जाने की कवि की कमनीय कामना देखते ही बनती है–

रोज-रोज ऑफिस का झंझट
मारामारी, ट्रैफिक-संकट
नहीं पड़ेगी डाँट बॉस की
ऑफिस से छुट्टी पा जाऊँ।[4]

दादी-नानी की गोद का स्थान टेलीविजन ने और उनके द्वारा सुनाई जाने वाली कहानियों की जगह कार्टून फिल्मों ने ले लिया है। आज बच्चा रिश्तों की महक से बेपरवाह होकर तकनीकी आकर्षण में बँध गया है। लेकिन गिरिराजशरण अग्रवाल बच्चों को 'प्यारी नानी' के यहाँ जाने की महत्ता को उजागर करते हैं–

गर्मी की छुट्टी होने पर
हम नानी के घर आते हैं
मौसी संग खेलते-खाते
बच्चों संग गीत गाते हैं
मामी करतीं आनाकानी
प्यारी नानी प्यारी नानी।[5]

दादी की याद बच्चों को सताती है। बचपन में की गई नादानी और दादी के समझाने की बात आज उन्हें रुलाती और हँसाती है–

मेरे बचपन में दादी ने
जो बातें मुझको समझाईं
समझ न पाया था तब मैं अब
मेरे काम सभी वे आईं
बचपन की हर नादानी अब
मुझे रुलाती, कभी हँसाती
दादी याद तुम्हारी आती।[6]

बच्चा कंप्यूटर के माउस से खेलना जानता है, लेकिन आउटडोर गेम से वंचित है। कवि अग्रवाल इसीलिए खेल के खेलने का महत्त्व बताते हैं और खेलभावना से दूरी नहीं रखने के लिए कहते हैं–

खेल हमें बस हिम्मत का आभास कराते
खेल हमारे जीवन में खुशियाँ भर लाते
खेल-खेल में अनुशासन हम सीख रहे हैं
खेल हमें अच्छी सेहत का राज बताते
खेल भावना से बच्चों मत रखना दूरी
खेल खेलना बहुत जरूरी[7]

आज बच्चे को हैरीपॉटर देखने के लिए रिमोट का सही बटन दबाना, डी॰वी॰डी॰ ऑन करना आता है। वीडियो गेम्स ने बच्चों के जीवन में जरूरत से ज्यादा दखलांदाजी की है। उनके खान-पान की आदतों और मानसिकता में भी बदलाव आया है। होटल संस्कृति ने जंकफूड को

बढ़ावा दिया है। कवि जंकफूड के दुष्प्रभाव को बताता है–

गुड़-गुड़ करता पेट और फिर
दर्द-हो रहा भारी
ऐसी पीड़ा हुई कि जैसे
चलती एक कटारी[8]

बच्चे क्या खाएँ? गिरिराजशरण अग्रवाल इस पर बल देते हुए उसके प्रभाव की बात कहते हैं–

कसरत, प्राणायाम करें हम
मन में चिंता नहीं भरें हम
सेब खाएँ, अमरूद खाएँ हम
रखें रोग से पूरी दूरी
खाना खाना बहुत जरूरी[9]

मोबाइल का इस्तेमाल जादुई खिलौना फोटो खींचने, आवाज रिकार्ड करने, गेम खेलने, गाना सुनने और न जाने किन-किन खूबियों के लिए बच्चों को प्रिय है। यह पद्चाप गिरिराजशरण अग्रवाल के शिशुगीतों में बखूबी सुनी-गुनी जा सकती है। कवि भालू के माध्यम से बच्चों को सीख देते हैं–

मोबाइल पर रात-दिन भालू करता काम
आँखों को उसने दिया नहीं तनिक आराम
देखे पिक्चर उसी पर खेला उस पर खेल
लगा एक दिन फिर उन्हें नेत्र हो गए फेल
मोटा चश्मा चढ़ गया नहीं मिला आराम
भालू जी अब सोचते बिगड़ गया जब काम।[10]

'वसुधैव कुटुंबकम्' का पुनीत आदर्श गिरिराजशरण अग्रवाल की बाल कविता में प्राणतत्त्व की भाँति समाया हुआ है। हमारे संस्कारों में अपनत्व और भाईचारा भरने वाले 'वसुधैव कुटुंबकम्' में कभी वह बाजार समाहित नहीं रहा जो मैकलुहान के विश्वगाँव की परिकल्पना में है। अब तो हर चीज बिकाऊ है और तो और रागात्मक ऊष्मा से भरे नितांत आवश्यक संबंध भी बाजार की चपेट में आकार खरीद फारोख्त की वस्तु बन जाते हैं। इसी वजह से आज हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में मूल्यहीनता और संवेदन शून्यता से उपजा अद्यःपतन दिखाई देता है। वैश्वीकरण की मानसिकता दासता जिसे हम पश्चिम से खुशी-खुशी अंगीकार कर रहे हैं। प्रगति और विकास के नाम पर हम तबाही झेल रहे हैं। कोरोनाकाल में कैद हुई जिंदगी की भयावह स्थिति को गिरिराजशरण अग्रवाल ने 'मास्क लगाना बहुत जरूरी', 'आक्सीमीटर', 'आक्सीजन', 'एंबुलेंस' रचनाओं में उकेरा है।

गिरिराजशरण अग्रवाल की बालकविता में जादुई लय और बालमन की कोमल कल्पना का परंपरागत अंदाज दर्शनीय है। कवि अग्रवाल की पहली कोशिश यही है कि वह कोमल मन-मानस वाले बच्चों को अछोर प्यार की मनभावन दुनिया में ले जाएँ। एक ऐसी दुनिया में जहाँ प्रेम, सेवा, सहयोग ओर सौहार्द की शांतिदायिनी बयार बहती हो। जहाँ ऊँच नीच और छोटे-बड़े का कोई भेद न हो। पर बाजारवाद के व्यापक फैलाव के चलते वह सपनीला बचपन अंजुरी से झरती रेत की तरह

पता नहीं कहाँ तिरोहित होता जा रहा है। गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपनी बालकविताओं में भावप्रख्यात और स्पृहणीय चित्र खींचे हैं। आज का बच्चा काफी सचेत है। गिरिराजशरण अग्रवाल ने इसीलिए 'युद्ध' और 'क्यों लड़ते हैं देश' जैसी बालकविताएँ सृजित की हैं। देशप्रेम से अनुप्राणित रचनाएँ अपनी आन-शान की बात बड़े ठाठ से कहती हैं।

आज के बालक के पास अपेक्षाकृत अनुभवों का ज्यादा बड़ा संसार है। वह मुद्रित शब्द के संपर्क में जल्दी आता है। जनसंचार के विविध माध्यमों की बदौलत उसका शब्द भंडार व्यापक है। आधुनिक तकनीकी ने बालक को चाक्षुस अनुरंगनात्मक सामग्री प्रचुरमात्रा में प्रदान करनी प्रारंभ कर दी है, जिससे शब्द के प्रति उसका आग्रह कम होने की प्रवृत्ति भी इधर तेजी से बढ़ रही है। लेकिन गिरिराजशरण अग्रवाल 'मेरी पुस्तक' बाल कविता में पुस्तक को जीवन रक्षम मानते हुए लिखते हैं–

मैं इतिहास पढ़ूँगा इससे
नया ज्ञान पाऊँगा इससे
पढ़ विज्ञान, समझ रोगों को
जीवन का बन जाऊँ रक्षक
मेरी पुस्तक, मेरी पुस्तक[11]

टूटते संयुक्त परिवारों और कामकाजी होड़-दौड़ में आज के बहुत कम बालकों को माँ की लोरियाँ नानी-दादी की कहानियाँ सुनने को मिलती हैं। प्रकृति से उतना घनिष्ठ संबंध नहीं रह गया है। महानगरीय परिवेश में रहने वाला बालक तो स्वयं को पत्थरों के जंगल में भटकता हुआ अनुभव करता है। गिरिराजशरण अग्रवाल की 'बिल्ली बोली', 'चूहे की शैतानी' आदि रचनाएँ उसमें निहित सीख से बच्चों को सुख पहुँचाने में सक्षम है। यथार्थवादी चिंतन का प्रभाव जाने-अनजाने बालक पर पड़ता है। फलस्वरूप उनके निष्क्रिय बनने का खतरा भी बढ़ गया है। लेकिन गिरिराजशरण अग्रवाल 'आलस' में समझाते हैं–

आलस की नदिया बहती है
पास न जाना इसके तुम
अगर तैरना चाहोगे तो
डूब जाओगे इसमें तुम।[12]

इस तरह एक सच्चे और अच्छे समझदार दोस्त की तरह गिरिराजशरण अग्रवाल अपनी बाल कविताओं के द्वारा समझाते हैं। बच्चों को संस्कारित करने, अपनी जड़ों से जुड़े रहने और संबंधों की भीनी सुवास को मन में समाने के जिस मिशन पर आरूढ़ होकर भावी पीढ़ी के नवनिर्माण हेतु आशान्वित डॉ॰ अग्रवाल अपने प्रयोजन में सफल सिद्ध हुए हैं। 'भालू दादा चले कार में' और 'खेल खेलना बहुत जरूरी' की भाषा में कहीं भी बोझिलता नहीं आ पाई है अपितु लय और गेयता से वह सजी-सँवरी है। वस्तुतः डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की बालकविता बालमन के सरगम की मनोरम चित्रशाला है।

संदर्भ

1. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, भालू दादा चले कार में, हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰), सन् 2022, पृ॰ 23
2. वही, पृ॰ 51

3. वही, पृ॰ 55
4. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, खेल खेलना बहुत जरूरी, हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰), सन् 2022, पृ॰ 72
5. वही, पृ॰ 63
6. वही, पृ॰ 65
7. वही, पृ॰ 52
8. वही, पृ॰ 51
9. वही, पृ॰ 55
10. भालू दादा चले कार में, पृ॰ 41
11. खेल खेलना बहुत जरूरी, पृ॰ 41
12. वही, पृ॰ 56

मंगलकलश
394, **सर्वोदयनगर**
आगरा रोड, अलीगढ़ 202001 **(उ॰प्र॰)**
मो॰ 9897144022

 ISSN 0975-735X

त्यागपत्र में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन का यथार्थ

कुमारी अंकिता, शोधार्थी, हिंदी विभाग, मानविकी संकाय
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब
डॉ॰ अनिल कुमार पांडेय, सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

जैनेंद्र कुमार प्रेमचंद युग के लेखक थे किंतु उन्होंने प्रेमचंद युग का अनुकरण नहीं किया। अपितु इन्होंने एक नया मार्ग का सृजन किया और हिंदी साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के रूप में उभरे। जैनेंद्र ने त्यागपत्र में नारी का अस्तित्व, परिवार व समाज में उसकी भूमिका, नारी संबंधी दृष्टिकोण, संवेदनाओं के साथ संघर्ष, अनमेल विवाह की समस्या, स्त्री प्रताड़ना, पुरुषवादी मानसिकता आदि समस्याओं को लेकर लिखा। जैनेंद्र हमें उन समस्याओं के साथ त्यागपत्र में जूझते दिखाई पड़ते हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया: ।[1]

अर्थात् जहाँ स्त्रियों का आदर सम्मान होता है उस स्थान पर देवता गण निवास करते हैं और जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ हर कार्य निष्फल होता है। भारतीय संस्कृति में स्त्री को देवी का स्थान दिया गया है। किंतु फिर भी स्त्री की स्थिति सोचनीय क्यों है? स्त्रियों को शोषण और वासना का एक साधन मात्र माना जाता है। हमने कभी नहीं सुना होगा कि किसी प्रतिष्ठित स्थान पर जैसे मंदिर के पुजारी ,धार्मिक पीठ की प्रमुख कोई स्त्री हो। इस उपन्यास में भी नारी की स्थिति को जैनेंद्र ने मृणाल के माध्यम से हमारे सामने रखा है क्या स्त्री का अस्तित्व केवल पुरुषों की सेवा तक सीमित है? यदि पुरुष के संरक्षण में स्त्री नहीं है तो वह समाज में हीनता के भाग से देखी जाती है।

जैनेंद्र ने 'त्यागपत्र' उपन्यास की रचना 1937 ईसवी में की। इस उपन्यास का आरंभ ही प्रमोद के ग्लानि-भरे शब्दों से होता है उसकी बुआ (मृणाल) के साथ हुए पारिवारिक और सामाजिक शोषण का उत्तरदायी वह स्वयं को मानता है–'मेरी बुआ पपिष्ठा नहीं थी।'[2] और इसी अपराधबोध से ग्रसित स्वयं आत्मग्लानि के दलदल में धँसता जाता है और जज के पद से त्यागपत्र दे देता है। जो कि इस उपन्यास का आधार शीर्षक बनता है।

'त्यागपत्र' की कथा मृणाल की ही कथा नहीं है यह कथा हजारों सालों से हमारे समाज में किसी-न-किसी स्त्री के रूप में विद्यमान है। महान आत्मा सीता को भी अपनी पवित्रता साबित करने के लिए अग्निपरीक्षा का सामना करना पड़ा था क्यों एक स्त्री को ही अपनी पवित्रता को साबित करना पड़ता है? उन पर पवित्र और अपवित्र का टैग लगाए जाते हैं। क्यों यह सब पुरुषों के लिए नहीं है? उर्वशी बुटालिया–'इस विचारधारा में पितृसत्ता को या पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था को भुला दिया जाता है जिसमें स्त्री और पुरुष के कर्तव्य तथा अधिकार कभी समान नहीं होते, जिसमें स्त्री के लिए तो पतिव्रता का या एकनिष्ठ प्रेम करने वाली स्त्री का आदर्श होता है जबकि पुरुष के लिए एकनिष्ठ प्रेम जरूरी नहीं माना जाता।'[3] इससे हम अपने समाज की बीमार

मानसिकता की झलक देख सकते हैं। यदि एक स्त्री को अपवित्र मान लिया जाए तो समाज उसे हीन भाव से देखता है उसके प्रति सब की दृष्टि बदल जाती है।

विवाह मानव समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग या प्रथा है जो समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार की स्थापना करता है जिसमें स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड़ पति के साथ नया जीवन शुरू करती है। विवाह पूर्व स्त्री अपने पिता व भाई के अधीन रहती है, विवाह पश्चात अपने पति और पति के बाद पुत्र के अधीन रहती है। स्त्री का जीवन अधीनता के पिंजरे में बीत जाता है। यह हमारे पुरुष सत्तात्मक समाज की ओर भी इंगित करता है विवाह पूर्व बुआ (मृणाल) को समझाया व सिखाया जाता है कि किस प्रकार एक आदर्श स्त्री, पत्नी और गृहणी बन सकती है। प्रमोद बताता है कि उसकी माँ बुआ को बदलना चाहती थी–'आर्य गृहिणी का जो उनके मन में आदर्श था मेरी बुआ को भी ठीक उसी के अनुरूप ढालना चाहती थी।'[4] ताकि वह ससुराल जाकर सबको सम्मान दें, उनकी आज्ञा का पालन करें और बिना कोई सवाल किए, एक आदर्श स्त्री बन सकें। किंतु यह आदर्श स्त्री बनने के नियम और विनियम व सीमाएँ कौन तय करता है? जिसके उल्लंघन पर स्त्रियों को दंड दिया जाता है या अपमानित किया जाता है।

त्यागपत्र मूलत: मृणाल की दर्द भरी कहानी है जो आज तथा उस समय की अनेक महिलाओं की कहानी भी है। जो प्रेम करना चाहती हैं, खुश रहना चाहती हैं, उड़ना चाहती हैं किंतु समाज की मान्यताओं और विश्वासों के बोझ तले दबकर रह जाती हैं। मृणाल कहती है–'देख चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है। मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।'[5] किंतु यह स्वप्न एक स्वप्न मात्र बनकर रह जाता है।

समाज में प्रेम एक समस्या के रूप में देखा जाता है। एक स्त्री का प्रेम करना कितना गलत है कि प्रेम करने पर उससे उसकी शिक्षा बंद कर दी जाती है–'बुआ का उसी दिन से पढ़ना छूट गया। वे उस दिन से सीने-पिरोने, झाड़ने-बुहारने और इसी तरह के और कामों में शांत भाव से लगी रहती थी।'[6] स्त्री के जीवन में उसका अपना क्या है? वह अपना जीवन दूसरों के निर्णयों पर जीती है जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय शिक्षा, विवाह आदि दूसरों द्वारा लिए जाते हैं। यह हमारे समाज की बीमार मानसिकता को दर्शाता है। मृणाल के प्रेम करने पर उससे उसकी शिक्षा का अधिकार छीन लिया गया, उसे मारा जाता है–'बेंत की पहली चोट पर तो एक चीख मुझको सुनाई दी थी, उसके बाद रोने-कलपने की कोई आवाज मुझे नहीं आई। बेंत तड़ातड़ पड़ रहे थे। मुझे संदेह हुआ कि कहीं बुआ तो नहीं है।'[7] इस वाक्य से हमारे मन में प्रश्न उठता है कि एक स्त्री के अधिकार कहाँ तक सीमित है? या उसके अधिकार हैं भी या नहीं। जैनेंद्र ने हमारे समाज की खोखली परंपराओं, कुल शीलता, रूढ़ियों, मर्यादा, अमानवीयता के यथार्थता से परिचित करवाया है।

बुआ (मृणाल) एक आधा चरित्र के रूप में प्रदर्शित हुई है बुआ द्वारा किया गया प्रेम इतना निषिद्ध प्रतीत नहीं होता है कि उसके आधार पर उसे आजीवन प्रताड़ना का सामना करना पड़े। यहाँ हम अनमेल विवाह की समस्या को भी देख सकते हैं बुआ को एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ विवाह के बंधन में बाँध दिया जाता है–'फूफा को देखा था। बड़ी-बड़ी मूँछें थीं और उम्र ज्यादा मालूम होती थी डील-डौल में खासे थे। मुझे यह पीछे मालूम हुआ कि उनका यह दूसरा विवाह था।'[8] मुझे स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह लगती है कि वह अपनी मर्जी से अपना जीवनसाथी तक नहीं चुन सकती है। जिसके साथ उसे अपना पूर्ण जीवन बिताना है वह पुरुष भी उसकी पसंद का न हो यह विचारणीय है, यह प्रश्न उठता है स्त्री के बंधनों की घुटन का।

त्यागपत्र में ऐसे अनेक अवसर आए हैं जहाँ पर नारी भीषण मानसिक संघर्ष से गुजरती है मृणाल जानती है की विवाह ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है वह समाज के बीच की भी है चाहने से भी नहीं टूट सकती है। मृणाल अपने पति के द्वारा प्रताड़ित की जाती है। यह बात वे प्रमोद को बताती हैं–'बेंत खाना मुझे अच्छा नहीं लगता न यहाँ अच्छा लगता है। न वहा अच्छा लगता है।'[9]यह वाक्य आलोचनीय है किंतु मृणाल की स्थिति पर उसके परिवार द्वारा सहारा देने की बजाय उसे समझाया जाता है। उसका भाई कहता है–'थोड़ा-बहुत रगड़-झगड़ होती ही है पर पति के घर के अलावा स्त्री को और क्या आसरा है।'[10] यह वाक्य प्रश्न उठाता है कि एक स्त्री का आत्मसम्मान उसकी प्रतिष्ठा और उसका घर परिवार कहाँ है? आजीवन नारी अपना प्रेम दूसरों पर निछावर करती है वह अपने में कुछ न रख कर, अपने पति व परिवार को सँजोती है किंतु जिस परिवार पर वह अपना सब-कुछ न्योछावर करती है क्या वह उसका अपना है? एक स्त्री का घर कहाँ है, उसका मायका या उसका ससुराल? यह प्रश्न बार-बार हमारे सामने आता है और यह हमारी अंतरात्मा को झंझोड़ता है। जो दूसरों के प्रति समर्पण का भाव रखती है उसके प्रति इतनी क्रूरता का भाव क्यों रखा जाता है। स्त्री की इस स्थिति को हम इस पंक्ति से संबद्ध कर सकते हैं–

पढ़िए गीता/ बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घर-बार बसाइए ।
होंय कंटीली/ आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइए।[11]

मृणाल के व्यक्तित्व में पर्दा नहीं है वह विवाह पूर्व अपने प्रेम-संबंध के बारे में बताती है क्योंकि झूठ के आधार पर वह अपने नए जीवन की शुरुआत नहीं करना चाहती थी। वह यह सब जानते हुए भी कि शायद यह स्वीकार न किया जाए या उसे प्रताड़ित या त्याग का सामना करना पड़े। फिर भी वह सब सत्य अपने पति को बताती है उसे मारा-पीटा जाता है अलग घर में रखा जाता है उसे अपने मायके जाने के लिए भी कहा जाता है किंतु वह मना करती है–'धमकाया गया, मारा पीटा गया, पर उन्हें मरना मंजूर हुआ, हमारे यहाँ आना कबूल नहीं हुआ। तब खुद फूफा जाकर उन्हें अलग घर में छोड़ आए हैं।'[12] क्योंकि वे उसे दुश्चरित्र और अपवित्र समझते हैं।

'नष्ट', 'कलंकित' या 'पतित' शब्द पुरुषों के लिए नहीं स्त्रियों के लिए व्यवस्थित होते हैं जैसे कि अंडे खराब हो जाते हैं, दूध बर्बाद हो जाता है, नारियल सड़ जाता है वैसे ही औरत पतित हो जाती है। हमारे समाज में ऐसे ही दूसरी तमाम चीजों की तरह ऐसी किसी स्त्री को भी नष्ट या बर्बाद या 'पतित' कहा जाता है।'[13] यही दृष्टिकोण और भाव समाज द्वारा एक स्त्री के प्रति रखा जाता है इससे पता चलता है कि एक स्त्री और वस्तु में क्या ही अंतर है। यदि उसे भी अपवित्र, खराब माना जाए। उसकी भावनाओं को अहमियत न देकर अपने अहम, मर्यादाओं को सर्वोच्च माना जाता है।

मृणाल का संघर्ष उसके जीवन के अंतिम समय तक चलता है वे अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों का दोषी किसी को नहीं मानती हैं। वह दयावान हैं निस्वार्थ हैं जब वह पेट से होती हैं तब भी वे स्वयं व बच्चे के बारे में न सोचकर उस पुरुष के बारे में सोचती हैं जिसने उसे आसरा

दिया। वे कोयले वाले के प्रति कृतज्ञता का भाव दिखाती हैं। वे मानती हैं कि पति के त्याग के पश्चात जिसने उसे आसरा दिया वे उसे धोखा या अपने लिए स्वार्थ का भाव नहीं रख सकती हैं वे प्रमोद से कहती हैं–'पेट में बालक है लेकिन ऐसी अवस्था में भी स्वार्थ की बात सोचना ठीक नहीं है। मैं उसे उसके परिवार में लौटा कर ही मानूँगी। अब समय आया है।'[14]

जैनेंद्र ने मृणाल के माध्यम से नारी का एक ऐसा रूप हमारे सामने रखा। जो आजीवन समाज की विसंगतियों से जूझती है किंतु उसका दोष किसी को नहीं देती। नारी त्याग की मूरत होती है इसका उदाहरण हम बुआ (मृणाल) को मान सकते हैं। वे अपने जीवन की कठिनाइयों व पीड़ाओं का भार अकेले उठाए जीवनभर संघर्ष करती रहती है। मृणाल अपने अंतिम समय में असहाय होने पर भी प्रमोद की मदद लेने से इंकार कर देती है। कहा जाता है कि स्त्री के मन को कोई नहीं समझ सकता। यह सत्य है वह अपने प्रियजन की खुशी के लिए अनेक कठिनाइयों व पीड़ा को अपने मन में दफना देती हैं। ताकि उन्हें कोई कठिनाई ना आए। किंतु हमारा पुरुष प्रधान समाज उसके प्रति कठोरता का भाव रख उसे पीड़ा पहुँचाता है। हमारे समाज की उन खोखली परंपराओं को बदलने की आवश्यकता है जो स्त्रियों के अस्तित्व व उनकी स्वतंत्रता से ऊपर हैं।

'त्यागपत्र' उपन्यास नारी जीवन की त्रासदी को बखूबी दर्शाता है। बुआ मृणाल का चित्रण इस उपन्यास का आधार है जो स्त्री जीवन की विडंबना को दर्शाता है वर्तमान समय में जिस प्रकार स्त्री विमर्श गतिमान है उसका आरंभ जैनेंद्र जैसे साहित्यकारों की देन है। त्यागपत्र की मृणाल का चरित्र स्त्री के प्रबल चरित्र को दर्शाता है जहाँ वे आदर्शवादी के रूप में उभरती हैं। जो स्वयं के जीवन में अपार कष्ट पाकर भी सदा दूसरों के लिए केवल सुख की ही आकांक्षा करती हैं। वह अपने जीवन के संघर्षों अत्याचारों का दोष भी किसी को नहीं देती हैं वह जीवनभर सत्य और पूर्ण निष्ठा के साथ स्वयं को न्योछावर करती रहीं। बुआ (मृणाल) जैसे स्त्री चरित्र तथाकथित सभ्य समाज की सभ्यता पर सवालिया निशान लगाते हैं और विवश करते हैं समाज के नियम, कानून, नैतिक मूल्यों, आदर्शों की परिभाषाएँ पर पुनर्विचार करने के लिए।

संदर्भ

1. मनुस्मृति, अध्याय-3, श्लोक संख्या 56
2. जैनेंद्रकुमार, त्यागपत्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ॰ 7
3. संज्ञा उपाध्याय, समेश उपाध्याय, आज के समय में प्रेम, शब्द संध्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 37
4. जैनेंद्रकुमार, त्यागपत्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ॰ 8
5. वही, पृ॰ 14
6. वही, पृ॰ 13
7. वही, पृ॰ 16
8. वही, पृ॰ 26
9. वही, पृ॰ 29
10. रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 28
11. जैनेंद्रकुमार, त्यागपत्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ॰ 45
12. तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 27
13. जैनेंद्रकुमार, त्यागपत्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ॰ 60

केंद्रीय हिंदी संस्थान

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क : हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005
वेबसाइट : www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई॰ में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र–दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में है।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

शिक्षणपरक कार्यक्रम :

(1) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (2) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (3) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (4) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (5) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम :

(1) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (2) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (3) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (4) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (5) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (6) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :

(1) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (2) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (3) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (4) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (6) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/ त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन :

हिंदीभाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोशविज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 200 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका-गवेषणा, संवाद पथ, समन्वय दक्षिण, समन्वय पश्चिम, प्रवासी जगत, समन्वय पूर्वोत्तर, शैक्षिक उन्मेष, भावक, संस्थान समाचार एवं दो छात्र पत्रिका 'हिंदी विश्व भारती', तथा 'समन्वय' का प्रकाशन किया जाता है।

पुस्तकालय :

भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकों का विशाल संग्रह उपलब्ध है। लगभग 75 जर्नल, शोधपरक पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय :

हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संस्थान से संबद्धता।

योजनाएँ :

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो एवं कैंडी में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम का 2007-08 से प्रारंभ ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी॰ए॰ का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ, ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवाकिया, यू॰एस॰ए॰, यू॰के॰, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस, जापान, उज्बेकिस्तान एवं कजाकिस्तान आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोकसाहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

श्री अनिल शर्मा 'जोशी'
उपाध्यक्ष, कें॰हिं॰शि॰मं॰
ई-मेल : vicechairmankhs@gmail.com

प्रो॰ बीना शर्मा
निदेशक
ई-मेल : directorkhs1960@gmail.com